।।श्रीः।।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२७५

वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक :

वैदिकतिलक-मीमांसाभूषण

डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२७५



वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक

वैदिकतिलक-मीमांसाभूषण

डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

एवम्

पं० राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री मुसलगाँवकर

एम.ए. साहित्याचार्य



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

वाराणसी

प्रकाशक :
चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. 1139
के. 37/116, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (समीप मैदागिन)
वाराणसी - 221001 (भारत)
टेलीफोन : 2335930
टेलीफैक्स : 0542-2333445
E-mail : cssvns@sify.com

ISBN-81-86937-81-1

संस्करण : पुर्नमुद्रण, वि० सं० २०६६
मूल्य : रु. ४५०.००

शाखा :
चौखम्भा पब्लिकेशन्स
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - ११०००२ (भारत)
टेलीफोन : २३२५९०५०
टेलीफैक्स : ०११-२३२६८६३९
E-mail : cpub@vsnl.net

मुद्रक : चारू प्रिन्टर्स, वाराणसी

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
275



VAIDIK SAHITYA KA ITIHASA

by
Vaidiktilak-Mimansabhushan
Shree Gajananshastry Musalgaonkar
and
Pt. Rajeshwar (Raju) Shastry Musalgaonkar
M.A., Sahityacharya



CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
VARANASI

Publisher :

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

Post Box No. 1139

K. 37 / 116, Gopal Mandir Lane, Golghar (Near Maidagin)

Varanasi-221001 (India)

Telephone : 2335930

Telefax : 0542-2333445

E-mail : cssvns@sify.com

ISBN-81-86937-81-1

Edition : Reprint, 2009

Price : Rs. 450.00

Branch :

CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS

4262/3, Ansari Road, Darya Ganj

New Delhi-110002 (India)

Telephone : 23259050

Telefax : 011-23268639

E-mail : cpub@vsnl.net

विद्वानों की दृष्टि में

इतिहासश्चरित्रम् । इतिहासस्यैकत्रीकरणेन समग्रमप्यंशमवगन्त-व्यमवगन्तुं, शक्नुवन्ति सर्वेऽपि विना स्वबुद्धिपरिशीलनादिना । सर्वस्यापि व्युत्पित्सोर्व्युत्पन्नस्य वा स्वयं सर्वमपि ग्रन्थं परिशील्य विषयनिष्कर्षकरणे प्रतिबन्धादिकं बहुसहजतया अवगतं भवति । उक्तञ्च क्वचित् ।

> अनन्तशास्त्रं बहुवेदितव्यम् ।
> अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ॥ इति

कृतिसाध्यत्वज्ञानमिष्टसाधनत्वज्ञानं च यत्र भवति तत्र प्रवृत्ति-रवश्यं भवत्येव । ये तावदाधुनिकाः (छात्राः) तेषामिष्टसाध-नत्वज्ञानस्य सत्त्वेऽपि कृतिसाध्यत्वज्ञानस्याऽभावेन स्वयं विषयाऽ-वगमने प्रवृत्तिर्न दरीदृश्यते ।

अतस्तेषामन्येषाञ्चालसानां सुगमोपायतया संस्कृतसाहित्येति-हासः, भारतीयदर्शनेतिहास इत्यादिनाम्ना आविरभूवन्ननेके ग्रन्थाः । तादृशेष्वेतेष्वयमन्यतमः वैदिकसाहित्येतिहासनामा ग्रन्थः मुसलगांवकरोपाह्व पं० प्र० गजाननशास्त्रिभिः, दायं वर्धिष्णुना व्युत्पन्नेन पं० (राजू) राजेश्वरशास्त्रिणा चोपगुम्फितः वैदिकसाहित्यस्य सर्वस्याप्यादर्शभूतः सर्वलोकोपकारक इत्यत्र नास्त्यतिशयलेशोऽपि । एतयोः प्रथमे सुप्रथितयशसः दर्शनेषु अप्रतिहतगतिमन्तः मीमांसा-भूषणमित्यन्वर्थोपाधिकाः । द्वितीयोऽप्यद्वितीयस्तेषामेवाऽन्तेवासी कुशाग्रधिषणः प्राच्यविद्यापरिशोधक इति न ग्रन्थस्यास्य विषये वक्तव्यस्यावसर इति ।

गब्बिट आञ्जनेय शास्त्री
वैदिकदर्शनविभागाध्यक्षः
(संस्कृत-विद्या एवं धर्म-विज्ञानसंकाय) वाराणसी

वैदिक साहित्य के इतिहास पर निस्सन्देह कतिपय उत्तम ग्रन्थ लिखे गये हैं किन्तु हिन्दीभाषा में विरचित 'वैदिक साहित्य के इतिहास' (लेखक—आचार्य-प्रवर मीमांसाभूषण पं० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर एवं उनके भ्रातृज श्री राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर एम० ए० साहित्याचार्य) में वैदिक साहित्य की जिस इन्द्रधनुषी छबि की बाँकी झाँकी देखने को मिलती है वैसी अन्य किसी की रचना में नहीं। वेद के लक्षण से प्रारम्भ कर मन्त्र, उनका विनियोग, ऋषि, छन्द, देवता, वेदत्रयी, वेद के पाठ, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूक्त, उनका वर्गीकरण, औपनिषद् ब्रह्मविद्या अन्यान्य सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषयों पर पारम्परिक विश्लेषण पाठक को वेदविद्या के रहस्य से अवगत करा देता है। इस विषय पर यह प्रथम रचना है, जो इतनी सरल एवं समर्थ भाषा में लिखी गयी है, आचार्य मुसलगाँवकर जी ने वीणापाणी सरस्वती की पूजा एक से एक उत्कृष्ट-विकसित पुष्पों से की है। सरस्वती के वरदपुत्र मुसलगाँवकरद्वय का यह पुष्प; पुष्पराज है, जिसकी सुगन्ध भारती के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यन्त उपादेय होगी। मैं (लेखक) प्रवास पर जा रहा हूँ, एक-एक क्षण मेरेलिये महत्त्वपूर्ण है, तथापि सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ने का मोह बना हुआ है। आचार्य मुसलगाँवकर वेदविद्या के शीर्षस्थ प्रतिष्ठित आचार्य हैं, उनके वैदुष्य का सम्पूर्ण भारती जगत् चिर ऋणी है और रहेगा। उदीयमान श्री राजेश्वर (राजू) शास्त्री मुसलगाँवकर मेरे शोध छात्र हैं, उनकी प्रतिभा से मैं स्वयं अभिभूत हूँ। वह, आचार्यप्रवर मुसलगाँवकरजी की उदात्त पाण्डित्यपरम्परा में अधिकाधिक निखार के साथ उभरकर पण्डितप्रवर बनें, यही उसे मेरा शुभाशीर्वाद है।

प्रो० रेवती रमण पांडेय

(विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि० वाराणसी)

विचारतः जीवनमें दो ही व्यसन मान्य है। विद्याभ्यास तथा हरिपाद सेवन। ये दोनों हो एक दूसरेके पूरक हैं तथा इनसे इह लोकमें समस्त सद् भोगोंकी पूर्तिके साथ परलोकमें उत्तम गति भी प्राप्त होती है। प्रथम व्यसनसे ज्ञानपूर्वक ईश्वर (ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है तो दूसरे व्यसनसे भक्तिपूर्वक ईश्वरकी प्राप्ति होती है। ये दोनों व्यसन मनुष्यको बड़े भाग्यसे लगते हैं। इनके लगनेमें कुल परम्पराका भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। सच्चा विद्या व्यसनी वही कहलाता है, जो येन केन प्रकारेण समस्त प्रपञ्चोंको पृथक् रख कर अपनेको एकमात्र लिखने-पढ़नेके दाव पर ही लगाये रखता है। उपर्युक्त बातें प्रस्तुत-'वैदिक साहित्यका इतिहास' नामक ग्रन्थके लेखकोंपर अक्षारशः चरितार्थ हो रही हैं।

सांगीतिक क्षेत्रमें ही नहीं तो अन्य और भी क्षेत्रोंमें मान्यता है कि जिस किसी वंशमें अविच्छिन्न रूपसे किसी एक ही विद्या-कलाकी वृत्ति या व्यवहार चलता रहे तो वह वंश 'घराना' नामसे समाजमें प्रतिष्ठित होता है। उक्त ग्रन्थके लेखकोंके पूर्व इतिहासकी जानकारी प्राप्त करनेपर मालूम हुआ कि इस वंशकी सातवीं पूर्व पीढ़ीमें-हनुमान भट्ट, तत्पुत्र-बगाजी भट्ट और तत्पुत्र यादव भट्ट और सदाशिव भट्ट तक सभी पुरुष यजुर्वेदकी माध्यन्दिन शाखाके मूर्धन्य विद्वानोंमें गिने जाते थे। उपर्युक्त हनुमान भट्ट तक 'वैद्य' उपनामसे प्रसिद्ध यह वंश महाराष्ट्रके 'वाई' नामक क्षेत्रका निवासी था। हनुमान भट्टके पुत्र बगाजी भट्ट जो वैदिक होते हुए एक महायोगी भी थे। आध्यात्मिक दृष्टिसे आपके साथ एक बड़ी मार्मिक घटना घटी। कहते हैं कि ग्वालियरके तत्कालीन शासक जनकोजी महाराजके कानों-तक परम्परया बगाजी भट्टके यौगिक चमत्कारोंकी वार्ताएँ जब पहुँची तब वे उनसे प्रभावित होकर उनके दर्शनके लिए छटपटाने लगे और उन्होंने महान् वैदिक योगिराजको साग्रह बुलावा भेजा। उस समय भट्टजीका परिवार जि० नाशिक 'मुखलगाँव'में आ बसा था। वहाँ शाही इन्तजामके साथ बगाजी भट्टको पालकीमें बैठाकर ग्वालियर लाया गया, जहाँ जनकोजी महाराज शिन्दे (सिन्धिया) नें आपकी ससम्मान अगवानी कर दरबारमें एक बड़ा जलसा मनाया और आगे भी भट्टजीके

सत्कार होते रहे। अन्तमें बगाजी भट्टने संन्यास लेकर वहाँ 'निम्बाजीके बाग' में जीवित समाधी ली जो आज भी दर्शनीय है। इस प्रकार यह वंश गवालियरवासी हो गया। इन्हीं तपस्वी भट्टजीके प्रथम पुत्र यादव भट्टके पुत्र सीताराम शास्त्री हुए और इन्होंने आगे शास्त्रपरम्परा चलायी। विद्वन्मूर्धन्य सीताराम शास्त्रीके क्रमशः पाँचपुत्र--महामहोपाध्याय सदाशिव-शास्त्री, ज्योतिर्विन्मणि पुरुषोत्तम-शास्त्री, वैदिकराज गङ्गाधरशास्त्री, नारायण-सिद्धयोगी तथा अनन्तशास्त्री ज्योतिर्विद् हुए। जिनमें नारायणको छोड़कर सभीका वंश सुचारु रूपसे वृद्धिगत है।

प्रस्तुत वैदिक इतिहासके लेखकद्वयमेंसे प्रथम, जो उपर्युक्त म० म० सदाशिवशास्त्रीके एकाशीतिवर्षीय ज्येष्ठ पुत्र डॉ० गजाननशास्त्री, आप विभिन्न विषयोंके ग्रन्थलेखक तथा का० हि० वि० वि० में मीमांसा-दर्शविभाग के अध्यक्ष थे तथा द्वितीय लेखक म० म० सदाशिव शास्त्रीके तृतीय पुत्र डॉ० केशवरावके चतुर्थ पुत्र पञ्चविंशतिवर्षीय पं० राजेश्वर शास्त्री (राजू), विख्यातयश मुसलगांवकर घरानेकी छठी तथा सातवीं पीढ़ीके ये पुरुषद्वय हैं। उपर्युक्त परम्परासे सिद्ध है कि वेद-शास्त्रकी देदीप्यमान परम्परामें उत्पन्न ये चाचा-भतीजे एक ओरसे प्राचीन पण्डित्यपूर्ण परम्परासे तथा दूसरी ओर आधुनिक तकनीकसे युक्त होकर उभयनिष्ठ पाठकोंको अपने ग्रन्थसे तृप्त, तुष्ट और पुष्ट करनेमें सिद्ध होंगे ही।

अनुभवसे सिद्ध है कि उत्तरोत्तर पश्चाद्वर्ती ग्रन्थ पूर्वापेक्षया अधिकाधिक पूर्ण, व्यवस्थित तथा दोषरहित लिखे जाते हैं। क्योंकि बादमें लेखकके सम्मुख पर्याप्त सामग्री उपस्थित रहती है जिसे वह गुण-दोषकी दृष्टिसे तौलता रहता है। हमारी दृष्टिसे डॉ० गजानन-शास्त्री जी बड़े परिपक्व अनुभवी विद्वान् हैं। संस्कृत क्षेत्रकी विभिन्न शाखाओंमें उन्होंने गहरी डुबकियां लगायी हैं। इसीलिए इस ग्रन्थमें आये सभी विषय 'पद-वाक्य-प्रमाण' की कसौटी पर कसकर सही उतरे हैं। प्रथम अध्यायसे सप्तम अध्याय तक आये प्रत्येक पदकी हर दृष्टिसे जांच हुई है। स्थल-स्थल पर पूर्वपक्ष करके उसका समीचीन उत्तर दिया गया है। आपने यह ग्रन्थ लिखकर सुधी पाठकोंका बहुत बड़ा उपकार किया है। इसी प्रकार ग्रन्थके द्वितीय लेखक डॉ० राजेश्वरशास्त्री हैं, जो घरानेके विद्याव्यसनकी दृष्टिसे

बहुत ही खरे उतरेंगे ऐसी पूर्ण आशा एवं विश्वास है। स्वकाय साधनमें सतत दत्तचित्त, विद्यार्थीके पञ्चलक्षणोंको चरितार्थ करने वाला, प्रतिभा-सम्पन्न, होनहार यह युवक अवश्य ही चमकेगा। ग्रन्थ लेखनके प्रारम्भसे ही प्रायः यह मेरे पास आकर सहजतः इस सन्दर्भमें चर्चा करता रहा है। उस समय मैंने इसे कुछ सामग्री तथा सूचनाएँ दी थीं। साथ ही मैं देखता रहा कि यह सतत पूर्ववर्ती इतिहास एवं सम्बद्ध ग्रन्थोंको पढ़कर उनमेंसे निष्कर्ष निकालता रहा है। स्वयं इसके घरानेमें ही पर्याप्त ग्रन्थसम्पत्ति है जिनको पढ़नेसे इसकी अपनी एक शैली बनी है। यह प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थसे सम्बद्ध प्रत्येक विचार अपने समादरणीय पितृव्य डॉ० गजानन-शास्त्रीजीके सम्मुख उपस्थित करता रहा तब वे उसका निर्णय कर उसे समाविष्ट करते रहे हैं।

यह ग्रन्थ जिज्ञासु पाठकोंको सन्तुष्ट करनेमें अवश्यमेव उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है इसमें यदि कोई कमी रह गयी होगी तो वह द्वितीय संस्करणमें ठीक हो जायगी। इसमें यदि शब्दकोश बन जाता तो पाठकोंको बड़ी सरलता हो जाती।

विनायक रामचन्द्र रटाटे

प्रस्तुत 'वैदिक साहित्य का इतिहास' हिन्दी भाषा में ग्रन्थ के रूप में ग्रथित करने वाले लेखक द्वय आचार्य प्रवर मीमांसाभूषण पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर एवं उनके भ्रातृज श्री राजेश्वर (राजू) मुसलगाँवकर वैदिक, दर्शन एवं साहित्य सम्बन्धी उपलब्ध संपूर्ण वाङ्मय के मर्मज्ञ हैं। अतः इस ज्ञान की धवल प्रभा से इस ग्रंथ के पाठक के अज्ञान तिमिर का निस्संदेह निवारण होना निश्चित है। वेद-वेदाङ्ग विषयक विवरण एवं विवेचन गंभीर एवं दुरूह होते हुए भी लेखक द्वय ने अपनी प्रतिभा से सहज एवं सुबोध बना दिया है तथा गागर में सागर भरने जैसा स्तुत्य प्रयास किया है।

आशा है इस ग्रन्थ के अध्ययन से वैदिक वाङ्मय के प्रति रूचि बढेगी एवं राष्ट्रिय ज्ञान सम्पदा की श्री में वृद्धी हेतु वाचक प्रवृत्त होंगे।

ना० गो० डोंगरे

निदेशक, साहू इण्डस्ट्रियल रिसर्च इंस्टीट्यूट सारनाथ, वाराणसी

मीमांसा दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् पं० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर और उनके भ्रातृज श्री (राजू) राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर के सम्मिलित प्रयास से प्रणीत 'वैदिक साहित्य का इतिहास' एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है, जिसमें वैदिक साहित्य के विविध आयामों का विवेचन सरल, सुबोध सारगर्भित एवं प्राञ्जल भाषा में किया गया है। वेद हमारी संस्कृति के मूल आधार हैं, जिनका ज्ञान प्रत्येक भारतीय के लिए आवश्यक एवं श्रेयस्कर है। वेदों को त्रयी भी कहा जाता है, यद्यपि वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन वेदों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए वेदों की अपौरुषेयता, स्वतःप्रामाण्य एवं नित्यता को मार्मिक युक्तियों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है। मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् के अन्तर्गत आने वाले मानव जीवन के नियामक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए जगदुत्पत्ति, सृष्टि एवं सृष्टिकर्त्ता, आत्मा का स्वरूप, और मोक्षादि विविध दार्शनिक विषयों का सूक्ष्म किन्तु सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय के जिज्ञासु पाठकों के लिए सर्वथा उपादेय है और अन्य विद्वानों के लिए हिन्दी भाषा में ऐसे ग्रन्थों के प्रणयन के लिए यह प्रेरणा स्रोत है।

श्री कृपाशंकर ओझा

प्रवक्ता, दर्शन एवं धर्मविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Vaidika Sāhitya kā Itihāsa—by Mimamsabhushan Gajananshastri Musalgaonkar and Rajeswarsastri Musalgaonkar.

Here is a book of history. On the Veda or Vedas and vedic literature. With a difference. We Hindus have our own view of ourselves. We have been there for *kalpakalpāntara*. From *sarga* (creation) to ***pratisarga*** (destruction). Cyclically, ***ad infinitum.*** We have our own way of making history and of writing it. It is our own ***prakṛtu*** (***avikṛta***) history from time immemorial.

Mimamsabhushan Pandit Gajanansastri and his able young nephew Rajeswarsastri have written it in the natural Hindu way We are there with our existence, feeling, act, knowledge, power and coexistential location. And we write about ourselves as we have realised things as Hindus. Time is one unbroken whole. It is not fancifully cut into pieces to vedic, pre-vedic and post-vedic...periods. And then fancifully pieced together. A super-caesarian operation making a mincemeat of mother ***ādyāśakti*** and the children she bears.

The ***jivātmā*** undergoes 8 million 400 thousand births. This occurs in the spatio-temporal dynamic

unfoldment (*kṣarabrahma*) aspect of the absolute individual (*puruṣottama*), which is continuous with the spaceless and timeless static (*nirguṇa nirākāra akṣarabrahma*) aspect of it. The process is beginning-less endless (*anādiananta*) cycles of evolution-steady state-involution (*sṛṣti-sthiti-laya*) spanning aeons and aeons of time (*kalpa kalpāntara* involving *manvan-taras yuga yugantaras*). This can be identified with the bigbang, steady state, black hole, diffusion or dissolution in or of the cosmosphere and in the remain-ing three, bio-socio-psycho spheres, with the birth growthdecay and death of species of organisms, of gregations of soeicties, of individuations of the absolute.

An excellent authentic history of the Hindus by two great evergreen Hindus, one old the other young, for the Hindus. And non–Hindus as well.

B. S. SANYAL.
(Retd. Prof. of Philosophy-Indian Institute of Technology, Bombay)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्ररत्नाकर-धर्मरत्न-धर्ममार्तण्ड-धर्म-
शास्त्रकाननप्रचण्डपञ्चानन-
महामहोपाध्याय **श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणानां**
चरणकमलयोः सादरसमर्पणम्



आनन्दकन्दयदुनन्दननामजन्य-
पीयूषपानरसमेदुरितान्तरङ्गाः ।
आनन्दरूपपरमात्मतदात्मभाव-
स्तत्तातपादान् वयमर्चयामः ॥

यत्पादपद्ममकरन्दकरम्बितान्तः
प्राप्तोस्मि लेखनकलासुलवप्रवेशः ।
लेखाधिराजगुरुदेववचस्य तस्य
हस्तेऽर्पयामि कृतिनः स्वकृतिं नवीनाम् ॥

मीमांसाभूषण
गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

उत वा यो नो मर्चयाद् नागत्सोऽ

करातीवा मर्तः सानुको वृकः ॥

बृहस्पते अप तं वर्तया पथः

सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि ॥

(ऋ. वे. २।२३।७)

॥ नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।

य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि

त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥

(शु. यजु. २०।३२)

पुरोवाक्

विवेकतः सर्वमान्य है कि वाङ्मयका प्रारम्भ ज्ञानार्थक शब्द-राशिरूप 'वेद' वाणी से ही हुआ है। अर्थात् विश्वका सर्वप्राचीन ग्रन्थ वेद ही है। हम भारतीयोंके लिए तो विशेष सौभाग्यकी बात यह है कि वाङ्मयकोशके आधारभूत मूल्यातीत इस सर्वाद्य ज्ञान–तत्त्वका प्रथम दर्शन और श्रवण-श्रावण हमारी भौगोलिक सीमामें ही हुआ हैं। त्रिकालाबाधित सत्यके प्रतिपादक, भुक्ति-मुक्तिके सम्पादक, आस्तिक दर्शनोंके ज्ञापक, किंबहुना नास्तिक दर्शनोंके भी मापक और इतनाही नहीं तो अवैदिक कहे जानेवाले बौद्ध आदि सम्प्रदायोंमें भी अक्षुण्णरूपसे वैदिक आचार पद्धतिके रूपमें ही क्यों न हो, वेद वहाँ भी सुरक्षित है हीं। ऐसे वेदतत्त्वको निर्विवाद रूपसे अवश्यमेव सर्वश्रेष्ठ धन मानना ही होगा। इस शब्दसागरके प्रत्येक बहुमूल्य रत्नतुल्य पदोंमें अलौकिक ज्ञान-विज्ञानका रहस्य छिपा हुआ है। इन प्रत्येक पदोंके आधारपर स्वतन्त्र रूपसे अनेकानेक अनुपम ग्रन्थोंकी विपुल रचनाएँ हुई हैं। लगता है कि ऐसी ही अनेक अप्रतिम विशेषताओंसे वशीभूत हुए ऐश्वर्य आदिसे मदान्ध विदेशी भी इन वेदोंपर मुग्ध हो गये हैं।

वेदका उपर्युक्त इतना महत्त्व होते हुए भी इस सन्दर्भमें जो एक प्रमुख न्यूनता खटकती रही है, वह है इससे सम्बन्धित एक व्यवस्थित ऐतिहासिक ग्रन्थका अभाव। ऐसी स्थितिमें समयकी आवश्यक मांग बन गयी थी कि पुराणेतिहास तथा वर्तमान शिक्षा प्रणालीकी औचित्यपूर्ण इतिहासमूलक गवेषणात्मक पद्धतिके आधारपर बौद्धिक जगत्में विचरनेवाले विषयसे सम्बद्ध बुद्धिजीवियोंका प्रथम कर्तव्य बन जाता है कि वे उसकी पूर्ति हेतु एक परिचयात्मक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखकर प्रस्तुत करें। जो पारम्परिक मूल्यों, शास्त्रीय मर्यादाओंके मान्यताओंके साथ साथ दुराग्रहोंसे पूर्णतया निर्लिप्त रहे। अर्थात् वह ग्रन्थ अधिकाधिक पूर्ण, शुद्ध और पवित्र बने। जिसे सर्वसाधारण जिज्ञासु सुधी पाठक पढ़कर तृप्त और सन्तुष्ट

हो सकें। इसी सद्भावना और आवश्यकतासे प्रेरित होकर यह साङ्गोपाङ्ग इतिहास ग्रन्थ प्रस्तुत है। आशा एवं विश्वास है कि परोसे गये इस सुस्वादु-सुपाच्य भोज्यसे भोक्तागण तृप्त-तुष्ट और पुष्ट हो सकेंगे। हम मानते हैं कि इसके पूर्व कुछ स्वनाम—धन्योंने विभिन्न रूपोंमें इस विषयपर लेखनी अवश्य चलायी है। किन्तु उनमें पूर्णताका अभाव देखा गया है। अर्थात् उनमें सभी रस सही ढङ्गसे नहीं व्यक्त हो रहे हैं। वास्तवमें यह विषय अति गंभीर है तो कहीं अतिशय नाजुक भी साथ ही इसके बहुतसे बिन्दु पल्लवग्राहीपण्डितों द्वारा विवादास्पद भी बना दिये गये हैं। अतः परेशानियाँ बढ़ गयी हैं। ऐसी स्थितिमें बड़ी सावधानी बरतनी पड़ी है। इन सभी बातोंको ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थमें हर पहलूपर विचार कर लिखनेका प्रयास किया गया है, कोई बात छोड़ी नहीं गयी है। इसकी साङ्गोपाङ्गता इसे पढ़नेपर ही स्वतः सिद्ध हो जायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में हमें पूर्वाचार्योंकी स्मृतिरूप पवित्र-किरणों से अलौकिक प्रकाश प्राप्त हुआ है, जिनसे इतिहास क्षेत्रमें प्रसृत ध्वान्तका उच्छेद हो सका है, उस शक्तिस्वरूप आभापुञ्ज किरण के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

प्रस्तुत इतिहास भारतीय दृष्टिसे अर्थात् शास्त्रीय पद्धतिसे लिखा गया है। इसमें गौराङ्गोंका उच्छिष्ट नहीं है। साथ ही उन्हें या उनके अनुयायियोंको रिझाने के लिए भी नहीं लिखा गया है। ऊपर वेदकी विशेषताओंसे अंग्रेजोंके वशीभूत होनेसे जो बात कही गयी है, वह अन्तर्दृष्टिसे वास्तवमें सही है। क्योंकि प्रसिद्ध है—अंग्रेजोंने इस वाङ्मयमें स्थित तत्त्वको बड़ी चालाकीसे अपने पास रख लिया और आजतक अगणित समय-श्रम और धन व्यय कर उसके अनेक सफल परीक्षण किये, और कर भी रहे हैं किन्तु बाह्य कृतिसे सीधे-सादे भारतीयोंको बेवकूफ बनाने तथा उनके खरे सिक्केको खोटा ठहरानेसे वे बाज भी नहीं आये हैं। उन्होंने सभी प्रकारके छल-छद्म किये हैं। दुर्भावनाकी दृष्टिसे अर्थका अनर्थ भी किया है। इस जघन्यताको हमें कथमपि भूलना नहीं चाहिए। इन्होंने अतीतसे चले आ रहे हमारे राष्ट्र-समाजके देदीप्यमान ऐश्वर्यशाली सुसंस्कृत गौरव को ध्वस्त ही किया है, धोखा दिया है, हानि पहुचायी है। ऐसी तमाम बारीकियोंको और भी ध्यान देकर

अपने राष्ट्र और समाज तथा आगे आनेवाली पीढ़ीके कल्याणार्थ यह इतिहास लिखकर प्रकाशित किया गया है। भारतीयताके स्वाभिमानी प्रत्येक हिन्दु ही नहीं अपितु सभी नीरक्षीर विवेकी जिज्ञासुको यह इतिहास अवश्य पढ़ना चाहिए, जिससे उन्हें वास्तविकताका ज्ञान हो सकेगा। (१) वेदोंको स्वीकारने वालों, (२) उनका विचार करने वालों-भाष्य-व्याख्या आदिके कर्ताओं (३) उसको कण्ठस्थ रखनेवालों (वैदिकों), (४) जपी-अनुष्ठानी तथा (५) वेदाध्यापकोंका प्रारम्भसे लेकर आजतकका विवरण इसमें अनुस्यूत है। साथ ही वैदिक देवताओं, ऋषियों और छन्दोंका विचार भी इसमें हुआ है। वेदसम्बद्ध विविध विद्याएँ, तकनीक आदिका ज्ञान-लाभ भी पाठकोंको इसे पढ़नेसे हो सकेगा और पाठक स्वयं यह अनुभव करेंगे कि सृष्टिके प्रारम्भमें ही हमारा शब्दज्ञान-वैभव कितना समृद्ध रहा है। इस ग्रन्थमें मुद्राराक्षसके आक्रमणका सामना करनेमें मैं असमर्थ रहा हूँ इसका मुझे खेद है। पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि वे भूलोंको स्वयं सुधारकर लें मेरे पितृव्य जिन गुरुजनोंसे पढ़ें हैं, वे हैं—

स्व० पिता—श्री महामहोपाध्याय सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर, स्व० पण्डितराज-राजेश्वरशास्त्रीद्राविड, स्व० गुरुचरण महामहोपाध्याय पं० अ० चिन्नस्वामी तथा मैं जिन गुरुजनों से पढ़ा हूँ, वे हैं—मेरे पूज्यपितृव्यचरण गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, पं० प्र० जयरामशास्त्री शुक्ल, वे० मू० पं० राजारामभट्ट निर्मले इन महान्विभूतियों को कृतज्ञतापूर्वक विनम्र नमन कर स्वीकारते हैं कि उनके आशीर्वादसे ही एतत् पूर्व अनेक ग्रन्थ लिखे गये और आज वेद जैसे गंभीर विषयका किञ्चित् मात्र बोध प्राप्त कर जो लिखा है वह सब उनकी कृपाका ही फल है।

साथ ही मुख्यतः इस इतिहासको लिखते समय हमें जिन मूर्धन्य वैदिकों, पण्डितों, लेखकों और अन्यान्य बन्धुओंने यथासमय जो विचार सुझाये हैं तथा और भी जिन अन्यान्य लोगोंने हमें एतदर्थ प्रोत्साहन, शुभेच्छाएँ तथा और भी सहयोग प्रदान किये हैं उन सभीके प्रति हम आभार व्यक्त कर रहे हैं। जिनमें से कुछने इस ग्रन्थके सम्बन्धमें अपने विचार भी व्यक्त किये हैं, जो इसी ग्रन्थमें यथास्थान प्रकाशित हैं।

मैं जिनका आभारी हूँ वे हैं--वैदिक-मूर्धन्य श्री विश्वनाथ-वामनदेव, वैदिक-मूर्धन्य पितृव्य श्री वंशीधरशास्त्री मुसलगाँवकर, वेदमूर्ति पं० विनायक रामचन्द्र रटाटे, मेरे पितृव्य पण्डितप्रवर ज्योतिषरत्न विनायकराव जोशी भोपाल, मेरे पितृचरण डाक्टर श्री केशव राव मुसलगाँवकर, मेरी मातृश्री सौ० प्रमिला मुसलगाँवकर, और डॉक्टर एन० जी डोंगरे, श्री नारायण गोविन्द किंजवडेकर डॉ० श्याम मुसलगाँवकर आदि महानुभावोंके प्रति मैं पुनः एक बार आभार व्यक्त कर रहा हूँ।

अन्त में ग्रथ को परिपूर्णता तक ले जाने में निरन्तर प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान करने वाली पितव्या डॉ० विमला मुसलगाँवकर, श्रीमती कुसुम गौड का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने निरन्तर कार्य में प्रवृत्त रहने की प्रेरणा दी।

अन्त में ग्रन्थ के सफलासफलत्व क निर्धारक पाठकवृन्दसे निवेदन है कि ग्रन्थ में जो कुछ भी संग्राह्य तत्व हैं वे सब गुरुजनों के आशीर्वाद के ही फल हैं, और परम्परा विरुद्ध या असम्बद्ध विवरण लेखनी से यदि प्रसूत हुआ हो तो पाठकगण उसे मेरी बुद्धि का दोष समझकर--

स्यादेव मेऽलसतया मतिमान्द्यतो वा
दोषः क्वचित्क्वचिदथापि न कापि शङ्का।
नैसर्गिकी खलु गुणीकरणप्रवीणा
शक्तिः सदा विजयते भुवि सज्जनानाम्॥

उसे क्षमा कर देंगे। इतना निवेदन कर मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

पौषशुक्लपक्ष, तृतीया
शुक्रवासरः सं० २०५०
दि० १४।१।१९९४)

विनम्रनिवेदक
राजेश्वरशास्त्री (राजू) मुसलगाँवक

भूमिका

अभिवन्द्य गुरुं तातं श्रीसदाशिवशास्त्रिणम् ।
[1]राजराजेश्वरं ध्यात्वा प्रबन्धो लिख्यतेऽधुना ॥

वैदिक साहित्य के इतिहास का अन्वेषण तथा समालोचन दीर्घतर काल से होता चला आ रहा है। मानव-दानव के इतिहास में शिक्षा तथा सभ्यता की उन्नति एवं अवनति के साथ-साथ वेद के विषय में कितनी ही कल्पनाएँ उठीं और वे अनन्तकालसागर में विलीन हो गईं।

इस संसार में एक भी जाति, एक भी देश ऐसा नहीं, जो अपनी उन्नति के दिनों में वेद की आलोचना मे वञ्चित रहा हो। प्राच्य-पाश्चात्य देशों में जहाँ मानव समाज अपना मस्तक उन्नत कर सका है, वहाँ चाहे स्व-पक्ष में हो या विपक्ष में हो वेद के विषय में उसने अपना मत अवश्य ही व्यक्त किया है। शास्त्रसमुद्र ने कितनी अनन्त रत्न-राशि को अपने गर्भ में धारण करके अपने 'रत्नाकर' नामको सार्थक किया है। आज कोई भी व्यक्ति वेद के विषय में चाहे जितनी कल्पना, जल्पना, आलोचना, प्रत्यालोचना, समालोचना क्यों न करे, वह सब अतीत की केवल पुनरावृत्तिमात्र है।

'वेद' के विषय में अनेक वितण्डावाद हैं। एक ही वेद के एक ही मंत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, उस कारण वास्तविक अर्थ को जानने का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया है। सत्यतत्त्व मानो छिप ही गया हो। परन्तु विभिन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह विभिन्नता तो स्वाभाविक ही है। क्योंकि 'वेद' तो निर्मल दर्पण के तुल्य है। दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है। वह जैसा होता है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब उसे दर्पण में दीखने लगता है। यदि वह सुन्दरांग है, तो सुन्दर, और विकृतांग है तो विकृत दृष्टिगोचर होता है। वैसे ही वेद में भी मनुष्य जिस भाव से देखना चाहेगा, उसको वैसा ही प्रतीत होगा। यदि वह उसको कृषकों का गान समझेगा, तो कृषकों का गान और परमेश्वर की स्तुति समझेगा तो परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना ही विदित होगी। वेद तो दर्पण स्वरूप है।

---

1. स्व० पद्मभूषण-पण्डितराजराजेश्वरशास्त्रिद्राविड़चरणा मदीयगुरुचरणाः । धर्ममार्तण्डा महावैयाकरणाः स्व० म. म. श्रीसदाशिवशास्त्रिणो मम पितृचरणाः ॥

आज के युग में जनसाधारण को एक जिज्ञासा बराबर बनी रहती है कि 'वेद क्या हैं' ? विचार करने पर समझ में आता है कि ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर 'वेद' शब्द बना है। 'विद्' धातु का अर्थ है 'जानना'। अर्थात् वेद के बिषय को जानना। वेद का विषय है—धर्म (कर्तव्य) और अधर्म (अकर्तव्य), सत्य और असत्य, स्वरूप और अस्वरूप ये सब वेद के विषय हैं। इन विषयों की जानकारी 'वेद' से ही हो पाती है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जिसके द्वारा मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकार के ज्ञान का जानकार हो जाता है, उसी को कहते हैं—'वेद'। वेद से ही ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। 'विद्यते ज्ञायते परमेश्वरः अनेन इति वेदः'—इस व्युत्पत्ति से भी उक्त अर्थ ही निष्पन्न होता है। यही 'ज्ञान' सत्य है, नित्य है, सनातन है और अपौरुषेय है। एवं च 'ज्ञान' ही धर्म है, और 'ज्ञान' का विपर्यय ही अधर्म है। 'वेद' सत्य है, नित्य है, सनातन है, और अपौरुषेय है।

वेद विहित कर्म ही 'धर्म' है, और जो वेद विहित नहीं है अथवा वेद ने जिसे 'अधर्म' कहा है, वह 'धर्म' नहीं है, अर्थात् वह 'अधर्म' है। जिसका ज्ञान, प्रत्यक्ष या अनुमान से भी नहीं हो सकता, उसका 'ज्ञान' वेद के द्वारा हो जाता है।[1]

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतद् विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥'

जो स्वतः प्रमाण है अर्थात् जिसके 'प्रामाण्य' में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती, वही 'वेद' है। महर्षि आपस्तम्ब ने कहा है कि 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—मंत्र और ब्राह्मणरूप शब्दराशि ही 'वेद' है। मन्त्र-ज्ञानकारक है और ब्राह्मण, कर्मविधि–प्रवर्तक है। जब मंत्र के अर्थ का ज्ञान नहीं होता, तब तक वैदिक कर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। जब तक कर्म का ज्ञान नहीं होगा, तब तक कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं होगी, प्रवृत्ति के न होनेपर कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकेगा, अनुष्ठान के अभाव में कर्मफल से वञ्चित रहना पड़ेगा। मंत्रों के ज्ञानकारक होने में निरुक्तकार महर्षि यास्क कहते हैं—'मननात् मन्त्राः' अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वर और

---

१. वेदप्रणिहितो धर्मः अधर्मस्तद्विपर्ययः'।

गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती आदि छन्दों के साथ-साथ उच्चारित शब्द-समुदाय, वेदविहित कर्म में प्रवृत्ति रूप ज्ञान को उत्पन्न करा देता है अर्थात् मनन करा देता है, अत एव उनको 'मन्त्र' कहा गया है। अर्थोपलब्धि होने से मन्त्र, कर्मज्ञानप्रवर्तक हो जाता है। और ब्राह्मण यह बताता है कि 'कर्म' का अनुष्ठान किस प्रकार करने से मनुष्य यथोक्त फल का अधिकारी हो सकता है। अर्थात् 'कर्म' का विधान कर उसकी अनुष्ठानप्रक्रिया को ठीक-ठीक बताने वाला 'ब्राह्मण' है। कर्म और ज्ञान का नित्य संबन्ध है। अर्थात् ज्ञानरूप वेद और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यह ज्ञानमय वेद, स्वतः-प्रमाण है, सत्य है, सनातन है उसका परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। वह अपौरुषेय है, मनुष्य की शक्ति नहीं है कि 'वेद' का निर्माण कर सके। वेद, यथार्थ ज्ञान है। वह सत्य है, 'सत्य' जैसा आज है, कल भी वैसा ही बना रहेगा, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होना सभव नहीं है, उसी प्रकार जो 'वेद' है, वह 'यथार्थज्ञान' है, वह हमेशा अविकृत, अविनाशी है, और अविनाशी ही बना रहेगा। भगवती श्रुति कहती है—"विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्" अर्थात् 'ज्ञान' ही ब्रह्म है और 'ब्रह्म' ही ज्ञान है। अत एव हमारे ऋषियों ने कहा है--"न वेदा वेदमित्याहुर्वेदोब्रह्म सनातनम्" - अर्थात् मंत्रों का समूह जिसमें लिखा है उस पुस्तक को 'वेद' नहीं कहते, किन्तु 'वेद' संज्ञा सनातन 'ब्रह्म' की है। अर्थात् जो सत्यस्वरूप में ज्ञानस्वरूप में और प्रमाणस्वरूप में निरन्तर विद्यमान है, वही सनातन 'वेद' है।

पुनः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वेदों—(ऋक्-यजु-साम-अथर्व) की जो पुस्तके हैं, क्या उन्हीं को 'वेद' शब्द से कहा जाता है? यदि उन पुस्तकों को वेद कहा जाता हो तो उन्हें 'पौरुषेय' भी मानना होगा, उन्हें 'अपौरुषेय' कहना उचित नहीं होगा।

ऊपर बता चुके हैं कि 'वेद' तो 'सत्य-ज्ञान' और 'प्रमाण' स्वरूप है। उसे 'पुस्तक' रूप कहना केवल मूर्खता ही है।

ऋक्-यजुः-साम-अथर्ववेद में उपलब्ध होने वाले मंत्र तथा इनके ब्राह्मण दोनों ही अपौरुषेय हैं, स्वतः-प्रमाण हैं और नित्य, सत्य, सनातन हैं। इन मंत्रों के उच्चारण में 'गायत्री' आदि छन्द, उदात्तादि स्वर, और उच्चारण आदि का विधिवत् पालन किये

जानेपर फलप्राप्ति अवश्य ही होती है। विधिवत् पालन न करके शुभफल की आशा करना दुराशामात्र है।

उदाहरणार्थ 'जगदीश' नाम के किसी व्यक्ति को पुकारने के समय यदि जगदीश के स्थानपर 'ज्योतिष' कहकर पुकाराजाय, तो क्या 'जगदीश' उसका कुछ उत्तर देगा ? वह तो ऐसा सोचेगा कि मुझको नहीं, किसी अन्य को पुकार रहा है। इस लिये वह अवश्य ही उसकी उपेक्षा कर जायगा। किन्तु उसको वास्तविक नाम से पुकारने पर वह अवश्य ही उत्तर देगा।

इसी प्रकार 'देवदत्त' नामका कोई बड़ा व्यक्ति है। मार्ग में जाते हुए उसको, उससे सम्बन्ध न रखनेवाला कोई अनजान अधम व्यक्ति, उसका वास्तविक नाम लेकर भी पुकारे, तो क्या 'देवदत्त' उसपर ध्यान देगा ? कदापि नहीं, क्योंकि उस पुकारने वाले का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे पुकारने का अधिकारी कोई सम्बन्धी व्यक्ति ही हो सकता है। यही अधिकारी और अनधिकारी में भेद है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो वेदमंत्र जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रयुक्त किया जाता है और जिसने उस मन्त्र से सम्बन्ध स्थापन करने की योग्यता प्राप्त करली है, वही व्यक्ति उसको पुकारने का अधिकारी हो सकता है। उसी के पुकारने पर उसका ध्यान जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर मन्त्रों के नित्यत्व और प्रामाण्य के विषय में जो भी संशय हुआ करते हैं, उन सभी का खण्डन हो जाता है।

वेद रचना का काल निर्णय करने में आधुनिक, अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षित लोग अपनी बुद्धि का दुरुपयोग और समय का अपव्यय करते रहते हैं। जो वस्तु, जितनी ही अतीत के गहरे गर्त में उतरती जाती है, उसके लिये कल्पना के घोड़े उतने ही अधिक दौड़ाये जाते हैं। तथा जो वस्तु जितनी हो विस्मृति के गाढ़ अंधकार में आच्छन्न होती जाती है, उसके स्वरूप के विषय में उतने ही मतभेद बढ़ते जाते हैं, और जिसकी दृष्टि जितनी ही पहुँच सकती है, वह व्यक्ति उतना ही प्राचीन सनातन वस्तु की उत्पत्ति का निर्णय करने में समर्थ होता है। ठीक यही दशा आज हमारे 'वेद' को हो रही है। आज उसके तत्त्व को प्राप्त न कर सकने के कारण ही उसके निर्माण काल के विषय में इतने वितण्डावाद प्रचलित हो पड़े हैं। उसके परिणामस्वरूप पाश्चात्यमतावलम्बी पुरातत्त्ववेत्ताओं की गवेषणा

वेद की आयु, ईसापूर्व चार सहस्र वर्ष से अधिक नहीं बतला पायो। कुछ विद्वानों ने ईसापूर्व पाँच हजार वष, अथवा उससे भी कुछ पूर्व बतलाते हैं। इसी प्रकार अनेक लोगों ने अपने अनेक विचार प्रकट किये हैं।

इनमें से किस विद्वान् का मत ग्राह्य है और किसका मत अग्राह्य है, इसका निर्णय करना ही कठिन हो गया है। अतएव इन विभिन्न मतों पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार वेद के रचयिता के सम्बन्ध में भी वितण्डावाद है। वेद की प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में प्रत्येक सूक्त के पूर्व 'छन्द' आदि के नामों के साथ-साथ उनके विनियोगकर्ता एक-एक ऋषि का नाम भी उपलब्ध होता है। इसी को देखकर आधुनिक स्वयंभू विद्वान् कह उठते हैं कि—'अमुक-अमुक 'सूक्त,' अमुक-अमुक ऋषि का बनाया हुआ है। इस प्रकार कुतर्क के सहारे अपने आप स्वयं ही निर्णय कर लेते हैं। किन्तु भूलना न होगा कि 'कुतर्क' के सहारे कोई निर्णय नहीं हुआ करता। निर्णय तो 'शास्त्र' और 'युक्ति' से ही होता है।

'विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावे च साक्षिणः।
साक्ष्यभावास्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः'॥

जहाँ विवाद बढ़ जाता है, वहाँ 'प्रमाणपत्र' की आवश्यकता होती है, उसके अभाव में 'साक्षी' की और उसके अभाव में 'शपथ-दिलाने' की आवश्यकता हुआ करती है। तदनुसार प्रस्तुत में भी जब वेद के निर्माणकाल में तथा निर्माता के विषय में इतना मतभेद उपस्थित हो चुका है, तब तो लिखित पत्र के रूप में 'प्रमाणपत्र' की आवश्यकता है। प्रमाणपत्र की माँग होनेपर वैदिक लोगों ने प्रमाण-पत्रस्वरूप 'शास्त्रग्रन्थों' को उपस्थित कर दिया। शास्त्रग्रन्थों ने कहा 'जो सत्य है, नित्य है, सनातन है, उसके लिये आजकल के बरसाती मेंढक के तुल्य टर्र-टर्र करने वाली पुस्तकें, तथा आजकल की गवेषणा कहाँ तक पता लगा सकती है?

महर्षि पराशर ने लिखा है—"न कश्चिद् वेदकर्ता च वेदस्मर्ता चतुर्मुखः"। वेद का कर्ता अर्थात् वेद को बनाने वाला कोई 'पुरुष' नहीं है, लोक–पितामह ब्रह्मा भी वेद के स्मरणकर्ता हैं, रचयिता नहीं हैं। सम्पूर्ण सृष्टि के आदि कर्ता लोक–पितामह ब्रह्मा हैं, उनके

पूर्व भी वेदमंत्रों की विद्यमानता थी। अतः वेदों का अस्तित्व, सृष्टि के पूर्व भी सिद्ध हो जाता है। मनु कहते हैं।

"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" ॥

उक्त वचन से सिद्ध हो रहा है कि 'वेद', सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था, और उसी की आज्ञानुसार पदार्थों का नाम, कर्म और वृत्ति का विभाग किया गया था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी 'वेद' को संपूर्ण भूमण्डल का 'आदिग्रन्थ' मान रहे हैं।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है

"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत" ॥

सृष्टि के आदिभूत उस परम पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद, छन्द और यजुर्वेद आविर्भूत हुए। सृष्टि जब अनादि मानी जाती है, तो वेद को अनादि मानने में भी संकोच नहीं होना चाहिये। अतः वेद के रचनाकाल का प्रश्न ही नहीं उठता। और सूक्तों के विनियोग में जो ऋषियों के नाम पाये जाते हैं, उन्हें रचयिता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ऋषि तो उन मन्त्रों के प्रयोग करने वाले हैं।

आज के युग में भी प्राचीन परम्परा के अनेक घरों में कुल-परम्परागत अनेक मन्त्रों का प्रचार पाया जाता है। तत् तत् कुल के लोगों ने उन मन्त्रों को आगे आने वाली पीढ़ी के कल्याण के लिये उन मन्त्रों को लिख के भी रखा है। केवल लिख रखने मात्र से वे उन मन्त्रों के रचयिता (कर्ता) नहीं कहे जाते। क्योंकि उन्होंने भी उन-उन मंत्रों को अपने पिता-पितामह आदि से ही प्राप्त किया था। जैसे गायत्री मंत्र, प्रत्येक द्विजकुल में - पुत्र ने अपने पिता से और उसने अपने पिता से उसने भी अपने पिता से पाया है, किन्तु इसका पता न तो किसी को आजतक चला है, और न उसका पता चल पाने की संभावना ही है, कि वह गायत्री मन्त्र सर्वप्रथम किसने किससे प्राप्त किया था। यही स्थिति अन्यान्य सभी मन्त्रों की है। अर्थात् जो वेद–शाखा जिस वंश में उसकी परम्परा से चली आ रही है, उस वंश (कुल) के लोग उस वेदशाखा के प्रवर्तक का पता तो चला पाते हैं, किन्तु रचयिता का पता आजतक किसी को नहीं चल पाया है। इससे

यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के आदिकाल से जो वेदशाखा जिसके कुल में सतत चली आ रही है, उसका रचयिता कोई नहीं है, केवल उस शाखा का कोई पुरुष प्रवर्तकमात्र ही रहता है। अतः 'वेद' किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है. अपितु प्रवर्तितमात्र है। वेदमन्त्र यद्यपि स्वतः शक्तिसम्पन्न हैं, तथापि मुख्य-मुख्य विनियोग के विना उनके विकास का अनुभव नहीं हो सकता। वेद' तो ज्ञानस्वरूप है, वह अनादि, अव्यय और अविकृत ही रहेगा।

श्रुति कहती है—

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

जैसे एक ही अग्नि संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर उसी पदार्थ का प्रतिरूप हो जाता है, और जैसे एक ही वायु सम्पूर्ण संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहकर वही पदार्थ का प्रतिरूप धारण करता है, वंसे ही परमात्मा एक होकर भी संसार के स्थावर-जंगम पदार्थों के भीतर और बाहर विराजमान है। ठीक यही स्थिति 'वेद' की भी है। 'वेद' एक होनेपर भी अनेकों में विद्यमान है, प्रत्येक शास्त्र के मूल में वह अवस्थित है। अर्थात् सभी भारतीय-शास्त्र वेदमूलक हैं। जितने भी शास्त्रग्रन्थ हैं, वे सब वेद की व्याख्या मात्र हैं। वेद तो एक, अद्वितीय, अनादि और अव्यय है। जैसे 'परमेश्वर' एक और अद्वितीय होकर भी मानव समाज का कल्याण करने के लिये समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में अवतीर्ण होता हैं, वंसे ही 'वेद' भी एक और अद्वितीय होकर भी लोक-कल्याणार्थ भिन्न-भिन्न रूपों में अर्थात् ऋक्, यजुः, साम के रूप में विभक्त होकर तीन रूपों में प्रकट हुआ है। अतएव 'वेद' को अन्य संज्ञा 'त्रयी' भी है। उसके ऋक् भाग में 'पद्य', यजुर्भाग में 'गद्य', और सामभाग में 'गीत' है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने 'वेद' को चार भागों में विभक्त किया। उसी कारण 'कृष्णद्वैपायन' का नाम 'वेदव्यास' प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने यज्ञकर्म की सुविधा के अनुसार 'वेद' का चार भागों में विभाजन किया। यज्ञ के प्रयोजनीय विषय

को छोड़कर जो अन्य उपयोगी विषय था, उसे उन्होंने 'अथर्ववेद' के नाम से संगृहीत किया। 'अथर्व' शब्द का अर्थ--'यज्ञ में अप्रयोजनीय मन्त्र' ही है। अतः स्पष्ट है कि एक ही वेद, चार भागों में विभक्त किया गया। जो अनन्त शाखाओं के रूप में स्थित होकर अपनी छत्रछाया में संसार को सुखमय ज्ञान का लाभ पहुँचा रहा है। यह वेद ही समस्तशास्त्र, समस्तज्ञान, और सभी धर्मों का मूलभूत है। यही सभी समाज, सभी लोगों का प्राणस्वरूप है। ज्ञान की प्राप्ति में सभी का अधिकार समान होने पर भी वेदाध्ययन में अनेक प्रतिबन्ध क्यों लगाये गये हैं? अधिकारी-अनधिकारी की चर्चा क्यों की जाती है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। गंभीर विचार करनेपर मानना पड़ता है कि पूर्ववर्ती महापुरुषों ने धर्मशास्त्रकार मनु-याज्ञवल्क्य जैसे महर्षियोंने इस विषयपर बहुत गंभीर विचार कर के ही निर्णय किया है। पर्वत के शिखरपर चढ़ने के लिये प्रथमतः पर्वत के मूल प्रदेसपर पहुँचना पड़ता है। तदनन्तर मध्यभाग, पश्चात् शिखर प्रदेशपर पहुँचने की चेष्टा की जाती है। उसीतरह वेदरूपज्ञान की प्राप्ति के लिये भी सीढ़ी दर सीढ़ी अग्रसर होना पड़ता है। हठात् एक सूक्त एक मन्त्र को कण्ठस्थ या बाचलेने से उसका मन-माना अर्थ करलेने मात्र से वेदाध्ययन की समाप्ति नहीं कही जाती। वेदाध्ययन के लिये सर्वप्रथम 'वेदाङ्गों' का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। अनादिकाल से 'वेद' को अभ्रान्त प्रमाण के रूप में माना जा रहा है। 'वेद' में अनादिकाल से आजतक तथा आगे भी अनन्तकाल तक कभी एक अक्षर का भी परिवर्तन न हुआ और न होने की संभावना ही की जा सकती है। इस रहस्यभूत तथ्य का ज्ञान वेदाङ्गों के जानने पर ही हो सकता है। वेदाङ्गों का प्रथमतः अनुशीलन किये बिना 'वेद' में प्रवेश करना संभव नहीं है। वेद को समझने के लिये ही 'वेदाङ्गों' की प्रवृत्ति हुई है। इन वेदाङ्गों को 'षडङ्ग' के नाम से कहा जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष' इन्हीं षडङ्गों से ही वेदों का गूढ़ तत्त्व समझ में आता है। इन षडङ्गों के अतिरिक्त वेद के अध्ययन में सहायक 'पद' क्रम, जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन आदि को भी पढ़ना पड़ता है। उपर्युक्त क्रम आदि के अवान्तर भेदों को भी जानना आवश्यक होता है। इनके

अतिरिक्त 'ब्राह्मण', आरण्यक' 'उपनिषत्' का अध्ययन करना पड़ता है। उपर्युक्त सहायक ग्रन्थों में से एक-एक को पारकर वेदरूप गंभीर अनन्त रत्नाकर में प्रवेश हो पाता है। जो अल्पबुद्धि हैं, जो समुद्र के तट तक भी नहीं पहुँचे हैं, वे ज्ञानरत्नाकर के भीतर प्रवेश करने की आशा कैसे कर सकते हैं ? वेदाध्ययन के सहायक षडङ्गों में से प्रथम अंग 'शिक्षा' है। 'शिक्षा' से वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, और साम—इन पाँचों का ज्ञान होता है। यदि अकारादिवर्णों का ठीक-ठीक ज्ञान न हो, यदि उदात्तादि तीन प्रकार के स्वरों का ज्ञान न हो, यदि ह्रस्व, दीर्घ, संयुक्त आदि का ज्ञान न हो, यदि उच्चारण के स्थानादि एवं साम्यगुण आदि का ज्ञान न हो तो वेदाध्ययन कैसे हो सकेगा ? तीन प्रकार के स्वरों का उच्चारण ठीक न करनेपर स्वर विकृत हो जाता है। परिणामस्वरूप विकृत स्वरवाले मन्त्रोंच्चारण से अशुभ फल प्राप्त होता है। आपस्तम्ब, बौधायन, आश्वलायन प्रभृति ऋषियों के विरचित सूत्रसमूह को 'कल्पग्रन्थ' कहते हैं। इनमें यागप्रयोग की विधि बतायी गई है। किस प्रणाली से यज्ञ का आरम्भ होगा, किस मंत्र का कब उच्चारण किया जायगा, ऋत्विज्, होता, पुरोहित को यज्ञ में कौन सा कार्य किस प्रकार करना होगा—यह सब कल्पसूत्र में बयाया गया है। कल्पसूत्र को 'वेदपुरुष' का 'हाथ' कहकर उसकी महिमा प्रकट की गई है। 'व्याकरण' को 'वेदपुरुष' का 'मुख' कहा गया है। व्याकरण को छोड़कर वेदों में प्रवेश करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। व्याकरण के अतिरिक्त किसी भी दूसरे प्रकार से 'अर्थ' का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थज्ञान न होनेपर वेदाध्ययन तथा कर्मानुष्ठान सभी व्यर्थ है। वेद का स्वरूप जानने के लिये 'वेद' क्या हैं ? उसे जानने के लिये व्याकरण का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वैदिक साहित्य के परिचयार्थ 'प्रातिशाख्य' व्याकरण आदिभूत है। सभी वेदों के प्रातिशाख्य भिन्न-भिन्न हैं। उच्चारण और छन्दः प्रभृति के परिज्ञानार्थ प्रातिशाख्य की आवश्यकता होती है। प्रातिशाख्यों का अनुसरण करने के कारण ही पाणिनि, कात्यायन, व्याडि, गालव, भागुरि, पतञ्जलि, वर्षप्रभृति वैयाकरण विश्वविख्यात हुए हैं। इनके व्याकरणानुसार पीछे जो 'भाषा' प्रवृत्त हुई, वह वेद की भाषा से कुछ विभिन्न हुई। पाणिनि के पूर्व कितने ही वैदिक व्याकरण विद्यमान थे, जिनमें आपिशली, काश्यप, गार्ग्य, गालव, शक्रवर्मन्,

भारद्वाज, शाकल्य, सेनाकाश, काशकृत्स्न, स्फोटायन आदि भी है। कहते हैं कि उस समय सन्धि, सुबन्त, तद्धित, कृदन्त आदि के परिज्ञानार्थ भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का अनुसन्धान करना पड़ता था। पाणिनि ने उन सबको सूत्रों में ग्रथित कर 'अष्टाध्यायी' नाम के व्याकरण की रचना की।

वेदाङ्ग के दूसरे ग्रन्थ का नाम 'निरुक्त' है। वैदिक शब्दों और वैदिक वाक्यों का अर्थ, 'निरुक्त' से स्पष्ट होता है। अर्थबोध के लिये निरुक्तकारों में 'यास्क' का नाम विशेष विख्यात है। 'स्थौलाष्ठीवी', 'और्णनाभ', और 'शाकपूणि' प्रभृति विरचित निरुक्त ग्रन्थों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। 'निरुक्त' ग्रन्थों को वेदपुरुष का 'कान' कहते हैं। शिक्षा अथवा स्वरविज्ञान के पश्चात् 'छन्दोविज्ञान' की उपयोगिता का अनुभव होता है। छन्दों के 'बीज' वेद में, 'अंकुरोद्गम' आरण्यक में और शाखा-प्रशाखा का अनुभव 'उपनिषद्' में होता है। छन्दोज्ञान के विना रस, गुण, दोष, आदि की उपलब्धि नहीं होती। उच्चारित शब्दों का प्रवेश 'हृदय' में नहीं हो पाता। इसी लिये 'छन्द' की प्रधानता मानी गई है। वेद में प्रधानतया 'सात छन्दों' का उल्लेख पाया जाता है—'गायत्री' उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ्, और जगती। चौबीस अक्षरों का और तीन चरणों का छन्द 'गायत्री' कहलाता है। उष्णिक् छन्द में अट्ठाईस अक्षर, 'अनुष्टुभ्' में बत्तीस अक्षर, 'बृहती' में छत्तीस, 'पङ्क्ति' में चालीस, 'त्रिष्टुभ्' में चवालीस, और 'जगती' में अड़तालीस अक्षर होते हैं। महर्षि कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणिका' ग्रन्थ में इन सात वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है। विद्वानों ने 'छन्द' को वेदपुरुष का 'पद' कहकर उसका गुणगान किया है। ये सात छन्द 'वैदिक छन्द' कहलाते हैं। बाद में रचे गये छन्द 'लौकिक छन्द' के नाम से विख्यात हैं। लौकिक छन्दों के प्रवर्तक महर्षि वाल्मीकि हैं। छठा वेदाङ्ग 'ज्योतिष' है, जिसके द्वारा ग्रहों की गति, उनका वक्री—मार्गी होना, तथा उदयास्त होने का पता चलता है। यज्ञकर्म के अनुष्ठान का आरम्भ तथा समाप्ति कब करनी चाहिये, उसी तरह लौकिक कर्मों की आरम्भ-समाप्ति कब करनी चाहिये आदि बातों को उसी से जाना जाता है। निर्दिष्ट समय में कार्यारम्भ तथा समाप्ति न होने से शुभफल की प्राप्ति नहीं होती। उस कारण ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है। आजकल

लगधज्योतिष का उपयोग किया जाता है। ज्योतिषशास्त्र को 'वेदपुरुष' का 'नेत्र' कहा गया है। जो व्यक्ति जिस वस्तु का मर्म समझने में असमर्थ है, उसको वह वस्तु देने से उसे क्या लाभ होगा ? दूध पीनेवाले बच्चे को मणि-माणिक्य मिलनेपर उन्हें निगलने की वह कोशिश करता है। वह नहीं जानता है कि मणि-माणिक्य का आदर क्यों किया जाता है। अज्ञानी बच्चे को बहुमूल्य रत्न मिलने पर भी वह अज्ञानपूर्वक उसे फेंक दे सकता है। जौहरी का शिशु अज्ञ बालक अपने घर में रखे हुए रत्नों को अंटे समझकर उन्हें स्कूल में खेलने के लिये ले जाता है। इसलिये उसे रोकना ही ठीक समझा जाता है। उसी प्रकार जिन में वेदों का मर्म समझने की शक्ति नहीं है, उनको वेदाध्ययन करने से रोकना ही उचित है। न रोकनेपर उन्हें विपरीत फल की ही प्राप्ति होगी। जो अमृत अथवा विष का व्यवहार करना नहीं जानता उसे प्रतिकूल फल ही मिलता है। किन्तु इस तथ्य को न जानकर अविवेकी लोग, ब्राह्मणों को स्वार्थी आदि अपशब्दों का प्रयोग करते हुए अहर्निश कोसते रहते हैं, और कहते फिरते हैं कि जनसाधारण को वेदाध्ययन करने का अधिकार क्यों नहीं है ? ब्राह्मणों ने अपना ही अधिकार क्यों समझ रखा है ? इत्यादि अनर्गल प्रलाप करते हुए अपने थोथे साम्यवाद को समाज के सामने उपस्थित करते रहते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि जनसाधारण के लाभार्थ समानभाव से ब्राह्मणों ने कैसे-कैसे प्रयत्न किये थे, ब्राह्मण कैसे साम्यवादी थे ?

ब्राह्मणों ने सबके प्रति समानभाव रखकर मुक्त कण्ठ से जो उद्घोष किये है, उन्हें अथर्ववेद बता सकता है—

> **"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।**
> **प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्र उतार्य्यै" ॥**

हे जगदीश्वर ! देवदलों के लिये ही प्रिय विधान न करना। और तुम्हारा प्रेम केवल राजाओं तक ही सीमित न रहे। क्या शूद्रजाति और क्या आर्यजाति—सब के प्रति समान दृष्टि रखो। इस ऐतिहासिक कथन से स्पष्ट हो रहा है कि ब्राह्मणवर्ण किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थी नहीं था। अन्यथा ऐसी प्रार्थना वे कभी न करते। ब्राह्मणों ने सर्वदा ही ज्ञानी-अज्ञानी, सबल-निर्बल, धनी-गरीब, आर्य-अनार्य, मनुष्य मात्र का ही प्रिय और अभीष्ट सिद्ध हो—यही

कहा है। जिन तपःपूत ब्राह्मणों के हृदय से समभाव के वचन निकलते रहते हैं, और जो समाज में सदा-सर्वदा से समादृत होते आ रहे हैं, उन तपःपूत महात्माओं को स्वार्थी एवं विजाति-मूलोच्छेदक आदि समझना कहाँतक संगत है ? क्या यही साम्यवाद आज के साम्यवादियों का है ? साम्यभाव का विकास ऋग्वेद के मंत्र में दृष्टिगत होता है। मन्त्रद्रष्टाऋषि प्रार्थना करते हैं-- हे संसार के मनुष्यों ! तुम अभिन्न हृदय से कार्यक्षेत्र में प्रवेश करो। तुम्हारे वाक्य परस्पर अविरुद्ध तथा अभिन्न हों, तुम्हारे मन, बिना किसी विरोध के परम ज्ञान को प्राप्त करें। समान चित्त, समान मन्त्र, समान मत, और समान मन होकर तुम लोग कार्य करो। तुम्हारी आकांक्षायें समान हों, हृदय एक हों, इत्यादि साम्यभाव जगाने वाले ऋग्वेद के मन्त्रों की ओर दृष्टिपात करने से मन की कलुषित भावना दूर हो सकती है।

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥"

ज्ञान किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं। ज्ञानस्वरूप वेद ने कहीं भी एकदेशदर्शितामूलक भाव की घोषणा नहीं की है। सभी समान हों, सभी समान ज्ञानी हों, सभी ज्ञानमय के दिव्य प्रभाव के दर्शन करें, किन्तु एक शृङ्खला से मर्यादित होकर करें, अर्थात् एक क्रमविकास की धारा में प्रवाहित होकर ही सबको अभ्युदय का मार्ग अपनाना होगा। केवल जन्म प्राप्त करने से ही एकाएक किसी को बोलने की, चलने की शक्ति नहीं आ जाती और पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त होता है, अपितु सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़ते जाने से ही ज्ञान-राज्य में प्रवेश होता है। विश्वविधाता का यही विधान है। सभी को एक विशिष्ट नियम के द्वारा ही अग्रसर होना होगा। उसके इस नियम का उल्लंघन करने की क्षमता किसी में नहीं है। वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसके किये नियम के द्वारा ही आगे बढ़ना होगा। तभी वेदरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

वेद ही हिन्दुओं का धर्म है, वेद ही हिन्दुओं का कम है, और वेद ही हिन्दुओं का हिन्दुत्व है। निष्कर्ष यह है कि वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करनेवाले ही हिन्दू कहलाते हैं। हिन्दू होने के लिये वेद के अनुसार चलना पड़ता है। अर्थात् 'वर्णाश्रम'–व्यवस्था को तथा 'मन्त्रशक्ति' को मानना आवश्यक होता है। वेदों को मानना ही हिन्दू का धर्म है। वेदोक्त धर्म ही हिन्दूधर्म है। हिन्दू विश्वास करते हैं कि जाति-वर्ण का निर्माण मनुष्य ने नहीं किया है, स्वयं ईश्वर के द्वारा तत्तत् प्राणियों के कर्मों के अनुसार उन्हें किया गया है। हिन्दू विश्वास करते हैं कि जन्मान्तर का कर्मफल ही अदृष्ट के रूप में प्रतिभासित होता है। हिन्दुओं का ईश्वर अवाङ्मनसगोचर अनादि अनन्त है। फलतः हिन्दू कभी साकाररूप में नाम-मूर्ति की कल्पना करके ईश्वर की उपासना करते हैं, और कभी निराकार चैतन्य कहकर भी तन्मय हो जाते हैं। एकमेवाऽद्वितीयम्, अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् आदि अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रकार नाना श्रेणी के लिये नाना पथ निर्दिष्ट किये गये हैं। इसी को अधिकारी–भेद कहा गया है। जिनकी जैसी शक्ति है, जिनका जेसा ज्ञान है, जिनकी जैसी ध्यान-धारणा है, वे उसी प्रकार के अनुष्ठान के अधिकारी हैं। यही हिन्दुओं का अधिकार–भेद है।

वेद में सभी श्रेणी के हिन्दुओं के समस्त उपासनाओं की सारसामग्रियाँ निहित हैं। आजकल अनेक सम्प्रदायों की जो उपासनापद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे सभी वैदिक उपासना की नकल मात्र हैं। सभी मनुष्यों का सामर्थ्य एकसा नहीं है, इसलिये सीढ़ी की तरह भिन्न-भिन्न स्तर की योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुष्ठान–पद्धतियाँ बताई गई हैं। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म, वैज्ञानिक है। अधिकारभेद का तत्त्व समझमें आनेपर किसी का किसी से विरोध होने की कोई सम्भावना ही नहीं है। विचारशून्य लोग कहा करते हैं कि वेद में जातिभेद नहीं है और सृष्टि के आदिकाल में भी जातिभेद नहीं था। किन्तु उन विचारशून्य लोगों को शान्तचित्त से समझने की कोशिश करनी चाहिये कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसका विचार किया गया है। उसे देखने से स्पष्ट होता है कि सृष्टि के आदिकाल से ही जातिभेद पूर्णतया सुव्यवस्थित था। जाति-वर्ण का भेद ही भारतवर्ष की विशेषता है। भारतवर्ष के आर्यहिन्दुओं में चार वर्ण हैं। उन्हीं से असंख्य शाखा-उपशाखाएँ

उत्पन्न होकर वे भारतवर्ष के समाजरूपी शरीर को आजतक परिपुष्ट करती आ रही हैं। भारतवर्ष की जलवायु के साथ जातिभेद की प्रथा का ओतप्रोत सम्बन्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू आर्यपरम्परा वेदमूलक है। जितना भी ज्ञान-विज्ञान है, उसका स्रोत वेद में ही है, उसे जानने के लिये ही यह 'वैदिक साहित्य का इतिहास लिखा गया है। उसके पढ़ने से अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सकेगा। अतः प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह वैदिक साहित्य के इतिहास को अवश्य पढ़े, यह प्रेरणा देकर भूमिका समाप्त की जा रही है।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान के स्वत्वाधिकारी श्रीमोहनदास जी-गुप्त तथा उनके सुपुत्र चिरञ्जीवी राजेन्द्र जी का भी मैं अत्यधिक आभारी हूँ।

पौषशुक्लपक्ष, तृतीया,
शुक्रवासरः, सं० २०५०
दि० १४।१।१९९४ }

गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय



वैदिक साहित्य का इतिहास



प्रथम अध्याय

वेद-परिचय

भारतीय हिन्दूधर्म और उसकी संस्कृति के मूलाधार ग्रन्थ 'वेद्' ही हैं। विश्व का सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' ही है। मानव सृष्टि के पूर्व परमेश्वर ने उनके कल्याणार्थ 'वेद' का आविष्कार किया। अत एव 'वेद्' को अनादि और 'अपौरुषेय' कहा जाता है।

वेदशब्दनिष्पत्तिः

'वेद' शब्द की निष्पत्ति, 'विद्' धातु से 'भाव', 'कर्म' और 'करण' अर्थ में 'घञ्' प्रत्ययके जोड़ देने पर होती है। अतः 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान', 'ज्ञान का विषय', 'ज्ञान का साधन' किया जाता है।

वेद पदार्थ

'वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स वेदः'—अर्थात् धर्मादि चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपाय जिसके द्वारा बताये जाते हैं, उसे 'वेद' कहते हैं। अत एव कृष्णयजुर्भाष्य तथा ऐतरेयभाष्य की भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है—'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'—अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहारार्थ अलौकिक उपाय को बतानेवाले ग्रन्थ को 'वेद' कहा गया है, और अपने उक्त कथन के समर्थन में प्रमाण भी प्रदर्शित किया है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता' ॥

एवं च प्रत्यक्षादि किसी लौकिक प्रमाण से जिस अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, उस श्रेयःसाधनीभूत स्वर्गादिरूप अर्थ को 'जो शब्दराशि' बोधित करता है, वही 'वेद' शब्द का अर्थ है। इसी आशय से प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपनी शब्दानुपूर्वी के द्वारा 'मन्त्र—ब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः', 'अलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' कह कर 'वेद' पद (शब्द) का अर्थ, 'शब्दसमुदाय' ही स्वीकार किया है।

वेद तथा विद्या शब्द ग्रन्थ परक हैं

ग्रन्थपरक 'वेद' शब्द के समान ही 'विद्या' शब्द भी ग्रन्थराशि' के लिये ही प्रयुक्त किया जाता है,

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' 'त्रयी वै विद्या,'
'स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति', इत्यादि ।

एवं च जैसे अलौकिक कार्य के प्रतिपादक शब्दराशि के लिये 'वेद' शब्द का प्रयोग होता है, उसी प्रकार 'विद्या' शब्द भी अलौकिककार्थ-प्रतिपादक शब्दराशि के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। अत एव—

'पुराण—न्यायमीमांसा—धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥ (याज्ञ. स्मृ.)

स्मृतिकार ने भी 'शब्दराशि' के लिए ही 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है। उसी प्रकार—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च, तत्र परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः'—यहां भी 'विद्या' और 'वेद' दोनों शब्दों का प्रयोग 'शब्दराशि' को बताने के लिये ही किया गया है। उसी प्रकार—

'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्नीतिश्च शाश्वती ।
विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकस्य स्थितिहेतवः' ॥

यहां भी 'विद्या' शब्द, 'शब्दराशिपरक ग्रन्थ' को ही बता रहा हैं। अतः 'विद्या' शब्द को केवल 'ज्ञान' परक समझना उचित नहीं है।

विद् धातु की अनेकार्थकता और वेद-संज्ञाप्रप्ति में हेतु

अस्तित्व (सत्ता), उपलब्धि, ज्ञानाधिगम कर लेना, अथवा दर्शन कर-लेना इत्यादि अनेक अर्थ, 'विद्' धातु के हैं। सुदूरवर्ती प्राचीन समय में ऋषियों को भी अलौकिककार्यप्रतिपादक शब्दराशि का दर्शन हुआ, इसीलिये उस शब्दराशि को 'वेद' की संज्ञा दी गई।

वेद का पर्यायशब्द 'ब्रह्म'

वेद में 'ब्रह्म' के सत्-चित् और आनन्द स्वरूप का प्रतिपादन किया है, इसलिये 'वेद' को उसके पर्यायशब्द 'ब्रह्म' के नाम से भी कहा जाता है। 'वेद' का पर्यायशब्द यद्यपि 'ज्ञान स्वरूप ब्रह्म' है, तथापि 'वेद' को लौकिक-अलौकिक ज्ञान का साधन कहा जाता है। 'वेद'—वे शब्द हैं, जिनका उच्चारण, यथोचित स्वर से करने पर 'फल' उत्पन्न करने की 'गूढ शक्ति'

उनमें निहित रहती हैं। जिस शब्दसमूह से अव्यक्त विचार, व्यक्त होते हैं वह शब्दसमूह ही 'वेद' है।

स्वरभेद से अर्थ भेद

श्रुति में अकारान्त वेद शब्द दो प्रकार का उपलब्ध होता है। एक आद्युदात्त है और दूसरा अन्तोदात्त है। अतः उस एक ही वेद शब्द के स्वरभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं।

आद्युदात्त स्वर वाले 'वेद' शब्द का अर्थ 'शब्दराशि' अर्थात् 'ग्रन्थराशि' है, और अन्तोदात्तस्वरवाले 'वेद' शब्द का अर्थ 'दर्भ (कुश) मुष्टि' होता है। अत एव आद्युदात्त और अन्तोदात्त इन दो वेदशब्दों की सिद्धि के लिए ही भगवान् पाणिनि ने (६।१।१६०) उञ्छादिगण में तथा (६।१।२०१) वृषादिगण में दो 'वेद' शब्दों का पाठ किया है। उनमें से कुशमुष्टिवाचक 'वेद' शब्द, अवयवव्युत्पत्ति का संभव न रहने से 'रूढशब्द' है, और ग्रन्थ-राशिवाचक 'वेद' शब्द, 'योगरूढ' है। 'वेद' शब्द को केवल यौगिक स्वीकार करने पर 'ज्ञान मात्र' में अतिप्रसक्ति होगी। अतः ग्रन्थपरक 'वेद' शब्द को 'योगरूढ' मानना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से सायणाचार्य ने 'अलौकिक-मर्थं यो वेदयति स वेदः'—यह लक्षण 'वेद' का किया है।

वेद का आविष्कार

वेदवाङ्मय कैसे निर्माण हुआ? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं। प्रत्यक्ष वैदिकवाङ्मय में भी कुछ उल्लेख उसके सम्बन्ध में किया गया है। सृष्टिक्रम के मूल की ओर अपनी दृष्टि को यदि ले जाँय तो कहीं न कहीं एक जगह 'एक स्वतः प्रमाण तत्त्व' मानने के लिये सभी को बाध्य होना पडता है। उसी 'स्वतः प्रमाणतत्त्व' को परमात्मा, ईश्वर, अथवा महाभूत कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) में कहा गया है कि 'इसमहाभूत के निःश्वास ही 'वेद' कहे जाते हैं'। इसी का अनुवाद करते हुए सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य के आरम्भ में परमेश्वर का अभिवादन करते समय कहा हैं—

> 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
> निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्'॥

अर्थात् जिसके निःश्वास ही 'वेद' है, जिसने वेद से ही सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया है, उस विद्यास्वरूप पवित्र परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ।

अत्यन्त प्राचीन समय में प्राचीन ऋषियों को वेदवाङ्मय का साक्षात्कार हुआ, अर्थात् उन्हें वेदों का दर्शन हुआ, उसी कारण उन ऋषियों को 'ऋषि' कहा गया है—यह यास्काचार्य ने कहा है।

तपस्या में मग्न रहते हुए ऋषियों को यह ज्ञान हुआ है, यह बात अनेक स्थलों पर कही गई है। मनु कहते हैं—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् मन्त्रान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा'॥

अर्थात् युग की समाप्ति में अदृश्य हुए मन्त्र (वेद) उनके इतिहास के सहित ब्रह्मदेव की आज्ञा से महर्षियों को उनके अपने तपोबल से पुनः प्राप्त हुए।

शब्दों की चार अवस्थाएँ

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चार अवस्थाएँ शब्दों की हुआ करती हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान ही 'परा वाक्' है, उसी को 'वेद' कहते हैं।

इस वेदवाणी का ऋषि-मुनियों को साक्षात्कार हुआ, उस कारण उसी वाणी को 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाने लगा। ज्ञानमयवेदों का यह ग्रन्थराशि-रूप शब्दमय आविष्कार है।

वाणी का स्थूल स्वरूप 'मध्यमा वाक्' कहलाती है। वेदवाणी के ये तीनों स्वरूप अत्यन्त गूढ हैं। चौथी 'वैखरी वाणी' है, जो सामान्य लोगों के द्वारा उच्चारण की जाती है। वाणी के सम्बन्ध में ऋग्वेद कहता है—
'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'।

(ऋ० वे० १।१६४।४५)

अर्थात् वाणी के चार प्रकार के रूप हैं, उनका ज्ञान, ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी ऋषियों को ही हुआ करता है। वाणी के चार रूपों में से तीन रूप गुप्त रहते हैं, किन्तु चौथा शब्दमय रूप, जिसे 'वेद' के रूप में लोग जानते हैं।

वेद का आविष्कार बताते समय परमेश्वर के मुखारविन्द से विनिःसृत शब्द ही 'वेद' हैं—यह कहा गया है। अतः पुराणवाङ्मय में 'आविर्भूत' 'विनिःसृत', 'उत्सृष्ट' इत्यादि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। मनु ने कहा है कि अनादि और नित्य वाणी, ब्रह्मदेव के मुख से प्रकट हुई। यज्ञ

के निष्पत्त्यर्थ ऋक्, यजुस्, साम को परमेश्वर ने आविर्भूत किया।[1] वेदों का आविष्कर्तृत्व किसी को देना ही चाहिये, यह विचार कर पुराणों के चतुरानन ब्रह्मदेव को उनके आविष्कर्तृत्व का भार अर्पित कर दिया। अतः ब्रह्मदेव के चार मुखों से चार वेद प्रकट हुए।

वेद की श्रुतिसंज्ञाप्राप्ति में हेतु

पुराणों में उल्लिखित ब्रह्मदेव को ही वैदिक वाङ्मय में 'प्रजापति' के नाम से कहा गया है। प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न की और उसके कल्याणार्थ उसने वेदवाङ्मय का आविर्भाव किया।

प्रजापति ने अपने निःश्वास के साथ ही वेदों को प्रकट किया। प्रजापति के इस प्रथम हुंकार को प्रथमतः ऋषियों ने ही श्रवण किया, उस कारण उस—'हुंकार' को अर्थात् 'वेद' को 'श्रुति' की संज्ञा दी गई।

एक मत यह भी है कि 'वेद', शब्दरूप होने से वे आकाश से प्रकट हुए हैं। 'शब्द', आकाश का गुण है। हृदयाकाश अथवा चिदाकाश से जो दिव्यवाणी प्रकट हुई, वही 'वेद' नाम से प्रसिद्ध हुई। यह वाणी तपोनिधि ऋषियों के अन्तः करण में प्रकट हुई। अतएव 'वेद', ऋषियों को स्फुरित हुए, यह कहा जाता है।

यद्यपि वेदों का प्रकट होना प्रजापति अथवा ब्रह्मदेव से बताया गया है, तथापि भिन्न-भिन्न पुराणों में तत्तत् सम्प्रदायों के अनुसार वेदों का आविर्भावक भिन्न-भिन्न देवताओं को माना गया है। विष्णुपुराण में वेदों का प्रवर्तक विष्णु को कहा है। एक पुराण में वामदेव से ब्रह्मा को वेदों की उपलब्धि का होना बताया है। यह वामदेव ही 'शिव' है। 'शिव' के जो पाँच मुख हैं, उनमें वामदेवसंज्ञक एक मुख है। ऋक्, यजुस् और साम का मूलस्थान भी 'रुद्र' ही है।

कतिपय पुराणों में ॐ कार से वेदों का प्रकट होना बताया है। शिव पुराण (७।६।२७) में कहा है कि 'अ, उ, म्' और सूक्ष्मनाद' से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद प्रकट हुए हैं। ॐ कार से ही समस्त वाङ्मय का प्रकट होना श्रीमद्भगवद्गीता (७।८) में कहा गया है। सुदूरवर्ती पूर्वकाल में एक ही वेद था, और वह ॐ कार स्वरूप ही था, यह महाभारत में बताया है।

---

१. ब्रह्म पु० १।४६, अग्नि पु० १०।१३, हरिवंश १।१।३६, मत्स्यपु० १४२।२८।

भगवती जगदम्बा का माहात्म्य प्रतिपादन करने वाले पुराण में[1] भगवती के द्वारा वेदों के आविर्भूत होने की बात कही गई है।

मत्स्य पुराण (१।७१।२४) में गायत्री से वेदों का निःसरण बताया है। अनेक स्थलों पर 'गायत्री' को वेदमाता कहा गया है।

कतिपय[2] पुराणों में वेदों का आविर्भावक सूर्य को कहा गया है।

वेद का महत्त्व

'वेद' ही आर्यों के धर्म की आधारशिला है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—यह मनुवचन प्रसिद्ध ही है। यही कारण है कि 'भारतीय संस्कृत' के अध्ययन में 'वेदों' का स्थान सर्वप्रथम है। भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता का भव्यप्रासाद 'वेद' रूपी सुदृढ आधारशिला पर अधिष्ठित है। हिन्दुओं का आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को ठीक-ठीक अवगत करने के लिये वेदों का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। ये वेद ही भारतीयों के दिव्य नेत्र हैं, जो सर्वदा दोषशून्य रहते हैं। इन दिव्य नेत्रों से ही भारतीय सरस विद्वान् अलौकिक तत्वों के रहस्यों को जानते आ रहे हैं। वैदिक कर्मानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अतः वह अनुष्ठेय है, और अभक्ष्य भक्षण करने से नरक की प्राप्ति होती है, अतः वह अनुष्ठेय नहीं है—यह समझने के लिये कोई कैसा भी तार्किकचक्र-चूड़ामणि कितने ही अनुमान वाक्यों को क्यों न करले, फिर भी समझ नहीं पाएगा। इस अलौकिक साध्य-साधन भाव (कार्य-कारणभाव) को जानने का एकमात्र साधन ये 'वेद' ही हैं।

विपक्षियों का मुखमुद्रण करने की क्षमता रखने वाला कैसा ही तर्क-कर्कश विद्वान् क्यों न हो वह भी वेद विरोध के उपस्थित होते ही नतमस्तक होकर अपने पक्ष को वापस ले लेता है। वेद की प्रतिष्ठा के समक्ष वह दिग्गज विद्वान् अपनी प्रतिष्ठा को नगण्य समझता है, अर्थात् वेद की प्रतिष्ठा में ही वह अपनी प्रतिष्ठा समझता है। आस्तिकता कदाचित् ईश्वर को न मानने पर भी रह सकती है किन्तु वेद को प्रमाण न माननेवालों पर नास्तिकता की सुदृढ छाप लग जाती है, जो कभी भी दूर नहीं होती। जो वेदों को प्रमाण मानता है, वही आस्तिक है और जो वेदों को प्रमाण नहीं मानता वही नास्तिक है अर्थात् जो वेद की निन्दा करता है वही

---

१. ब्र० वै० पु० १।८।२

२. मार्कं० पु० ७८।२, भविष्यपु० ५८।२७

नास्तिक कहलाता है। हिन्दू धर्म में वेदों का स्थान अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि अनेकानेक रत्नों से परिपूर्ण पृथिवी का दान करने से जिन दिव्य लोकों को मनुष्य प्राप्त करता है उनसे कहीं अधिक अविनश्वर लोकों की प्राप्ति वेदों के अध्ययन से उसे हो जाती है। तथा हि—

'यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'।

(शतपथ ११।५।६।१)

मनु ने डंके की चोट कहा हैं कि वेद-शास्त्रों के तत्त्वों को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ विहित कर्मानुष्ठान अपने अधिकार के अनुसार करता है, तो वह इसी लोक में ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते'॥ (मनु १६।१०२)

भारतीय-संस्कृति, सभ्यता व धर्म की जानकारी कराने में एक मात्र वेद ही पूर्णतया समर्थ है। अतः महत्त्वपूर्ण गौरवशाली वेदों का अध्ययन, चिन्तन और निदिध्यासन करना अपने-अपने अधिकारानुसार प्रत्येक भारतीय हिन्दू का आवश्यक कर्तव्य होना ही चाहिये। महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं कि छह अंगों के सहित वेदों का अध्ययन तथा उनके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक द्विज का विशेषतः ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्तव्य होना चाहिये। तथा हि—'ब्राह्मणेन निष्कारणं धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। वेद का अध्ययन न करने वाले विप्र की विशिष्ट निन्दा मनु ने क्षोभपूर्ण शब्दों से की है—'जो द्विजन्मा होकर भी वेद का अध्ययन किये विना अन्य विषयों के अध्ययन में परिश्रम करता है, वह अपने-जीवन काल में ही अपने सम्पूर्ण कुल के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। तथाहि—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु २।१६८)

कहने का अभिप्राय यही है कि अन्यान्य विषयों का अध्ययन करने की अपेक्षा वेद के अध्ययन और उसके अनुशीलन को महत्त्व देना चाहिये,

जिससे भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के विशुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सके। भारत जैसे महान् राष्ट्र की रक्षा और उसकी महत्ता का उत्तर-दायित्व पूर्णतया भारतीयों पर टिका हुआ है, वे ही सर्वज्ञानयय वेद-ग्रन्थ रत्नों के जौहर न समझें तो क्या यह भारत के कर्णधारों के लिये लज्जा की बात नहीं होगी? अत्यन्त प्राचीन काल के ऋषियों ने वेद के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठाग्र करके जीवित रखा था, ठीक उसी प्रकार आज भी भारत में यत्र-तत्र काशी, पुणें, आन्ध्र, मद्रास आदि स्थानों में रहने वाले भारतीय आचार-विचार-सभ्यता-संस्कृति के रक्षक कतिपय ब्राह्मणों ने वेद के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठाग्र करके जीवित रखा है। इन ब्राह्मणों ने शासन तथा समाज की उदासीनता की अवहेलना कर एकमात्र अपने महान् राष्ट्र के जीवन को ही केवल लक्ष्य कर वेदों की रक्षा के लिये अश्रान्त घोर परिश्रम, अनुपम लगन के साथ अनेक कठिनाइयों के बीच किया है, और कर रहे हैं। अतः यह 'वैदिक-विद्वत्समाज, सम्पूर्ण राष्ट्र के आदर तथा श्रद्धा के पात्र हैं। वेद के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठस्थ करने के साथ-साथ ही उन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक होता है, अन्यथा गुलाब में काँटों की तरह वह त्रुटि ही कहलाएगी। निरुक्तकार यास्क ने वेदार्थ जाननेवाले विद्वान् की बड़ी प्रशंसा की है—

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्, अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

जो केवल वेद के अक्षरों को तो कण्ठाग्र कर लेता है, किन्तु वेद के अर्थ को नहीं जानता, वह पत्र-पुष्प-फलशून्य ठूंठे वृक्ष के समान केवल भारवाही ही है। किन्तु जो वेद के अर्थ को जानता है, वही सब प्रकार के सुखों का उपभोग कर पाता है, और प्राप्त किये वेदार्थ के ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। वेदार्थ को जान लेने पर धर्म, आचार, व्यवहार, और अध्यात्मशास्त्र आदि सभी का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। आज के युग में जितने भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उनका मूलस्रोत वेद ही है, उसीसे ये सब प्रवाहित हुए हैं। आज के युग में आधुनिक शिक्षा के जितने भी विषय अध्ययन-अध्यापन में प्रचलित है, वे सभी विषय वेदों में उपलब्ध होते हैं, और उनकी पद्धति आज की शिक्षापद्धति की अपेक्षा बहुत सरल है। उस वैदिक पद्धति से शिक्षा प्राप्त करने में समय की बहुत बचत होती है, तथा धन का व्यय भी बहुत स्वल्प होता है। भारत जैसे स्वतन्त्र राष्ट्र में आज भी लार्ड मेकाले के द्वारा दुर्भावना से निर्मित

शिक्षा, भारतीय बालकों को दी जा रही है, और लार्ड मेकाले के दुःस्वप्न को साकार बनाने, तथा बनाए रखने का प्राणपण से प्रयत्न अहर्निश किया जा रहा है, जो स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अत्यन्त लज्जास्पद है।

सभी दर्शन, सभी प्रकार की उपासनाएँ, सभी प्रकार के सदाचार सार्वत्रिक भौगोलिकज्ञान, सम्पूर्ण खगोलज्ञान, सर्वविध गणितज्ञान, समस्त-ज्ञान-विज्ञान, सकल वास्तुविज्ञान, सम्पूर्ण यंत्र-विज्ञान, अखिल भैषज्य-विज्ञान, शल्यचिकित्साविज्ञान, कृषिविज्ञान, जो कुछ भी है, वह सब वेदपर अवलम्बित है। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में लाखों-करोड़ों वर्षों का इतिहास भी भरा पड़ा है। इसमें ज्ञान की उज्ज्वल ज्योति, जगमगा रही है। यही ग्रन्थ और इसी के आधार पर जगमगानेवाले दर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, तन्त्र, और अन्यान्य शास्त्रग्रन्थ ही दानव को मानव बनाने में पूर्णतया समर्थ हैं। मानव को जिनकी आज भी आवश्यकता है।

स्वर और उच्चारण का महत्त्व

वेद मन्त्रों के शब्दों का शुद्ध उच्चारण और उनके क्रम की ओर पूर्णतया सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है। उनके स्वरों में किञ्चिन्मात्र भी व्यतिक्रम हो जाने से अनर्थ हो जाता है—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्'॥

जो मन्त्र, स्वर या वर्ण से हीन होता है, अथवा जिसका प्रयोग यथोचित न किया जाय, वह उद्देश्य की सिद्धि नहीं करता। वह वाग्वज्र बन कर यजमान को ही मार देता है, जैसे कि स्वरदोष के कारण वृत्रासुर मारा गया।

इससे सम्बन्धित पौराणिक कथा इस प्रकार है—'इन्द्र को मारने के लिये विश्वरूप ने यज्ञ किया। मन्त्र में **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** था। उसका अभिप्राय यह था कि **'इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की वृद्धि हो'**—(इन्द्रस्य शत्रुः = इन्द्र-शत्रुः—ष० तत्पु० समा०), परन्तु स्वर का अशुद्ध उच्चारण होने से यह अर्थ निकला कि **'जिसका शत्रु इन्द्र है उसकी वृद्धि हो'** (इन्द्रः शत्रुः यस्य सः = इन्द्रशत्रुः बहु० समा०) उस कारण वृत्रासुर के शत्रु इन्द्र की विजय हुई, और वृत्रासुर का पराजय हुआ।

वेद मन्त्रों के निश्चित विनियोग

वेद के प्रत्येक मन्त्र का विनियोग नियत है। अर्थात् उस मन्त्र को किस काम के लिए पढ़ना चाहिये, यह निश्चित है। 'विनियोगः तादर्थ्यम्'—यह—विनियोग का लक्षण है। कुछ मंत्र ऐसे हैं, उनका जो अर्थ मन्त्रगत-शब्दों से अवगत हो रहा है, उसी में उन मन्त्रों का विनियोग किया गया है, किन्तु कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ कुछ है, और विनियोग किसी अन्य अर्थ में किया जाता है। मन्त्र के अर्थ और विनियोग में कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। जैसे 'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये, शंयोरभिस्रवन्तु नः' यह मन्त्र है। इसका अर्थ है—'दिव्य जल, हमारे कल्याणार्थ बरसे, वह हमारे लिये हितकर हो, और अभद्र तथा अनिष्ट बातों को हम से दूर करे', किन्तु इस मन्त्र का विनियोग 'शनि' की पूजा में किया जाता है। उसी तरह 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'—यह ऐन्द्री ऋचा है, इससे 'इन्द्र' देवता से सम्बन्धित अर्थ, बताया गया है, किन्तु इस ऋचा का विनियोग 'गार्हपत्य' अग्नि के उपस्थान में किया जाता है। अतः वेदमन्त्रों से फल प्राप्ति के लिये तत्तन्मन्त्रों का विनियोग अवश्य जानना चाहिये। भारतीय ऋषियों ने तत्तन्मन्त्रों का विनियोग अपने अनुभव के बल पर अगली सन्तान के लिये मन्त्रों के साथ ही लिख दिया है।

मन्त्र के छन्द देवता और ऋषि के ज्ञान की आवश्यकता

प्रत्येक मंत्र के स्वरज्ञान और शुद्ध उच्चारण के साथ ही उसके छन्द और देवता का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। तभी उन मंत्रों से लाभ प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। छन्द के ज्ञान के बिना मंत्र का यथार्थ उच्चारण करना संभव नहीं है। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि, और छन्द का ज्ञान होना आवश्यक बताया गया है। कात्यायन महर्षि ने कहा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मंत्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका कार्य निष्फल होता है। **'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान्' भवति।** (सर्वानु० १।१)

वेदों के साथ ही उनके अंगों का आविर्भाव

वेदाङ्गों का अविर्भाव भी वेदों के साथ ही हुआ है, अन्यथा उन छन्दों के नाम 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण ग्रन्थों' में उपलब्ध न होते। वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। यजुर्वेद और अथर्ववेद का कतिपय भाग

गद्यमय है। ऋग्वेद तथा सामवेद के सभी मन्त्र, छन्दोबद्ध हैं। पाणिनीय शिक्षा का कथन है कि 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'—छन्द ही वेदपुरुष के पैर हैं। पैर के बिना जैसे कोई न खड़ा हो सकता है और न चल ही सकता है, वैसे ही छन्द का सहारा लिए विना वेदपुरुष भी चलने में असमर्थ रहता है। अतः मन्त्र से कार्य-सिद्धि के निमित्त छन्दोज्ञान को आवश्यक माना गया है।

मन्त्र की देवता का ज्ञान भी आवश्यक

छन्दोज्ञान के समान ही सूक्त या मन्त्र की 'देवता' का ज्ञान रहना भी आवश्यक है। बोल-चाल के लौकिक व्यवहार में 'देव और देवता' को पर्याय शब्द समझकर कभी 'देव' शब्द का तो कभी 'देवता' शब्द का प्रयोग कर दिया करते हैं, किन्तु विचार करने पर उन दोनों के अर्थों में अन्तर प्रतीत होता है। जो लोग अपने पुण्यकर्म से उत्पन्न सुकृत–पुञ्ज के प्रभाव से ऊपर के उच्चतर लोकों में पहुँचते हैं, उन्हें 'देव' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। ये देव भी दो प्रकार के होते हैं—(१) कर्मदेव, (२) आजान देव। जो भोगमात्र के अधिकारी हैं, वे 'कर्मदेव' है, और जो भोग तथा शक्ति दोनों के अधिकारी हैं, उन्हें आजानदेव कहा गया है। इन्द्र, यम, अग्नि आदि इसी दूसरे वर्ग में आते हैं।

परमेश्वर और उसकी ज्ञानेच्छा, क्रिया, सामर्थ्य एक-दूसरे से अभिन्न है। इन दोनोंको ही 'शिव' और 'शक्ति' अथवा 'प्रकाश' और 'विमर्श' कहते हैं। 'शक्ति' से हीन शिव, शव के समान निश्चेष्ट और जड़ होगा, उसी प्रकार 'शिव' से रहित शक्ति, निराश्रय होकर टिक ही नहीं सकती। यह आदि शक्ति ही 'परा देवता' है। जैसे-जैसे जगत् का विकास होता है, वैसे-वैसे यह आदि शक्ति परादेवता भी नाना रूपों को धारण करती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक जितनी भी शक्तियाँ हैं, सभी इस परादेवता आदिशक्ति के ही भेद मात्र हैं। इसलिये देवताओं को असंख्य कहा जाता है। तथापि इनमें से ही कुछ प्रधान शक्तियों को यज्ञसम्पादन की दृष्टि-से चुन लिया गया है। ऐसा कहा जाता है कि मन्त्रों का व्यवहार यथावत् होने से जगत् में ऐसे कम्प (स्पन्दन) उत्पन्न होते हैं, जिन से प्रसुप्त शक्तियों में से कोई एक शक्ति विशेष, उद्भूत, जागरित, अभिव्यक्त हो उठती है। उस शक्ति को ही उस मन्त्र की देवता कहते हैं। जैसे अमुक मंत्र की देवता 'इन्द्र', जहाँ कहीं गई हो, वहाँ यही जानना चाहिये कि उस मन्त्र के यथार्थ प्रयोग से 'ऐन्द्रीशक्ति' जागरित हुई है, और मन्त्र, फलप्रद होता

है। ऋषि, देवता आदि का ज्ञान, ब्राह्मणग्रन्थों से और कल्पसूत्रों से होता है।

स्वच्छन्द विचाधारा के पोषक विदेशी विद्वान् कहा करते हैं कि 'आर्यों को परमेश्वर का ज्ञान नहीं था। उनकी पहुँच, देवताओं तक ही थी। अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों में अद्भुत शक्ति देखकर, वे उन्हें ही चेतनाशक्तिसम्पन्न देवता समझने लग गये। इसीलिये उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, विष्णु, मरुत्, सोम, रुद्र, अदिति, ब्रह्मणस्पति, भग, बृहस्पति, त्वष्टा, ऋभुगण आदि कितनों को ही देवता मान लिया। प्रकृति की लीला को न समझपाने के कारण आर्यों ने इन्हें देवता समझ-लिया।

किन्तु भारतीय वेद भक्तों को यह कदापि भूलना नहीं है कि उपर्युक्त कथन नितान्त निराधार है। वह कथन स्वच्छन्द विचारधारावाले विदेशियों का है। वे देवता-रहस्य को समझ नहीं पाये हैं। देवतारहस्य को 'बृहद्देवता' में (६१–६५ श्लोकों से) बताया गया है। ब्रह्माण्ड की जड़ में एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे 'ईश्वर' कहते हैं। वह 'एक मेवाऽ द्वितीयम्'—एक और अद्वितीय हैं। उसी एक की नाना रूपों में (विविध शक्तियों के अधिष्ठातृरूप में) स्तुति की गई है। किन्तु नियन्ता एक ही है। इसी मूल सत्ता के विकासरूप समस्त देवता हैं। निरुक्तकार यास्क कहते हैं—'महाभाग्याद् देवता या एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते' एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (नि० दैव० का० ७ अध्या०)। तथा—'तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति'—(नि० दैव० कां० १।५)।

ऐतरेयारण्यक (३।२, ३।१२) में भी कहा गया है कि ऋग्वेदी लोग एक ही सत्ता की उपासना ऋग्वेदीय मन्त्रों से करते हैं'। इस तरह के अनेकानेक प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद, तृतीय मण्डल के ५५ वें सूक्त में २२ मन्त्र हैं और सब के अन्त में 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' वाक्य आता है। तात्पर्य यह है कि देवों की शक्ति एक ही है, दो नहीं, अर्थात् महाशक्ति का विकास होने के कारण देवताओं की शक्ति, पृथक् नहीं है अर्थात् स्वतन्त्र नहीं है।

ऋषियों ने जिन प्राकृतशक्तियों की स्तुति (प्रशंसा) की है, वह उनके स्थूलरूप की नहीं है, प्रत्युत उनकी शासिका (अधिष्ठात्री) चेतन

शक्ति की है। इस चेतन शक्ति को वे परमात्मा से पृथक् (स्वतन्त्र) नहीं मानते थे, अर्थात् उसे परमात्मरूप ही मानते थे।

उन्होंने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही 'अग्नि' की स्तुति की है, परन्तु अग्नि को परमात्मा से पृथक् मानकर नहीं। यद्यपि वे स्थूल अग्नि के रूप को भी जानते थे, तथापि सूक्ष्म अग्नि (परमात्मशक्ति) के रूप की स्तुति किया करते थे। क्योंकि वे मरणशील अग्नि में व्याप्त अमरता के उपासक थे। 'अपश्यमहं महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु'—(ऋ० १०।७९।१)—मरणशील प्रजा में मैंने अमर अग्नि की महिमा को देखा है—यह श्रुति भी उक्त तथ्य को पुष्ट कर रही है। इसी तरह वे इन्द्र को देवता मानते हुए भी इन्द्र की सूक्ष्म शक्ति को, परमात्मशक्ति से पृथक् नहीं समझते थे, उसे वे परमात्मस्वरूप ही समझते थे। भारतीय आर्यों की धारणाओं की अभिव्यक्ति ऋग्वेद स्वयं कर रहा है—'इन्द्र, मनुष्यों के धारक है, उनकी महिमा समुद्रों से भी अधिक है' इन्द्र अपने तेज से सम्पूर्ण संसार को भर देते हैं'—(ऋ० १०।८९।१)। और—'स्तुत्य, नाना सूर्तियों वाले, दीप्तियुक्त, अनुपम प्रभु, श्रेष्ठ और आत्मीय इन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ'—(ऋ० १०।१२।६), और भी—'जो इन्द्र सृष्टिकर्ताओं के भी कर्ता है, जो भुवनों के अधिपति हैं, जो रक्षक और शत्रुविजेता हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ'—(ऋ० १०।१२८।७)। इत्यादि अनेकानेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकशक्तिसम्पन्न बुद्धिमान् विद्वद्गण ही समझ सकते हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त किसकी महिमा अधिक हो सकती है ? कौन संसार को तेज से पूर्ण कर सकता है ? कौन नाना–मूर्तियोंवाला, और अनुपम प्रभु हो सकता है, तथा कौन सम्पूर्ण भुवनों का अधिपति और सृष्टिकर्ता का भी कर्ता हो सकता है ?। सूर्य, विष्णु, सरस्वती, (वाक्,), अदिति आदि जितने भी देवता हैं, सब को वे उसी तरह परमात्मरूप ही समझते थे। जैसे एक ही सूत्र में माला के समस्त मोती ओतप्रोत रहते हैं, तथापि केवल माला ही कहलाती है। तात्पर्य यह है कि परमात्मतत्त्व का जैसा गंभीर ज्ञान, आर्यों को था, वैसा तो आजतक प्रायः किसी भी मनुष्य जाति को नहीं हुआ।

वेदज्ञान के लिये ऋषि, छन्द, विनियोग का ज्ञान भी आवश्यक है

शौनक ने अपनी अनुक्रमणी में कहा है कि जो मनुष्य, मन्त्र की देवता, छन्द, विनियोग, और ऋषि को बिना जाने ही अध्ययन, अध्यापन यजन, याजनादि करता है, वह सब उसका निष्फल होता है। अतः फलप्राप्ति

की इच्छा हो तो उपर्युक्त चारों का ज्ञान अत्यावश्यक है। अभी तक विनियोग, छन्द और देवता के सम्बन्ध में आवश्यक बातों को बताया गया है, अब 'ऋषि' के सम्बन्ध में आवश्यक विचार प्रस्तुत करते हैं। निरुक्त के नैगमकाण्ड (२।११) में 'ऋषिर्दर्शनात्' कह कर मन्त्र के साक्षात्कार करने वाले को ऋषि' कहा है। सर्वानुक्रमसूत्र में महर्षि कात्यायन ने ऋषि को द्रष्टा या स्मर्ता बताया है। याज्ञवल्क्य ने भी इसी तरह कहा है। जिस ऋषि ने जिस सूक्त का आविष्कार किया उसका अथवा उसके वंश का उस सूक्तपर नाम रहता है।

शाकल शाखा की ऋग्वेद संहिता के दस मण्डल हैं। उनमें से प्रथम मण्डल के ३३ ऋषि हैं। द्वितीय मण्डल के 'गृत्समद', तृतीय के 'विश्वामित्र', चतुर्थ के 'वामदेव', पञ्चम के 'अत्रि', षष्ठ के 'भारद्वाज', सप्तम के 'वसिष्ठ',—ये और इनका परिवार भी ऋषि है। अष्टम मण्डल के ऋषि 'कण्व' और उनके वंशज तथा गोत्रज हैं। आश्वलायन ने प्रगाथपरिवार को अष्टम का ऋषि कहा है, किन्तु षड्गुरुशिष्य ने 'प्रगाथ' को ही 'कण्व' माना है, नवम मण्डल के ऋषि अनेक हैं। आश्वलायन कहते हैं कि दशम मण्डल के ऋषि 'क्षुद्रसूक्त और महासूक्त, तथा अनेक ऋषि और उनके वंशज भी हैं। ये सभी ऋषि 'ब्राह्मण' थे।

ऋषियों का ज्ञान होना जैसे आवश्यक है, वैसे ही मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान रहना भी आवश्यक है। जो मनुष्यों को आनन्दित करता है और यज्ञ की रक्षा करता है, उसे 'छन्द' कहते हैं--यह निरुक्तकार ने दैवत काण्ड (१।१२) में बताया है। मुख्य छन्छ २१ हैं। तथा २४ अक्षर से लेकर १०४ अक्षर तक ये सब होते हैं।

ऋषि—छन्द के ज्ञान के साथ ही 'विनियोग' का ज्ञान भी परम आवश्यक है। जिस फलप्राप्ति के लिये मन्त्र का अनुष्ठान किया जाता है, उसे 'विनियोग' कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि 'मन्त्र' का अर्थ, जो भी हो, फिर भी 'विनियोग' के द्वारा अन्य कार्य में भी उस उस मन्त्र का उपयोग किया जा सकता है। इससे यह ज्ञात होता है कि शब्दार्थ से अधिक आधिपत्य 'मन्त्रों पर 'विनियोग' का रहता है। ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों से ऋषि देवता आदि का ज्ञान होता है।

वेदों का नाम 'त्रयी' है

ऋक्, यजुस् और साम का नाम 'त्रयी' है। अतएव अग्नि, वायु, और सूर्य—इन ईश्वरीय शक्तियों में से 'अग्नि' का ऋग्वेद में, 'वायु' का

यजुर्वेद में, और 'सूर्य' का सामवेद में विशेष रूप से वर्णन उपलब्ध होता है। त्रयी के अन्तर्गत ही 'अथर्ववेद' भी है। इसका उपपादन आगे किया जायगा।

सम्पूर्ण वेदराशि के विभाजक कृष्ण द्वैपायन

पुराणों के आधारपर (महाभारत १।२, श्रीमद्भागवत १२।६; विष्णु पुराण) अवगत होता है कि लोक पितामह ब्रह्मा जी की आज्ञा से 'वेद व्यास' ने वैदिक संहिताओं को अनेक खण्डों में विभक्त किया। और विविध विषयक मंत्रों को पृथक्-पृथक् करके प्रत्येक विषय को क्रमबद्ध किया। वेदों का विभाजन करने के कारण ही इन्हें कृष्ण द्वैपायन व्यास कहा जाने लगा। ये पराशर महर्षि के पुत्र कृष्ण द्वैपायन हैं।

वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः।
तपसः ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः॥
(म० भा० १।२)

भारतीय संस्कृति के प्राणभूत वेदों की सुरक्षा का प्रकार

सर्व ज्ञानमय महत्त्वशाली वेदों की पूर्णतया सुरक्षा करने का उपाय ऋषियों ने तथा मूर्धन्य विद्वानों ने किया है। यह उपाय इतनी सजगता से किया गया है कि इतने दीर्घतर काल के व्यतीत होने पर भी, और अनेकानेक विदेशीय आक्रमणों के चलते रहने पर भी 'वेद' का 'एक अक्षर' भी स्खलित तथा 'स्वर' च्युत नहीं हो सका। आज के युग में भी वेदपाठी ब्राह्मणों के मुख से वेदों का सस्वर उच्चारण पूर्वयुग के समान ही यथावत् विशुद्धरुप में सुनाई दे रहा है। क्योंकि वेद की अध्ययन-अध्यापन परम्परा अक्षुण्ण चली आ रही है। गुरु मुख से ही वेद का श्रवणपूर्वक उच्चारणात्मक अध्ययन हुआ करता है। महर्षियों ने वेद की सुरक्षा के लिए ही अष्ट विकृतियों की व्यवस्था कर दी है। इन विकृतियों का ही महान् उपकार है कि वेद में मंत्र का एक ही पद; क्रमोच्चारण तथा विलोम उच्चारण के रूप में अनेक बार आता है। अतः उस पद के स्वरूप ज्ञान में किसी प्रकार की कभी भी त्रुटि का होना कथमपि संभव नहीं है।

'संहिता' दो तरह से पढ़ी जाती है—(१) निर्भुज संहिता और (२) 'प्रतृण संहिता'। मूल के अविकल पाठ को 'निर्भुज' कहते हैं। जैसे "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' को ज्यों का त्यों पढ़ना ही 'निर्भुज' कहा जायगा।

और जब 'मूल' को विकृत करके पढ़ा जाता है, तब उसे 'प्रतृण' कहा जाता है। इस 'प्रतृण' के पदसंहिता, क्रमसंहिता आदि अनेक भेद हैं।

इन 'विकृतिणों' के आठ नाम हैं—

(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड. (७) रथ, और (८) धन।

'जटा माला शिख रेखा ध्वजो दण्डो रथोघनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥'[1]

मंत्रों का ज्यों का त्यों पाठ करना 'संहितापाठ' कहा जाता है। इस संहिता पाठ के प्रत्येक 'पद' का विच्छेद् करने पर उसे 'पदपाठ' कहा जाता है। पदपाठ में 'पद' तो संहिता पाठ के ही रहते हैं, किन्तु 'स्वरों' में पर्याप्त भिन्नता हो जाती है। तदनन्तर क्रम से दो पदों का पाठ करने पर 'क्रमपाठ' कहा जाता है। तदनन्तर अनुलोम तथा विलोम से जब 'क्रमपाठ' को तीन बार पढ़ा जाता है, तब उसे 'जटा पाठ' कहते हैं। 'जटापाठ' में जब 'अगला एक पद' जोड़ दिया जाता है, तब उसे 'शिखापाठ' कहते हैं। तदनन्तर 'रेखा' विकृति को इस प्रकार बनाया जाता है--क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच पदों को कहा जाता है। अथवा सम्पूर्ण मंत्र के दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात पदों को क्रम से कहने पर रेखा कही जाती है। 'क्रमाद् द्वित्रिचतुष्पच्च पदक्रममुदाहरेत्। पृथक्-पृथक् विपर्यस्य रेखामाहुः पुनः क्रमात्॥ तदनन्तर 'ध्वज' नाम की विकृति की जाती है। 'ब्रूयादादेः क्रमं सम्यक्-अन्तादुत्तारयेद् यदि। वर्गे च ऋचि वा यत्र पठनं स ध्वजः स्मृतः'॥ पहिले क्रम को कहकर अन्तिम पद को कहे तब ध्वज विकृति होती है। यह पाठ वर्ग में अथवा ऋचा में भी किया जाता है। जैसे एक मंत्र का ध्वज होता है वैसे ही पाँच, छह, सात संख्या वाले वर्ग का भी इसी तरह ध्वज होता है। अर्थात् वर्ग के आदि में स्थित दो पदों को वर्ग के अन्त में स्थित पद को 'इति' के साथ दो बार कहने पर होता है। जैसे—अग्निमीळे......आ गमदिति आ गमत्'—यह ऋग्वेद के प्रथम वर्ग का ध्वज है। तदनन्तर 'दण्ड' नाम की विकृति की जाती है।

'क्रममुक्त्वा विपर्यस्य पुनश्च क्रममुत्तरम् अर्धर्चादेवमुक्तोऽयं क्रमदण्डोऽभिधीयते'॥ पहिले क्रम कहकर पुनः उसको विपर्यास से कहना, पुनः अगले क्रमको कह कर उत्तरार्ध की ऋचा को इसी प्रकार कहने पर क्रमदण्ड

१.

बनाया जाता है। तदनन्तर 'रथ' नाम की विकृति की जाती है— 'पादशो ऽर्धर्चशो वापि सहोक्त्या दण्डवद् रथः' ॥ यह 'रथ' तीन प्रकार का होता है—दोचक्र का, तीन चक्र का और चार चक्र का। उनमें द्वि चक्र रथ, आधी ऋचा का होता है। त्रिचक्र रथ, प्रत्येक पाद के समानपदवाले गायत्री छन्दयुक्तमंत्र का होता है। चतुश्चक्र रथ प्रत्येक पाद का ही होता है। तदनन्तर 'घन' नाम की विकृति होती है। यह 'घन' चार प्रकार का होता है। (१) घन और (२) घनवल्लभ। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद है। पहले घन का लक्षण—'अन्तात् क्रमं पठेत् पूर्वं आदि पर्यन्तमानयेत्। आदि क्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः' ॥ जैसे—पूर्वार्ध ऋचा (मंत्र) के अन्त से आदितक। यथा—राज्ञेति राज्ञा। सह राज्ञा। सोमेन सह। वदन्ते सोमेन। सं वदन्ते। ओषधयः सम्।

अब आदि से अन्त तक—सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन। सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा।

इसी प्रकार मंत्र के उत्तरार्ध में भी करना होता है। अर्थात् अन्त से आदि तक और आदि से अन्त तक।

द्वितीय घन का लक्षण—शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत्। अयं घन इति प्रोक्तः ॥ अर्थात् पहले शिखा कहना, तदनन्तर उसको विपर्यास से कहना, तदनन्तर उन पदों को पुनः कहना। जैसे—'ओषधयः सं समोषधयः ओषधयः सं वदन्ते'—यह शिखापाठ किया। तदनन्तर उसी को विपर्यास से 'वदन्ते समोषधयः कहा गया। तदनन्तर उन पदों का पुनः पाठ—'ओषधयः सं वदन्ते' किया गया। इसी प्रकार पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में करने से घन-विकृति को बनाया जाता है।

तदनन्तर 'घनवल्लभ' जिसे पञ्चसन्धियुक्त घनपाठ कहते हैं। इसमें दो पदों को क्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिसंक्रम, और संक्रम से कहने पर पञ्चसन्धियुक्त घन होता है। इसमें पहले अनुलोम, विलोम, पुनः अनुलोम से पाठ करने पर 'जटा' होती है। तदनन्तर जटा के साथ उत्तर (अगला) पद कहने पर 'शिखा' होती है। तदनन्तर क्रम कह कर पुनः उसका विपर्यास से पाठ करके पुनः 'क्रम' कहने पर ध्वज होता है।

जटा और दण्ड के द्वारा घनपाठ तयार होता है। इन सब का समुच्चय पञ्चसंधियुक्त घनपाठ (घनवल्लभ) में होता है।

दूसरे प्रकार का घनवल्लभ,—अन्त से आदि तक और आदि से अन्त तक पञ्च सन्धि संयुक्त करके कहने पर होता है।

पञ्चसन्धि का स्वरूप इस प्रकार है—

'अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।
संक्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः' ॥

अनु क्रम—१+२; २+३। उत्क्रम—२+२; ३+३। व्युत्क्रम—२+१; ३+२। अभिक्रम—१+१; २+२। संक्रम—१+२; २+३॥

अर्थात्—क्रम—(१-२), उत्क्रम—(२-२), व्युत्क्रम—(२-१) अभिक्रम—(१-१), संक्रम—(१-२) इस प्रकार पदों को कहा जाता है।

उपर्युक्त जटा-मालादि अष्ट विकृतियों का निर्माण कर वेद को सुरक्षित करने वाले ऋषियों के नाम निम्नांकित पद्य के द्वारा अवगत होते हैं—

भगवान् संहिताम्प्राह पदपाठं तु रावणः।
बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह जटां व्याडिरवोचत॥
मालापाठं वसिष्ठश्च शिखापाठं भृगुर्व्यधात्।
अष्टावक्रोऽकरोद् रेखां विश्वामित्रोऽपठद् ध्वजम्॥
दण्डं पराशरोऽवोचत् कश्यपो रथमब्रवीत्।
घनमत्रिमुनिः प्राह विकृतीनामयं क्रमः॥ (मधुशिक्षा)।

जटादि आठों विकृतियों का प्रकृतिभूत 'क्रम' है।

'वेदविभाग और व्यास'—

वेद विषयक यह धारणा अत्यन्त स्पष्ट है कि जगत् के आरम्भ में वेद एक ही था। उसका विभाग कालान्तर में हुआ है। भागवतपुराण में एतद्विषयक उल्लेख है—

'एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः'

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि पुराकाल में 'प्रणव' ही एकमात्र वेद था।

वैदिकवाङ्मय में कुछ उद्धरण हैं, जो अननुशासित अध्येता को भ्रमित कर देते हैं। वस्तुतः वे उद्धरण संदिग्ध नहीं हैं। जैसे—पुरुषसूक्त का प्रमाण जो प्रारम्भ से ही चारवेदों की सिद्धि करता है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋ. १०।९०।९)

ऋग्वेद का एक अन्य ऋङ्मंत्र भी चारवेदों की सिद्धि पूर्व से ही सिद्ध करता है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रंत्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रा विमिमीत उत्वः ॥
(ऋ. १०।७१।११)

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का उल्लेख बहुलरूप में पाया जाता है। इसी प्रकार वेदत्रयी, त्रयीविद्या, शब्दों को भी देख सकते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

'यमृषयस्त्रयीविदा विदुः': —

वेदत्रयी को जानकर ऋषि जिसे जान लेते हैं। उपनिषदादि में भी वेदविभाग स्पष्टरूप से देखा जाता है।

उपर्युक्त उद्धरण प्रामाणिक हैं, परन्तु अर्थविपर्यय के कारण रहस्य विलुप्त हो गया है। वस्तुतः इन उद्धरणों में ऋक्, यजुः, सामादि के जो नामोल्लेख हैं वे 'मन्त्रों' के विभाग को स्पष्ट कर रहे हैं, न कि वेदों का विभाग। मन्त्रों की प्रकृति के परिचायक ये उद्धरण हैं।

विष्णुपुराण के अनुसार पूर्वकाल का वेद चारपादों से युक्त था, उसकी संख्या एकलाख थी। समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले दस प्रकार के यज्ञ, इसी आद्यवेद के अनुसार सम्पन्न हुए हैं—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोयं सर्वकामधुक् ॥ (वि. पु. ३।४।१)

इससे यह स्पष्ट है कि वेदों में वर्णित ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, चार वेद संहिताए नहीं है, अपितु वेद के चार पाद हैं।

पुराकाल में वेद का एकत्व सिद्ध होने के उपरान्त वेद के विभाजक को जानने की तीव्र जिज्ञासा होती है, जिसका समाधान उपर्युक्त सरणि से सहज ही हो जाता है। विष्णुपुराण का ही उल्लेख है कि द्वापर युग में प्रभु ने वेदव्यास का रूप धारण करके एक ही वेद को चार भागों में विभक्त किया—

वेदमेकं चतुर्भेदं कृत्वा शाखाशतैर्विभुः।
करोति बहुलं भूयो वेदव्यासस्वरूपधक् ॥ (वि. पु. ३।२।५६)

शुक्लयजुर्वेद के भाष्यकार महीधर आरंभ में ही लिखते हैं कि 'मनुष्य की मन्दमति को जानकर, मन्दमति मनुष्यों पर कृपाभाव से महर्षि भगवान् व्यास ने ब्रह्मपरम्परा से प्राप्त वेदको 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद' को

इन चार भागों में विभक्त करके उन्हें पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु नामक चार शिष्यों को दिया—

'तत्रादौ ब्रह्मपरम्पया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान्विचिंत्य परमकृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुःसामाथर्वाख्याँश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश'।

तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार भट्ट भास्कर ने भाष्य के उपोद्घात में इसी प्रकार लिखा है कि पूर्व में एकत्र एक वेद के विभाग व्यास ने जगत् के कल्याणार्थं अनेकशाखाओं से युक्त किये—'पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थं भूयःस्थिताः वेदव्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः'।

श्रीमद्भागवत में भी वेदव्यास के द्वारा किये गये वेदविभाग का सविस्तर वर्णन है।

वेद का स्वतः प्रामाण्य

वेदप्रामाण्य के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि 'शब्द और अर्थं के सङ्केतरूप सम्बन्ध की कल्पना, शब्द और अर्थ की सृष्टि के बाद ही हुई है, वह कल्पना चाहे ईश्वर ने की हो, अथवा किसी मनुष्य ने की हो। बुद्धिमान् लोग उसी शब्द को प्रमाण मानते हैं, जिसका उच्चारश (प्रयोग), अर्थज्ञानपूर्वक किया हो। अतः उच्चारण कर्ता के ज्ञानप्रामाण्य के अधीन ही शब्द का प्रामाण्य मानना चाहिये।

किन्तु यह कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि शब्दोच्चारण करनेवाले पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, लोभ, विप्रलिप्सा (वञ्चना), करणापाटव (इन्द्रियवैकल्य) आदि दोष प्रायः होते ही हैं। अतः उनके द्वारा उच्चरित वाक्य भी उक्त दोषों से दूषित रहना असम्भव नहीं है। तथापि अन्य प्रमाणों के द्वारा उन उच्चरित वाक्यों की पुष्टि होने पर उन वाक्यों को लोग प्रमाण मान लेते हैं। जैसे किसी ने कहा कि उस स्थान में 'सिंह' रहता है। इस वाक्य को सुनने वाला वहाँ जाकर देख सकता है। यदि कहनेवाले का कथन सही निकलता है, तो सुननेवाला पुरुष सुने हुए वाक्य को प्रामाणिक मान लेता है, अन्यथा उसे प्रामाणिक नहीं मानता। यह तो लोकव्यवहार में प्रयुक्त शब्द के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की व्यवस्था रहती है।

किन्तु वेद तो प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ, को बताते हैं। अतः प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि करना कभी संभव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में

वेदवाक्यों (शब्दों) को प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? और कहानी जैसे वाक्यों का प्रामाण्य ही कैसे माना जायगा ? क्योंकि प्रवर्तक या निवर्तक वाक्य ही सर्वदा प्रमाण माना जाता है। अतः वक्ता के भ्रम-प्रमादि दोषों के कारण वेदों का अप्रामाणिक होना वहुत सम्भव है।

किन्तु उक्त समस्त आशंकाओं का समाधान महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा के प्रथम अध्याय, प्रथम पाद के पञ्चमसूत्र—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणम् बादरयणस्याऽनपेक्षत्वात्'—के द्वारा कर दिया है, उस कारण समस्त शंकाओं का समूलोन्मूलन हो जाता है।

वेद कभी किसी भी समय नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है, वह तो नित्य है। यद्यपि स्वर्ग आदि पदार्थ, अनित्य ही हैं, तथापि 'स्वर्गत्व' आदि जातियाँ नित्य हैं, और उनमें ही 'शब्दों' की शक्ति होती है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थों से नित्य सम्बन्ध है, वह किसी से कल्पित नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि 'सृष्टि' करते समय ईश्वर ही भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध का बोध कराता है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निराकार ईश्वर किस तरह 'सम्बन्ध बोध' करा सकेगा ?

यदि लीलाविग्रह धारण करके वह सम्बन्ध बोधन करा सकता है, यह कहें तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसे सम्बन्धबोधन कराने के लिये अवश्य ही कतिपय (कुछ) ऐसे शब्दों की आवश्यकता होगी, जिनका अर्थसम्बन्ध, लोग पहले से ही जानते हों।

इस पर यदि यह कहें कि वह ईश्वर, किसी इङ्गित या अभिनय से सम्बन्धबोधन करा देता है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इङ्गित या अभिनय सीमित होते हैं, और 'शब्द' तो अनन्त हैं। जिस शब्दवारिधि का अन्त, देवेन्द्र ने भी नहीं पाया। अतः उसके सम्बन्धबोधनार्थ, अनन्त अभिनय चाहिये, किन्तु यह संभव नहीं है।

इस पर यदि यह कहें कि सम्बन्ध बोधन कराने के लिए कतिपय शब्दार्थसम्बन्धों को 'नित्य' मान लेंगे।

किन्तु यह कथन तर्कहीन ही प्रतीत हो रहा है, क्योंकि कुछ शब्दार्थ

सम्बन्धों को नित्य मानना ही है तो सभी शब्दार्थ सम्बन्धों को नित्य मानने में क्या आपत्ति है ? अतः 'गो' शब्द और उसका 'गो' रूप अर्थ, दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से ही चला आरहा है—यही स्वीकार करना उचित है ।

जिन नवीन अर्थों का नवीन नामकरण विदित हो रहा है, उनको भले ही कृत्रिम मान लिया जाय, परन्तु जिनके सम्बन्ध का काल और कर्ता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, उनको अनादि स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

वेद के विधिवाक्य उन्हीं अर्थों का बोधन करते हैं, जो दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से नहीं ज्ञात हो सकते । जैसे धर्म, स्वर्ग आदि । लौकिक वाक्य, पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दूषणों से दूषित होने के कारण अप्रामाणिक भी हो सकते हैं, किन्तु वैदिक विधिवाक्य सर्वथा प्रामाणिक ही होते हैं । क्योंकि वे अपने अर्थबोधन में दूसरे प्रमाणों तथा वक्ता के ज्ञान-प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं करते । अतः वे स्वतः प्रमाण हैं, और नित्य हैं । लौकिक वाक्यों के समान उनका कोई भी निर्माता नहीं है । यही कारण है कि निर्माता के दोषों से वेदों के अप्रमाण होने की आशंका ही नहीं हो सकती । भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य महर्षि जैमिनि का भी यही मत है ।

वाक्यों के प्रमाण न होने में दो-ही कारण हो सकते हैं—

एक तो निर्माता के भ्रम-प्रमादादि दोष, और दूसरा वाक्यार्थ में किसी प्रबल प्रमाण से वाक्य का निश्चय । वेद नित्य हैं, नित्य पदार्थ, निर्मित नहीं हुआ करते । जो निर्मित नहीं, उसमें निर्माता का दोष कहां से आवेगा ?

दूसरी बात यह है कि वेदोक्त अर्थ, किसी दूसरे प्रमाण का विषय ही नहीं है । अतः उसका बाध अर्थात् मिथ्यात्वनिश्चय भी नहीं हो सकता ।

अप्रामाण्य का एक कारण 'अबोधकत्व' भी होता है । जैसे—'जरद्गव, कम्बल और पादुकाओं को पहन कर द्वार पर बैठा हुआ, 'मन्द्रकगीत' गारहा है, उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन् ! रुमा में लवण (नमक) का क्या मूल्य है ?—'**जरद्गवः कम्बल-पादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मन्द्रकाणि । तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्घः**'—ऐसे अर्थहीन वाक्य भी अप्रमाण जाने जाते हैं । किन्तु वेदों में इस प्रकार की अबोधकता भी नहीं है । अतः वेद सर्वथा प्रमाण ही हैं ।

पूर्व पक्षी का पुनः एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन 'धर्म' और वह भी अनुष्ठान के द्वारा ही 'स्वर्गादि अभ्युदय' का साधन होता है, और अनुष्ठान (भावना) का 'ज्ञान', प्रत्येक 'क्रियापद' से हो जाता है, जो 'क्रियापद' सभी वाक्यों में होते हैं। क्योंकि बिना क्रियापद के 'वाक्य' पूर्ण नहीं माना जाता। तब बिना प्रेरणा (विधि = आज्ञा) के भी अन्य क्रिया पदों से अपने अभीष्ट (ईप्सित) का ज्ञान हो सकता है। अर्थात् 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है'—ऐसे क्रिया पद वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, 'स्वर्गादि' अभ्युदय के साधन हैं। तब वैदिक वाक्यों में 'विधि' की क्या आवश्यकता है ?

यदि यह कहें कि 'धर्म' में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिये 'यजेत', 'जुहुयात्', (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि वाक्यों की आवश्यकता होती है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि यागादिरूप धर्म में अभिरुचि हुए बिना कोई भी विधिवाक्य, पुरुष को बलात् प्रवृत्त नहीं करा सकता। अन्यान्य वाक्यों के समान ही 'विधि' का भी इतना ही कार्य है कि 'याग, स्वर्ग का साधन है'। अतः उसे करना चाहिये—इस बात का बोध करा दे। इस ज्ञान के होने पर भी यदि याग करने की उसे इच्छा होती है, तभी वह याग करने में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। ये सभी कार्य, यदि विधिव्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) घटित वाक्यों से भी हो सकते हैं, तो 'विधि' की क्या आवश्यकता ?

यदि यह कहें कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'— इत्यादि वाक्य से उक्त 'हनन-निवृत्ति' के लिए 'विधिवाक्य' की आवश्यकता है।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ये सब निवृत्तिरूप कार्य, प्रतिषेधबोधक 'न' से ही हो जायेंगे। 'ब्राह्मणवध' अनिष्ट का साधन है, 'उसे नहीं करना चाहिये'—यह ज्ञान होने पर भी 'निवृत्ति' तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब 'अग्निहोत्रादि धर्म' को वैदिकविधिवाक्य—बोधित अर्थ, न कहने में क्या हानि है ?

वास्तविकता यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग की कामनावाला, पुरुष याग करे—इत्यादि वाक्यों में यदि 'विधि' न हो तो उक्त वाक्य का अर्थ यह कहना होगा कि 'स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष, 'याग' (यज्ञ)

करता है'। अर्थात् अनुष्ठानरूप 'भावना' का साध्य (कार्य) 'याग' हुआ, और वह याग, 'परिश्रम' और द्रव्यसाध्य' होने के कारण दुःखमय (कष्ट प्रचुर) ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की, दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ?

यदि 'विधिघटित वाक्य' होगा, तो 'विधि' से प्रेरणा का ज्ञान होगा, और 'प्रेरणा' से 'प्रयत्नरूप भावना', पुरुष में उत्पन्न होगी। वह भावना, कष्टप्रचुर (दुःखमय) याग को अपना लक्ष्य (साध्य) न बनाकर अपने अभीष्टतम (ईप्सिततम) सुखमय स्वर्ग को ही अपना लक्ष्य (साध्य) बनायेगी, और 'याग' को, उस लक्ष्यरूप स्वर्गप्राप्ति का साधन बनायेगी।

वह 'याग' जब फलभावना (स्वर्गभावना) में साधन बनकर उस भावना के साथ सम्बद्ध (अन्वित) हो जायगा, तब 'विधिवाक्य' का अर्थ, यह होगा कि 'याग' से स्वर्ग को प्राप्त करो'। तब 'यह भावना' 'स्वर्ग' को प्राप्त करानेवाली है—यह ज्ञात होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। एवं च 'यागभावना' में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिये ही 'विधि' की आवश्यकता है। क्योकि 'विधि' से ही 'याग' में स्वर्गसाधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है। अतएव 'विधिवाक्यों' को धर्म में प्रमाण कहा जाता है।

पूर्वोक्त 'औत्पत्तिक सूत्र' में 'अनुपलब्धेऽर्थे'—इस अंश से यह सूचित किया गया है कि 'अनुभव' से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक 'स्मरण' हुआ करता है। अतः 'स्मरण'—को स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। परन्तु 'विधिवाक्य'; उस प्रकार का नहीं है, अपितु जो 'अर्थ' किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं है, उसी 'अर्थ' का वह (विधिवाक्य), ग्राहक (ज्ञापक) होने से उसे स्वतन्त्र प्रमाण (स्वतः प्रमाण) माना जाता है।

बौद्धों के 'निरालम्बनवाद' का मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने जो खण्डन किया है, उसका अभिप्राय यही है कि वेद के विधिवाक्य, उनका अर्थ (भावना) और उसका मूल 'स्वर्ग' आदि, ये सभी वास्तविक पदार्थ हैं। काल्पनिक (मिथ्या) नहीं हैं। अतएव 'धर्म' में 'विधिभाग' को प्रमाण माना जाता है।

धर्म में वैदिक विधिवाक्यों का प्रामाण्य सुस्थिर रखने के लिये ही वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्टपाद ने वैयाकरणों के 'स्फोटवाद' का भी खण्डन किया है। क्योंकि 'अर्थावबोध' (अर्थज्ञान) तो 'स्फोट' से भी हो सकता

था, तब 'मन्त्रों' में पदादि का 'ऊह' कैसे हो पाता ? एक देवता के मन्त्र से जब अन्य देवता का कार्य, याग में किया जाता है, तब पूर्व देवता का नाम वहाँ से हटाकर अपेक्षित दूसरी देवता का नाम उस मंत्र में जोड दिया जाता है, और मन्त्र जैसा का तैसा ही अर्थात् यथावत् ही रहता है। इस प्रकार नाम के परिवर्तन अर्थात् मन्त्रगत एक पद को हटाकर उसके स्थान पर अपेक्षित दूसरे पद के रखने को ही 'ऊह' कहते हैं। जैसे—'अग्नये त्वा जुष्टं चरुं निर्वपामि'—इस मन्त्र को 'सौरयाग' में चरुनिर्वाप के समय कहा जाता है, किन्तु इस याग में 'अग्नि' देवता तो है नहीं, वहाँ तो 'सूर्य' देवता है, उसी के लिये चरुनिर्वाप करना है, 'प्रकृतिरूप आग्नेययाग' की अग्निदेवता को नहीं। किन्तु सौरयाग में विनियुक्त मन्त्र में तो 'अग्नि' पद पढा गया है। तब 'अग्नि' देवता वाले मन्त्र से 'सूर्य' देवता के लिये 'चरु निर्वाप' कैसे किया जायेगा ?

इस प्रश्न के समाधानार्थ मंत्र में 'ऊह' करने के लिये कहा जाता है। अर्थात् मंत्रगत 'अग्नि' पद को हटाकर उसके स्थान पर 'सूर्याय' इस चतुर्थ्यन्त पद को रख देते हैं, और 'सूर्याय त्वा जुष्टं चरुं निर्वपामि' मंत्र पढा जाता है। यही ऊह का स्वरूप है।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि 'वेद' का 'अनपेक्षत्व' रूप स्वतः प्रामाण्य कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि घट-पटादिपदार्थों की अनित्यता तो प्रसिद्ध ही है। अतः 'घट' आदि शब्दों का 'अर्थ' अनित्य ही होगा। एवंच यह मानना होगा कि सृष्टि उत्पन्न होने के बाद किसी व्यक्ति ने शब्दों का अर्थों में संकेतनिर्धारण किया होगा। उसी तरह वैदिक शब्दों को भी उस संकेतनिर्धारक पुरुष की 'अपेक्षा' अवश्य हुई होगी। तब 'वेद' अनपेक्ष कहाँ रहा ? वह तो सापेक्ष हो गया। एवंच 'अनपेक्षत्वरूप स्वतः प्रामाण्य' को बाधित मानना होगा। ऐसी स्थिति में वेद को 'स्वतः प्रमाण' कैसे कहा जायगा ?

उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिये ही अगाधप्रतिभा के धनी मीमांसकों ने 'घटादिशब्दों' का अर्थ 'घट-पटादिव्यक्ति' न मानकर 'घटत्व-पटत्व जाति' को ही उनका 'अर्थ' स्वीकार किया है। 'घटत्व, पटत्व' जाति नित्य रहती है।

एवंच 'नित्य शब्द' का 'नित्य अर्थ' के साथ स्वाभाविक (औत्पत्तिक) सम्बन्ध है। वह कृत्रिम (अनित्य) नहीं है। अतः संकेतनिर्धारक पुरुष की अपेक्षा न होने से वेदों का 'स्वतः प्रामाण्य' ही सिद्ध होता है।

बौद्धलोग 'जाति पदार्थ' को स्वीकार नहीं करते। वे 'अन्यापोह' रूप ही 'जाति' कहते हैं। इसलिये मीमांसकों ने 'अपोहवाद' का भी खण्डन किया है, और 'जाति' को 'भावरूप पदार्थ' सिद्ध किया है।

ईश्वरेच्छारूप संकेत कहनेवाले नैयायिकों के पक्ष में भी 'वेदप्रामाण्य' सन्दिग्ध हो सकता था। इसलिये ईश्वर का भी वेदकार (वेदरचयिता) के रूप में ही निराकरण उन्हों ने (मीमांसकों ने) किया है। ईश्वर के रूप में उसका खण्डन कहीं पर भी उन्होंने नहीं किया है।

इसी तरह 'चित्रादियागों के फल 'पशु, वृष्टि' आदि, प्रत्यक्ष ही हैं। कभी-कभी चित्रादियाग करने पर भी 'पशु आदि फल नहीं होते हैं। अतः ऐसी विधियों का प्रामाण्य बाधित ही कहना होगा।

इस शंका का समाधान 'चित्राक्षेपपरिहार' प्रकरण में 'कर्तृक्रिया वैगुण्य' आदि के द्वारा किया गया है।

इसी तरह 'स एवं यज्ञायुधी आत्मा अञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इत्यादि वाक्य, यज्ञायुधी यजमान का 'स्वर्गगमन' बताते हैं, परन्तु 'यजमान' तो यहीं जलकर भस्म हो जाता है अतः एक वैदिक वाक्य के 'अप्रमाण' हो जाने से, उसी के समान सभी वेदवाक्य अप्रमाण हो सकते हैं।

इस आशंका का समाधान 'आत्मा' को देहादि से पृथक् (भिन्न) बताकर किया गया है।

इसी प्रकार सूत्रगत **'अनपेक्षत्वात्'** इस अंश में भी दो बातें विवक्षित हैं—एक तो यह कि 'ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः' ही है, क्योंकि वह 'गुण या संवाद' से नहीं है। प्रमाणों का (ज्ञान का) प्रामाण्य, 'अर्थ' के अनुसार ही होता है। 'प्रमाण', अपने विषय के साथ ही उसके 'प्रामाण्य' को को भी ग्रहण करता है और अर्थ-प्रामाण्य के अधीन ही 'प्रामाण्य व्यवहार' हुआ करता है। किन्तु 'अप्रामाण्य' स्वतः नहीं है, अपितु 'परतः' है। क्योंकि 'अर्थान्यथात्व' ही अप्रामाण्य का स्वरूप है। और वह अप्रामाण्य (अर्थान्यथात्व), 'बाधकज्ञान, कारणदोषज्ञान और विसंवादज्ञान' से जा । जाता है। जैसे—रज्जु में 'सर्पज्ञान' का अप्रामाण्य दीपकादिसापेक्ष रज्जुज्ञान आदि से ही होता है।

किञ्च—लौकिक वाक्यों का 'प्रामाण्य', वक्ता के यथार्थज्ञान के अधीन होता है। अतः लौकिक वाक्यों में किसी का 'प्रामाण्य' और किसी का 'अप्रामाण्य' भी हुआ करता है। किन्तु वेदों का रचयिता (कर्ता) कोई

नहीं है। अतः उनमें 'वक्ता के अज्ञान आदि दोषों' से अप्रामाण्य की शंका करना उचित नहीं है।

सांख्य-योग—के अनुसार 'ज्ञान' का 'प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य'—दोनों ही 'स्वतः' माना गया है। क्योंकि जो 'सामर्थ्य', जिसमें 'स्वाभाविक' नहीं है, उसे अन्य के द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता। सांख्ययोग के अनुसार 'वेद' का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही यदि स्वतः (स्वाभाविक) हैं, तो दोनों में से किसी एक का निर्णय न हो पाने से 'वेद' का 'अप्रामाण्य' ही स्वीकार कर लिया जाय।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सांख्ययोग के अनुसार 'गुड' में मधुरता के समान 'वेद' में 'प्रामाण्य' स्वाभाविक (स्वतः) ही है। क्योंकि वह 'अनादिशिष्टपरम्परा' से स्वीकृत है। उसकारण 'वेद' में 'प्रामाण्य' का निश्चय कर पाना सुलभ है, और वेद में 'अप्रामाण्य' का ज्ञान, अनादिशिष्टपरम्परा के द्वारा 'गुड में तिक्तता' के समान स्वीकृत नहीं है। एवंच अनादिशिष्टपरम्परा से स्वीकृत न होने के कारण 'वेद के अप्रामाण्य' का निरसन हो जाता है।

पुनरपि प्रश्न किया जा सकता है कि 'वेद के स्वाभाविक (स्वतः) प्रामाण्य में भी क्या प्रमाण है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि 'स्वभाव' पर आक्षेप वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे 'गुड' की स्वाभाविक 'मधुरता' पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जैसे 'गुड की मधुरता' अनादिप्रत्यक्षपरम्परा से मान्य है, वैसे ही 'वेद' का प्रामाण्य भी अनादिशिष्टपरम्परा से निश्चित है। जैसे 'गुड की तिक्तता' को कोई नहीं मानता, वैसे ही 'वेद की अप्रामाणिकता' भी अनादि शिष्ट परम्परा की मान्यता के विरुद्ध है।

मानवधर्मशास्त्र की प्रवृत्ति **'आसीदिदं तमोभूतम्'** इत्यादि पद्यों से सांख्य अथवा वेदान्तमत के अनुसार है। मनु, 'वेदों' को स्वतः प्रमाण मानते हैं।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के अनुसार—'ज्ञान' का 'प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य' 'परतः है। क्योंकि सांख्य-योग की तरह प्रामाण्याऽप्रामाण्य को वे स्वतः नहीं मानते। 'ज्ञान' दो प्रकार का होता है—प्रमाण और अप्रमाण। कारणों के गुणानुसार 'ज्ञान' में 'यथार्थरूप प्रमाणता' होती है। तथा कारणों के दोषानुसार 'अयथार्थतारूप अप्रामाणिकता' होती है।

अर्थात् जिस ज्ञान के 'कारण', रोगादिदोषों से दूषित रहते है, उनसे होनेवाला ज्ञान 'अप्रामाणिक' होता है।

न्याय—वैशेषिक के अनुसार 'वेद' पौरुषेय (ईश्वरनिर्मित) है। पुरुषों में भ्रम-प्रमादादि दोष होते ही हैं। तब वेद से उत्पन्न हुए ज्ञान में वेद-रचयिता पुरुष के दोषों से 'अप्रामाणिकता ही होगी।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भ्रम-प्रमादादि दोष तो 'जीवों' के ही स्वाभाविक हुआ करते हैं, 'ईश्वर' के नहीं :

न्याय-वैशेषिक के मत में 'परमेश्वर' के 'ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न' आदि नित्य होते हैं। 'परमेश्वर'—सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। जब 'जगदीश्वर' ही वेद के कर्ता हैं, तब 'वेद के प्रामाण्य' में सन्देह ही कैसे हो सकता है ?

तथापि कोई कह सकता है कि 'श्रद्धा-विश्वास' को छोड़कर 'ईश्वर' के अस्तित्व में भी क्या प्रमाण है ? क्योंकि इस समय उस प्रकार का कोई एक भी 'सर्वज्ञपुरुष' नहीं दिखाई दे रहा है। अनुमान से भी वैसे पुरुष कीं सिद्धि करना संभव नहीं हैं। क्योंकि ऐसा करने में 'अन्योन्याश्रय दोष' होगा। अर्थात् यदि कोई 'सर्वज्ञ सिद्ध होगा' तब 'उसके वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होगा,' तथा जब 'वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होगा,' तब उसके आधार पर 'सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि होगी'। अतः अनुमान से सर्वज्ञ पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती। किसी अन्य पुरुष के कहने से भी 'सर्वज्ञ पुरुष' की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य पुरुषों के वाक्य तो पुरुषाश्रित भ्रमादि दोषों से दूषित रहते हैं।

यदि किसी नित्य आगम से 'ईश्वर' की सिद्धि करें, तो 'वेद' को भी उसी तरह 'नित्य' माना जा सकता है। तब वेदनिर्माता की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

यदि ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहें, तो उसकी सर्वज्ञता को कोई अन्य सर्वज्ञ ही समझ सकता है। क्योंकि जो सम्पूर्ण विषयों को नहीं जानेगा, वह 'सर्वज्ञता' को भी कैसे जान सकेगा ? जो पुरुष 'घट' को जानता है, वही 'घटज्ञ' को जान सकता है। उसी प्रकार जो 'सर्व' को जानेगा, वही 'सर्वज्ञ' को जान सकेगा। इस तरह 'सर्वज्ञों' की परम्परा कहीं समाप्त ही नहीं होगी। तब 'अनवस्था दोष' होगा और अनवस्था के भय से 'सर्वज्ञता' भी समाप्त मानी जायगी।

यदि ईश्वर की सर्वज्ञता जानने के लिये अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करें, तो उसकी सर्वज्ञता जानने के लिये अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता अज्ञात रहेगी, क्योंकि जो भी उसकी सर्वज्ञता को जानेगा उसे 'सर्वज्ञ' ही कहना होगा। यदि यह 'अन्तिम सर्वज्ञ' नहीं है, तो उसीके समान पूर्व-पूर्व पुरुषों की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। तब मूल पुरुष ईश्वर की भी 'सर्वज्ञता' सिद्ध नहीं हुई। ऐसी स्थिति में उससे निर्मित 'वेदों' का प्रामाण्य भी कैसे हो सकेगा? यदि श्रद्धामात्र से कोई उसे 'सर्वज्ञ' मानता है, तो 'बुद्ध' ने क्या अपराध किया है, जो उसे 'सर्वज्ञ' न कहा जाय?

इसी अभिप्राय को वार्तिककार ने कहा है—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्ध्यते॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च यो नैव स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत्॥

इन समस्त आक्षेपों का समाधान नैयायिकों की ओर से दिया जा सकता है कि 'एक-एक वस्तु' की पृथक्-पृथक् ज्ञानरूप सर्वज्ञता न भी कहीं हो तो भी उससे कोई हानि नहीं है। क्योंकि कीट-पतङ्ग आदि के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। किन्तु 'तत्त्वज्ञता, धर्मज्ञता' तो ईश्वर में है ही।

"कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न क्वोपयुज्यते।
सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यति'॥

पुनः यह कह सकते हैं कि जिस युक्ति से सर्वज्ञता का खण्डन हुआ, वैसे ही अतीन्द्रियार्थदर्शिता का भी खण्डन हो सकता है। तत्त्व एवं धर्म का स्वरूप चर्मचक्षुओं के लिये दुर्ग्राह्य ही है और जो स्वयं धर्मज्ञ या तत्त्वज्ञ नहीं है; वह ईश्वर की धर्मज्ञता या तत्त्वज्ञता को भी कैसे जानेगा? इन्हीं युक्तियों से बुद्धागमों की भी प्रामाणिकता का खण्डन हो जाता है। जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु के डूबने का प्रश्न ही कहाँ!

यदि नैयायिक 'वेदों' को अपौरुषेय मानता है, तो उसके सिद्धान्त की हानि होती है। दूसरी बात यह है कि—अपौरुषेय होने के कारण वह वेद-

वक्ता नहीं होगा, तब वक्ता के 'गुण' के आधार पर वेदों का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो सकेगा।

किन्तु उक्त वक्तव्य युक्तियुक्त प्रतीत नहीं हो रहा है। जब कि अल्पज्ञ एवं आप्त लोगों का लौकिक वाक्य भी प्रमाण माना जाता है, तो परम आप्त, नित्य परमेश्वरप्रणीत वेद का प्रामाण्य तो कैमुतिकन्याय से ही सिद्ध हो जाता है। उसकी सर्वज्ञता की सिद्धि 'न्यायकुसुमाञ्जलि'. तथा 'बौद्ध-धिक्कार' आदि ग्रन्थों में अच्छीतरह से की गई है। यदि 'आकाश' आदि की तरह 'वेद' को ईश्वरप्रणीत न भी माना जाय तब भी वेद के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पक्ष अर्थात् 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों ही परतः है—उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि प्रामाण्याप्रमाण्य दोनों को परतः मानने पर 'ज्ञान' को निःस्वभाव' ही कहना होगा।

यहाँ पर विकल्पात्मक प्रश्न किया जा सकता है कि 'उत्पन्नज्ञान' 'गुण-दोष निर्णय' के पूर्व, किसी विषय को प्रकाशित करता है या नहीं ?

यदि प्रथम विकल्प (पक्ष) मानाजाय, तब तो 'ज्ञान' का 'स्वतःप्रामाण्य' ही सिद्ध हो जाता है। यदि द्वितीय विकल्प (पक्ष) माना जाय, तब 'अप्रामाण्य' ही स्वतः सिद्ध होता है।

यदि 'प्रामाण्य–अप्रामाण्य दोनों को ही 'गुण–दोष' के अधीन कहा जाय, तब तो 'गुण–दोष निर्णय' के पूर्व 'ज्ञान' को अनवधारशात्मक (निः स्वभाव) ही कहना होगा।

किन्तु यह बात गले नहीं उतरती। यह तो हो नहीं सकता कि 'ज्ञान', भी हो और वह 'अर्थ' का निर्धारण न करे।

'ज्ञान' को निर्विषय कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि नैयायिकों ने 'ज्ञान, इच्छा, कृति' आदि को 'सविषय' ही माना है, 'निर्विषय' नहीं।

यदि 'प्रामाण्य' को गुणाधीन भी मान लें, तो कोई क्षति नहीं है। क्योंकि जब 'वेद' किसी से उत्पन्न नहीं है, तो पुरुषाश्रित 'दोषों का अभाव' स्वाभाविक ही है। अतः वेद के स्वतःप्रामाण्य में कोई हानि नहीं है।

नैयायिकों ने 'अप्रामाण्य' को जो 'परतः' कहा है, वह तो उचित ही है, क्योंकि 'अप्रामाण्य' की उत्पत्ति, दो प्रकार से होती है—एक 'दोषज्ञान' से और दूसरे 'विषयबाध' से। अतः 'ज्ञान' की अप्रमाणता

(अप्रामाण्य) परतः ही माननी चाहिये। किन्तु 'प्रामाण्य' को स्वतः मानना चाहिये।

बौद्धों के मत में 'ज्ञान' का 'अप्रमाण्य'—स्वतः और 'प्रामाण्य'—परतः माना जाता है। इनका कहना है कि 'प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य'—दोनों ही 'स्वतः' नहीं हो सकते। किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये बिना 'ज्ञान' में अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध 'प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य' दोनों नहीं हो सकते हैं। जैसे—'अग्नि' में 'शैत्य' और 'औष्ण्य' दोनों नहीं हो सकते, वैसे ही 'ज्ञान' में 'प्रामाण्य–अप्रामाण्य' दोनों ही 'स्वतः' नहीं कहे जा सकते। यह भी नहीं कह सकते कि किसी ज्ञानविशेष का 'प्रामाण्य' माना जाय और किसी 'ज्ञानविशेष का 'अप्रामाण्य' माना जाय। क्योंकि जब दोनों व्यक्तियों में 'ज्ञानत्व' से भिन्न (अन्योन्यव्यावृत्त) कोई रूप उपलब्ध नहीं हो रहा है, तब कैसे कहा जाय कि एकज्ञान 'प्रमाण' है, और दूसरा 'अप्रमाण' है। यदि किसी अन्य कारण से ऐसा होता है, तब तो' प्रामाण्य' और 'अप्रामाण्य' को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ज्ञान में, 'स्वतः प्रामाण्य' एवं स्वतः अप्रामाण्य' का होना संभव नहीं है। क्योंकि 'स्वभाव' या तो आकाश के 'व्यापकत्व' जैसा अथवा जल की शीतलता जैसा एवं अग्नि की उष्णता के जैसा नित्य होता है। 'ज्ञानत्व' रूप धर्म तो 'प्रमाण-अप्रमाण' दोनों प्रकार के ज्ञानों में रहता है। अतः 'ज्ञानत्व' के आधार पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की व्यवस्था नहीं हो सकती। और एक ही ज्ञान में 'प्रामाण्याप्रमाण्य' दोनों को मानने पर सांकार्य' दोष भी होगा।

बौद्ध का कहना है कि 'प्रामाण्याभाव' ही अप्रामाण्य है। 'अभाव तो अवस्तु ही होता है। वह 'दोष' आदि किसी से उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए 'दोष' के आधार पर 'अप्रामाण्य' का निर्णय नहीं कर सकते। अतः 'अप्रामाण्य' 'स्वतः' होता है, और 'प्रमाण्य' परतः होता है। क्योंकि वह 'वस्तु' रूप है। वह 'गुणजन्य' होता है। एवं च गुणनिर्णय के अधीन 'ज्ञान' के प्रामाण्य का निर्णय होता है। किञ्च—'सर्प' का ज्ञान, कभी सर्प से होता है, और कभी असर्पभूत रज्जु से भी 'सर्प' का ज्ञान हो जाता है। अतः 'ज्ञानत्व' मात्र से उसके प्रामाण्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। एवं च गुणसंवाद, ज्ञानान्तरसङ्गति, अर्थक्रिया'—इनमें से किसी एक के ज्ञान से ही 'ज्ञान' के प्रामाण्य (याथार्थ्य) का निर्णय हो सकता है। अतः 'प्रामाण्य' को

परतः ही मानना चाहिए। वह 'स्वतः कभी नहीं हो सकता। यदि ज्ञान का प्रामाण्य, स्वाभाविक हो तो 'स्वाप्नज्ञान' को भी प्रमाण कहना होगा।

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है 'ज्ञान' का प्रमाण्य 'स्वतः' ही मानना होगा और 'अप्रामाण्य को 'परतः'।

'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते'॥
'आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु'॥

यदि 'ज्ञान' में अपने विषय की यथार्थता निर्धारण करने की स्वतः शक्ति न होगी, तो वह दूसरे से कैसे उत्पन्न होगी? फिर तो कभी भी 'अर्थ' का निर्धारण ही न होने से 'जगत्' की अन्धता ही प्रसक्त होगी। अतः समस्त प्रमाणों का प्रामाण्य—'स्वतः' है, क्योंकि यदि उनमें अपने विषय की सत्यता के निश्चय कराने की शक्ति न हो, तो वह शक्ति, और कहाँ से आ सकती है? फिर तो किसी को किसी अर्थ का निर्णय ही नहीं हो पायेगा।

यदि यह कहें कि 'गुणनिश्चय' से प्रमाणों का प्रमाण्य निश्चित होगा। तो प्रश्न होगा कि 'वे गुण कौन से हैं'? यदि विशुद्धि (निर्मलता) को गुण माना जाय, तो वह 'मलरूप दोष का अभाव ही है।

यदि इस दोषाभाव को ही 'गुण' मान लिया जाय, तो यह दोषाभाव-रूप 'गुण', अपौरुषेय 'वेद' में उपलब्ध हो ही रहा है। एवंच 'प्रामाण्य' को यदि 'गुणाधीन' भी मान लें तो भी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि 'वेद' तो 'अपौरुषेय' हैं, तो उसमें पुरुषाश्रित दोषों का अभाव रहना स्वाभाविक ही है। एवंच वेद की स्वतः प्रमाणता में कोई क्षति नहीं है।

वेदों का निर्माण काल

वेदों का निर्माण कब हुआ? इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने किञ्चिन्मात्र भी चर्चा नहीं की है। क्योंकि वेद अनादि एवं अनन्त हैं। वेद किसी पुरुष के लिखे हुए नहीं है, अर्थात् अपौरुषेय हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद अपौरुषेय होने से वेद किसने रचे? कब रचे? इस प्रकार की चर्चा को अवकाश ही कहाँ है? इसी कारण वेद के भाष्यकारों ने वेदप्रतिपादित

धर्म का ही ऊहापोह किया है। अर्थ वाद को अपने चिंतन का विषय नहीं बनाया। वेदों का अर्थ कर उसके अनुसार आचार धर्म का पालन करने में ही शास्त्रकारों का आग्रह रहा है। इसी को दृष्टिगत करते हुए मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि ने भी सम्पूर्ण वेद को कर्मपरक बताया है।[1]

आधुनिक काल में पाश्चात्यों ने वेद वाङ्मय पर अपनी अल्पबुद्धि से विचार करना आरम्भ किया। सभी पाश्चात्य वेदज्ञ विद्वानों ने अपने तर्क कुतर्कों के सहारे वेद की अपौरुषेयत्ता पर अत्यन्त अविश्वास किया और उसके कालनिर्णय के चक्कर में फँस गये, किन्तु प्रत्येक का मत दूसरे के मत से मिल नहीं पाया। ऐसी स्थिति में किस मत पर विश्वास किया जाय? किसके निर्णय को शुद्ध एवं स्थिर कहा जाय? इसी ऊहापोह में अल्पज्ञानी मानव भ्रान्त हो रहा है। वस्तुतः सत्य यही है कि वेद का कालनिर्णय नहीं किया जा सकता। यदि वेद का कोई रचना काल होता तो कात्यायन, शौनक, व्यास, सायण, महीधर, यास्कादि महर्षि ही उस पर विचार अवश्य करते, परन्तु तत्तत्कालीन आचार्यों ने एक मात्र अपौरुषेय पक्ष को ही प्रस्तुत किया है, और स्पष्ट कह दिया है कि वेद अनादि हैं, अनन्त हैं, अपौरुषेय हैं। अर्थात् काल से अनवच्छिन्न हैं। वे कालावधि की बद्धता से रहित हैं। मनु ने कहा है—

"अनादिर्निधना दिव्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"

ऋषियों के मतों में संवाद और वैज्ञानिकता है।' उस काल के आचार्यों में अनुसंधान प्रवृत्ति नहीं थी, यह समझना भी अपनी अल्पबुद्धि का परिचय देना मात्र है। अपिच उन आचार्यों ने आयुः-सीमा को ध्यान में रखकर अधिकाधिक ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न किया था। अतएव प्राचीनकाल में जो ज्ञानधारा प्रसूत होकर प्रसृत हुई उसकी अपेक्षा आज हम, और हमारा ज्ञान अत्यधिक कृश हो गया है।

वेद की अनादिता में साशंक रहने वाले आधुनिक मैक्समूलर, याकोबी, लोकमान्य बालगंगाधरतिलक, डॉ० विङ्कलर आदि विचारकों ने वेदकाल-विषयक चिंतन करना आरम्भ किया। अतः उनके मतों का सार मात्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। और भी अनेकानेक विद्वानोंने वेद के काल निर्णय को अपने चिंतन का विषय बनाया। ग्रन्थगौरव के भय से हम यहाँ उनके मतों का उल्लेख, संकेत मात्र से ही कर रहे हैं।

१—मीमांसासूत्र १।२।१

डॉ० मैक्समूलर—मैक्समूलर ने १८५६ ई० में वेदों के काल निर्णय-सम्बन्धी अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। मैक्समूलर ने बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के काल को प्रमाण मानकर वेद को बुद्ध पूर्व घोषित किया है। अपने वेदकालनिर्णय को मैक्समूलर ने चार खण्डों में विभक्त किया है। उसमे प्रथम कालखण्ड 'सूत्रकाल' है। मैक्समूलर कहते हैं कि सूत्र अत्यन्त संकुचित एवं अल्पाक्षरी मन्त्रों के समान हैं। दूसरे किसी भी भाषासाहित्य में इन सूत्र ग्रन्थों के समान कोई अन्य सूत्रग्रन्थ मेरी दृष्टि में नहीं है। इन सूत्रग्रन्थों का निर्माण काल २००—६०० ई० पू० है।

द्वितीय काल-खण्ड 'ब्राह्मणकाल" है, जिसकी स्थिति ६००-८०० ई० पू० है। मैक्समूलर कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली सूत्रग्रन्थों की शैली से भिन्न है। ब्राह्मणग्रन्थ गद्यात्मक है एवं स्वरसंयुक्त हैं। सूत्रों के स्वर नहीं हैं। ब्राह्मणभाग का मुख्य प्रयोजन यज्ञों का वर्णन एवं उनकी व्यवस्था का कथन करना है। सूत्रग्रन्थों के सम्यक् ज्ञानार्थ ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों की उत्पत्ति, विकास एवं उनमें प्रमाणरूप में दिए हुए प्राचीन आचार्यों की संख्या का विचार करने पर न्यूनातिन्यून २०० वर्षों की कालसीमा की कल्पना करना उचित प्रतीत होता है। मैक्समूलर का कथन यह भी है कि प्रत्येक काल-खण्ड की २०० वर्षों की कल्पना केवल तारतम्य के प्रकाशनार्थ है। अतः ब्राह्मणकाल का निर्धारण ८०० से ६०० ई० पू० निश्चित किया जा सकता है।

तृतीय कालखंड 'मन्त्रकाल' है जिसकी कालमर्यादा १०००–८०० ई० पू० है। मैक्समूलर के अनुसार इस काल में 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद' इन चारों वेदों में प्राप्त मन्त्रों का संचय हुआ, और क्रम तथा प्रसंगानुसार उनकी व्यवस्था की गई। इन वेदों में मन्त्र संकलन का हेतु याज्ञिक सम्बन्ध है। प्रत्येक में ऐसे मन्त्र हैं जो विशिष्ट ऋत्विजों द्वारा विशिष्ट यज्ञों में उच्चारणार्थ हैं। इन प्राचीन मन्त्रों के संग्रह में जितना काल व्यतीत हुआ उसका नाम मैक्समूलर ने 'मन्त्रकाल' रखा।

चतुर्थ कालखंड 'छन्दः काल' है, जिसकी कालमर्यादा १२००–१००० ई० पू० है। मैक्समूलर के वेदकाल निर्णय को तत्कालीन बहुत से विद्वानों ने मान्य किया। किन्तु तुर्की के उत्खनन में प्राप्त हुए विरुद्ध प्रमाणों से उनके मत का स्वतः निरसन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि कालखण्ड भी काल्पनिक ही हैं। कालमर्यादा भी काल्पनिक है। केवल भाषाशास्त्रीय-आधार से इस प्रकार के कालनिर्णय को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

२. याकोबी—१८९३ ई० स० में जर्मन के विद्वान् 'याकोबी' ने वेदकाल निर्णय को अपने लेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया। उनके अनुसार वेदों की रचना ३००० ई० पू० हुई है। याकोबी का मत अन्य मतों से भिन्न होने पर भी कुछ लोगों ने उसे मान्यता दी है। याकोबी ने काल निर्धारण हेतु कल्पसूत्र के विवाह प्रकरण में पठित 'ध्रुव इव स्थिराभव' वाक्य को उपादेय मानकर उस पर विचार किया है। उनके मतानुसार कल्पसूत्र में पठित ध्रुव की स्थिति २७०० वर्ष पूर्व की है। उस काल में वर-वधू को ध्रुव तारा दिखाने का प्रचलन था, और आज भी है। तब यह ध्रुव अत्यधिक प्रकाशमान था, और आज की अपेक्षा स्थिर भी। याकोबी के मत का पाश्चात्यों ने विरोध किया, किन्तु विंटरनिट्ज् ने यह कहकर उनका समर्थन किया कि ऋग्वेद में विवाह के सम्पूर्ण विधि का प्रतिपादन नहीं हुआ है, और ध्रुव-दर्शन की परम्परा उस काल में नहीं थी, तथापि यह सम्भव है कि भविष्य में यह प्रारम्भ हुई हो। इस प्रकार याकोबी एवं उनके समर्थक ऋग्वेदादि का काल ३००० ई० पू० मानते हैं।

३. लोकमान्यतिलक—सन् १८९३ के लगभग प्रख्यात पंडित, राजनीतिज्ञ लोकमान्य बालगंगाधरतिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदकाल निर्णय को बड़े समारोह के साथ उपस्थापित किया हैं। उनके मतानुसार वेद के काल-निर्णय हेतु वैदिक वाक्य ही उपयोगी हैं और सार्थक भी। तिलक का कहना है कि वर्तमान में प्रचलित कालमापन की जो सायन, चांद्र, नाक्षत्र, और सौर पद्धतियाँ हैं उनका सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में उल्लेख भी नहीं है। परन्तु कालमापन हेतु वैदिक ऋषियों ने कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य की होगी ऐसा प्रतीत होता है।

यज्ञयाग से सम्बन्धित ग्रन्थों से यह सूचित होता है कि चन्द्र का वृद्धि-क्षय, ऋतुभेद, सूर्यमार्ग (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) आदि घटनाएँ ही काल-मापन के मुख्य संकेत थे। दूसरी बात यह है कि प्राचीन याग, सत्र, संवत्सर की मुख्य धारणाओं में साम्य ही है। ये सत्र एक से लेकर अनेक बर्ष तक के होते हैं। इनकी कालमर्यादा सूर्य की वार्षिक गति के अनुरोध से संघटित होती थी। उसके छः छः माह के दो भाग कर प्रत्येक मास की पूर्ति में ३० दिन दिये जाते थे। इन दो भागों के मध्य में विषुवत् अर्थात् मध्यदिवस की व्यवस्था थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि अपने पञ्चाङ्गों का निर्माण यज्ञ-याग परक करते थे। जब सत्र पूर्ण होते थे, तभी बर्ष भी पूर्ण होता था।

प्रकृत प्रसंग में तिलक का कहना है कि वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्यों का वर्ष सौर था। मास चान्द्र थे। और वर्षका आरम्भ वसन्त-सम्पात से माना जाता था।

लोकमान्य तिलक एक अन्य तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं कि वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र प्राप्त प्रमाणों से यह प्रतिपादित किया गया है कि पूर्वकाल में कृत्तिकानक्षत्र से नक्षत्रचक्र प्रारम्भ होता था। तैत्तिरीय-संहिता एवं ब्राह्मणग्रंथों में उक्त प्रकार से नक्षत्रगणना दृष्टिगोचर होती है। इससे यह सिद्ध है कि कृत्तिका में ही वसंतसम्पात था और वहीं से वर्षारम्भ होता था। तैत्तिरीय संहिता मे उल्लिखित गवामयन सत्र की जो चर्चा हुई है उससे यह प्रमाणित होता है कि यह काल संभवत: २५०० ई० पू० का होगा।

लोकमान्यतिलक ने चार खण्डों में वेदकाल का निर्णय किया है। उनका मत है कि पूर्वकाल ही 'अदितिकाल' (६०००-४००० ई. पू.) है। उस काल में पूर्ण ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा, ऐसा नहीं कह सकते। अपितु अर्धगद्य, अपूर्णपद्य इस प्रकार के अपूर्ण वाक्यों में देवताओं के विशेष्य, विशेषण एवं उनके पराक्रम को ऋषियों ने ग्रथित किया होगा—यह कह सकते हैं। द्वितीय 'मृगशीर्षकाल' है। यह सबसे महत्त्व का काल था। ऋग्वेद की अधिकाधिक ऋचाएँ एवं सूक्त इसी काल में निर्मित हुए होंगे। इसी काल के उत्तर भाग में ग्रीक एवं भारतीय आर्य पृथक् हुए। यह काल ४०००-२५००० ई० पू० का है। अर्थात् कृत्तिका पर वसन्त संम्पात आने तक का यह काल है। तृतीय काल 'कृत्तिका काल' है। इसकी काल मर्यादा २५००-१४०० ई० पू० अर्थात् वेदाङ्ग ज्योतिष तक का काल है। चतुर्थ काल १४००—५०० ई० पू० का है अर्थात् बुद्ध-पूर्व का काल है। इसी काल में सूत्र ग्रन्थ, षड्दर्शनों का निर्माण हुआ। इस प्रकार ज्योतिष-विषयक प्रमाणों के अनुसार वेद का काल ४००० ई० स० पूर्ण तक निर्धारित करना चाहिये। लोकमान्य पं० तिलक के मत को श्री शं० बा० दीक्षित, व्यं० बा० केतकर आदि ज्योतिर्विद् बिद्वानों ने अनेक प्रमाणों के साथ अधिक परिपुष्ट किया है।

डॉ० विङ्कलर ने वेद के काल को उत्खनन शास्त्र के आधार पर निश्चित किया है। उन्होंने सन् १९०७ में पश्चिम एशिया में उत्खनन करवाया। इस उत्खनन में एक शिलालेख उन्हें प्राप्त हुआ जो विक्रम संवत् पूर्व १४०० का है। उस शिलालेख में 'हित्तिती,' 'मितानी' दो जमातों का उल्लेख किया है। इनके युद्ध का निर्देश करते समय

मितानी जाति के देवताओं का उसमें उल्लेख हुआ है। इन देवताओं में मित्रावरुण, इन्द्र, अश्विनीकुमार का उल्लेख है। ये वैदिक देवता हैं। इससे यह स्पष्ट है कि 'मितानी' जाति प्राचीन आर्यों की ही शाखा थी।

डॉ० विंकलर का कहना है कि उत्खनन के प्रमाणों के आधार पर वैदिक देवताओं को माननेवाले 'मितानी' भारत से वहाँ गये, अथवा वे मूल के ही पश्चिम एशिया के हैं, यह निर्णय करना अशक्य है, परन्तु इससे यह सहज ही सिद्ध है कि पश्चिम एशिया एवं भारत का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीनकाल से महत्त्वपूर्ण था। एवं 'मितानी' और 'हित्तिती' जातियों में हुए युद्ध के पूर्व आर्यों के समाज में वैदिक धर्म एवं वैदिक देवताओं के विषय में भावना दृढ़तर हो गयी थी। अतः वेद का सर्जनकाल विक्रम संवत् २००० पूर्व का प्रतीत होता है।

श्री दीनानाथ चुलेट महोदय ने अपनी पुस्तक 'वेदकाल निर्णय' में वेद को सवादोलाख वर्ष पूर्व माना है। उनके मतानुसार शुक्ल यजुर्वेद के पारस्कर गृह्य सूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य का काल १५००० वर्ष पूर्व का है, इसी को आधार मानकर चुलेट महोदय कहते हैं कि पारस्कर गृह्य सूत्र का निर्माण काल १६७०० वर्ष पूर्व, शतपथ-ब्राह्मण का रचना काल ७०,००० वर्ष पूर्व, एवं संहिताओं का सर्जन काल सवादोलाख वर्ष पूर्व का है।

ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले नाम और नदियों के आधार पर भी कुछ विद्वान् वेद के काल को निर्धारित करते हैं। डॉ० भांडारकर ऋग्वेद का रचनाकाल २५०० ई० पू० मानते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वैदिकवाङ्मय के व्यासंगी ने वेद के कालनिर्धारण के विषय में कुछ न कुछ लिखा ही है अथवा चर्चा ही की है। प्रत्येक ने अपने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने हेतु वेद वाक्यों को उपस्थित किया है। सन् पूर्व २००० से सवा दो लाख वर्ष तक प्राप्त होने वाले ये परस्पर विरोधी मत सहज विश्वास के योग्य नहीं हैं, क्योंकि विश्वास के लिए निर्दुष्ट कोई भी प्रमाण नहीं है। पूर्व कथित 'तथा कथित पाश्चात्यों ने ही इस वैचारिक संघर्ष को उत्पन्न किया है, इसे भुलाया नहीं जा सकता। भारतीय मनीषियों ने तो पूर्व ही सार्वभौम प्रमाणों के आधार पर यह निर्णय कर दिया है कि वेद अनन्त हैं और अनादि हैं। वे परमेश्वर के श्वास हैं। अतः सहृदय विचारशील विद्वानों को चाहिए कि वे वेद को श्रद्धा से देखकर वेद-ज्ञान के सागर में पुनः पुनः अवगाहन करें और उन्हें अपने मौलिक चिन्तन

का आधार बनाएं। हम स्वतन्त्र अवश्य हुए हैं परन्तु आंशिक रूप में भी पूर्णस्वतन्त्रता अर्थात् बौद्धिक स्वतन्त्रता अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। हमारी प्रज्ञा अभी भी अन्य-परतन्त्र है। आज भी पाश्चात्य वैदेशिक चिंतकों को ही आप्त समझकर उनका आलम्बन किया जा रहा है। अतः हमारा चिंतन भी उन्हीं के द्वारा अनुप्राणित होता है। आज जो वैचारिक संकर दृष्टिगत होता है, उसका एक मात्र कारण पाश्चात्य विचारों के द्वारा अनुप्राणित हुआ हमारा चिंतन ही है।

× × ×

वेद अपौरुषेय हैं।

वर्णात्मक शब्द नित्य है, और 'नित्य शब्द राशि ही वेद' है। अतः उसे अपौरुषेय कहा जाता है। इस पर आधुनिक विवेक—शून्य लोग पूछ बैठते हैं कि यदि वर्णात्मक शब्द नित्य हैं, तो उनकी उपलब्धि सर्वदा ही होनी रहनी चाहिये, किन्तु होती नहीं है। कभी तो वे उपलब्ध होते हैं, और कभी नहीं।

इस पर विचारशील विद्वानों का समाधान यही है कि यद्यपि शब्द नित्य है, तथापि शब्द की प्रत्यक्ष उपलब्धि होने में 'स्तिमित वायु' (स्थिर वायु) प्रतिबन्धक होता है। उच्चारण से प्रेरित मुखवायु के संयोग—विभाग से जब तक प्रतिबन्धकीभूत उपस्थित वायु का अपसारण होता रहता है, तभी तक शब्द का प्रत्यक्ष (उपलब्धि) होता है। जब उच्चारणजन्य मुख-वायु के संयोग–विभाग नहीं होते, तब तक प्रतिबन्धकीभूत स्तिमित वायु का अपसारण नहीं होता। उस कारण शब्द भी नहीं सुनाई देता। जैसे अन्धकार में स्थित घट का व्यञ्जक दीपक है, तभी तक घट का प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही 'उच्चारण' भी सर्वदा स्थित रहने वाले शब्द का केवल व्यञ्जकमात्र है। जब तक उच्चारण रूप व्यञ्जक है, तभी तक शब्द की उपलब्धि होती है।

इन संयोग-विभागों को ही 'नाद' शब्द से भी कहा जाता है। शब्द के नित्य होने पर ही दूसरों को बोध कराने के लिए 'शब्दों' का प्रयोग करना संगत हो सकेगा। अन्यथा दूसरों को बोध कराने के लिए 'शब्दों का प्रयोग करना व्यर्थ होगा। क्योंकि अनित्य शब्द तो उच्चारण करते ही नष्ट हो जाएगा। वह श्रोता को अर्थ बोध कराने तक रहेगा ही नहीं। तब शब्दरूप कारण के बिना शब्दार्थबोधरूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा? अतः

मानना होगा कि अपना अर्थबोध कराने तक 'शब्द' स्थिर रहता है। तदनन्तर उसके विनाश का कोई हेतु न होने से उसे नित्य कहना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

किञ्च—सर्वत्र सभी को समानरूप से 'यह वही गकार है'—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उस प्रत्यभिज्ञा को 'भ्रान्ति' भी नहीं कह सकते। इसलिए भी 'शब्द' को नित्य कहना ही उचित प्रतीत होता है।

किञ्च—यदि किसी ने एक ही 'गो' शब्द का दस बार उच्चारण किया; तो सुनने वाले यही कहते हैं कि एक 'गो' शब्द का इसने दस बार उच्चारण किया। ऐसा कोई नहीं कहता कि इसने 'दस गो शब्दों' का उच्चारण किया। इस लोकव्यवहार से भी स्पष्ट होता है कि उच्चारण में ही हेर-फेर होता रहता है। 'शब्द' तो स्वरूप से एक ही रहता है। जैसे—'घट' आदि वस्तुओं का विनाश असमवायिकरण के नाश से होता है—यह प्रसिद्ध ही है। वैसे शब्द के विनाश का कोई भी कारण लोक में निश्चित नहीं है। इसलिये भी शब्द को नित्य कहना ही उचित प्रतीत होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'वायवीय परमाणुओं' के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है। 'वायुरापद्यते शब्दताम्'—इस शिक्षा वचन के अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि यह 'शब्द' 'वायु' का ही विकार है।

किन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि, 'शब्द' को वायु का विकार कहें तो उसका वायवीय त्वगिन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता, 'श्रोत्रेन्द्रिय' से उसका प्रत्यक्ष न होता। जैसे अन्यान्य वायुविकारों का श्रोत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही शब्द का भी श्रोत्र से प्रत्यक्ष न होता। अतः शब्द, 'वायु' का विकार नहीं है।

उक्त युक्ति के अतिरिक्त 'वाचा विरूपनित्यया' इस मन्त्र से भी 'शब्द' की नित्यता बताई गई है।

तथापि पौरुषेयवादी का कहना है कि नित्य होने से भले ही वर्ण अपौरुषेय हों, वर्णों की आनुपूर्वी भी पौरुषेय न हो, 'कुम्भकार' आदि पदों में भी उनकी आनुपूर्वी चाहे पुरुषानपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र ही रहे, किन्तु वाक्यों में अन्वयबोध के योग्य पदों का 'समभिव्याहार' तो अवश्य ही पुरुषसापेक्ष है। अतः पुरुषाधीन होने से ही 'लौकिक वाक्य' पौरुषेय कहलाते हैं। लौकिक वाक्यों में रहनेवाली वर्णों और पदों की आनुपूर्वी ही श्रोताओं के बोध का कारण है। यह आनुपूर्वी न बनाई जा सकती है, न बिगाड़ी जा

सकती है। आनुपूर्वी के बिगड़ने पर उन शब्दों से श्रोताओं को अर्थबोध ही न हो सकेगा। तब वह वाक्य ही निष्फल हो जायगा।

'ट घ'—ऐसा प्रयोग करने पर 'घट' का बोध नहीं हो सकता। 'कारः कुम्भ'—ऐसा कहने पर 'कुम्भकार' का बोध नहीं हो सकता। परन्तु लौकिक वाक्य तो सभी के मत में 'पौरुषेय' ही समझे जाते हैं। तथापि इस पर पुनः जिज्ञासा हो सकती है कि लौकिक वाक्यों में कौन सी वह वस्तु है, जिसे 'पौरुषेय' कहा जा सकता है। 'वर्ण' तो पूर्वकथनानुसार अपौरुषेय ही हैं, तथा वर्णों या पदों की आनुपूर्वी भी 'घट, कुम्भकार' के दृष्टान्त से अपौरुषेय ही है। अब केवल पदों का समभिव्याहार ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे ही पौरुषेय कहा जाता है। क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी बिगड़ने पर निरर्थकता नहीं होती, चाहे 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) कहें, चाहे 'पुरुषो राज्ञः' (पुरुष राजा का है), दोनों से शाब्दबोध हो सकता है। यदि यह समभिव्याहार भी पौरुषेय न हो, तब तो लौकिक वाक्यों में इससे भिन्न कोई पौरुषेयता है ही नहीं। अतः लौकिक वाक्यों को भी पौरुषेय नहीं कहा जा सकेगा।

यदि लौकिक वाक्यों में 'समभिव्याहार' की पौरुषेयता मान्य है, तो वही पौरुषेयता, वेदवाक्यों में भी हो सकती है। क्योंकि वह समभिव्याहार, लौकिक-वैदिक दोनों ही तरह के वाक्यों में श्रोता को शाब्दबोध कराता है। अतः जैसे समभिव्याहार की पौरुषेयता से लौकिक वाक्यों में पौरुषेयता आती है, वैसे ही वैदिक वाक्यों की भी 'पौरुषेयता' होगी, अतः उसे अवश्य ही मानना होगा। सहोच्चारण को ही समभिव्याहार कहते हैं। पदों के सहोच्चारण के बिना कोई भी 'वाक्य' नहीं बनता। एवं च वेदवाक्यों को पौरुषेय ही कहना चाहिए।

किञ्च—वेद के द्वारा भी वेदवाक्यों की पौरुषेयता सिद्ध हो रही है। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्'—प्रजापति ने वेदों का सर्जन किया। 'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे; 'यज्ञो वै विष्णुः'—विष्णु से सामादि वेदों की उत्पत्ति हुई, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, और सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः (श० प० कां० ११, अ० ५)।

पुराणों में भी ब्रह्मा को वेदों का कर्ता कहा गया है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि 'वेद,' विष्णु से, प्रजापति से, अग्नि से और भी अन्यान्यस्रोतों से उत्पन्न हुए हैं। अतः 'वेद' को पौरुषेय ही कहना चाहिए।

किन्तु पौरुषेयवादी का उक्त कथन विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि किसी ग्रन्थ अथवा 'वाक्य' का प्रथमोच्चारयिता ही उसका कर्ता माना जाता है। जैसे—भारत—रामायण आदि का प्रथम उच्चारण करने वाले कृष्णद्वैपायनव्यास, तथा वाल्मीकि हैं। समभिव्याहार में केवल उच्चारण की अपेक्षा होती है, 'प्राथम्य' की अपेक्षा नहीं होती। अतएव द्वितीय, तृतीय उच्चारण में भी 'वाक्यत्व', बराबर कामय रहता है। कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। समभिव्याहाररूप कार्य से उसके कारण भूत 'उच्चारण' का अनुमान ही हो सकता है, क्योंकि 'प्राथम्य' अप्रयोजक है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'द्वितीयादि उच्चारण;—प्रथमोच्चारण की अपेक्षा नहीं रखते। क्योंकि शिष्य आदि का परवर्ती उच्चारण, 'गुरू' के पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखता ही हैं, अर्थात् प्रत्येक उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखता है। किन्तु 'प्राथम्य' की अपेक्षा नहीं रखता। गुरू का उच्चारण, शिष्य के उच्चारण की अपेक्षा नहीं रखता। गुरू का उच्चारण, 'शिष्य' के उच्चारण से 'प्रथम' होने पर भी अपने गुरू के उच्चारण की अपेक्षा वह भी द्वितीय ही है।

अतः यही कहा जा सकता है कि जो उच्चारण जिस उच्चारण का कारण होता है, वह उसकी अपेक्षा पूर्व होता है। अतः समभिव्याहार से उसके कारणभूत पूर्व उच्चारण का अनुमान हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक उच्चारण से उसके पूर्व-पूर्व उच्चारण का अनुमान ही होता है।

निष्कर्ष यह है कि उक्त प्रक्रिया के अनुसार उच्चारणधारा अनादि है। अतः समभिव्याहाररूपी बाक्य के कारणभूत उच्चारणकर्ता गुरू-शिष्यों की अनादि परम्परा प्रचलित है। उन समभिव्याहाररूप वाक्यों का प्रथम-प्रथम उच्चारण करने वाला कर्ता कोई भी अवगत नहीं हो सका है।

यद्यपि भारत रामायण आदि ग्रन्थों का भी यही अनादि परम्परा चली आ रही है, तथापि उनके रचयिता व्यास-वाल्मीकि आदि की प्रसिद्धि से वह परम्परा व्यास-वाल्मीकि तक जाकर विश्रान्त हो जाती है, अर्थात् रुक जाती है।

वेदों के उच्चारण की परम्परा के निवृत्त होने का अर्थात् रुकने का कोई साधन नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेद की उच्चारण परम्परा अनादि है।

जैसे मनु आदि ने जिस समय मन्वादि धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) की रचना की, उस समय के पुरुषों ने उनको रचना करते देखा, और उन लोगों ने भी दूसरों से कहा। पुनः उन लोगों ने भी दूसरों से कहा। इस प्रकार मनु आदि कर्ताओं की स्मरण-परम्परा आज तक प्रचलित है। ऐसे ही यदि वेद का कोई कर्ता होता, तो इसी क्रम से उसके स्मरण की भी परम्परा होनी चाहिए थी। जब एकदेशी ग्रन्थों की यह स्थिति है, तो मनु, व्यास आदि के द्वारा अत्यन्त समादृत सर्वविद्याओं के मूलभूत वेदों का रचयिता यदि कोई होता, तो अवश्य ही किसी ने देखा होता, और उसने दूसरों से कहा होता। उन लोगों ने भी आगे की पीढ़ी को सूचना दी होती, और वेदकर्ता की स्मृति-परम्परा अब तक प्रचलित होती। छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना करने वाले भी रचयिता के रूपमें अपना नामोल्लेख करते हैं। कितने ही लोग तो अपनी प्रख्याति एवं नाम चलाने के लिए ही ग्रन्थ लिखते हैं। तब वेद जैसे महान् एवं गंभीर ग्रन्थों का यदि कोई रचयिता होता तो अवश्य ही वह अपना नाम भी सूचित करता। अन्य किन्हीं ग्रन्थों में 'कर्ता' के होने, न होने का विवाद भी नहीं है। अतः वेद के कर्ता के सम्बन्ध में आधुनिकों के जितने भी अनुमान है, वे सभी अटकल मात्र है। उनके आधार पर कर्ता का निर्धारण करना आकाश पुष्प को पा लेने के बराबर ही है।

'प्रजापतिर्वेदानसृजत्'—इत्यादि स्थलों में 'सृज' धातु का अर्थ है—'उच्चारण है, निर्माण नहीं। तभी 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै'—इस मन्त्र की 'तस्मै तं, ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'—इस मन्त्र वाक्य के साथ संगति बन सकेगी। उक्त मन्त्र अर्थ का यह है कि जो ईश्वर, 'ब्रह्मा' का निर्माण करता है और उसके हृदय में वेदों को पहुँचाता है, हमलोग मोक्ष के लिए उसी की शरण जाते हैं।

गो आदि सिद्ध वस्तु (पदार्थ) को ही ग्राम आदि किसी स्थान में पहुँचाया जाता है। यदि प्रजापति 'वेद' के कर्ता होते, तो इस प्रकार ब्रह्माणं विदधाति', 'वेदान् प्रहिणोति'—ऐसे प्रयोग न हुए होते। जब ब्रह्मा का निर्माता ईश्वर भी 'वेदों' का निर्माता नहीं है, तो ब्रह्मा या प्रजापति 'वेदों के निर्माता कैसे होंगे? 'सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः' इत्यादि स्थलों में बाणप्रक्षेप के अर्थ में ही 'सृज' धातु का प्रयोग हुआ है। उच्चारण का भी अर्थ—'क्षेप' ही है। 'यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः'—इत्यादि स्थलों में 'उच्चारण' को 'क्षेप ही कहा गया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'हिनोति'

का अर्थ है—'प्रापण' है। यह अर्थ भी 'प्रहिणु नयने,' 'इन्दुः प्रहितः'—इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध ही है। प्रजापति ने ईश्वर की प्रेरणा से पूर्वकल्पीय उच्चारणसापेक्ष उच्चारण करके वेदों का सम्प्रदाय प्रवर्तन किया। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' का यही अर्थ है। यदि यहाँ पर 'सृज' धातु का अर्थ, 'निर्माण' किया जाय तो परस्पर विरोध भी है। विष्णु, प्रजापति, अग्नि, सूर्य, वायु आदि अनेक का 'स्रष्ट्रत्व' श्रुत है। तब किसे निर्माता माना जाय ? किन्तु उच्चारण' ही 'सृज' का अर्थ होने पर कोई विरोध नहीं होगा। इसी प्रकार माता के उदर में संजात चैत्र का भी माता के पेट से निकलने के अर्थ में 'अद्य चैत्रो जातः'—यह व्यवहार होता ही है। इस तरह से 'अजायत' का अर्थ भी संगत हो जाता है। 'उच्चारण' भी जन्य होता ही है। इसी तरह उक्त वेद वाक्यों में अनादिसिद्ध वेद के उच्चारण मात्र से 'जनि', 'सृजि' आदि का प्रयोग संगत हो जाता है।

इसी तरह 'अनन्तरन्तु वक्त्रेभ्यस्तस्य वेदा विनिःसृताः'--अर्थात् पश्चात् ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले--यहां पर 'विनिः सृताः' का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं है, अपितु 'उच्चारण ही अर्थ है। 'प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते'--इस में उच्चारण के भेद से ही प्रतिमन्वन्तरों में अन्य श्रुतियों का विधान बताकर कर्ताओं के भेद का विरोधपरिहार किया गया है। जैसे देवदत्त के द्वारा उच्चरित 'गो' शब्द में भिन्नता का व्यवहार होता है। वैसे ही प्रतिमन्वन्तरों में भिन्न उच्चारण करनेवालों के भेद से श्रुति में भिन्नता का व्यवहार किया गया है। वस्तुतः जैसे 'गो' शब्द एक ही है, वैसे ही श्रुति भी अभिन्न ही है।

पुराणों में वेद के कर्ता की जहाँ कहीं चर्चा है, वह भी अर्थवाद के आधार पर ही है। अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, तब उनके आधार पर निर्मित स्मृति और पुराणों से 'वेद' की पौरुषेयता कैसे हो सकती है ?

कुछ लोगों का कहना है कि 'वाक्यमात्र किसी न किसी पुरुष के बनाये होते हैं, तो वेदवाक्य भी किसी के रचे हुए ही होंगे 'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतादिवाक्यवत्' – इस अनुमान से सामान्यतः वेदों का कर्ता कोई न कोई सिद्ध ही है।

किन्तु वेदों का कर्ता, परम्परा से प्रसिद्ध नहीं है। उस कारण उक्त अनुमान 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' रूप उपाधि से दूषित है। इसलिये उससे कर्तृसामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि 'कर्ता की प्रसिद्धि न होने से 'कर्तृसामान्य' का जो निषेध' किया गया है, वह उचित नहीं है क्योंकि बिना प्राप्ति के 'निषेध नहीं हुआ करता। यही कारण है कि शशशृङ्ग आदि अप्राप्त पदार्थों का निषेध या बाध नहीं किया जाता।

अपौरुषेयतावादी वेदों की पौरुषेयता का जो निराकरण करते हैं, उसी से पौरुषेयता की प्राप्ति सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि काठकादिसमाख्या से ही सिद्ध होता है कि वेदों के कर्ता, अध्येताओं की परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध हैं। अतः कर्ता की अप्रसिद्धि को बताना उचित नहीं है। एवंच 'वाक्य' होने से तो वेदों का सामान्यरूप से 'कर्ता' सिद्ध होता ही है, और काठकादि समाख्या से विशेषतः उनकी सिद्धि होती है।

इस पर अपौरुषेयतावादी का कहना है कि पूर्वपक्षी का कथन सारहीन है। क्योंकि प्रसिद्धि, तो प्रवचन अथवा अध्ययनाध्यापन के अधिक अभ्यास से भी हो सकती है। अतः समाख्या के आधार पर वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती।

तथा 'निषेध', सर्वदा प्राप्तिपूर्वक ही होता है, किन्तु वह प्राप्ति, प्रामाणिक' होनी चाहिए—यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि प्रमाणिक प्राप्ति का अत्यन्त निषेध हो ही नहीं सकता। उसी तरह काठकादि सामाख्या का मूल 'प्रवचन' आदि ही है। अतः उसके आधार पर कर्ता की प्रसिद्धि बतलाना नितान्त अनुचित है।

पौरुषेयतावादी कहते हैं कि हम तो समाख्या के द्वारा वेदों की पौरुषेयतामात्र सिद्ध करना चाहते हैं। वेदों का अप्रामाण्य नहीं। वेदों को तो हम भी प्रमाण मानते हैं।

किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि वेदों की पौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर उनका प्रामाण्य सिद्ध करना दुष्कर ही होगा। जैसे कोई कहे कि 'मैं केवल तुम्हारा शिर ही काटूंगा, मारूँगा नहीं,' वैसे ही यह कहना है कि 'हम तो केवल पौरुषेयता सिद्ध कर कर रहे हैं। 'अप्रामाण्य' नहीं। जैसे शिर काटने पर मरना अनिवार्य हो जाता है, वैसे ही 'पौरुषेयता' के सिद्ध होने पर वेदों का अप्रामाण्य भी अनिवार्य ही है। किञ्च—वेद के लिए 'समाख्या' है ? 'समाख्या' के लिये 'वेद' नहीं है। अतः अप्रधान प्रमाण से प्रधानभूत वेद के स्वतः प्रामाण्य का अपलाप करना भी मूर्खता ही है।

जो लोग समाख्या के द्वारा वेदों को पौरुषेय बताना चाहते हैं, उन्हें पहले यह बताना होगा कि वह 'समाख्या' नित्य है या अनित्य ? अर्थात् वह, किसी पुरुष की बनाई हुई है या नहीं ?

यदि समाख्या को नित्य माना जाय, तब तो वह पुरुष के अनुसार नहीं कही जा सकेगी। तब उसके बलपर पौरुषेयत्व को सिद्ध करने की आशा करना ही व्यर्थ है। यदि समाख्या को किसी पुरुष की बनायी समझी जाय, तब भी वह जिसकी बनाई हुई है, उसके सत्यवादी होने में क्या प्रमाण है ? ऐसी स्थिति में वह समाख्या भी अप्रमाण ही है। तब उसके द्वारा वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं की जा सकती। एवंच समाख्या के द्वारा वेदों की पौरुषेयता को कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः **'वेद'** सर्वथा और सर्वदा **'अपौरुषेय'** ही हैं।

'अपौरुषेय' शब्द का संकेतित अर्थ यही है कि 'जिस वाक्य या महावाक्य के समस्त उच्चारण अपने सजातीय अन्य उच्चारण के अनुसारी हों, वे ही 'अपौरुषेय' हैं। वेदों का ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं है, जो अपने सजातीय—पूर्वोच्चारण का अनुसारी न हो—**'एकानुपूर्वीकवर्णसमुदायव्यञ्जकत्वमेवोच्चारणानामन्योन्यसाजात्यम्'** । एक आनुपूर्वीवाले वर्णों के समुदाय की व्यञ्जकता ही उच्चारणों की सजातीयता है। वेद की किसी भी उच्चारण व्यक्ति में 'प्रथमता' का निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि वेद का कोई भी उच्चारण स्वसजातीय पूर्वोच्चारण से निरपेक्ष है। रामायण—महाभारत आदि ग्रंथों के उच्चारयिता वाल्मीकि—व्यास आदि का उच्चारण, 'सजातीय उच्चारण निरपेक्ष ही है। अतः रामायण—महाभारत आदि ग्रन्थों की 'पौरुषेयता' सर्वमान्य है।

परन्तु वेदों का प्रथम उच्चारयिता अथवा 'सजातीयोच्चारणनिरपेक्ष उच्चारयिता, किसी भी अनन्यथा सिद्ध प्रमाण से सिद्ध नहीं है। यही वेदों की 'अपौरुषेयता' है।

उत्तर मीमांसकों के मत में भी ईश्वर पूर्वकल्प की आनुपूर्वी की अपेक्षा करके ही उत्तरकल्प की आनुपूर्वी का उच्चारण करता है। अतः उसके मत में भी वेद की अपौरुषेयता सर्वथा सिद्ध है। एवंच, **पूर्वोच्चारणसापेक्ष उच्चारण'** ही **अपौरुषेयता** है। यह **अपौरुषेयता** 'अभाव' रूप नहीं है, अपितु 'भाव' रुप है।

मीमांसक यह नहीं कहते कि 'वेद को किसी पुरुष ने नहीं रचा, इसलिये वे 'अपौरुषेय' हैं। मीमांसक तो यह कहते हैं कि अन्यान्य ग्रंथों के कर्ताओं के स्मरण की धारा, गुरुपरम्परा अन्यान्य मनुष्यों में आजतक दृढता-पूर्वक चली आ रही है। अतः उन-उन कर्ताओं का उच्चारण, 'प्रथम उच्चारण' है। अतः उच्चारण धारा टूट जाने से उसको अनादि नहीं कह सकते। अतएव वे ग्रन्थ, पौरुषेय हैं। किन्तु वेदों के कर्ता की स्मृति धारा नहीं है। अतः वेद के विषय में गुरु-शिष्य के उच्चारण की परम्परा का मूलोच्छेद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

अतः वह अनादि है, और उस कारण 'वेद अपौरुषेय' हैं।



द्वितीय अध्याय

संहिता

संहिता शब्द का ऊहापोह यास्काचार्य एवं पाणिनि ने अपने अपने ग्रंथों में किया है। **परः सन्निकर्षः संहिता** (पा. सू. १-४-१०९) अर्थात् स्वरों का एवं स्वरसंमिश्रव्यञ्जनों का परस्पर स्वाभाविक अर्धमात्रा से अधिक काल के व्यवधान से उच्चारण करना ही संहिता है। परन्तु यास्काचार्य ने संहिता के स्वरुप को अत्यन्त भिन्न ही कहा है—"**पदप्रकृतिः संहिता** (नि. सू. १-६-१२) इस सूत्र का अर्थ दो प्रकार से उपपन्न होता है—'**पदानां संधीयमानानां प्रकृतिः संहिता**' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास से यह अर्थ निष्पन्न होता है कि "परस्पर संधिभाव को प्राप्त हुए अनेक पदों के एकत्रीकरण हेतु जो मूलकारण है वह संहिता है। तात्पर्य यह हुआ कि संहिता 'प्रकृति' है. एवं पद उसकी विकृति है, और बहुव्रीहि-समास से द्वितीय अर्थ यह निष्पन्न होता है कि '**पदान्येव' प्रकृतिर्यस्याः सा**' 'पद ही हैं प्रकृति जिसकी, वह संहिता हैं। अर्थात् पद प्रकृति हैं और संहिता विकृति है।

संहिता शब्द का विचार इतिहास पद्धति के अनुसंधित्सु अनेक प्रकार से करते हैं। '**संहन्यन्ते एकत्रीक्रियन्ते मन्त्राः सूक्तानि वा अस्यां सा संहिता**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'सूक्त' जिन ऋषियों के नाम पर आज उपलब्ध हैं वे उनके कर्ता अथवा द्रष्टा थे, और उनके वे मंत्र एवं सूक्त भी पृथक् पृथक् थे। कालान्तर में उन्हें एकत्र करके जो ग्रन्थ तयार किया गया वह 'संहिता' पद से वाच्य है।

परन्तु आधुनिक विचारकों के ये विचार कपोलकल्पित हैं। 'मंत्र' अथवा 'सूक्त' यदि विभिन्न ऋषियों द्वारा किये गये होते, और कालान्तर में यदि उनका एकत्रीकरण हुआ होता तो—एकत्रीकरण करनेवाले का नाम अथवा उस कालका संकेत अवश्य होता, या फिर अविच्छिन्न परम्परा से उपर्युक्त कथन में दृढ़ विश्वास होता। परन्तु इन प्रमाणों का उपर्युक्त कथन में सर्वथा अभाव ही है। शाखाप्रवर्तक ऋषियों को यदि एकत्रीकरण का कारण कहें, तो वह भी असम्भव ही है।

क्योंकि यह प्रत्यक्ष स्वभावविरुद्ध है कि मंत्रकर्त्ता ऋषि स्वयं के नाम पर अन्य ऋषि के नाम का व्यवहार सहन करे। उदाहरणार्थ माध्यन्दिन संहिता में माध्यन्दिन ऋषि का एक भी मंत्र नहीं है। और यदि अनेक ऋषियों द्वारा निर्मित सूक्तों का एकत्रीकरण ही संहिता है तो, भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा भावी एकत्रीकरण हेतु अनुकूल पुनरुक्ति, न्यूनाधिक्य, अन्यथा-भाव, परस्परविरुद्धता, आदि दोष, जो कर्तृत्व के कारण, काल के कारण, सम्भव होते हैं, उनका अभाव उसमें क्यों है? और भी प्रकरणशः विशिष्ट आनुपूर्वी, अर्थों के अनुसार मंत्र रचना या आविर्भाव सहजगत्या संभवनीय है क्या? इसका विचार पूर्ण मनोयोग से पाठकवृन्द को करना चाहिये। मंत्रों अथवा सूक्त के ऋषि कर्ता न होकर द्रष्टा हैं 'ऋषिर्दर्शनात् (२।३।२) इस सूत्र से यास्काचार्य ने भी यही कहा है। ऋषियों का द्रष्टृत्व भी मंत्रों के अथवा सूक्तों के मूल विनियोग में (प्रयोजन में) अर्थात् प्रयोज्य-प्रयोजकभाव व कार्यकारणभाव में और उससे उत्पन्न होने वाली फलनिष्पत्ति में है। यह कथन तत्तत् मंत्रों के अथवा सूक्तों के ऋषि, छंद, देवता एवं विनियोग के परस्पर सम्बन्ध का मनन पूर्वक अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है। इसमें यह श्रुति प्रमाण है—

'तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यँस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि' (मु. उ. २।१)

अतः इस प्रकार का आधुनिकों का संहिताविषयक चिंतन सारहीन, कपोलकल्पित एवं उपहासास्पद है।

यह संहिता पुनः तीन प्रकार की है—

(१) ऋक्संहिता २—यजुः संहिता, ३—सामसंहिता,

कात्यायनाचार्य ने प्रातिशाख्य में 'एकपदद्विपदत्रिपदचतुःपदानेकपदाः पादाः, 'वर्णानामेकः प्राणयोगः संहिता' (अ. १ सू. १५७, १५८) इन दो सूत्रों के द्वारा क्रम से ऋक्, यजुः, साम संहिता के स्वरुप को स्पष्ट किया है—

छन्दोबद्ध मंत्र एकपदात्मक चरणों के, कुछ द्विपद-चरणों के और कुछ अनेक पद-चरणों के होते हैं अर्थात् ऋक्संहिता अथवा ऋङ्मंत्र कहते समय चरण के अन्त में संहिता करनी चाहिये अर्थात् विराम करना चाहिये। यजुःसंहिता कहते समय एक श्वासोच्छ्वास में जितने पदों का उच्चारण

१. भा० सं० को० भा० ७ पृ० ३१९

होना सम्भव हो, उतनों का ही उच्चार करके संहिता करनी चाहिये। इसी प्रकार सामसंहिता गानरूप होने के कारण, गान के अनुरोध से संहिता करनी चाहिये।

पुनः यह संहिता तीन प्रकार की होती है—१. प्रकृतसंहिता, २. योगासंहिता, ३.—योगरुढा संहिता। प्रकृत संहिता से तात्पर्य है कि मूल अखण्ड 'मंत्रात्मकसंहिता, योगासंहिता का अर्थ है—मूलसंहिता का 'पदपाठ' और योगरुढासंहिता का तात्पर्य है 'क्रमपाठ'। 'क्रमपाठ' को ही आर्षीसंहिता, विकृतिसंहिता के नाम से भी जाना जाता है।

'सूक्तपद का अर्थ'

संहिता के उपर्युक्त विवरण में 'सूक्त' शब्द आया है, जो वेदत्व के हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वेद के व्यतिरिक्त अन्य विद्याओं में 'सूक्त' पद व्यवहृत भी नहीं है।

स्तोत्र विशेष को हीं सूक्त कहा जाता है। सूक्त एवं स्तोत्र परस्पर एक दूसरे के पर्याय हैं। जिस मन्त्र में अथवा मंत्रसमुदाय में प्रतिपाद्य अर्थ सम्यक् वर्णित होता है उसे 'सूक्त' कहते हैं।

"ये मित्रे वरुणे सूक्तवाचः' (ऋ० सं० ५।४६। ६)

इत्यादि ऋङ्मंत्र में सूक्त एवं स्तोत्रका पर्यायवाचकत्व स्पष्ट हो रहा है। अनुवाकानुक्रमणीकार ने सम्पूर्ण ऋषिवाक्यों को 'सूक्त' कहा है—

सम्पूर्णमृषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते।

इस प्रकार स्तोत्र के पर्याय स्तोम, ब्रह्म, उक्थ शब्दों को समझना चाहिये। ऋग्वेद का भी यही अभिप्राय है—

'इमं स्तोमं जुषस्व नः' (१।१२।१२) 'अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यम्' (४।१६।२१) 'स नो नव्येभिर्वृषकर्मन्नुक्थैः' (१।१३।१९)।

सूक्त के चार प्रकार

बृहद्देवताकार ने सूक्त के चार प्रकारों (ऋषि, दैवत, अर्थ, छन्द) का परिगणन किया है—

'देवतार्षार्थच्छन्दोभ्यो वैविध्यं यस्य जायते।
ऋषिसूक्तं तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै कृतिः॥

स्तूयेतैका तु यावत्सु तत्सूक्तं दैवतं विदुः।
यावदर्थसमाप्तिः स्यादर्थसूक्तं विदन्ति तत् ॥
समानच्छन्दसो मन्त्राश्छन्दःसूक्तं तदुच्यते ॥
(१।१४।१६)

ऋग्वेद

चारों वेदों में प्रथमस्थान ऋग्वेद को प्राप्त है। वैदिक विद्वानों में सर्वप्रथम सम्मान ऋग्वेदी विद्वान् को ही दिया जाता है। वसन्तपूजा आदि में सर्वप्रथम वेदपाठ ऋग्वेद से ही प्रारम्भ किया जाता है। ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में उसका अभ्यर्हितत्व (पूजनीयता) प्रसिद्ध ही है। पुरुषसूक्त में स्पष्ट कहा है कि परब्रह्म परमेश्वर ने ऋग्वेद का ही सर्व-प्रथम ग्रहण किया।[1]

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार जिस यज्ञ क्रिया को केवल साम से अथवा यजुः से किया जाता है, वह शिथिल होती है, परन्तु ऋक् द्वारा सम्पादित क्रिया दृढ़ होती है।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थ भी अपने अभीष्ट अर्थ के सम्पादनार्थ **'तदेतद् ऋचा अभ्युक्तम्'** ऐसा वाक्य प्रकाशित करते हैं। चतुर्वेद गणना अथवा अध्ययन क्रम में भी ऋग्वेद का प्राथम्य स्पष्ट प्रतीत होता है।[3]

ऋक् का अर्थ—छन्दोबद्ध 'रचना' (वर्णानुपूर्वी) को 'ऋक्' संज्ञा प्राप्त है। ऋक् शब्द की अधोलिखित व्याख्यायें द्रष्टव्य हैं।

१—**'ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक्'**—जिससे देवताओं की स्तुति हो उसे 'ऋक्' कहते हैं।[4]

---

१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ० सं० १०।९०।९

२. तद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम् (तै० सं० ६।५।१०।३)

३. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् (छा. उ. ७।१।२)
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। (मु. उ. १।१।५)

४. जै० न्या० मा० (२।१।१२)

२—'पादेनार्थेन चोपेतावृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः'—चरण एवं अर्थों से युक्त वृत्तबद्धमन्त्र को 'ऋक्' कहते हैं।[1]

३—'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'—जिस वाक्य में अर्थ के अनुसार चरणव्यवस्था हो उसे 'ऋक्' कहते हैं।[2]

४—यत्र पादकृता व्यवस्था स मंत्रो ऋङ्नामा—यह कहकर शबर स्वामी ने उपर्युक्त मन्तव्य को ही स्पष्ट किया है।

अतः निष्कर्ष यह हुआ कि जिन मंत्रों में अर्थ विच्छिन्न नहीं होता, किन्तु पूर्ण रहता है और अर्थवशेन जहाँ एक पाद में निश्चित अक्षर रहते हैं (न न्यून रहते हैं और न अधिक रहते हैं) इस प्रकार की पादव्यवस्था जहाँ होती है वे ऋक्शब्दवाच्य होते हैं।

विष्णु मित्र ने भी यही कहा है—

यः कश्चित्पादवान्मंत्रो युक्तश्चाक्षरसम्पदा ।
स्वरयुक्तोऽवसाने च तामृचं परिजानते ॥

अर्थात् पाद से, अर्थ से युक्त छन्दोबद्धमंत्र 'ऋक्' हैं।

ऋग्वेद का 'ब्रह्म' देवता है, गायत्री छन्द है, एवं वर्ण श्वेत है। हेमाद्रिकार ने ऋग्वेद का स्वरुपनिरुपण इस प्रकार किया है—

ऋग्वेदः श्वेतवर्णः स्यात् द्विभुजो रासभाननः ।
अक्षमालायुतः सौम्यः प्रीयश्चाध्ययनोद्यतः ॥

ऋग्वेद का ध्यान इस प्रकार है—

ध्यायामि त्वां पद्मपत्रायताक्षं
कुञ्चितकेशं ब्रह्मदैवत्यमाद्यम् ।
गायत्रं ऋग्वेदमात्रेयगोत्रं
रुक्मवर्णं श्मश्रुलोम प्रमाणम् ॥

ऋक् संहिता का स्वरुप—

अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार—

अध्यायानां चतुःषष्टिर्मण्डलानि दशैव तु ।
वर्गाणां च सहस्रे द्वे सङ्ख्याते च षडुत्तरे ॥

---

१. आप॰ परि॰ (३।१)
२. जै॰ न्या॰ भा॰ (२।१।३५।१०)

सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना ।
दश सप्त च पठ्यन्ते सङ्ख्यातं वै पदक्रमम् ॥ (३२।३३)

ऋग्वेद में १०१७ सूक्त, २००६ वर्ग, ६४ अध्याय, दश (१०) मण्डल, आठ (८) अष्टक, ८५ अनुवाक्, आठ अध्यायों का एक अष्टक एवं वर्गसमूह को अध्याय कहते हैं और 'मंत्र समूह' को वर्ग कहते हैं ।

ऋग्वेद संहिता का बिभाग दो प्रकार से प्राप्त है ।

१—अष्टक, अध्याय, सूक्त । २—मण्डल, अनुवाक, और वर्ग ।

१—अष्टक रचना—ऋग्वेद संहिता में ६४ अध्याय हैं । आठ अध्यायों का एक अष्टक होता है—सम्पूर्ण संहिता आठ अष्टकों में विभाजित है । प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभाग को 'वर्ग' कहते हैं । एक वर्ग में साधारणतः ऋक् संख्या ५ रहती है, तथापि अनेक वर्ग एक ऋक् से नौ ऋचाओं तक के भी पाये जाते हैं । ऋक्संहिता में कुल वर्ग संख्या २००६ है । अध्यायों के सौकर्य (सुगमता) हेतु, वर्ग रचना की गई है ।

मण्डल रचना—ऋग्वेद को अर्थात् उसके अपने प्रथम भाग की ऋक् सहिता को १० मण्डलों में विभक्त किया गया है । ऋग्वेद का मण्डल विभाग शाकल महर्षि ने किया है ।

ऋचां समूहऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः ।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम् ॥
(ऋक्प्रातिशाख्य)

प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त हैं एवं प्रत्येक सूक्त में अनेक मंत्र हैं । मण्डल के भी 'गोत्रमण्डल' एवं मिश्रमंडल संज्ञक दो विभाग हैं । दश मण्डलों में अनुवाक ८५ है । प्रत्येक मण्डल में अनुवाक इस प्रकार हैं—

प्रथम-२४, द्वितीय-४, तृतीय-५, चतुर्थ-५, पञ्चम-६, षष्ठ-६, सप्तम-६, अष्टम-१०, नवम-७, दशम-१२ ।

सूक्तों की संख्या इस प्रकार है—

१-१९१, २-४३, ३-६२, ४-५८, ५-८७, ६-७५, ७-१०४, ८-९२, ९-११४, १०-१९१ । इनके अतिरिक्त बालखिल्य नामक सूक्त ऋग्वेद संहिता में विद्यमान हैं । यह बालखिल्य सूक्त आठवें मण्डल में ४९ से ५९ तक हैं, और उनके मंत्रों की संख्या ८० है । इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ खिल सूक्त भी हैं । खिल का अर्थ होता है परिशिष्ट । ऋग्वेद की इतनी

क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक शैली से गणना करके सुरक्षा की गई है कि इतना सुदीर्घकाल व्यतीत होने के उपरान्त भी उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्धन या पाठान्तर या प्रक्षेप करने का किसी को भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ, और न आवश्यकता ही प्रतीत हुई। आचार्य शौनक ने सर्वानुक्रमणिका में सम्पूर्ण गणना को स्पष्ट किया है—सूक्तों की ऋचाओं की संख्या—१०५८०१४[1]। ऋचाओं के शब्दों की संख्या—१५३८२६[2], और अक्षरों की संख्या—४३२००० है।[3]

शाकल संहिता के प्रत्येक सूक्त के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग हैं। वेदार्थ ज्ञान में हेतु भूत इन चारों का ज्ञान आवश्यक हैं। दसों मण्डलों से सम्बद्ध ऋषियों के विषय में कात्यायन अपनी सर्वानुक्रमणी में लिखते हैं—

'शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्ते क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः।'

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ऋषियों को सौ ऋचाओं का द्रष्टा बताया है। अन्तिम मण्डल के ऋषियों को क्षुद्रसूक्त एवं महासूक्तों का द्रष्टा बताया है। तथा मध्य के मण्डलों के ऋषियों को 'माध्यम' कहा है। प्रथम मण्डल के ऋषियों को 'शतर्चिनः' कहने का तात्पर्य, सर्वानुक्रमणी के टीकाकार षड्गुरुशिष्य ने यह दिया है कि—'मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र पुत्र मधुच्छन्दा ऋषि ने सौ से अधिक ऋचाओं को देखा है। अतः छत्रिन्याय से उस मण्डल के समस्त ऋषियों को शतर्चिनः ही कहा गया है।' उसी प्रकार दशममण्डल के नासदयीसूक्त (१०।१२९) में पूर्व और अनन्तर के सूक्तों को क्रमशः महासूक्त एवं क्षुद्रसूक्त—ये स्वतन्त्र अभिधान प्राप्त हैं। एवं दो से नौ तक के मण्डल को ऋक्संहिता के मध्यवर्ती होने से उनके ऋषियों की माध्यम संज्ञा है।

१—ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितम्॥

२—शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्।
शतानिचाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट्चेति हि चर्चितानि॥

३—स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्राणि। एतावत्यो हर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। शत० ब्रा० १०।४।२।२३।

ऋग्वेद की शाखा—

आगे चलकर भिन्न-भिन्न ऋषियों की विशिष्ट प्रवचन शैली के आधार पर तत्तद् ऋषियों के नाम पर अनेक शाखाएँ हुईं। पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखाएं हैं। उनमें से शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन, माण्डूकायन—ये ऋग्वेद की प्रसिद्ध शाखायें हैं। शाकल-शाखा के पाँच प्रकार थे। १—मुद्गल शाखा, २—गालवशाखा, ३—गासीयशाखा, ४—वात्स्यशाखा, ५—शैशिरिशाखा। इन पाँच शाकल शाखाओं की शाकल्य, शाकलक, शाकलेयक, नाम की मूल संहिताएँ थीं। भर्तृहरि भी ऋग्वेद की पन्द्रह १५ शाखाओं का उल्लेख करते हैं।

बाष्कल शाखा के भी चार प्रकार थे—

१—बौध्यशाखा, २—अग्निमाठरशाखा, ३—पराशरशाखा, ४—जातुकर्ण्यशाखा। शांखायन शाखा के चार भेद हैं—१—शांखायन, २—कौषीतकि, ३—महाकौषीतकि, ४—शांबव्य।

चरणव्यूहकार ने ५ मुख्य शाखाओं का संकेत किया है। ये संहितायें महाराष्ट्र में एवं कतिपय उत्तर, मध्य भारत में उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद का वर्ण्यविषय—

ऋग्वेद में मुख्यतः यज्ञसम्बन्धीत देवताओं की स्तुति का वर्णन तथा उनसे प्रार्थना की गई है। मानवजीवन हेतु उपकारक, सुन्दर, तेजस्वी प्रार्थनाओं के साथ ही आर्यों के तत्त्वज्ञानविषयक विचारों की ग्रंथियों का सुन्दर विवेचन दृष्टिगत होता है। कतिपय सूक्तों में निसर्ग का रमणीम चित्र भी दृष्टिगोचर होता है। सम्पूर्ण वेद (ऋग्वेद) का आलोडन अत्यन्त कष्टसाध्य है। अतः वर्गीकृत सूक्तों का अध्ययन ही ऋजु (सरल) मार्ग है। सामान्यरूप से सूक्तों के वर्गीकरण का आधार अधोलिखित बिन्दु है—

(१) देवतासूक्त, (२) संवादसूक्त, (३) दानस्तुतिसूक्त (४) तत्त्वज्ञानसूक्त, (५) संस्कारसूक्त, (६) मांत्रिकसूक्त, (७) लौकिकसूक्त, (८) आप्रीसूक्त।

देवतासूक्त—देवतापरक सूक्त ऋग्वेद में बहुलमात्रा में है। इन सूक्तों में इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, सविता, वायु, उषा, पूषा, आप, अश्विनौ, रुद्र,

भग, विष्णु, मरुत्, सरस्वती, वाक् आदि देवताओं के रूप, स्वभाव, एवं माहात्म्य दृष्टिगोचर होते हैं।

वरुणसूक्त, प्रतिभा एवं तालबद्धता अथवा सांगीतिकसौन्दर्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये सर्वश्रेष्ठ उच्चस्थानावस्थित देवता हैं, जिनका मनुष्यों के नैतिकव्यवहार पर अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक ध्यान रहता है। इतना ही नहीं पापाचरण में संलग्न मनुष्यों को दंड देना वरुण देवता का ही कार्य है। उदाहरणार्थं यहाँ वरुण सम्बन्धीत एक दो मंत्रों का वर्णन करना अनुचित न होगा।

'इमामूनु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्गा न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥'
(ऋ० ५।८५)

अर्थात् प्रज्ञश्रेष्ठ वरुण की माया का आकलन करना असम्भव है। इन नदियों को भी समुद्र अकेला भर नहीं सकता।

इन्द्र सूक्तों का प्रवाह अन्य सूक्तों की अपेक्षा विलक्षण ही है। यह इन्द्र राष्ट्रिय प्रधान देवता है। यदि इन्द्र को सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र नियन्ता कहें अथवा सम्पूर्ण प्रकृति का संचालक कहें तो भी अतिशयोक्ति न होगी। उदाहरणार्थ एक दो मंत्र द्रष्टव्य हैं—

'यः पृथिवीं व्यथमाना दृंहद्: पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्सजनास इन्द्रः ॥'
(ऋ० २।६।२)

जिसने प्रकम्पित पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने चंचल पर्वतों को स्थिर किया, जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को व्यवस्थापित किया, जिसने द्यु को धारण किया—हे मनुष्यों ! वह इन्द्र है।

इन्द्रविषयक सूक्तों में ओजगुण का बाहुल्य है। प्रसाद एवं माधुर्य सम्पूर्ण सूक्तों में अनुस्यूत है। अग्नि सूक्तों की शैली सुहृत्सम्मित है। अग्नि को मनुष्यों का परम मित्र कहा गया है। जिस प्रकार पिता पुत्र को आशीर्वाद देता है, उसी प्रकार हे अग्नि ! तुम हमें आशीर्वाद दो। इन सूक्तों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इन्द्र जिस प्रकार 'युद्धप्रिय' देवता हैं उसी प्रकार अग्नि गृहस्थों का 'गृहदेवता' है। अग्नि की प्रदिक्षणा करने का विधान विवाह पद्धति में निहित है। इसहेतु अग्नि को कुमारिकाओं का 'प्रियंकर' (स्त्रियों का पति) इन संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।

यज्ञीय अग्नि, देव एवं मनुष्य का मध्यस्थ (माध्यम) है। यह अग्नि, देवताओं को हविर्भाग पहुँचाता है—एवं यज्ञ स्थान में देवताओं को त्वरित ले आता है। इस हेतु उसे ऋत्विज् कहा गया है, पुरोहित कहा गया है। यह निश्चय, सूक्त के अवलोकन से होता है। शैली के अवलोकनार्थ अधोलिखित उदाहरण को देखा जा सकता है--

'अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्तिभर्वति योधो न शत्रून्त्स वनान्यृञ्जते ॥'
(ऋ० १।१४३।५)

अग्नि तीक्ष्ण दाढों से वृक्षादिकों का भक्षण करता है। उन्हें चबाता है। जैसे योद्धा शत्रुओं को नष्ट करता है। वैसे ही अग्नि वृक्षों को नष्ट करता है।

सूर्य, पर्जन्य, मरुत् इत्यादि देवताओं को उद्देश्य कर पठित सूक्त मार्मिक सृष्टिवर्णन एवं आलंकारिक सौन्दर्य के व्यतिरिक्त अन्तःकरण को आह्लादित करने वाले हैं। उषासूक्त अपने सौन्दर्य के चरम स्थान पर है।

संवादसूक्त--जिस प्रकार ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का सम्बन्ध उपनिषदों के तात्त्विक विवेचन से जोड़ा जाता है, उसी प्रकार कुछ सूक्तों का सम्बन्ध काव्य, नाटकों की गवेषणा से जोड़ा जाता हैं। इस प्रकार के ऋग्वेद में २० सूक्त हैं। कथोपकथन के प्राधान्य को लेकर उन्हें संवादसूक्त कहा जाता है। कुछ विदेशी एवं कुछ भारतीय उन प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट स्वरूप मानते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीन आख्यानों के किसी संवाद को भूमिका से सम्बद्ध मानना क्या न्याय संगत है? अथवा आख्यानों के पात्रों को नामों के साम्य (आधार) पर सम्बद्ध कहना क्या उचित है? इन संवादसूक्तों में महत्त्वपूर्ण ये चार हैं--

पुरूरवा-उर्वशी (ऋ० १०।९५), यमयमी संवाद (१०।१०), सरमापणि (१०।१३०) सूर्यासूक्त (१०।८५)।

दशमंमण्डल के ९५वे सूक्त को पुरूरवा-उर्वशी संवाद अठारह (१८) ऋचाओं का है। इसमें प्रेम के लौकिक एवं अलौकिक दोनों पक्ष, पाठकों के सम्मुख उपस्थित होते हैं। पुरुरवा एक मर्त्य मनुष्य एवं उर्वशी एक अप्सरा है। ये दोनों चार वर्ष एकत्र रहते हैं—उर्वशी गर्भवती होती हैं एवं अचानक उर्वशी गुप्त हो जाती है—इतनी बात संवादसूक्त से ज्ञात होती है।

शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में इसका सम्पूर्ण विस्तार हमें प्राप्त होता है। शृंगार (विप्रलम्भ) का मार्मिक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उपत्वारातिः सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तस्व हृदयं तप्यते मे।
(१०।९५।१७)

कृष्णयजुर्वेद के काठकब्राह्मण में भी इस कथा के संकेत प्राप्त होते हैं—तदनन्तर लौकिक संस्कृत वाङ्मय में भी यह कथा बहुलरुप में—महाभारत के खिलपर्व में, विष्णुपुराण में एवं कथासरित्सागर में भी है। महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक की रचना कर इसे जनजन को सुलभ कर दिया। इसका एकमात्र कारण कथा की सरसता ही है। कविहृदय का द्रवित होना स्वाभाविक है। यमयमी-संवाद, स्त्री-पुरुषों के अनिर्बन्ध लैङ्गिक व्यवहारविषयक संयमात्मक नीति-भावना को प्रदर्शित करता है। विवेक के जागरित होने के उपरान्त उदित-संयम का इस सूक्त में अलौकिक उपदेश है। कुछ विद्वान् यम-यमी संवाद को तत्तत्कालीन सामाजिक भ्रष्टाचार एवं नैतिक पतन का प्रदर्शक मानते हैं। परन्तु यह कहना केवल विचार-प्रवाह को दूषित करना ही है। दृष्टान्त, दृष्टान्त ही रहता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है।

दशम मण्डल का १०८ वाँ सूक्त सरमापणि-संवाद है। यह संवाद, अत्यन्त मनोरंजक एवं अनुसन्धित्सुओं के हेतु एक गम्भीर विषय है। सरमा (कुतिया) का दूती के रूप में पणियों के पास जाना, कुत्तों को गुप्त वस्तुओं का ज्ञान होना—इस तथ्य को प्रकट करता है। वर्तमान में भी अनेक सामाजिक अपराधों के निराकरण हेतु कुत्ते छोड़ना अनुभव सिद्ध है। दशम मण्डल का ८५ वां सूक्त सूर्यासूक्त है, जिसमें सूर्य की कन्या (सूर्या) का विवाह सोम देवता से होने का वर्णन है। यह सम्पूर्ण सूक्त अगाध ज्ञानराशि का तेजोमय कण है, जिसका अध्ययन, वर्तमान को अनुदिन अभिवर्धित करेगा।

दानस्तुतिसूक्त

इन सूक्तों की शैली स्तुति परक है। अनेक राजाओं के द्वारा ऋषियों को अश्व, गौएँ, बैल, धन आदि के दान का वर्णन है—एतदर्थ दान की स्तुति सकारण हुई है। इस वर्गीकृत भाग में निम्न प्रकार के सूक्तों का समावेश किया जा सकता है—

कुछ सूक्त विजयश्रीं का वर्णन करते हैं, इन सूक्तों में इन्द्र की स्तुति का वर्णन किया है। इन्द्र के स्तवन के साथ ही दानकर्ता राजा का भी स्तवन हुआ है। कुछ सूक्त इन्द्र को ही उद्देश्य कर कहे गये हैं। कतिपय सूक्तों में दक्षिणा का वर्णन है इनमें यज्ञ कर्ता का भी स्तवन है।

वैदेशिक ओल्डनबर्ग महोदय का कहना है कि "सामान्यतः वैदिक सूक्त सौन्दर्यप्रपूरित नहीं हैं अपितु स्वजाति हित—साधन एवं वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध करना ही उन सूक्तों का मुख्य प्रयोजन है" परन्तु यह कहना अत्यन्त घृणास्पद है। प्रथम तो वेद पौरुषेय[1] नहीं है। द्वितीय 'ओल्डनबर्ग' का कहना भारतीय संस्कृति के प्राण से अत्यन्त भिन्न एवं शरारतपूर्ण है। हमारी आर्य-संस्कृति **'सर्वेभवन्तु सुखिनः' 'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के धरातल पर कभी की पहुँची हुई है। आज अशान्ति का एकमात्र कारण यही है कि व्यक्ति, कृतघ्न हो गया है। इस कारण द्वेष, उद्वेग, भ्रान्ति का वातावरण फैलता जा रहा है। यह भूलना न होगा कि ये सम्पूर्ण सूक्त कृतज्ञ होने का उपदेश करते हैं। इनमें जातिगत स्वार्थ का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वेद किसी भी देश, काल की परिसीमा में बद्ध नहीं है, अपितु वह विश्वकल्याण का प्रतीक है। व्यक्ति अनुग्रह करे, और अनुगृहीत व्यक्ति अपमानित अथवा रुष्ट व्यवहार करे—यह सहनीय नहीं है, अपितु यह सभ्यता के प्रतिकूल आचरण है। यह समझाने के लिये ही ये सूक्त है। इस हेतु यह दानस्तुतिसूक्त त्याज्य नहीं, अपितु संग्राह्य है। यह सूक्त एक मानव सभ्यता को सुशील, सुशिक्षित करने हेतु पृथ्वी पर प्रकट हुआ है। दृष्टान्त शैली से मनुष्यों को आदर्शों की पराकाष्ठा तक पहुचानें का यह राजमार्ग है।

कात्यायन की **ऋक्सर्वानुक्रमणी** में दानस्तुति विषयक २२ सूक्तों का उल्लेख है। ऋग्वेद के दशममण्डल के ११७ वें सूक्त में दानमाहात्म्य का वर्णन पठनीय है—

'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥'

(१०।११७।३)

क्षुधार्त मनुष्य को जो अन्नदान करता है वही दाता है। **संकटापन्न**

---

1. वेद का अपौरुषेयत्व उचित स्थान पर प्रतिष्ठापित है—पाठक वहीं पर उसे देखें।

मनुष्य, ऐसे दाता का ही स्मरण कर उसकी शरण में जाता है। दाता मनुष्य उसपर महान् अनुग्रह करता है।

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥'
(१०।११७।६)

उस मूर्ख ने अन्न प्राप्त करने हेतु व्यर्थ परिश्रम अपनाया। मैं सत्य कहता हूँ कि उससे सम्पादित किया हुआ अन्न, 'अन्न' न होकर उसका साक्षात् मृत्यु ही है। जो याचकरूप में आये हुए अर्यमादिकों को अन्न प्रदान कर सन्तुष्ट नहीं करता. एवं मित्रों को भी सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तथा जो अकेला खाता है—उसे महापातकी समझना चाहिये।'

तत्त्वज्ञानसूक्त—

उपनिषदों के प्रस्फुटित सुन्दर तत्त्व, बीजरूप से इन सूक्तों में एवं अन्यत्र वैदिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं। वेद में नाना देवतावाद से एक देवतावाद तक सम्पूर्ण विचारसमूह एक कोषरूप में प्राप्त है। तत्त्वज्ञान-दृष्ट्या भारत ही सर्वप्रथम विश्वसनीय स्थान है—इस विवेचन को हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि ऋग्वेदीय आर्यों की सामाजिक अवस्था सामान्यतः प्राथमिक स्वरूपान्तर्गत होने से धर्म एवं तत्त्वज्ञान का पृथक्करण ऋग्वेद में नहीं है। परन्तु इस प्रकार का विचार पूर्णतया आधारहीन है। क्योंकि ऋग्वेद में प्रारम्भ से ही अन्ततक तत्त्वज्ञान एवं धर्म, एक जीव (तादात्म्य) की अवस्था में हैं। यदि यह मान भी लिया जाये कि दशम मण्डल, प्रारम्भ के नौं मण्डलों की अपेक्षा बाद का है। परन्तु ऐसा मानने में भी हमारा कथन ही सिद्ध होता है। दशम मंडल में अविकृततत्त्वरूप कुछ भी नहीं है, जिसका प्रारम्भ के नौ मण्डलों से प्रकृतिदृष्टया विभेद हो। नवम मण्डल तक प्राप्त सामग्री के व्यतिरिक्त प्रचुर सामग्री दशम मण्डल में है। इससे यह सिद्ध नहीं होता की प्रकृति-दृष्टया विषय की भिन्नता हो। वह संहिताकार की अपनी स्वयं की पद्धति है। इससे यह कहना की 'दशममण्डल में अत्यल्प तत्त्वदर्शन—'नासदीय' 'विश्वकर्मन्', 'हिरण्यगर्भ' 'वाक्' इत्यादि सूक्तों में ही प्राप्त होता है—यह कथन अनुचित चेष्टा है। क्योंकि दशममण्डल में जो तत्त्वज्ञान विशदरूप में दृष्टिगोचर होता है, वही तत्त्व दर्शन प्रथम मण्डल से नवम मण्डल तक समानरूप से अनुस्यूत है।

'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर' होनेवाला यह संसार क्या है? अस्मद् एवं युष्मद् का परस्पर सम्बन्ध क्या है? इत्याकारक शंकाओं से शंकित हुआ प्राणी कोऽहं, कोऽहं, यह कहने लगता है। यही वह साधकतम (प्रकृष्ट) हेतु है, जहाँ से तत्त्वज्ञान प्रारम्भ होता है। तत्त्वज्ञान का एकमात्र कारण 'कोऽहं', कोऽहं' इत्याकारक प्रतीति है, जिसके ज्ञान का सम्पूर्ण विचार ऋग्वेद में प्राप्त होता है, इस विषय का निदर्शन प्रसंगतः प्राप्त होने से उसका विवेचन किया जा रहा है। मनुष्य का शरीर, चेतनवत्, व्यावहारिक दृष्टिगोचर होने पर भी वस्तुतः वह जड़ है। वस्तुतः चेतनतत्त्व उसमें रहता है और वह शरीर के माध्यम से सम्पूर्ण व्यवहार करता रहता है। (जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः) इस प्रकार 'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः, यह जडाजडरूप शरीर व्यवहार करता है'—यह सिद्धान्त वेद का ही है। अर्थात् वह चेतन, शरीर से भिन्न होकर भी रहता है यह ऋग्वेद से ज्ञात होता है।

जीव एवं शरीर का सम्बन्ध मन, बुद्धि, इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होता है। इन्द्रियों के जड़ रहने पर भी। वस्तुतः वे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विश्व की अनेकानेक शक्तिरूप देवताओं के अंशों से संचालित हैं—यह स्पष्ट संकेत १० मण्डल के १६ वें सूक्त 'सूर्यं चक्षुर्गच्छतिवातमात्मा' से प्राप्त होता है। यह ऋचा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे चक्षुरादि इन्द्रियों की और प्राणविषयक गूढ़ कल्पना स्पष्ट होती है। इस प्रकार के जड शरीर में 'न जायते म्रियते वा' ऐसा 'चेतनात्मा' भी रहता है। यह चेतनात्मा अग्नि से भी दह्य नहीं है—ऐसा ज्ञात रहने पर ही अग्नि उसे तप्त करे ऐसी प्रार्थना उक्त सूक्त में की गई है।

जड़ शरीर एवं चेतन के मध्य जीव का व्यवहार 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः'। इस प्रकार अव्याहतगति से चलता रहता है। उक्त रहस्य का स्पष्ट संकेत, मण्डल १, सूक्त १३९ में है—'यद्धत्यन्मित्रावरुणावृतादध्याददाथे अनृतं स्वेनमन्युना दक्षस्य स्वेन मन्युना। युवोरित्थाधि सद्मस्वपश्याम हिरण्यम्'। धीभिश्च न मनसा स्वेभिरक्षभिः सोमस्य स्वेभिरक्षभिः'। अर्थात् मित्रावरुणरूप ईश्वर का दर्शन एक विशेष अवस्था में हुआ। वह प्रथम सूक्ष्मबुद्धिमात्र गोचर था। तदनन्तर मन से, पश्चात् सूक्ष्म इन्द्रियों से, तत्पश्चात् स्थूलरूप का साक्षात्कार इन्द्रियों को होता है। यह ऋचा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य का जन्म मन के सहित होता है—'सन्दक्षेण मनसा जायते'—(९।६८।५)। बुद्धि की तीव्रता को योगशक्ति से और अधिक शक्ति सम्पन्न कर नवनवोन्मेषशालिनी बनाया जा सकता है—इत्यादि स्पष्ट संकेत हैं। सांसारिक सुखानुभव क्षणभंगुर हैं। इस हेतु ऋग्वेद में प्रत्येक स्थान पर शाश्वत सुख की कामना प्राप्त होती है। अज्ञानरूप अंधकार का नाश एवं पूर्ण ज्ञान की उत्कट जिज्ञासा ऋग्वेद के सिवाय सम्पूर्ण विश्व के वाङ्मय में अनुपलब्ध है। 'कामस्य यत्राप्ताः कामाः ऐसे स्थान पर तृप्ति, (निष्कामता) प्राप्त करने हेतु ऋग्वेद में अनेक मंत्र हैं। इस विषय की सम्पूर्ण सामग्री का समावेश तत्त्वज्ञान सूक्तान्तर्गत किया जाता है।

ऋग्वेद में एकेश्वरवाद की समारोह के साथ स्थापना हुई है। परन्तु पाश्चात्य एवं आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि—वैदिक ऋषि, संशयावस्था में थे, उनके पास 'इदमित्थं' इत्याकारक कहने का साहस नहीं था। परन्तु यह सम्पूर्ण आक्षेप परप्रत्यय के आधार पर हैं। एकमात्र तत्त्व, जो नानारूपों में विस्तारित होने के उपरान्त भी अपनी स्वतंत्र सत्ता में रहता है, परन्तु उसे स्पष्ट शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल इतना मात्र कह सकते हैं कि वह 'एक है।' वह 'शक्तिमान्' है। इस रहस्य का उद्घाटन ही 'नासदीय' सूक्त में हुआ है।

वस्तुतः नासदीय सूक्त में मूलतत्त्वविषयक संशय नहीं है, अपितु उसका निर्वचन मानवशक्तिहेतु कितना कष्टसाध्य है, उसका निदर्शन मात्र है। आनीदवातम् स्वधया तदेकम् से मूल तत्त्व का स्पष्ट निर्देश किया गया है। उस मूल तत्त्व से 'असत्' उत्पन्न हुआ एवं 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न हुआ, यह ऋग्वेद का शाश्वत तत्त्वज्ञान है। 'असत्' अर्थात् अभावरूप न होकर 'अव्याकृतं सत्' ऐसा सायणाचार्य का अर्थ ही उचित है। इस अव्याकृत असत् को ही अन्यत्र 'ऋत्', कहीं 'परमव्योम' कहा है। ऋग्वेद तत्त्वज्ञान के उच्च आदर्शों को उपस्थित करते हुए कहता है कि—

'न विजानामि इदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।'

'सम्पूर्ण मैं ही हूँ'—ऐसा मनुष्य नहीं जानता, इस कारण मन से बन्धन प्राप्त कर वह भ्रमण करता है, इस कारण ही 'सध्रीचीः स विषूचीः वसानः आवरीवर्ति भुवनेषु अन्तः'—मनुष्य प्राणी, माता के उदर में अनेक जन्म प्राप्त कर दुःख सागर में निमग्न रहता है। इस हेतु मनुष्य को प्राप्त

आयुस्सम्पदा एवं उसके यापन हेतु विषयभोग ही मुख्य उद्देश्य नहीं है। इन विषयभोगों के व्यतिरिक्त भी मनुष्य के पास उच्च ध्येय हैं। ध्येयपूर्ति के साधनरूप में भौतिक ऐश्वर्य आवश्यक हो सकते हैं, परन्तु उसके ध्येय की वस्तुतः पूर्ति **'अपाम सोमममृता अभूम अगन्मज्योतिरविदाम देवान्'** इसमें ही है।

ऋग्वेद में निरन्तर शाश्वतप्रकाश की प्रार्थना है। शाश्वतप्रकाश ही वेद है। परन्तु वेद से अनभिज्ञ व्यक्ति, भारतीय ज्ञान के उच्छिष्ट को ही ख्रिस्तीधर्म में प्राप्तकर उसकी प्रशंसा करते हैं। वस्तुतः पवित्र वैचारिक सम्पदा ऋग्वेद में ही सुरक्षित है। नवममण्डल में कहा है कि—'जहाँ अखण्ड प्रकाश है, जहाँ दिव्य तेज सुरक्षित है, उस स्थान पर पावन प्रवाह में हम स्थिर रहें। जहाँ यमराज रहते हैं, जहाँ द्युलोक की परिसीमा समाप्त होती है, जहाँ आपोदेवी है, ऐसे गुप्त स्थान पर मुझे स्थिर करें—अमर करे। द्युलोक के तृतीय दिव्य उच्च स्थान पर जहाँ समस्तस्थल तेजोमय हैं, वहाँ हमें स्थिर करें-अमर करें। जहाँ काम्य करनेवाले एवं निष्काम कर्म का आचरण करने वाले मनुष्य रहते हैं जो सृष्टि का मूल स्थान है—जहाँ शक्ति हैं, जहाँ तृप्ति है, वहाँ हमें स्थिर करे-अमर करे। जहाँ आनन्द है, जहाँ आनन्दमयता ही है, जहाँ हर्ष ही है, जहाँ वासनाओं के साफल्य की वासना भी पूर्ण हो वहाँ हमें स्थिर करें—अमर करें[1]। ऐसी उदात्त भावना (विमल वैचारिक सरणि) को कलुषित कहना अपनी ही मूर्खता का निदर्शन मात्र है। यह कार्य केवल मत्सर एवं दुरभिमान से ग्रसित व्यक्ति ही कर सकता है। इस प्रकार के १२ सूक्त तत्त्वज्ञानविषयक सारांश को प्रस्तुत करते हैं।

---

१. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितं। तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्रमाममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ यत्र कामानिकामाश्च यत्र व्रध्नस्य विष्टपं। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदआसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र मामृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परिस्रव— (ऋ० ९।११३। ७, ८, ९, १०, ११)

संस्कार सूक्त

वेद मंत्रों का विनियोग जैसा श्रौतकर्मों में हुआ है, वैसा ही गृह्य-संस्कारों में भी किया गया है। दशम मंडल का सूर्यासूक्त विवाहसंस्कार में प्रयुक्त होता है। गृह्यसंस्कार भी वेदानुमोदित हैं। जैसे—स्नानमार्जन हेतु (ऋ० २।६), श्राद्ध प्रयोग में (ऋ० १०।१५), उपनयन में (ऋ० १०।१६। ६२), गर्भाधान में (ऋ० १०।१८४), प्रेमकर्म में (ऋ० १०।१६।१६) ऋचाओं का विनियोग होता है। चिता का चयन करने के उपरान्त जब प्रेत को चिता पर रखकर जब अग्नि ज्वाला प्रज्वलित होती है, उस समय यह ऋचा पठित है।[1]

हे अग्नि ! इस प्रेत को अत्यधिक दग्ध न कर, इसमें शोक उत्पन्न न कर, इसके शरीर को एवं त्वचा को यत्र-तत्र प्रक्षिप्त न कर, इसका पूर्ण दहन करने के उपरान्त इसे पितरों के पास भेज दे। हे जातवेद ! इसके शरीर को सम्यक् रूप से दग्ध कर, इसे पितरों के पास ले आओ, जब इस प्रेत के प्राण इस प्रकार देवों के पास जायेंगे—तभी यह देवों के वश में होगा। इत्यादि मंत्रों का विधान प्रेतदहन के समय किया गया है। मंत्रों को उद्धरण के रूप में प्रस्तुत करने का एकमात्र कारण ऋजुभाषासौन्दर्य एवं भारतीय संस्कार पद्धति का वैज्ञानिक मार्ग का निदर्शन कराना मात्र ही है। इसी सूक्त में मृत्यु के उपरान्त मनुष्य का क्या होता है ? जीवात्मा की कर्मगति क्या होती है ? इस प्रकार की तात्त्विक एवं अनुसंधानात्मक सामग्री इसमें सुरक्षित है।

मांत्रिकसूक्त

ऋग्वेद में लगभग ३० सूक्त इस समष्टि वर्गान्तर्गत आते हैं। इनमें अनेक प्रकार के रोगनाशक, गर्भरक्षक, दुष्टस्वप्न एवं अशुभ शकुनों के नाशक, शत्रु एवं दुष्टमांत्रिकों को नष्ट करने वाले मंत्रों के विनि-योग के इष्ट प्राप्त्यर्थ भी मंत्रों का विधान है (ऋ०७।१०।३ सूक्त)। दर्दुरसूक्त में ब्राह्मण एवं मेंढक की तुलना हुई है। जैसे—'सोमयाग में

---

1. मैनमग्ने विदहो माभिशोचो भास्य त्वचं चिक्षिपो माशरीरम्। यदा-शृतं कृणवो जातवेदोयेमेनं प्रहिणुतात्पितृभ्यः ॥ शृतं यदा करसि जातवेदोये-मनं परिदत्तात्पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति। (ऋ० १०।१६।१, २)

ऋत्विक् जैसे सोमपात्र के पास बैठकर मंत्रोंच्चार करते हैं—उसी प्रकार वर्षारम्भ में मेढक वर्षा की स्तुति करते है।'[1] इस पर पाश्चात्य एवं आधुनिक लोग अनेक आक्षेप करते हैं। वास्तव में उनका एक मात्र ध्येय, भारतीय वैचारिक वर्तनी को कलुषित करना है। वस्तुतः जैसे ऋत्विज्, यागनिष्पादन में साधकतम होते हैं, वैसे ही मेढक भी वर्षा के हेतु प्रमुख कारण हैं। यह सूक्त जल वर्षण हेतु है। इसी अभिप्राय से ऋत्विज एवं मेढक की तुलना की गई है। अपने अभीष्ट सिद्धि के हेतु प्रयुक्त यह गम्भीर मंत्रशास्त्र है। ऐसे अनेक मंत्रों का संग्रह इस सूक्त के अन्तर्गत होता है।

लौकिकसूक्त

इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण मंत्रों का समावेश होता है। मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय करानेवाली सम्पूर्ण सामग्री इन मंत्रों में है। व्यवहार में मनुष्य की लोभ, मद, मत्सर, मोहादि अनेक वृत्तियों का दिग्दर्शन कराया हैं। हमारी नाना बुद्धियाँ होती हैं, मनुष्यों के अनेकानेक व्रत (कर्म) होते हैं—तक्षा, तक्षण की, वैद्य रोगी की, ब्राह्मण यज्ञ करने की इच्छा करता रहता है।[1] जैसे गाय के पीछे गोमय चयनकर्ता भागते हैं, वैसे ही हम धन के लिये भागते हैं—'नानाधयो वसोयवोनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव' (९।१११।३)। सामाजिक उद्बोधन हेतु एक चिंतामणि के सदृश यह सूक्त है, जो द्यूत का स्पष्ट निषेध करके उसके गम्भीर परिणामों का अग्रिम दर्शन कराता है—मेरी पत्नी ने कभी भी मेरा अपमान नहीं किया, न मुझसे घृणा की, अपितु उसके मन में मेरे एवं मेरे मित्रों के प्रति आदर था। वह गुणवती थी परन्तु फाशों के प्रेम से उसे मैंने त्याग दिया। क्योंकि मुझे फासों के अतिरिक्त कुछ भी प्रिय नहीं लगता।[2]

द्यूतव्यसन के उपरान्त दशा का वर्णन प्रत्यक्ष भयावह परिस्थिति का ज्वलन्त संदेश इस प्रकार दिया गया है—

---

१. न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्। अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामपजायामरोधम्। (१०।३४।२)

२. नानानं वा उनो धियो विव्रतानि जनानाम्। तक्षारिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ (९।१११।१)

जूआ खेलने हेतु जब यह बाहर जाता है, उस समय इसकी पत्नी का हाथ दूसरे पकड़ते हैं। इसके माँ बाप-भाई सभी यही कहते है कि हम इसे नहीं पहचानते, इसे बांधकर ले जाओ।[1] इस ऋचा से पापजनक परिस्थिति को दिखाकर द्यूत का निषेध किया गया है। समाज से, परिवार से, आर्थिक परिस्थिति से नष्ट होकर अन्त में इस व्यसन से परे रहकर कर्मठता का अनोखा संदेश दिया गया है, जो स्वावलंबन का प्रत्यक्षद्योतक है—सम्माननीय सवितृ देवता की आज्ञा है कि पासों से जूआ मत खेलो। खेती करो, सम्पत्ति का उपभोग करो, उसी से ही गाएं, स्त्री आदि प्राप्त होंगीं।[2]

आप्रीसूक्त

इन सूक्तों का विनियोग पशुयाग में होता है। इस याग में पशु की 'वपा' का याग होने के पूर्व ग्यारह अथवा बारह देवताओं को उद्देश्यकर 'प्रयाज' संज्ञक याग कर्तव्य होता है। इसमें प्रत्येक देवता से सम्बन्धित स्तावकभाग के पठनार्थ—'मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् प्रैष देता है। तदनन्तर होता नामक ऋत्विक् याज्या नामक ऋचाओं का पाठ करता है। इन ग्यारह अथवा बारह ऋचाओं के सूक्त को 'आप्री' सूक्त कहते हैं। ऋग्वेद में कुल ११ आप्रीसूक्त हैं। प्रथम मण्डल में तीन (३) सूक्त, चतुर्थ मण्डल में (६) सूक्त, दशममण्डल में दो-२ सूक्त है। आप्रीसूक्तों के अनेक होने का कारण भिन्न गोत्रता है। जिनके गोत्र का आप्रीसूक्त नहीं है, उन्हें जमदग्नि के आप्रीसूक्त का पठन करना चाहिये।

उक्त वक्तव्य के परिचायक

ऋग्वेद के ग्रंथ अधोलिखित हैं—

ब्राह्मण

(१) ऐतरेय, (२) कौषीतकी (शांखायन)

---

१. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्या गृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमोनयता बद्धमेतम्॥
(ऋ० १०।३४।४)

२. अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्य वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः। (ऋ० १०।३४।१३)

आरण्यक

(१) ऐतरेयाण्यक (२) कौषीतकीआरण्यक

श्रौतसूत्र

(१) आश्वलायन श्रौतसूत्र
(२) शांखायन श्रौतसूत्र

गृह्यसूत्र

(१) आश्वलायन गृह्यसूत्र
(२) शांखायन गृह्यसूत्र

व्याकरण

(१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य

परिशिष्ट

शौनककृत

(१) बृहद्देवता (२) आर्षानुक्रमणी
(३) छन्दोनुक्रमणी (४) अनुवाकाऽनुक्रमणी

ऋग्वेद एवं ज्ञान स्रोत

ऋग्वेदीय विवेचन प्रस्तुत करने का मुख्य कारण यह है कि वेद के सम्बन्ध में आपाततः प्राप्त विसंगतियों को दूर करने के लिये तत्तत् स्थानों को समझना आवश्यक है। वेद अथवा पुराणों का सफल अन्वेषण भारतीय परम्परा से ही साध्य है। विदेशी वैचारिक सरणि का आश्रय लेकर वेदशास्त्र की चर्चा केवल व्यर्थ श्रमोत्पादक होती है। स्वामी विवेकानन्द का कहना असंगत नहीं है कि वेद का अध्ययन करते समय विदेशी भाष्यों का सहयोग हानिप्रद है। भारतीय शास्त्र पद्धति से ही उसे समझना श्रेयस्कर है। क्योंकि विदेशी विद्वान् भारतीयशास्त्रों से अनभिज्ञ है, केवल भाषाशास्त्र के आधार पर विवेचन करने वाले अनुसंधित्सुओं को तत्त्वज्ञान एवं धर्म की प्रकृति का ज्ञान भी नहीं है। उदाहरणार्थ— 'आनीदवातम्' इस शब्द का अर्थ वैदेशिक भाष्यों में 'श्वासोच्छ्वासकेविना' किया गया है, परन्तु यह अर्थ युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुतः यहाँ मुख्य प्राण से सम्बन्ध है। 'अवातम्' का अर्थ निष्पन्द है। सृष्टि के पूर्व विश्व का प्राण जिस अवस्था में रहता है, उस स्थिति का प्रतिनिधि 'आनीदवातम्' पद है। अतः ऋषि मुनियों की परम्परा के सिवाय

उन्हें समझना कठिन है। पंडितंमन्य वैशेषिकों का वेद-प्रसंग निष्फल है, उन्हें इन रहस्यों का ज्ञान ही नहीं है।

श्री स्वामी विवेकानन्दजी ने कहः है—

1. In translating the Suktas, Pay Particular attention to the Bhashyakaras and pay no attention whatever to the Orientalists, they do not understand a single thing about aur Shastras. It is not given to dry Philologists to understand philosophy or religion... for instance, the word 'आनीदवातम्' in Regvida was transladed He lived Now without learthing here the reference is really to the prana and 'अवातम्' has the root meaning for unmoved. that is, vibration. It, descives, The state in which the Universal cosmic energy or prana remains befor the kalpa begins (vide...) the Bhashyakaras explain everything according to suged and not according to the socalled Europeain scholars, what do they know ?

नासदीय सूक्त विषयक पाश्चात्य विद्वानों के तर्क हास्यास्पद ही हैं। वे कहते हैं कि मंत्रकर्ता ऋषि संशयात्मा थे। अतः उन्होंने अपना मत भय के साथ उपस्थित किया है। परन्तु यह आक्षेप निराधार ही है क्योंकि—आनीदवातम् स्वधया तदेकम्' सिद्धान्त को देखकर भी उन्हें शंकित कहना नितान्त विसंगत है। 'एक वाक्य', वाच्यार्थ के रूप में आपाततः संदेहास्पद लगता है, परन्तु वह संदेहास्पद नहीं है अपितु गूढार्थक है—'को अद्धा वेद कुत इयं विसृष्टिः' 'सो अंग वेद यदि वा न' अर्वाक् देवाः अस्य विसर्जनेन' इसमें मानव की दुर्बलता का निदर्शन ही किया गया हैं। इससे तो परमशक्ति का महत्त्व ही सिद्ध हो रहा है।

ऋग्वेद में व्यक्त-ज्ञान के संकेतों को यहाँ संक्षेप में उपस्थित किया गया हैं—

१—इस विश्व में एक सत् तत्त्व है 'एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' (मं० १।१६४) सत् तत्त्व ही, सृष्टि अवस्था में और अनिर्वचनीय अव्यक्त अवस्था में रहता है।

२—यह सत् तत्त्व गुणों से अनिर्देश्य होने के कारण 'तत्' के व्यतिरिक्त और वर्णन करना असम्भव है, वह असत् है, अर्थात्—सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों से भिन्न हैं (मं० १०।१७५)।

३—'तप' ही सृष्टि के सर्ग स्थिति का साधन है। 'तपसस्तन्महिना अजायत'।

४—तप अथवा यज्ञ ही श्रेष्ठ धर्म है—'तानि धर्माणि प्रथमानि'। व्यक्त सृष्टि में परमात्मा, जीव एवं शिव इन दो रूपों में व्यक्त होता है—'द्वासुपर्णा सयुजा' (ऋ० मं० १।१६४)।

५—अद्वैत तत्त्व के ज्ञान से रहित मनुष्य को ही बन्ध होता है। उसी से वह बद्ध होकर भ्रमण करता है—'न विजानामि यत् इव इदम् अस्मि-निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि'।

६—परमात्मा ही जीव रूप से जड़ शरीर में प्रवेश करता है।

समाधीरः पामकत्राविशेष (ऋ० मं० १।१६४)

७—असृक्-जड़ शरीर, असुः-प्राणशक्ति, जीव-आत्मा—ये तीनों भिन्न पदार्थ हैं। (ऋ० मं० १।१६४)

८—यज्ञीय पशु मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है, अपितु अत्यन्त सुलभतया स्वर्ग जाकर पशुजाति के योग्य भोग लेता है—

'नवै उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवान् इत ऐषि पथिमिस्सुगेभिः (ऋ० मं० १।१६२।२१)।

९—विदेशी विद्वान् कार्पनिकस ने पृथ्वी भ्रमण का सिद्धान्त वेद से ही प्राप्त किया है—

'यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत् यत् भूमिं वि अवर्तयत्' (ऋ० मं० ८।१०)।

वेद में यच्चयावत् सम्पूर्ण ज्ञान समाहित है। वेद का आधिदैविक आधिभौतिक, आध्यात्मिक प्रत्येक क्षेत्र, अकुण्ठित गति है।

वाग् विवेचन

वेद का महत्त्व अपौरुषेयता के कारण ही सिद्ध है, तथापि इसके व्यतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं—जिनमें से अन्यतम कारण उसकी मंत्रमयता है। यह सिद्धवाणी है, जिसमें दृश्य एवं अदृश्य परिणामोत्पादक शक्ति है। इससे यह सिद्ध ही है कि शब्दोच्चारण एवं उन शब्दों की अनुपूर्वी में उत्पादक शक्ति निहित है। ऋग्वेद में दैवी एवं मानुषी वाणी का भेद स्पष्ट

किया गया है। वाणी के चार प्रकार स्वयं ही आश्चर्य कारक और वैज्ञानिक है—

> चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
> तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति
> तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
> (ऋ० १।१६४।४५)

अर्थात् मनीषी ब्राह्मणों द्वारा गम्य वाणी के चार प्रकार हैं—उसके तीन रूप गुप्त है और एवं प्रपष्ट रूप में है। चतुर्थ वाणी मनुष्य बोलते हैं। इस ऋचा का अर्थ कई प्रकार से लगाया गया है परन्तु प्रकृत प्रसंग में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ही चत्वारिवाक् से गम्य हैं। निरुक्तकार, 'ऋक् यजुः' साम, व्यवहारवाणी' इस प्रकार का अर्थ करते हैं। वैयाकरण 'नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात' अर्थ करते है। परन्तु स्पष्ट अर्थ—परा, पश्यन्त्यादि ही होगा क्योंकि 'तुरीयं वाचो वदन्ति' स्पष्ट कहा है।

दैवी एवं मानुषी वाणी का पृथक्त्व, मण्डल ८ सूक्त ८९ में स्पष्ट है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में वाक् को नित्य कहा है। इसी से ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। ऋ० ३।७।१ में अग्नि के विषय में 'विविशुः सप्तवाणीः' ऐसा कहा है। उपर्युक्त स्थल में सप्त व्याहृतियों का उल्लेख है—'किसी के द्वारा अनुच्चारित, भिन्न-भिन्न सप्त लोकों के व्यापार से स्वयंभू उत्पन्न, योगतपोनिष्ठ साधकों को शब्दानुविद्ध समाधि में प्रकट होने वाली स्वयंव्याहृत-वाणी के अर्थात् भूर्भुवः स्वः जनः, इन व्याहृतियों का ग्रहण होना आवश्यक है। 'परा' वाणी का उल्लेख ८।८९।११ में किया हुआ है। मं० १ सूक्त १६४ 'सप्तस्वसारो अभिसंनवन्ते', 'यत्र गवां निहिता सप्तनाम' यहाँ पर भी सप्त व्याहृतियों का ही ग्रहण है।

देवता

ऋग्वेद अथवा वेद में देवताविषयक सरणि विशेष प्रकार की है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं का उल्लेख है, परन्तु उनका अन्तर्भाव, एकमात्र तत्त्व (तत्) में है। ऋग्वेद में एक तत्त्व (तत्) का, अनेक देवता, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, रजोलोक एवं उनके भी परे अनेक पदार्थों का वर्णन है। इससे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का वर्ण्यविषय—आध्यात्मिक, आधिदैविक,

आधिभौतिक इस त्रिक के अन्तर्गत ही है। जहाँ कहीं भी वेद में त्रिधातु पृथ्वी, त्रिधातु तेज अक्षिगोचर होता है। वह उपर्युक्त धारणा को ही स्पष्ट करता है। जड़ पदार्थ से मूलतत्त्व तक यावत् पदार्थ इस (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) त्रिक के अन्तर्गत होने के कारण पूजा, उपासना में भी इसी तत्त्व का अनुसरण होता है। तात्पर्य यह है कि विद्युत् शक्ति संपूर्ण संसार में व्याप्त है—नैसर्गिक रूप से वह अपने स्वतंत्र व्यापार में रहती है। उसका मनुष्य से सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य स्वयं यदि उसका उपभोग करना चाहे तो वह उचित संसाधनों से उसका उपयोग कर सकता है। परन्तु यदि मनुष्य स्वबुद्धि से किसी साधन को उत्पन्न कर उसका उपभोग कर सका तो ठीक है। अन्यथा वह निर्माल्यवत् ही हैं। इसलिए देवता एवं साधक **'परस्परं भावयन्त:'** इस प्रकार अन्योन्याश्रयी हैं।

ऋग्वेद अथवा वेद का अध्ययन जब देवता विषयक होता है तब एक तथ्य को ध्यान कर यदि अध्ययन होगा तो अनेक विसंगतियाँ स्वतः निरस्त हो जायेंगीं। वेद में उपासना का (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) त्रिक स्वरूप प्राप्त होता है। देवता (सृष्टि कार्य-संचालिका शक्ति) सूक्तों से यह विदित होता है कि प्रकट एवं गुप्त दो विभाग देवता स्वरूप के हैं। ऋग्वेद में यह तथ्य अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है। सविता एवं सूर्य ये दो भिन्न देवता हैं, परन्तु इनके अर्थ प्रकट एवं गुप्त होने के आधार पर भिन्न ही हैं। कुछ विद्वान् **'उदयात्पूर्वभावी सविता 'उदयास्तवर्ती सूर्य:'** ऐसा भेद करते हैं। इनका यह अर्थ संगत है अथवा नहीं? इसकी चर्चा करना प्रकृत प्रसंग के विरुद्ध है, तथापि यहाँ उक्त भेद के सम्बन्ध में किंचिन्मात्र कहना अनुपयुक्त न होगा। यह भेद भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का है—सूर्य एवं सविता दोनों से तेजस्तत्त्व का ही दिग्दर्शन किया गया है। सूर्य-सूर्य मंडल से निर्गत उष्णता से आरब्ध स्थूल क्रियाओं का द्योतक है और सविता-सम्पूर्ण संसार की यच्चयावत् गुप्त उत्पादक शक्ति का प्रकाशक है।

सगुणोपासना

प्रार्थना करना, देवता के उद्देश्य से कर्म करना, देवताओं को नाना प्रकार के हवि समर्पण, आदि सगुणोपासना को ही पुष्ट करते हैं। सगुणोपासना के अनेक प्रमाण प्राप्त हैं—इन्द्र का पीला रंग, पीली हनु, पीताश्व, मरुद्गणों के चमकते भाले, वक्षःस्थल पर आन्दोलित मालाएँ, सुवर्ण के बाहुभूषण (बाजूबन्ध), देवताओं के उष्णीश, आदि का वर्णन सगुणोपासना को

ही पुष्ट करता है। (४ मं० की) 'क इमं मर्मेन्द्रं क्रीणाति दशभिर्धेनुभिः (ऋ० मं० ४) स्पष्ट संकेत सगुणोपासना के लिए ही है। इसी प्रकार अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं।

पुनर्जन्म

पाश्चात्य विद्वान् कहते है कि पुनर्जन्म असम्भव है किसी भी वाङ्मय में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। पाश्चात्य वाङ्मय में उल्लेख न होने से विश्व के किसी भी वाङ्मय में नहीं है—ऐसा दुष्प्रचार करना उचित नहीं है। (ऋ० म० १० सू० १६) में 'गच्छ धर्मणा'[1] जीव के लिये कहा गया है। जहाँ जाना तुझे श्रेयस्कर है। उन आकाश, पृथ्वी अथवा जलस्थानों में तुम जाओ[2]। अन्य स्पष्ट संकेतों को भी दिखाया जा सकता है—'अस्यवामस्य सूक्त में स्पष्ट शब्दों के द्वारा पुनर्जन्म का उल्लेख प्राप्त है।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानः आवरीवर्ति भुवनेषु अन्तः।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तबहुप्रजाः निर्ऋतिमाविवेश।

माँ के उदर में बद्ध हुआ यह अनेक जन्म प्राप्त कर दुःख सागर में निमग्न हो गया है। इस ऋचा का अर्थ निरुक्तकार यास्क ने वैज्ञानिक पद्धति से किया है। 'बहुप्रजाः' 'अनेक जन्म प्राप्त कर' कहना ही युक्तियुक्त है। यदि यहाँ यह अर्थ ग्रहण नहीं करेंगे तो—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानं आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्[3]।

इस ऋचा के 'अनिपद्यमान' 'चरन्तम्' ये शब्द अर्थहीन हो जायेंगे। इसके व्यतिरिक्त अनेक संकेत स्थल भी पुनर्जन्म को सिद्ध कर रहे हैं—

'धीरात्वस्य महिना जनूंसि'—ऐसा स्पष्ट संकेत है[1]—यहाँ 'जनूंसि' का 'जन्म' अर्थ है।

'पुनर्गर्भत्वमेरिरे'[2] पुनः गर्भत्व को प्राप्त हुए, यहाँ गर्भत्व को यदि लाक्षणिक भी कहा जाय तो भी पुनः पुनः गर्भवास के कथन की पुष्टि ही हो रही हैं। इसी प्रकार इन्द्र के विषय में भी कहा है कि वह सम्पूर्ण जन्मों को जानता है—

१— ऋ० वे० ८।१।५

२—द्यां च पृथिवीं च आपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम्।

३—१।१६४

'विश्वेत्स वेद जनिमा'[२]। वामदेव ने अपने गर्भ में ही अपना जन्म देखा। वसिष्ठ के तीन जन्म आदि के अनेक संकेत है। यदि इन संकेतों को रूपकात्मक कहते है तो भी अनेक जन्म प्राप्त करना यह वैज्ञानिक सत्य तो अकाट्य ही है।

सृष्टि का सप्तीकरण

ऋग्वेद में सृष्टि का वर्णन तीन प्रकार से प्राप्त होता है—(१) तीन प्रकार का, (२) पाँच प्रकार का, (३) सात प्रकार का। कुछ स्थानों पर छः लोकों का उल्लेख है, परन्तु वस्तुतः भू, रज, अंतरिक्ष तीन प्रकार हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार जैसे त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) स्वतंत्र रूप होने पर भी एक दूसरे के मिथुनीभाव से ही रहते हैं। केवल स्वतः के स्वतंत्र रूप से पृथक् रूप में व्यक्त नहीं हो सकते, उसी तरह तीनों प्रकार की स्थिति होने से तीन, पाँच, सात का रहस्य सुबोध हो जाता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक भेद इस त्रिविध विभागानुसार ही हैं। (मं० ५।६।१) में जो, 'त्रिरोचनानि' त्रिभू' 'त्रिरज'—यह विभेद उपर्युक्त भावना से ही स्पष्ट है। व्यक्त सृष्टि के घन-विरलभाव से ये मुख्य तीन विभाग हैं। व्यक्तसृष्टि कलामय है, एवं वास्तविक स्वरूप स्पन्दनात्मक है। 'सात' का प्रकार तंत्रशास्त्र एवं अर्वाचीन शास्त्रज्ञों के अनुसार भी अत्यन्त महत्त्व का है। संगीतशास्त्र के 'सात स्वर एवं तीन सप्तक' इस उदाहरण से भी सात का प्रकार स्पष्ट हो सकता है। क्योंकि उनके उदर में अन्यप्रभेद हैं। अर्थात् 'सात' की व्यवस्था तीन सप्तकों के सात स्वरों से स्पष्ट हो जाती है। नदी-सूक्त में यह धारणा और अधिक स्पष्ट हो जाती है—

'प्र सप्तसप्तत्रेधाहि' (म० १०, सू० ७५) इसका अर्थ सायणाचार्य ने 'ताः नद्यः सप्तसप्त भूत्वा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिविचेति त्रिप्रकारम्'—उचित अर्थ किया है। सूर्य के किरण सात, छंद सात, अग्नि के शिर; सात, ऋषि सात, मूल सात स्वर (तां सप्तरेभा अभिसन्तवन्ते म० १० सू०७१) सप्त स्वसारो अभिसन्नवन्ते, गवां निहिता सप्तनाम अत्रापश्यम्

१—ऋ० म० १, सू० ६, ऋ० ४

२—ऋ० मं० १, सू० ६, ऋचा ४

३—मं ८, सू० ४६

विश्वपतिं सप्तपुत्रम्' इत्यादि वाक्य सात संख्या के महत्त्व को सप्रमाण सिद्ध कर रहे हैं।

ऋग्वेद परिशिष्ट ग्रंथ

ऋग्वेद के २३ परिशिष्ट सूक्तात्मक हैं जैसे—(१) वशर्चमेधासूक्त, (२) एकर्चपरिशिष्ट, (३) संज्ञानसूक्त परिशिष्ट आदि हैं। अन्य परिशिष्ट अधोलिखित हैं—

१—निविदध्याय	१०—नारीक्षिस्याध्याय
२—रैभ्याध्याय	११—दिशाक्लृप्ति
३—कारव्य	१२—इन्द्रप्रगाथा
४—जनकल्प	१३—प्रवह्लिका
५—एतशप्रलाप	१४—प्रतिराध्य
६—आजिज्ञासेन्या	१५—देवनीथ
७—अतिवाद	१६—पुरोरुक
८—प्रैषाध्याय	१७—ऋग्विधान
९—कुन्तापाध्याय	

इस प्रकार ऋग्वेद के ४१ परिशिष्ट ग्रंथ है।

यजुर्वेद

अध्वर्यु कर्म के हेतु प्रयुक्त यजुषों का संग्रह ही यजुर्वेद है। व्याकरणानुसार 'यजुस्' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। (यज् + उसि) के योग से निष्पन्न यजुस् शब्द का प्रयोग यज्ञीय प्रार्थना या मंत्र के अर्थ में हुआ है। अध्वर्यु, यज्ञ में अनेक विधियों को करता हुआ मुख से कुछ गद्यमय एवं कुछ गद्यपद्यमय मंत्र कहता है। उनमें जो गद्यमय हैं उन्हे यजुः (यजुस्) कहते है। गद्यात्मको यजुः अन्यत्र 'अनियताक्षरावसानो यजुः' ऐसा भी कहा गया है। अर्थात् ऋक् (पद्यात्मक) एवं साम के व्यतिरिक्त अर्थात् मंत्रों की संज्ञा 'यजुः' है।

ज्ञान, कर्म, उपासना—ये जीवन विकास की तीन श्रेणियां है। कर्मकाण्ड का मुख्य आधार यजुर्वेद ही है। नाना प्रकार के यागों में विशिष्ट मंत्र कहने होते हैं और कुछ विशिष्ट नियमों का पालन करना होता है। उन मंत्रों एवं नियमों का संग्रह ही यजुर्वेद है। अनेक प्रकार के यागों के अनुष्ठान करते समय किस मंत्र से कौन से क्रम से विधि किस क्रम से करना है इसका विधान यजुर्वेद में है। अतः यजुर्वेद यज्ञ प्रधान होने के कारण

चारों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) में भित्तिस्थानीय है। अर्थात् यज्ञ-कर्म की दृष्टि से मन्त्र ब्राह्मणात्मक यजुर्वेद की ही प्रधानता है।

शुक्ल एवं कृष्ण का भेद---

यजुर्वेद—कृष्णयजुर्वेद एवं शुक्लयजुर्वेद नाम के दो भागों में विभक्त है। इस सम्बन्ध में दो सम्प्रदाय प्राप्त होते है—ब्रह्मसम्प्रदाय और आदित्य-सम्प्रदाय। ब्रह्मसम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है और आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है। इस रहस्य का प्रतिपादक वाक्य शतपथ ब्राह्मण में उद्धृत है। आदित्य--यह शुक्ल यजुः के नाम से प्रसिद्ध है, जो याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है। **अदित्यानीमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते**। यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण ये भेद क्यों हुए ? कैसे हुए ? इस विषय में एक दो कथानक हैं, उनका अवलोकन करने से उक्त जिज्ञासा शांत हो जाती है।

यजुर्वेद के मुख्य आचार्य वैशम्पायन ऋषि है--'याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन के ही शिष्य थे। कालान्तर में गुरु-शिष्य में दुर्दैव से वैमत्य उत्पन्न हो गया। वैशम्पायन क्रोधित होकर याज्ञवल्क्य से बोले–'जो मैंने तुझे वेद दिया है, उसे वापस दे ! याज्ञवल्क्य गुरुभक्त थे। उन्होंने वेदविद्या को मूर्तिमती करके उसे वमन कर दिया। इस प्रकार गुरु को वेद वापस कर दिया। तदनन्तर 'सूर्य' की उपासना करके याज्ञवल्क्य ने एक 'नूतनवेद' ग्रहण किया, जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से और गुरु वैशम्पायन के वेद को कृष्ण यजुर्वेद कहा जाने लगा।

एक अन्य कथा—'याज्ञवल्क्य ने जब वेद का अंगारों के रूप में वमन किया तब वैशम्पायन' के शिष्यों ने गुरु की आज्ञा से तित्तिर पक्षी' बनकर वमन किये वेद का भक्षण किया। इसी कारण कृष्ण यजुर्वेद की संहिता को 'तैत्तिरीय संहिता' कहा जाता है।

वैयासिक चरणव्यूह भाष्यकार ने तो संज्ञा भेद (शुक्ल, कृष्ण) का उपपादन अन्य प्रकार से ही किया है, वे कहते हैं कि—याज्ञवल्क्य को शुक्ल-वर्ण वाले मध्याह्न के सूर्य ने उपदेश किया अतः वाजसनेयस्वाध्याय की

---

१. शतपथ ब्राह्मण १४।९।३३

शुक्ल यह संज्ञा हुई अथवा वाजसनेयी शाखाध्यायी वेदाध्ययन का आरम्भ चतुर्दशी युक्तपूर्णिमा में अर्थात् शुक्ल पक्ष में किया करते हैं, इस कारण से भी शुक्ल संज्ञा व्यवहृत हुई है। तैत्तिरीयशाखाध्यायी कृष्णप्रतिपदा से मिली हुई पूर्णिमा में अध्ययन का आरम्भ करते हैं अतः तैतिरीय संहिता की संज्ञा कृष्णयजुः हुई—

'एतत्सखिलं शुक्रियं मध्याह्ने शुक्लवर्णेन सूर्येण दत्तं तच्छुक्लयजुः प्रख्यातमित्यर्थः। वेदोपक्रमणे चतुर्दशीयुक्तपूर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः, तैतिरीयकैर्वेदोपक्रमणे औदयिकपर्वग्रहणादर्थात्कृष्णप्रतिपद्विद्धपौर्णमासी-ग्रहणात् कृष्णयजुरिति।'

महर्षि पाणिनि ने तैत्तिरीय संहिता को त्तित्तिर ऋषि से सम्बद्ध माना है। इस नामकरण में एक अन्य हेतु भी प्रतिज्ञासूत्र भाष्य में बताया है—

'बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद्यजुः कृष्णमितीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणाद्यजुः शुक्लमितीर्यते॥'

बुद्धि में मलिनता (खिन्नता) उत्पन्न करने के कारण प्रथम यजुः को कृष्ण एवं प्रकरणों के व्यवस्थित होने के कारण 'द्वितीय यजुः' को शुक्ल कहा जाता है।

यजुर्वेद का भारद्वाज गोत्र है। देवता रुद्र है। और त्रिष्टुभ छन्द है। वर्णताम्र है। हेमाद्रिकार ने यजुर्वेद का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

अजास्यः पीतवर्णः स्यात् यजुर्वेदोऽक्षसूत्रधृक्।
वामे कुलिशपाणिस्तु भूतिदो मङ्गलप्रदः॥

यजुर्वेद का ध्यान—

वन्दे रौद्रं त्रैष्टुभं ताम्रवर्णं भारद्वाजं पद्मनेत्रं कृशाङ्गम्।
यजुर्वेदं दीर्घमादित्यवर्णं कापालिनं पञ्च चारत्निमात्रम्॥

शाखा विभाग—'ब्रह्माण्ड पुराण[1], 'स्कन्दपुराण', सूतसंहिता के अनुसार यजुर्वेद की १०७ शाखाएँ हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार १०६, पतञ्जलि के अनुसार १००, चरणव्यूहकार शौनक के अनुसार ८६ शाखाएँ है। वायुपुराण के अनुसार वैशम्पायन की शिष्य परम्परा में ८६ याजुष शाखाओं का प्रवचन हुआ है—

---

१. ३४।२-१३

वैशम्पायनगोत्रोऽसौ यजुर्वेदं व्यकल्पयत् ।
षडशीतिस्तु येनोक्ताः संहिता यजुषां शुभाः ॥
षडशीतिस्तया शिष्याः संहितानां विकल्पकाः ।
सर्वेषामेव तेषां वै त्रिधा भेदाः प्रकीर्तिताः ॥[1]

उपर्युक्त प्रमाणों से यजुर्वेद की १०९ शाखाएँ कहीं गयी है, परन्तु वर्तमान् समय में यजुर्वेद की ५ शाखाएँ है—

(१) तैत्तिरीय (२) कठ–कपिष्ठल (३) मैत्रायणी (४) वाजसनेय (५) काण्व

शाखा वर्णन—शुक्लयजुर्वेद की पंद्रह शाखाएँ हैं। शुक्लस्य यजुषः पञ्चदश शाखाः ताः स्मृताः—यह कात्यायन मुनि का वचन यजुर्वेद की पन्द्रहशाखाओं का बता रहा है। आधुनिक विद्वान् पं भगवद्दत्त जी ने भी सर्वमान्य १५ शाखाओं का उल्लेख किया है।

जबाल शाखा—संहिता एवं ब्राह्मण अनुपलब्ध हैं। जाबालोपनिषद् प्राप्त है, परन्तु इसमें संदेह है कि यह अथर्ववेद का तो नहीं है ?

२. बौधेयशाखा—बोधायन, गोधेय, गोधायन, औधेय आदि अन्य भी नाम हैं—इस शाखा का आजकल कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

३. काण्वशाखा—इस शाखा की संहिता एवं ब्राह्मण उपलब्ध हैं।

४. माध्यन्दिन शाखा—इस शाखा की संहिता एवं ब्राह्मण उपलब्ध है।

५. शापेयीशाखा—इस शाखा को शापेय, शापेयी, शापीय, साफेय आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इस शाखा के विषय में अन्य विवरण अनुपलब्ध हैं।

६. तापनीय शाखा—इस शाखा का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

७. कपोल शाखा, ८. पौंड्रवत्स शाखा, ९. आवटीशाखा, १०. परमावटिका शाखा ११. वैणेयशाखा, १२—वैधेय शाखा, १३. पराशर शाखा—इस शाखा का धर्मसूत्र उपलब्ध है। १४. कात्यायनशाखा—इस शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं।

---

1. ६।१।५

१५. बैजवापशाखा—इस शाखा का गृहसूत्र उपलब्ध है।[1]

कुछ लोगों के मतानुसार शुक्लयजुर्वेद की निम्न शाखाएँ हैं।[2]

कृष्णयजुर्वेद की शाखाएँ

१. चरक शाखा—उव्वट ने अपने शुक्लयजुर्वेद भाष्य में चरकसंहिता के मंत्र, एवं सायणाचार्य ने चरक ब्राह्मण का उल्लेख किया है।

२. कठ शाखा—इस शाखा के काठकसंहिता, काठक ब्राह्मण, काठक आरण्यक, कठोपनिषद् एवं काठक गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं।

३. प्राच्य कठशाखा—इस शाखा का कोई भी वाङ्मय उपलब्ध नहीं है।

४. कपिष्ठल कठ शाखा—इस शाखा की संहिता उपलब्ध है, परन्तु अपने स्वरुप में पूर्ण नहीं है। सरस्वती भवन वाराणसी में इस शाखा के गृह्यसूत्र की हस्तलिखित पोथी है।

५. चारायणी शाखा—इस शाखा की संहिता एवं शिक्षा उपलब्ध है।

६. वारायणीय शाखा— एवं ७. वार्त्तंतवीय शाखा—इन शाखाओं का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं।

८. श्वेताश्वत्तर शाखा—इस शाखा का श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रसिद्ध ही है।

९. औपमन्यव शाखा— १०. पातंडनीय शाखां—इन दोनों शाखाओं का सम्प्रति कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

११. मैत्रायुणी शाखा—मैत्रायणीय संहिता, मैत्रायणीय ब्राह्मण मैत्रायणीयोपनीषद् और गृह्यसूत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

१२. मानव शाखा—यह मैत्रायणी शाखा की उपशाखा है, इस उपशाखा के मानव श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, गृह्यपरिशिष्ट व शुल्वसूत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं।

---

१. भा० स० को०

२. १– कण्व, २–कठ ३–पिञ्जुलकठ, ४–जृम्भककठ ५–औदलकठ ६–सपिञ्छलकठ ७–मुद्गलकठ ८–भृगलकठ ९–सौरभकठ १०–मौरसकठ ११–चञ्चुकठ १२–योग कठ १३–हंसल कठ १४–दौसलकठ १५–घोर्ष कठ

वै० सा० इतिहास रामगोविन्द त्रिवेदी

१३. **वाराह शाखा**—इस शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र के परिशिष्ट एवं गृह्य पद्धति उपलब्ध है।

१४. **दुन्दुभ शाखा**—यह भी मैत्रायणी शाखा की ही उपशाखा है इसका कुछ भी वाङ्मय प्राप्त नहीं है।

१५. **छागलेय शाखा**--इस शाखा का कोई भी ग्रन्थ साम्प्रत उपलब्ध नहीं है।

१६. **हारिद्रवीय शाखा**--इस शाखा का ब्राह्मण गृह्यसूत्र, खिल एवं उपखिल–इन ग्रंथो का केवल उल्लेख प्राप्त होता है।

१७. **श्यामायन शाखा**—इस शखा का वाङ्मय अनुपलब्ध नहीं है।

१८. **श्यामशाखा**--इस शाखा का वाङ्पय अनुपलब्ध है।

१९. **तैत्तिरीय शाखा**—इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण आरण्यक व उपनिषद् उपलब्ध हैं।

२०. **औखेयशाखा**—यह शाखा सूत्र शाखा होगी ऐसा प्रतीत होता है।

२१. **खांडिकेय शाखा**—इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध है, खांडिकेय ब्राह्मण का केवल उल्लेख प्राप्त होता है।

२२. **आपस्तम्ब शाखा**--इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध है—इस शाखा के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, उपलब्ध हैं।

२३. **भारद्वाजशाखा**—गृह्यसूत्र व श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं।

२४. **हिरण्यकेशीशाखा**—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्ब सूत्र, उपलब्ध हैं।

२५. **बौधायन शाखा**—इस शाखा के श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, शुल्ब सूत्र प्रसिद्ध ही हैं।

२६. **सत्याषाढ शाखा**—हिरण्यकेशी सूत्रों में सत्याषाढ इस प्रकार भी अभिधान है। इस शाखा के संहितादि ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

२७. **आत्रेयशाखा**—इस शाखा का वाङ्मय अनुपलब्ध है।

२८. **आलंबीशाखा**— २९. **पलंगशाखा**, ३०. **कमलशाखा**,

३१. **लंडी शाखा**। ३२. **कलाप**—अथवा कलापी शाखा

३३. **तुंबरु शाखा** ३४. **उलप शाखा**— इन शाखाओं का सम्पूर्ण वाङ्मय अनुपलब्ध हैं।

३५. वैखानसशाखा—इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध है। परन्तु इस शाखा के श्रौतसूत्र एवं स्मार्त सूत्र प्रसिद्ध हैं।

३६. वाधूलशाखा—इस शाखा का कुछ सूत्रसाहित्य प्राप्त होता है।

३७. आग्निवेश्यशाखा—इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् अनुपलब्ध है परन्तु कल्पसूत्र उपलब्ध हैं।

३८. कौण्डिन्यशाखा—इस शाखा का सम्पूर्णवाङ्मय अनुपलब्ध है।

३९. हारीत शाखा—इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध है। इस शाखा का उल्लेख बौधायन एवं आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में प्राप्त होता है।

इस प्रकार यहाँ तक इन शाखाओं का वर्णन किया गया है। यह शाखासम्बन्धी विवरण हमने भारतीय—संस्कृतिकोषकार के अनुसार दिया है।

शुक्ल यजुर्वेद

वाजसनेय-संहिता | काण्व-संहिता

१. वाजसनेयसंहिता--वाजसनेयसंहिता का प्रचार देश में अधिक है। इतना अन्यसंहिताओं का नहीं है। शुक्लयजुर्वेद-संहिता का ही यह नामान्तर है। याज्ञवल्क्य ने यह संहिता वाजी से प्राप्त की इस कारण इसे वाजसनेयी संज्ञा से संज्ञित किया गया।[1] और इस संहिता को मध्याह्न में प्राप्त किया। इस कारण इस शाखा का नाम 'माध्यन्दिन शाखा हुआ। भारतीयसंस्कृतिकोषकार एवं याज्ञवल्क्य चरित्रकार ने माध्यन्दिन ऋषि को वाजसनेय शाखा का प्रवचनकार कहा है।

वाजसनेय-संहिता में ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक्, १९७५ कण्डिकाएँ हैं। चरणव्यूह के नुसार कण्डिकाओं की संख्या १८८० हैं। श्रीमान् चिन्तामणराव वैद्य के मत में कण्डिकाओं की संख्या १९०० हैं। मंत्र गद्य एवं पद्यात्मक हैं। प्रथम २५ अध्यायों में अत्यन्त महत्त्वपूर्णमहायज्ञों के मंत्र हैं—प्रथम २ अध्यायों में दर्शपूर्णमास के मंत्र हैं। साथ साथ पिण्डपितृयज्ञ के भी मंत्र संगृहीत हैं। तृतीय अध्याय में नित्यअग्निकर्म, अग्निप्रतिष्ठा और प्रातः, सायंकालीन अग्निहोत्र कर्म और प्रत्येक चार-चार मास में होने वाले चातुर्मा-

---

१. विष्णुपुराण ३।५

स्याग इत्यादि इन विषयों का संग्रह है। ४ से ८ अध्याय तक सामान्यरूप से सोमयाग एवं उसके अन्तर्गत पशुयाग के विधायक मंत्र हैं। सोमयाग के व्यतिरिक्त एक दिन एवं बहुत दिनों तक चलनें वाले कतिपय यज्ञों का विधान है वाजपेययाग का भी विधान है। राजसूययज्ञ का भी विधान है। इस यज्ञ को राजा ही कर सकता है। ९ एवं १० अध्याय में उपर्युक्त दो प्रकार के सोमयज्ञों से सम्बन्धित मंत्र हैं। ११ से १८ अध्यायों में अग्निचयन विधि और उसके विधायक मंत्र है। १६ वें अध्याय में शतरुद्रिय होम का प्रसंग है। १९-२१ अध्यायों तक सौत्रामणीयाग का वर्णन है। **सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्**—सौत्रामणीयाग में सोम के साथ-साथ सुरापान का भी विधान किया गया है। पृथ्वीपति, बलाढ्य, अतुल पराक्रमी राजा ही सार्वभौम अधिपत्य के हेतु इस याग को करे। वाजसनेयी संहिता के २२ वें अध्याय में अश्वमेध यज्ञ के कारणों का सुन्दर वर्णन किया गया है—"हे ब्रह्मन्! ब्रह्मतेज से युक्त ब्राह्मणवर्ग का राष्ट्र में निर्माण हो, इस राष्ट्र में शूर, तीरंदाज मृगयाप्रवीण, महारथी ऐसे क्षत्रियवर्ग का निर्माण हो, यहाँ भरपूर दूध देनें वाली गायें, गाड़ी को वहन करनेवाले अच्छे बैल, वेगवान् घोड़े, एवं दक्ष गृहिणियों का निर्माण हो, यज्ञ के यजमान को जयशाली, रथ प्रवीण, सभापण्डित वीर पुत्र हों-- हमारी इच्छानुसार वर्षा हो--वृक्ष फलयुक्त हों हमारा योग—क्षेम होता रहे।"[1]

अन्तिम १५ अध्याय 'खिल' भाग हैं। ३० वें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है। ३१ वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुषसूक्त है। उसमें कहा है कि पुरुषयज्ञ करनें से ही विश्वोत्पत्ति हुई है। पुरुष एवं विश्व का अभेद है। ३२ से ३४ अध्याय में 'सर्वमेध' के मंत्र हैं। यह याग सर्वश्रेष्ठ है इसमें यजमान ऋत्विजों को यज्ञदक्षिणा के रुप में सर्वस्व दान करता है। और स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार कर शेष आयु को अरण्य में व्यतीत करता है। ३६-३९ वें अध्याय में प्रवर्ग्य दिये हैं। अन्तिम ४० वां अध्याय ईशावास्योपनिषद् है, यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

---

१. वाजसनेयसंहिता-२२-२२

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरंधिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयोयुवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम्॥

उपर्युक्त विवरण को हम रेखांकित रुप में और अधिक विस्तृत रुप से पढ़ सकतें है—

अध्याय	विषय
१	दर्शपूर्णमास—विधायक मन्त्र ।
२	दर्शपूर्णमासेष्टि—विषयक मन्त्र ।
३	अग्न्याधान, चातुर्मास्यादि के मन्त्र ।
४	एवं ८ में सोमयागों का वर्णन ।
९	एवं १० में वाजपेय एवं राजसूय यज्ञाङ्ग मन्त्र, अभिषेकार्थ जलादान आदि !
११ से १८ तक	अग्निचयन, उखाधारण, चितिपुष्करपर्णाद्युपधान, द्वितीय, तृतीय चतुर्थचितिमन्त्र, रुद्र, शतरुद्रिय होभ, वसोर्धारा-सम्बन्धी मन्त्र ।
१९ से २१	में सौत्रामणीयाग सुगदीन्द्राभिषेकान्त मंत्र, याज्यावि-प्रेषण मंत्र हैं ।
२२	में अश्वमेध के मंत्र,
२३	आश्वमेधिकाहुति के मंत्र
२४	अश्वमेध पशु के देवत्तासम्बन्धविधायक मन्त्र ।
२६	खिलसंज्ञक मंत्र ।
२७	पञ्चचितिकअग्निमन्त्र ।
२८	सौत्रामणियागाङ्गभूतपशुप्रयाजानुयाजप्रैषमंत्र ।
२९	आश्वमेध से सम्बद्ध यज्ञ, अवशिष्ट अश्वमेध के मन्त्र ।
३०	पुरुषमेध से सम्बद्ध मन्त्र
३१	पुरुषसूक्ताध्याय ।
३२	सर्वमेधसंबद्ध मन्त्र ।
३३	सर्वमेधिक से सप्तदशक पुरोऋगगण
३४	शिवसंकल्पादि मन्त्र ।
३५	पितृमेधसम्बन्धित मन्त्र ।
३६	प्रवर्ग्य, अग्निकाश्वमेधोपनिषत् से सम्बद्ध मन्त्र शान्ति पाठ ।
३७	महावीरसभरण अभ्यादानमन्त्र ।

अध्याय	विषय
३७	महावीरसंभरण, अभ्यादानमन्त्र ।
३८	धर्मंधुग्दोहन ।
३९	प्रवर्ग्य, में धर्मभेद होने पर प्रायश्चित्त ।
४०	ईशावास्योपनिषत् ज्ञानकाण्ड ।

वाजसनेय संहिता में प्रतिपादित कुछ स्तुतिपरक मन्त्रों को देखने से यह ज्ञात होता है कि 'ज्ञान, पाप के हेतु क्षमा, अमरत्व इत्यादि आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त करने में साधक मंत्र, यजुर्वेद में विपुल हैं जैसे—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥

ग्राम में अरण्य में, रहते हुए, सभा में बैठे हुए, इन्द्रियों की सुख-प्राप्ति के लिये किये गये पापों को इस आहुति से नष्ट करें—यह हविर्द्रव्य देव के लिये है—

वाज० सं० ३–४५

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥

पादत्राण उतारने पर पादत्राण के दोष पहननेवाले को स्पर्श नहीं करते, स्वेद आने के बाद स्नान किये हुए पुरुष को स्वेद का दोष नहीं बाधता, कम्बल से छना घी शुद्ध होता है, उसी प्रकार पातकों को जल से दूर करें—अर्थात् मुझे शुद्ध करें ।

वाज. (२०–२०)

काण्वसंहिता

शुक्लयजुर्वेद की एक अन्यतम शाखा 'काण्व' भी है । कण्व से द्वारा प्रवर्तित, प्रचारित, शाखा काण्व शाखा है ।

इस सम्प्रदाय में 'ष' का उच्चारण ष ही रहता है 'ख' नहीं होता । यथा—एष वः कुरवो राजा एष वः पाञ्चालो राजा' । इस संहिता का प्रचार प्रमुख रुप से महाराष्ट्र में हैं । उत्तर—मध्यभारत में न्यून है । इस संहिता में ४० अध्याय हैं, विषय प्रतिपादन अत्यन्त सुसम्बद्ध हुआ है । ३९ अध्यायों में विस्तृत प्रकार से कर्मों का कथन हुआ है, एवं अन्तिम अध्याय प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या–प्रतिपादक—ईशावास्योपनिषद् का है ।

कण्व-संहिता के अध्यायादि

अध्याय	अनुवाक	मन्त्र	अध्याय	अनुवाक	मन्त्र
१	१०	५०	२१	७	१०६
२	७	६०	२२	८	७५
३	९	७६	२३	६	६०
४	१०	४९	२४	२१	४७
५	१०	५५	२५	१०	६७
६	८	५०	२६	८	४४
७	२२	४०	२७	१५	४५
८	२२	३२	२८	१२	१४
९	७	४६	२९	६	५०
१०	६	४३	३०	४	४६
११	१०	४७	३१	७	५१
१२	७	८५	३२	६	८४
१३	७	११६	३३	२	४६
१४	७	६५	३४	८	२३
१५	९	३५	३५	४	५५
१६	७	८५	३६	१	२४
१७	८	६४	३७	३	२०
१८	७	८६	३८	७	२७
१९	९	४३	३९	९	१२
२०	५	४६	४०	१	१८

अध्याय ४०   अनुवाक ३२८   मन्त्र २०८६

शुक्लयजुर्वेद के ग्रन्थ

ब्राह्मण—

१—माध्यन्दिनीयश—तपथब्राह्मण ।

२—काण्वशतपथ—ब्राह्मण ।

आरण्यक

१—बृहदारण्यक (काण्वशाखीय) ।

२—बृहदारण्यक (माध्यन्दिनवाजसनेयशाखीय) ।

श्रौतसूत्र

१—कात्यायन—श्रौतसूत्र

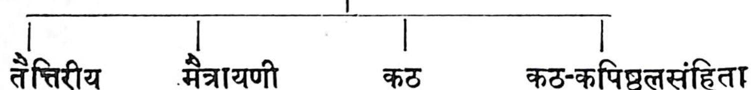
गृह्यसूत्र

१—पारस्करगृह्यसूत्र ।

व्याकरण

१—शुक्लयजुः प्रातिशाख्य ।

कृष्णयजुर्वेद



वर्तमान समय में कृष्णयजुर्वेद की प्रतिनिधि संहिता तैत्तिरीय संहिता है। ऋषि तित्तिर, वैशम्पायन के शिष्य थे, उनके द्वारा प्रोक्त (प्रकट) होने के कारण तैत्तिरीय संहिता यह अभिधान हुआ है। पाणिनि एवं महर्षि पतंजलि ने तित्तिर ऋषि का उल्लेख किया है। महाभारतकार ने ऋषि तित्तिर को युधिष्ठिर के दरबार का सभासद कहा है। इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं। कृष्णयजुर्वेद की प्राप्त संहिताओं में ब्राह्मणभाग भी अनुस्यूत है। इस संहिता में काण्ड प्रपाठक, एवं अनुवाकों का क्रम निम्नलिखित है—

काण्ड — ७

प्रपाठक — ४४

अनुवाक — ६३१

कण्डिका (मन्त्र) २१६८ (१०१८)

तैत्तिरीय संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण एकत्र (मिश्रित) है। इस संहिता में वाजसनेयी संहिता के समान ही पुरोडाश, याजमान, राजसूय, वाजपेयादि विषयों का प्रतिपादन हैं। इसके छह काण्डों के नाम इस प्रकार है—

(१) प्राजापत्य (२) सौम्य (३) आग्नेय
(४) वैश्वदेव (५) स्वायम्भुव, (६) स्वबारुण

लौगाक्षि स्मृति में इसके विषय-विभाग का निरुपण इस प्रकार किया गया है—

तानि काण्डानि वेदस्य प्रवदामि च स्फुटम् ।
पौरोडाशो याजमानं होतारो हौत्रमेव च ॥
पितृमेधश्च कथितो ब्राह्मणेन च तत्परम् ।
तथैवानुब्राह्मणेन प्राजापत्यानि चोचिरे ॥
तत्काण्डौघविशेषज्ञा वसिष्ठाद्या महर्षयः ।
तद्विशेष — प्रकाशार्थं सम्यगेतद्विविच्यते ॥
पौराडाशा इषेत्याद्या अनुवाकास्त्रयोदश ।
तद् ब्राह्मणं तृतीयस्यां प्रत्युष्टं पाठकद्वयम् ॥
एवं चतुश्चत्वारिंश काण्डानां तैत्तिरीयके ।
महाशाखाविशेषेऽस्मिन् कथिता ब्रह्मवादिभिः ॥

उपर्युक्त संदर्भ के अनुसार तैत्तिरीय संहिता में विषय इस प्रकार हैं। प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, अग्न्याधान, राजसूय इत्यादि यज्ञावश्यक मंत्रों का उल्लेख है। द्वितीय काण्ड में काम्यपशु, काम्येष्टियों का विधान है। तृतीय काण्ड में गद्य-पद्य मिश्रित होने से उसे 'औपानुवाक्य' कहा गया है। चतुर्थ काण्ड में चयन सम्बन्धी मंत्र हैं, जिनका विधान-ब्राह्मण पंचम काण्ड में है, षष्ठ, सप्तमकाण्ड में अहीन, अश्वमेध आदि यागों का विधान है।

मैत्रायणी संहिता

कृष्णयजुर्वेद की अन्य शाखा मैत्रायणी शाखा हैं। यह संहिता भी गद्य पद्यात्मक है। हरिवंश के ३४ वें अध्याय में वर्णन है कि—मित्रयुऋषि से प्रवर्तित मैत्रायणी शाखा हैं।

दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृप ।
मैत्रायणी ततः शाखा, मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः ॥

इसका प्रचार मयूरपर्वत (नाशिक के समीप) से प्रारम्भ होकर गुर्जर (गुजरात) प्रान्त तक है—

"मयूराद्रिं समारभ्य यावद् गुर्जरदेशतः ।
व्याप्य वायव्यदेशं वै, शाखा मैत्रायणी स्थिता ॥"

यह संहिता चार काण्डों में विभक्त है—

(१) **प्रथम काण्ड**—इसमें ग्यारह प्रपाठक हैं। जिनमें क्रमशः—दर्शपूर्णमास, अध्वर, ग्रह, यजमान, ब्राह्मण, अग्नि, उपस्थान, आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र ब्राह्मण, चतुर्होता, चातुर्मास्य, वाजपेयादि विषय हैं।

(२) **द्वितीयकाण्ड**--इसमें तेरह प्रपाठक हैं—

जिनमें क्रमशः एक से चतुर्थकाण्ड तक काम्य इष्टियाँ हैं। पञ्चम प्रपाठक में—काम्यपशुयाग हैं। षष्ठ में राजसूय याग हैं। एवं सप्तम से त्रयोदश प्रपाठकों में अग्निचयन कर्म है।

तृतीयकाण्ड—इस काण्ड में सोलह प्रपाठक हैं। इनमें क्रमशः प्रथम प्रपाठक से पंचम तक अग्निचयन ब्राह्मण है। षष्ठ एवं सप्तम में अध्वरादि विधि हैं। आठ से ग्यारह प्रपाठकों में असुर, सङ्क्रान्त, पात्नीवत, सौत्रामणि है। बारह से सोलह प्रपाठकों में अश्वमेध का वर्णन प्राप्त है।

चतुर्थ काण्ड—इस काण्ड में चतुर्दश प्रपाठक हैं। प्रथम में—पुरोडाश ब्राह्मण हैं। द्वितीय में--गोनामिक, तृतीय एवं चतुर्थ प्रपाठक में राजसूय ब्राह्मण हैं। पञ्चम से अष्टमतक अध्वरादि विधि हैं। नवम में प्रवर्ग्य हैं। है। दशमप्रपाठक से चतुर्दश प्रपाठक तक—याज्यानुवाक्या हैं।

मैत्रायणी संहिता

काण्ड—	४
प्रपाठक—	५४
मन्त्र—	३१४४

कठ संहिता

कृष्णयजुर्वेद की तृतीय शाखा—कठशाखा है। **ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च**[1]—इस महाभाष्य की पंक्ति से कठ संहिता का सर्वव्यापित्व-निर्दिष्ट किया गया है। उत्तर प्रान्त एवं कश्मीर प्रान्त में इसके अध्येता प्राप्त होते हैं।

तैत्तिरीयसंहिता के समान ही इसमें मन्त्र, ब्राह्मण दोनों का संग्रह है, इसमें पाँच काण्ड हैं—जिनकी संज्ञा—(१) इठिमिका (२) मध्यमिका (३) ओरिमिका, (४) याज्यानुवाक्या (५) अश्वमेधीयानुवचन है।

---

१. व्याकरणमहाभाष्य--४।३।१०१

प्रथम इठिमिका—इस काण्ड में अष्टादश स्थानक हैं—जिनके नाम क्रमशः—

१. पुरोडाश २. अध्वर ३. ज्योतिरिक ४. ग्रह ५. याजमान ६. अग्निहोत्र ब्राह्मण ७. आलोमी ८. दिशस्स्थानक ९. उत्सीदन १०. अग्निविष्णु ११. मारुत १२. पयस्स्थानक १३. पशुबन्ध १४. वाजपेय १५. श्रीराजसूय १६. अग्निविशका १७. ध्रुवक्षिति १८. चमा—इन विषयों को क्रम से प्रत्येक स्थानक से सम्बद्ध करना चाहिये।

मध्यमिका—इसमें द्वादश स्थानक हैं १. सावित्र २. अपेतवीत ३. पञ्चचूड़ ४. स्वर्ग ५. दीक्षित ६. साक्षीति ७. इषु ८. धिष्ण्य ९. वाचस्पति १०. आयुष्य ११. दीर्घजिह्वा १२ पात्नीवत् इन विषयों को क्रमशः प्रत्येक स्थानक से सम्बद्ध करना अभीष्ट हैं।

ओरिमिका—इसमें दशस्थानक हैं।

१. पुरोडाश ब्राह्मण २. यजमानब्राह्मण ३. सत्र ४. एकादशिनी ५. प्रायश्चित्ति ६. चातुर्मास्य ७. सव ८. सौत्रामणी ९. पदस्कंद १०. हिरण्यगर्भ। प्रत्येक विषय को क्रमशः प्रत्येक स्थानक से सम्बद्ध समझना चाहिये। चतुर्थ काण्ड की याज्यानुवाक्या तो ओरिमिका में ही अन्तर्भूत हैं।

अश्वमेधीयानुवचन—इसमें त्रयोदश अनुवचनों का संग्रह है। प्रत्येक अनुवचनों के विषयशीर्षक की सूची अधोलिखित हैं—

१, पन्थानुवचन २. गणानुवचन ३. मेषानुवचन ४. मितानुवचन ५. जीमूतानुवचन ६. इन्द्रानुवचन ७. पेत्वानुवचन ८. रोहितानुवचन ९. सोमानुवचन १० नमस्कारवचन ११. अलिवम्दानुवचन १२. शादानुवचन।

कठसंहिता

काण्ड (खण्ड) संख्या	५
स्थानक संख्या	४०
अनुवचन संख्या	१३
अनुवाक संख्या	४३
मन्त्र+ब्राह्मण संख्या	१८०००
मन्त्र संख्या	३०९३

कपिष्ठल कठसंहिता

कृष्णयजुर्वेद की चतुर्थशाखा 'कपिष्ठल कठ' शाखा है। कपिष्ठल एक ऋषि विशेष हैं, जिनका उल्लेख महर्षि पाणिनि ने कपिष्ठलो गोत्रे (८।३।९१) से किया है। इस शाखा की पूर्ण संहिता उपलब्ध नहीं है— सरस्वती भवन काशी में इसकी एक प्रति खण्डित अवस्था में है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद संहिता के समान ही इस संहिता का विभाजन भी 'अष्टक' अध्यायों में हुआ होगा। काठक संहिता से सादृश्य एवं पार्थक्य त्रुटित संहिता की प्रति से होना असम्भव है, परन्तु जितना उपलब्ध है उससे यह प्रतीत होता है कि कपिष्ठलकठ में काठक संहिता से वैविध्य है। इसका प्रकाशन १९३२ में लाहौर से हुआ था।



यजुर्वेद में प्रार्थना मन्त्र
और
प्रश्नोत्तरपरक मन्त्र

यजुर्वेद अत्यन्त उपकारक वेद है इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं चित्ताकर्षक रहस्य हैं। प्रार्थना मन्त्र कुछ गद्यात्मक हैं और कुछ पद्यात्मक हैं। इन गद्यात्मक मंत्रों को 'यजुस्' कहते हैं। इसी कारण यह यजुर्वेद है ऐसा यह 'गद्य मंत्र', साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त प्रासादिक हैं। कहीं कहीं तालबद्ध भी हैं। इस वेद में प्रार्थना के द्वारा देवता का स्वरुप, लौकिक उदाहरण से सम्बद्ध कर समझाया गया है। वेद की यही परम्परा है। परन्तु जो प्रार्थनामंत्र यहाँ हम प्रस्तुत कर रहे हैं—उनको, या उनसे सम्बन्धित मंत्रों के सम्बन्ध में 'लिओपोल्ड व्हाँन श्रोडर' अपने विचार व्यक्त करते हुए कहतें हैं कि—"मंत्रों को पढ़कर पाठक, वक्ता होश में है या नहीं" इस पशोपेश में पड़ जाता है। उनका मत हम यहाँ "मराठी ज्ञानकोष" में दिये विवरणानुसार दे रहे हैं—

"अनेक बार किसी को वास्तव में यह संशय होता है—की मैं किसी स्थिरचित्त व्यक्ति के विचार सुन रहा हूँ या और किसी अन्य के। इस सम्बन्ध में आश्चर्य की बात यह है कि भ्रान्तबुद्धि के हुए पागलों के विषय में जो ग्रन्थान्तरों में विवरण प्राप्त होता है—उनमें एक ही वात को अथवा कल्पना को इन मन्त्रों के समान अनेक प्रकार से अनावश्यक पुनरुक्ति करते रहना, यह पागल विशेष है।" ये विचार उन्होंने अपनी पुस्तक Indien Litterartur And Kultur. में व्यक्त किये हैं।

परन्तु 'एल० व्ही० श्रोडर'—का यह मत स्थिर प्रज्ञा से प्रसूत नहीं है, अपितु केवल अनधिकार चेष्टा है।

प्रार्थना के स्वरुप से अनभिज्ञ व्यक्ति का ही इस प्रकार का प्रलाप हो सकता है। वेद में प्रार्थना का स्वरुप बताया गया है। प्रार्थना शब्द स्त्रीलिङ्ग है (प्र + अर्थ + णिच् + युच्)।

म० ज्ञा० को० पृ० १४५।

'प्रकर्षेण याचनं' ही प्रार्थना है। इसी के पर्याय अर्थ याचना, अभिशस्ति, अर्थना, प्रार्थना आदि हैं। अतः प्रार्थना का अर्थ व्यापक है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकतें हैं कि निष्कपट भाव से की गई याचना ही प्रार्थना है। प्रार्थना प्रभु से की जाती है। यदि प्रभु की प्रार्थना में प्रभुता न हो तो वह प्रार्थना ही क्या? द्वितीय पक्ष यह है कि वेद में विभिन्न प्रसङ्गों से देवों के स्वरुप को बताया गया है, विभिन्न उपमाओं एवं रुपकों से सम्बन्ध कर तत्तत् देवों के स्वरुप को समझाया गया है, जिससे प्रजा इस रहस्य को समझ सके। इस पर कोई विदेशी यह कहे कि "ये प्रार्थनाएँ नहीं हैं—केवल निरर्थक शब्द हैं—बुद्धि-भ्रमिष्ठ का वाचारम्भण है"—इस प्रकार उसका यह कहना अत्यन्त उपहासास्पद प्रतीत होता है। वेद ने ही सम्पूर्ण विश्व को प्रर्थना का सच्चा स्वरुप बताया है। निष्कपट होकर दूसरे को महत्त्व देना (क्योंकि वह उसका अधिकारी है) समझाया है। वेद भारतीयों का प्राण है। आज युगों-युगों से वेद ही हमारी शक्ति का स्रोत है। वही प्रजा को कर्त्तव्याकर्तव्य का निर्देश कर रहा है।

अब हम अपने प्रार्थना विषयक पक्ष को पुष्ट करनें के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहें है, जिन्हे पढ़कर पाठक स्वयं निर्णय करने में समर्थ हो सकेंगे—

पवित्र यज्ञवह्नि, अरणि से उत्पन्न होता है—अरणि से उत्पन्न होने में मन्थन, मुख्य कारण होता है। इस विधि को समझाने के लिए वेद में "जननशक्त्यात्मक" रुपक को उपस्थित किया है।

ऋत्विज् कहता है—तू, अग्नि की जन्म भूमि है, तुम दो वृषण हो (दो दर्भों को वृषणों का रुपक दिया है) तू उर्वशी है (नीचे काष्ठ खण्ड को उर्वशी कहा है) तू आयु है तू पुरुरवस् है (दोनों को स्पर्श करते हुए)। ऐसा कह कर अरणि पर मन्था रखकर घर्षण प्रारम्भ होता है। आगे का मन्त्र इस प्रकार है—"गायत्री छन्द से तेरा घर्षण करता हूँ, त्रिष्टुभ् छन्द से तेरा घर्षण करता हूँ। जगती छन्द से तेरा घर्षण करता हूँ।[1]

---

१. अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौस्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरुरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि—वाजसनेय संहिता ५।२

इस मंत्र में छन्दों के उल्लेख से कई आधुनिक नव्य मतानुयायी यह कहते हैं कि "छन्द केवल शब्द हैं" जो काम अन्य शब्द से हो सकता है वह इस शब्द से भी हो रहा है—इस कारण छन्दःशब्द अर्थहीन है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है—यह ध्यातव्य है कि वेद में प्रत्येक शब्द सार्थक हैं—यहाँ छंदःशब्द की क्या सार्थकता है उसे हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा है कि 'मन्थति गायत्रेणेति प्रतिमंत्रं त्रिः प्रदक्षिणमिति"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि तीन मंत्रों से अरणि पर मन्थन करना चाहिए। अग्नि की उत्पत्ति घर्षण से ही होगी। जितना घर्षण होगा उतनी ही शीघ्रता से अग्नि उत्पन्न होता है। गायत्री मुख्यतया तीन पादों की ही होती है—अतः तीन बार तीन मन्त्रों से यहाँ घर्षण अभिप्रेत है।

हे अग्ने, तू शरीर संरक्षण करने वाला है—मेरे शरीर का रक्षण कर। हे अग्ने! तू आयुर्दाता है—मुझे आयुष्य देता है, अग्ने तू शक्तिदाता है मुझे शक्ति दे। हे अग्ने मेरे शरीर में जो दोष (न्यून) हो, उसे दूर कर।[2]

ऊपर निर्दिष्ट उदाहरण को कौन धर्म-प्रेमी, सहृदय, भक्त उसे प्रार्थना कहने से मना करेगा। दीन बनकर प्रभू से प्रार्थना का यही निर्दिष्ट प्रकार है। अधोलिखित उदाहरण भी सर्वमंगल भावना को ही प्रस्तुत कर रहा है—इस यज्ञ से आयु, वृद्धिगत हो, इससे प्राणवायु बढ़े। चक्षु ठीक हों,—कर्ण ठीक हों,—पृष्ठ भाग की वृद्धि हो, यज्ञ वृद्धिगत हो।[3]

यह संसार है—यह मेरा परिवार है, यह मेरा पुत्र है—यह मेरा ज्ञान है आदि ये आसक्ति रुप धर्म, मन के हैं। मन के कारण ही यह संसार है। अतः इसका सुस्थिर रहना कितना आवश्यक है। निम्न उदाहरणों से स्वयं ही सिद्ध होता है—

---

१. का० श्रौ० ५।२।२।

२. तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण वाज. ३-१७

३. आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्॥ वाज. ९।२१

१—जो मन मनुष्यों को बार-बार इधर-उधर प्रेरित करता है—जैसे अच्छा सारथी घोड़ों को और लगामों द्वारा घोड़ों की तरह अपने वश में रखता है, जो हृदय में स्थित है जो—जरा से रहित एवं अत्यन्त वेगवान् है वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।[1]

"जो मन विशेष और सामान्य ज्ञान का साधन है, जो धैर्य रुप है, जो प्राणियों के भीतर अमर ज्योति है जिसके विना कोई काम नहीं किया जा सकता वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।[2]

इस प्रकार के मंत्रों को निरर्थक कहना भारतीय ज्ञान परम्परा को दूषित करने का प्रयास मात्र है। परन्तु वास्तविक स्थिति और ही कुछ है।

वेद सुधार्णव में भगवती श्रुति ने अनेक प्रकार से इस आर्यावर्त (पूर्ण विश्व) का कल्याण ही किया है गूढ रहस्यों को भी लौकिक (प्राकृत) उद्धरणों से स्पष्ट कर दिया है। अश्वमेध–यज्ञ के प्रसंग में इस प्रकार के प्रश्नोत्तरात्मक मन्त्र प्राप्त होते हैं। उन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—जिससे हमारे कथन की सत्यता सरलता से समझ में आ सकेगी। 'होता' नामका ऋत्विज् यज्ञ के अध्वर्यु से पूछ रहा है।

मार्ग में अकेला कौन भ्रमण करता है? पुनः पुनः जन्म कौन प्राप्त करता है? ठंड का उपाय क्या है? बडे धान्य पात्र को क्या कहते हैं?[3]

इन प्रश्नों का उत्तर अध्वर्यु इस प्रकार देता है। "अकेला अपने मार्ग में सूर्य जाता है। पुनः पुनः चन्द्र जन्म प्राप्त करता है। ठंड का उपाय अग्नि है। पृथ्वी सबसे पृथु धान्यपात्र है।"[4]

---

१. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

२. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

३. कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं ँ स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥ २३।४५

४. सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरवापनं महत् ॥ २३।४६–वाज०

अब अध्वर्यु, 'होता' को प्रश्न करता है—

"सूर्य के समान तेज किसका है ? समुद्र के समान जल प्रवाह किसका है ? पृथ्वी से पृथु क्या है ? जिसका माप ही नहीं वह क्या है ?[1]"

'होता', इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार करता है—"ब्रह्म, सूर्य के समान तेजस्वी है। आकाश समुद्र के समान है। पृथ्वी से बड़ा देवता इन्द्र है। गायत्री का माप नहीं है।[2]

तैत्तिरीय संहिता में भी इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[3] भक्ति-मार्ग का स्रोत भी वेद ही में प्राप्त होता है भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनके सब नाम तथा विशेषणों का आवर्तन करते रहना ही भक्ति है ।

इस भक्ति—विशेष का मूल स्रोत यजुर्वेद है। वाजसनेयी संहिता के के १६ वे अध्याय में एवं तैत्तिरीय संहिता के ४ थे अध्याय में इस भक्ति मार्ग को पाकर वेद के प्रति कृतज्ञता से मस्तक नत हो जाता है।

"हे रुद्र। हमारे पोते तथा लडकों की हिंसा न करें। हमारे आयु तथा गौ अश्वादि पशुओं की हिंसा न करें। क्रोध युक्त भी वीरों की हिंसा न करे (कारण कि) हम सब सम्पत्ति युक्त रहने पर सदैव आपकी पूजा करते है।[4]

"मैं सुवर्णहस्त, सेनानी, दिक्पति, हरितवृक्ष, पशुपति, छोटी-छोटी

---

१. किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसम सरः।
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥

२३।४७—वाज.

२. ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥

२३।४८ वाज०

३. तैत्तिरीय संहिता ३।४।१५।

४. मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हे विष्मन्तः सदमित्वा हवामहेः। वाज० १६।१६

घास की तरह रंग वाले, दीप्तिमान्, मार्गपति हरे बालवाले, यज्ञोपवीत-धारी तथा गुणियों के पतिरूप शंकर को नमस्कार करता हूं।'[१]

इस प्रकार यजुर्वेद में निहित प्रार्थनापरक मन्त्रों के अवलोकन से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भक्ति का स्रोत वेद ही है।



---

१. नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः।

वाज० सं० १६।१७

तैत्तिरीय संहितोक्त

आख्यायिका

(१) देव और अग्नि

दैत्य एवं देवों का किसी समय युद्ध चल रहा था। देवों ने पराभव की सम्भावना से अपने ऐश्वर्य और सम्पत्ति को सुरक्षित करने हेतु उसे अग्नि को दिया। अग्नि उस ऐश्वर्य से आकृष्ट होकर देवताओं से दूर चला गया। देवता युद्ध में विजयी हुए। उन्होंने अपने ऐश्वर्य को वापस लेने का महान् प्रयास किया। अग्नि रोने लगा, उसी समय अग्नि को 'रुद्र' संज्ञा प्राप्त हुई है। नीचे गिर रहे अश्रुकणों से रूप्य की उत्पत्ति होने लगी। इस प्रकार जब देवता अग्नि से अपने ऐश्वर्य को वापस लेने लगे तब अग्नि ने देवताओं से कुछ भाग देने की प्रार्थना की। देवताओं ने अग्नि को 'पुनराधान' दिया, जिससे पूषन् , त्वष्टृ, मनु, धातृ, यज्ञ करके सम्पन्न हुए। (तै० सं० १।५।१)

(२) इडा

देवों ने यज्ञ से स्वर्ग एवं अमृत का दोहन किया। यज्ञ के द्वारा असुरों से सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त किया। इसी कारण ऐश्वर्य विहीन असुरों का पराभव हुआ। देवों को स्वर्ग की प्राप्ति हुई। उस समय मनु यज्ञ कर रहा था। एक समय इडा मनु के यहाँ गयी तब देवों ने प्रत्यक्ष रूप से एवं दैत्यों ने अप्रत्यक्षरूप से इडा का आह्वान किया। इडा देवों के पास गयी, इस हेतु प्राणी भी देवों के पास गये। (तै० सं० १।७।१)

(३) वामन अवतार

त्रिलोक को हस्तगत करने के लिये देव एवं दैत्यों में युद्ध हुआ, तब विष्णु ने अपने वामन स्वरूप की आहुति दी। जिससे तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त हुआ। (तै० सं० २।१।३)

(४) वराहावतार एवं सृष्ट्युत्पत्ति

प्रारम्भ में समस्त जलमय था। इस जलमय समुद्र में प्रजापति वायु-रूप से भ्रमने लगा। तब उसे पृथ्वी का दर्शन हुआ, उसने वराह का स्वरूप धारण करके पृथ्वी को प्राप्त कर लिया। अपने जलीयभाग को विश्वकर्मा

प्रजापति को अर्पित कर दिया। तत्पश्चात् वह पृथु—विस्तृता—हुई। इसी कारण उसे पृथ्वी कहा जाता है। प्रजापति ने तपश्चर्या करके उससे देव, वसु, रुद्र, आदित्य आदि की उत्पत्ति की। तदनन्तर देवों को प्रजोत्पत्ति की अभिलाषा हुई—तब प्रजापति के कथनानुसार तपश्चर्या करके अग्नि के आश्रय से एक गाय को उत्पन्न किया। सभी देवों ने प्रयत्न पूर्वक उस गाय हेतु अग्नि को संतुष्ट किया। तत्पश्चात् उस गाय से प्रत्येक को ३३३ देव उत्पन्न हुए। इस प्रकार असंख्यात प्रजा उत्पन्न हुई।

(तै० सं० ७।१।५)

(५) ब्रह्मघ्न एवं रजःस्वला

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप देवों का अग्निहोतृ एवं असुरों का भागिनेय था। देवों को वह प्रत्यक्षरुप से एवं असुरों को गुप्त प्रकार से हविर्भाग देता था। इस प्रकार यह विश्वरुप इन्द्रपद को हस्तगत करेगा। इस शंका से अभिभूत होकर इंद्र ने उसके तीनों शिरों को अपने वज्र से काट दिया। इस कृत्य से सभी प्राणि उसे ब्रह्मघ्न कहने लगे। इन्द्र ने अपने इस दोष को तीन भागों में विभक्त किया, जिसे पृथ्वी, वृक्ष और स्त्री में स्थापित कर दिया। इसी हेतु रजस्वला स्त्री के साथ सहवास सभी परिस्थितियों में निषिद्ध है। उत्पन्न सन्तति भी दोषयुक्त होती है।

(तै० सं० २।५।१)

और भी अनेक स्थल हैं जिनके अध्ययन से प्राक्कालीन युग के विषय में ज्ञान का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। द्रष्टव्य स्थल ये हैं—

तै० सं० १।७।१, १।१।२, २।१।३, २।१।४, २।३।५, २।४।१, २।४।१२, २।५।१, २।५।८, २।६।६, ३।१।६, ५।५।४, ७।१।५, ६।४।१०,। यह तो न्यून निर्देश हैं, स्थल अनेक हो सकते हैं।



कृष्ण यजुर्वेद

ब्राह्मण

१—तैत्तिरीयब्राह्मण

आरण्यक

१—तैत्तिरीयारण्यक

श्रौतसूत्र

१—सत्याषाढ श्रौतसूत्र
२—मानव श्रौतसूत्र
३—भारद्वाज श्रौतसूत्र
४—वैखानस श्रौतसूत्र
५—बोधायन श्रौतसूत्र
६—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
७—हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र

गृह्यसूत्र

१—आपस्तम्बगृह्यसूत्र
२—मानव गृह्यसूत्र
३—हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
४—भारद्वाजगृह्यसूत्र
५—काठकगृह्यसूत्र
६—बोधायनगृह्यसूत्र
७—लोगाक्षिगृह्यसूत्र

धर्मसूत्र

१—बोधायनधर्मसूत्र
२—आपस्तम्बधर्मसूत्र

शुल्वादि ग्रन्थ

१—आपस्तम्बशुल्बसूत्र
२—बोधायनशुल्ब सूत्र

व्याकरण

१—तैत्तिरीयप्रातिशाख्य

शुक्ल-यजुर्वेद के परिशिष्ट

१—यूपलक्षण ।
२—छागलक्षण ।
३—प्रतिज्ञासूत्र ।
४—अनुवाक सूत्र
५—क्रतुसंख्यापरिशिष्ट ।
६—निगमपरिशिष्ट ।

७—चरणव्यूहपरिशिष्ट । १३—उक्थशास्त्र ।
८—श्राद्धसूत्र । १४—यज्ञपार्श्वपरिशिष्ट ।
९—शुल्बसूत्र । १५—हौत्रपरिशिष्ट ।
१०—पार्षदसूत्र १६—प्रसवोत्थान ।
११—इष्टकापूरणसूत्र । १७—गृह्यपरिशिष्ट
१२—प्रवराध्याय । १८—कूर्मलक्षण ।

सामवेद

सामतात्पर्य—साम अर्थात् स्वरों के आरोहावरोह से युक्त मन्त्रों का गान क्रिया है । **'साम'** शब्द से (ऋचाओं के) अक्षर एवं उनसे व्यक्त स्वरमालिका का ग्रहण होता हैं । **'स्वरालापन'** यह साम का प्रधान अङ्ग हैं, एवं ऋगक्षरों का उच्चारण गौण हैं । स्वरालाप नहीं ।

सामगायन के श्रवण में अक्षरमालिका ही श्रोत्रगोचर होती हैं, परन्तु वह अक्षरमालिका अप्रधान है । अपितु उनके आश्रय से श्रोत्रगोचर होने वाली 'गान क्रिया' **स्वरमालिका** ही प्रधान है । अतः **साम** स्वरप्रधान है । **साम** शब्द के निर्वचन हमें अन्यत्र शास्त्रान्तरों में दृष्टिगोचर होते हैं—कुछ **शास्त्रकारों ने गेयमंत्रों को साम कहा है—"गीतिरूपा मन्त्राः सामानि"।** महर्षि जैमिनि ने साम को गीति कहा है—'गीतिषु सामाख्या' । अर्थात् गीति को ही 'साम' की संज्ञा हैं ।

सामशब्द की व्याख्या बृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रकार की गई है—

"सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम् " ॥ (१।३।२२) । अर्थात्—"ऋचा, एवं स्वर इन दोनों को साम कहते हैं । सा+अम्=साम । 'सा' अर्थात् अक्षरसमूहात्मक ऋग्रूपी वाक्, अम् अर्थात् (अक्षरव्यतिरिक्त) केवल स्वर । 'ऋग्' अक्षरसमूहात्मक वाणी एवं स्वर का एकीकरण ही साम है—ऐसा ऐतरेयब्राह्मण का कथन है । अतः साम ऋगाश्रित ही होता है । और अन्य कोई उसका अधिष्ठान नहीं है । ऋक्, साम को दम्पती कहा है । इस सम्बन्ध में अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन इस प्रकार है—

अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं-
पृथिवी त्वं, ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहै ।
(अथर्व १४।२।७१) ऐतरेय ८।२७

इस ब्रह्मवाक्य के अर्थ से साम एवं ऋग्विषयक सभी भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

प्रथम कहा है—अम्—मैं हूँ। तुम 'ऋचा' हो (यहाँ यह ध्यातव्य है कि अम् ही स्वर है। स्वर अर्थात् अनुशासित वाक्। वाक् अमूर्त है, वह स्फुटित तभी होती है, जब अक्षर से सम्बद्ध हो। तभी उसका प्रत्यक्ष होता हैं।

आगे कहा है द्यौः अहं, पृथिवी त्वं, अर्थात् तुम पृथिवी हो और मैं आकाश हूँ, इससे भी उपर्युक्त रहस्य स्पष्ट होता है, पृथिवी अर्थात् आधार। आधार मूर्त ही रहता है। ऋग् अक्षरमातिका मूर्त है मैं आकाश हूं और ध्वनन (शब्द) आकाश का गुण है। ध्वनन ही स्वर है। अतः स्पष्ट है कि साम ऋगाश्रित ही है।

छान्दोग्योपनिषद् से स्वर का सामनिष्पादकत्व सिद्ध हो जाता है। शालावत्य का प्रश्न हैं—कि साम की गति कौन सी (का साम्नो गतिः)? दाल्भ्य कहते हैं कि 'स्वर' ही साम की गति है (स्वर इति होवाच)।

सामवेद का महत्त्व—बृहद्देवता में स्पष्ट कथन है कि जो साम जानता है वह वेद का रहस्य जानता है। भगवान् श्रीकृष्ण का गीतावचन भी इस वेद के महत्त्व कौ वृद्धिंगत करता है—वेदानां सामवेदोऽस्मि। ऋग्वेद का कथन है—जो व्यक्ति जागरणशील है उसी से साम प्राप्त होते हैं—"यो जागार तमु सामानि यन्ति।[1]" अथर्व वेद भी सामवेद की प्रशंसा करता है। अथर्ववेद का कथन है कि साम परब्रह्म का लोभ है—"सामानि यस्य लोमानि"।[2] अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर परब्रह्म से ही साम का प्रादुर्भाव बताया है।[3]

उपरिलिखित उद्धरणों से सामवेद का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। साम शब्द के अर्थ एवं उसके महत्त्व का निश्चय होने पर 'सामवेद के मंत्रों के विभागक्रम की जिज्ञासा होती है—उस जिज्ञासा का उपशमन हम इस प्रकार कर रहे हैं। सामवेद संहिता में चार आर्चिक ग्रन्थ हैं—

(१) छन्द (२) आरण्यक (३) महानाम्न (४) उत्तर

एक स्तोभ ग्रन्थ हैं। चार गानविषयक प्रधान ग्रन्थ हैं—

---

१. ऋग्वेद ५।४४।१४
२. अथर्ववेद ९।६।२
३. अथर्ववेद ११।७।२४

१—गेय २—आरण्य ३—ऊह ४—ऊह्य

चार परिशिष्ट ग्रन्थ हैं— १. महानाम्न २. भारुंड ३. तवश्यावीय ४. गायत्र। इतने समूह को सामवेद संहिता कहा जाता हैं। सामवेद की देवता रुद्र है, छंद जगती और आदित्य वर्ण है। हेमाद्रिकार ने सामवेद का स्वरूप निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

नीलोत्पलदलाभासः सामवेदो हयाननः।
अक्षमालान्वितो दक्षे वामे कम्बुधरः स्मृतः॥

सामवेदशाखाविस्तर

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में सामवेद की १००० शाखाओं का उल्लेख किया है 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'। बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में सामवेद की १०८० शाखाओं का उल्लेख प्राप्त होता है—साशीतिसहस्रधा भिन्ना। चरणव्यूहकार आचार्य शौनक ने कहा है कि सामवेद की १००० शाखाएँ थी, परन्तु शिष्यों द्वारा प्रमाद से अनध्याय के दिन उनका अध्ययन होने से वे शाखाएँ इन्द्र के वज्र प्रहार से नष्ट हो गई।[1]

संहिता स्वरूप विचार

शाखा से सम्बद्ध ज्ञान प्राप्त होने पर सामवेद संहिता की जो परम्परा वर्तमान है, उसका स्वरूप ज्ञात करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रथमतः हम सामवेद का स्वरूप परिचय देते हैं–सामवेद संहिता के दो भाग हैं—(१) आर्चिक (ऋचा संग्रह) (२) उत्तरार्चिक! इन दो भागों में जो ऋचाएं हैं उनमें अधिकाधिक ऋचा ऋग्वेदान्तर्गत हैं। कुल १८७५ ऋचाओं में ९९ ऋचाओं को छोड़कर सम्पूर्ण ऋचायें ऋग्वेद संहिता की हैं। इन ऋचाओं में अधिकाधिक गायत्री[2] छन्द हैं! सामवेद के प्रथम भाग में अर्थात् आर्चिक में ६५० ऋचायें हैं। इन्हीं में यज्ञोपयोगी विभिन्न छन्दों का विधान हैं।

यूरोपीय विद्वान् कहते हैं कि निम्न स्वर में पद्य को कहा गया, परन्तु वास्तव में वह दृष्टिकोण अशुद्ध है क्योंकि पद्य की योग्यता के अनुसार राग

---

१. सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति।
एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः॥

२. गायत्री—गै-गाने धातु से निष्पन्न हैं, इससे भी सिद्ध है कि सामवेद की अधिकतर ऋचायें गेय (संगीतबद्ध) हैं।

का गान सम्भव होता है–अतः सामवेद में भी ऋचाओं से राग निकलता है, इसी कारण ऋचा को योनि संज्ञा है। परन्तु इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या एक छन्द अनेक ऋचाओं में प्रयुक्त हो सकता है? यह कहना भी ठीक है, परन्तु कुछ निश्चित ऋचाओं को ही निश्चित छन्दों की योनि कहा है।

सामवेद का दूसरा भाग उत्तरार्चिक है—इसमें तीन-तीन ऋचाओं के ४०० गान हैं। २८७ पद्य तीन-तीन ऋचाओं के हैं, ६६—दो-दो ऋचाओं के हैं, १० छः-छः ऋचाओं के हैं, ६ चार–चार ऋचाओं के हैं, ४ पाँच-पाँच ऋचाओं के हैं, ३ नौ-नौ ऋचाओं के है, ३ दस-दस ऋचाओं के हैं, २ सात सात ऋचाओं के हैं, ३ ही १२ बारह–बारह ऋचाओं के हैं, और एक ८ ऋचाओं का है आर्चिक में छन्दोनुरोध से ऋचाओं का क्रम है, और उत्तरार्चिक में देवानुरोध से ऋचाक्रम दृष्टिगत होता है।[1]

उपरिलिखित विवरण से अल्प किन्तु सामवेद का स्पष्ट स्वरूप ज्ञात होता है।[2] क्रम प्राप्त अब हम सामवेद की प्राप्त शाखाओं का परिचय प्रस्तुत करते हैं—इस समय साम की तीन शाखाओं का अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। उनके नाम इस प्रकार हैं (१) कौथुम संहिता (२) राणायनीय-संहिता (३) जैमिनीय संहिता। कौथुम संहिता गुजरात प्रदेश में प्रसिद्ध हैं। राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है, और जैमिनीय शाखा केरल प्रान्त में प्रसिद्ध है।

(१) कौथुम संहिता—इस संहिता के पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक दो-दो खण्ड हैं। पूर्वार्चिक को ही छन्दस् भी कहते हैं। इस पूर्वार्चिक के आग्नेय,

---

१. मराठीज्ञानकोष पृ० १४८

२. कुछ वेदज्ञ कहते हैं कि सामवेद ऋचाओं का संग्रह नहीं है। अर्थात् सामवेद में उद्धृत मंत्र ऋग्वेद के नहीं हैं उन लोगों के प्रमाण स्वरूप हम दो प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं —

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा हैं 'या ऋक् तत् साम'।

(छां० उ० १।३।४)

छान्दोग्य का ही दूसरा वचन 'ऋचि अध्यूढं साम' (छां० उ० १।६।१)

ये वचन इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वेदादि मन्त्रों का समूह सामवेद है।

ऐन्द्र, पवमान, आरण्यक, ये चार भाग हैं। इनको पर्व भी कहते हैं। पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक के दो खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में एक दशती (दस मन्त्रों के समूह) की संज्ञा हैं। प्रथम प्रपाठक का आग्नेय पर्व नाम है। इसमें अग्नि देवताविषयक मन्त्रों का संकलन है। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक इन्द्रविषयक मन्त्रों का संकलन है। इसे ऐन्द्र पर्व कहते हैं। पंचम प्रपाठक को पवमान पर्व कहते हैं।

षष्ठ प्रपाठक को 'आरण्यक' पर्व कहते हैं। प्रथम प्रपाठक से पंचम प्रपाठक को 'ग्रामगान' कहते हैं।

इस षष्ठ प्रपाठक के अन्त में महानाम्नी नामक १० दस ऋचायें हैं।

पर्व	मंत्र संख्या
आग्नेय पर्व	११४
ऐन्द्र पर्व	३५२
पवमान पर्व	११९
आरण्यक पर्व	५५
महानाम्नी	१०

उत्तरार्चिक में ९ प्रपाठक हैं! इनमें प्रथम पाँच प्रपाठकों के दो खण्ड हैं, और अन्तिम ४ प्रपाठकों में प्रत्येक के तीन खण्ड हैं! उत्तरार्चिक के विषयानुसार सात विभाग हैं—प्रथम-दशरात्र, द्वितीय-संवत्सर, तृतीय-एकाह, चतुर्थ-अहीन, पंचम-सत्र, षष्ठ-प्रायश्चित्त, 'सप्तम-क्षुद्र', ।

उत्तरार्चिक में समस्त मन्त्रों की संख्या १२२५ है! पूर्व एवं उत्तरार्चिकों के मन्त्रों की संख्या १८७५ हैं।

(२) राणायनीय शाखा—इस शाखा का प्रचार महाराष्ट्र में है। इस शाखा में मन्त्रों की संख्या कौथुम शाखा के समान ही १८७५ हैं। परन्तु कुछ वेदज्ञ यहाँ मन्त्रों की संख्या कम कहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार मन्त्रों की पुनरावृत्ति हुई है। तब मन्त्र संख्या १५४९ दोनों ही संहिताओं कि एक ही है परन्तु यहां हमारा मत भिन्न है। क्योंकि यह कहना की मंत्रों का पुनरावर्तन हुआ है, उचित नहीं है, क्योंकि इनके मत में तो पुनरावृत्ति हुई है, परन्तु वास्तव में तत् तत् यज्ञीय विधानों में पठित मन्त्रों के विनियोग भिन्न-भिन्न होते हैं। उस कारण वे मन्त्र पुनरावृत्त नहीं कहे जा सकते। दोनों शाखाओं में उच्चारण पद्धति भी भिन्न है—कौथुमीयवैदिक

जहाँ 'हा, उ, अ, आ, इ, ऐसा उच्चार करते हैं, वहीं राणायनीय वैदिक 'हा, वु, व, या, यी' इस प्रकार का उच्चारण करते हैं।

(३) जैमिनीय शाखा – जैमिनीय शाखा के समस्त ग्रन्थ आज उपलब्ध होते हैं। कौथुम और जैमिनीय संहिता में कुछ भेद है। जैमिनीय संहिता में कौथुम शाखा की अपेक्षा एक हजार अधिक साम गान हैं। कौथुम गान केवल २७२२ हैं, परन्तु इसके स्थान पर जैमिनीय गान ३६८१ हैं। तवलकार इसकी एक अवान्तर शाखा हैं, जिससे सम्बद्ध प्रसिद्ध केनोपनिषद् है।

सामवेद की परम्परा

सामगान की परम्परा लिखना साहस है। परन्तु प्राप्त प्रमाणों से इसका ज्ञान हो सकता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि सामगान 'ऋचाओं पर' गाया जाता है। इस हेतु प्रथम ऋग्वेद का निर्माण हुआ, तदनन्तर सामवेद का सर्जन हुआ। परन्तु इस प्रकार समझना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में ही सामवेद की, ऋग्वेद, यजुर्वेद, के साथ ही उत्पत्ति कही गई है। इसके व्यतिरिक्त भी अनेक उल्लेख हैं, जिनके द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'ऋग्यजुः सामाथर्व युगपत् उत्पन्न हुए हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में हम यहाँ सामवेद के व्यतिरिक्त वेद वाङ्मय के उन संकेतों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनका अवलोकन करके पाठक सुस्थिर हो सकेगा। सर्वप्रथम ऋग्वेद में पठित सामवेद विषयक सामग्री का निर्देश किया जा रहा है।

१. अर्क से साम विभक्त होता है—अर्केण साम प्रतिमिमीत। (ऋ० १।१६४।१)

२. अंगिरससाम से स्तुत देवता—अंगिरसां सामभिः स्तूयमाना देवाः। (ऋ० १।१०७।२)

३. सामगायकों के समान दोनों प्रकार की वाणी गायत्र एवं त्रैष्टुभ का गान करती है। उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं अनुराजति (ऋ० २।४३।१)

४. हेमरुत्! सामों का विविध प्रकार से प्रथन करने वालों की रक्षा करो—सामविप्रं ऋषिं अवथ (ऋ० ५।५४।१४)

५. साम से जैसे धर्म को उत्तप्त किया जाता है वैसे ही इन्द्र के लिए बृहत्साम का गान करो–सामन् धर्मं तपत गिर्वणसे बृहत् गायत (ऋ० ८।८९।७)

६. शुद्ध साम से हम शुद्ध इन्द्र का स्तवन करते हैं–शुद्धेन साम्ना शुद्धमिन्द्रं स्तवाम (ऋ० ८।९५।७)

७. स्तुतिमान् बृहस्पति सामगायन से पूजित हो–ऋक्वः बृहस्पतिः सामभिः अर्चतु (ऋ० १०।३६।५)

८. हे इन्द्र ! 'नभन्य' साम जैसे तुम्हें अभीष्ट हो वैसे ही उद्गाता गाता है–नभन्यं साम गायत् (ऋ० १।१७३।१)

९. इन्द्र का साभ दुष्प्राप्य है—'यस्य साम चित् दुष्ठरं' (ऋ० १०।९३।२)

१०. उस यज्ञ से ऋक् और साम उत्पन्न हुए—तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे (ऋ० १०।९०।८)

यजुर्वेद में पठित सामनामावली

१–रथंतर, २–बृहत्, ३–वैरूप, ४–वैराज, ५–वैखानस, ६–गायत्र, ७–गौरिवीत, ८–अभिवर्त्त, ९–क्रोश, १०–सत्र्यस्यर्धि, ११–प्रजापतेर्हृदय, १२–श्लोक, १३–अनुश्लोक, १४–भद्र, १५–राजन्, १६–अकर्य, १७–इलांद, १८–शाक्वर, १९–रैवत ।

ऐतरेय ब्राह्मण में पठित सामनामावली

१–बृहत्, २–रथंतर, ३–वैरूप्य, ४–वैराज, ५–शाक्वर, ६–रैवत, ७–गायत्र, ८–श्यैत, ९–नौधस, १०–रौरव, ११–यौधाजय, १२–अग्निष्टोमसाम, १३–भास, १४–विकर्ण ।

उपर्युक्त उद्धरणों के अवलोकन से यह सहज ही सिद्ध हो गया है कि चतुर्वेद युगपत् ही प्रादुर्भूत हुए हैं ।

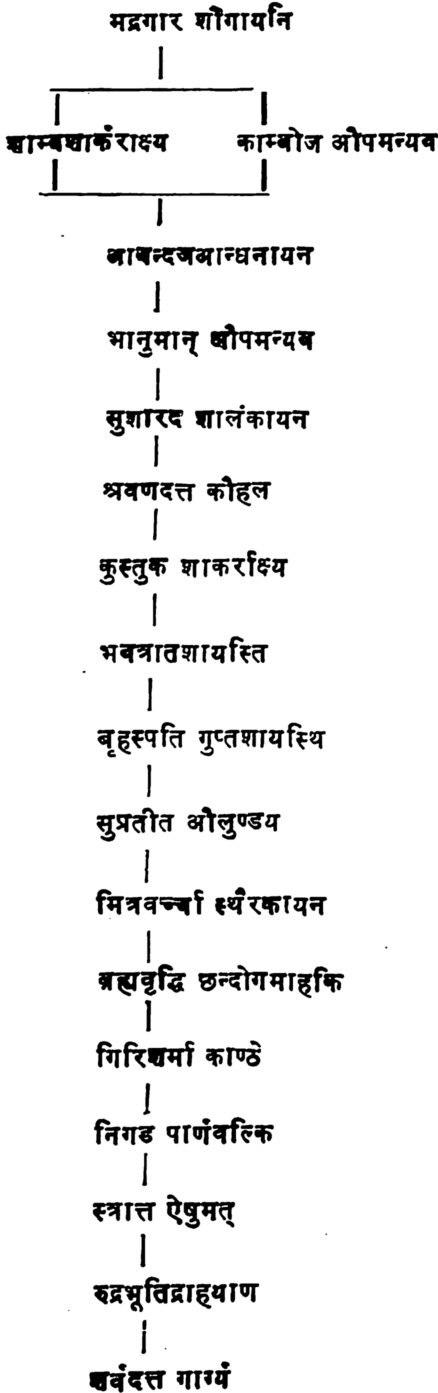
सामप्रवर्तक ऋषि परम्परा

ब्रह्मा के मुख से वेदों का प्रादुर्भाव वैदिक ऋषिप्रज्ञा को हुआ । अतः प्रत्येक वेद का सम्बन्ध ब्रह्मा ही से है । वही उपदेशक हैं । वंश ब्राह्मण में सामविद्या की प्रमाणिक वंशावली है, जो सम्पूर्ण परम्परा को, सामप्रवर्तक ऋषियों को स्पष्ट कर देती है । इस परम्परा में राधगोतम ऋषि से दो भिन्न शिष्य परम्परा विकसित हुईं । प्रथम परम्परा का अंशुधानंजय जिसने अपनी विद्या दो ऋषियों (राधगौतम एवं अमावास्य (शाण्डिल्यायन) से सम्पादित की थी । अमावास्य शाण्डिल्यायन कौन था । उसका अध्ययन कहाँ हुआ ? इन विषयों का इस ब्राह्मण में उल्लेख नहीं है ।

ब्रह्मास्वयम्भू→प्रजापति→ मृत्यु→ वायु→ इन्द्र→ अग्नि→ कश्यप→काश्यप→ विभाण्डककाश्यप→ मित्रभूकाश्यप→ इन्द्रभूकाश्यप→ अग्निभूकाश्यप→ शवस्→ देवतरसशावमायन→ प्रतिथिदेवतरस→ निकोथकभायजात्य→ वृषशुष्ण वात्तावत्त→इन्द्रोतशौनक→ सादृत्ति ऐन्द्रोतशौनक→अराल दार्त्तेय शौनक→ शूषवाहनेयभारद्वाज→सुमन्त बाभ्रवगौतम→आरैहुण्य राजन्य वासिष्ठ→चैकितानेय वासिष्ठ→ स्थिरक गार्ग्य→मशक गार्ग्य→उदरशाण्डिल्य[1]→गर्दभीमुख शाण्डिल्य→ विचक्षणे ताण्डव→ शाकदास भाडितायनसंवर्गजित् लामकायन→गातागौत्तम→ राधगौत्तम से दो शिष्य परम्परा विकसित हुई—

राधगौतम अमावास्य शाण्डिल्यायन
|
अंशुधानंजय
|
सुतेमना
|
सुनीथकापटव
|
मित्रविद कौहल
|
केतु वाज्य
|
प्रातरन्ह कौहल
|
सश्रवा वार्षगण्य
|
साति रौष्ट्राक्षि
|

१. उदरशाण्डिल्यायन ऋषि को विद्या—मशकगार्ग्य एवं शौनक से प्राप्त हुई थी।


मद्रगार शौंगायनि
शाम्बशार्कराक्ष्य
काम्बोज औपमन्यव
आनन्दजआन्धनायन
भानुमान् औपमन्यव
सुशारद शालंकायन
श्रवणदत्त कौहल
कुस्तुक शार्कराक्ष्य
भवत्रातशायस्ति
बृहस्पति गुप्तशायस्थि
सुप्रतीत औलुण्डय
मित्रवर्चा स्थैरकायन
ब्रह्मवृद्धि छन्दोगमाहकि
गिरिशर्मा काण्ठे
निगड पार्णवल्कि
स्त्रात्त ऐषुमत्
रुद्रभूतिद्राह्यायण
सर्वदत्त गार्ग्य

द्वितीय शिष्य परम्परा

राधगौतम
|
गोभिल
|
बृहद्वसु गोभिल
|
गोल्गुलवीपुत्र गोभिल
|
वत्समित्र गोभिल
|
मूलमित्र गोभिल
|
वरुणमित्र गोभिल
|
अश्वमित्र गोभिल
|
पूषमित्र गोभिल — अर्यमराधा गौतम
|
संकर गौतम
|
पुष्ययशा औदव्राज
|
भद्रशर्मा कौशिक
|
अर्यमभूतिकालबव
|
नयम्
|

कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लिखित सामप्रवर्त्तक ऋषि—

कौत्स	राणायनीपुत्र
क्षैरकलंभि॰	लामकायन
गार्ग्य	वैयाघ्रपाद
गौतम	शाण्डिल्य
धानंजय	शाण्डिल्यायन
भाण्डितायन	शौचिवृक्षि
मशक	स्थविरगौतम

सामों की नामकरण पद्धति

पूर्व संगृहीत साम नामवली अत्यन्त न्यून है। सामवेद में देढ़ हजार से अधिक ऋचाएं हैं। उनका गान कैसे हो? किस साम से हो? इसका स्पष्टीकरण सायणाचार्य ने अपने भाष्य में किया है। कतिपय ऋचाओं को दो या तीन सामों पर गान करने की पद्धति को भी स्पष्ट किया है। प्रत्येक साम का अपना स्वतन्त्र नाम है। कुछ सामों के नाम ऋचा के छन्दों के आधार पर हैं। जैसे वृहतीछन्दआत्मक ऋचापर गान किये गए साम का नाम 'बृहत्' और त्रिष्टुप्छन्दआत्मक ऋचा के आश्रय से पठित नाम 'त्रैष्टुभ्' है। कुछ सामों के ऋचा के प्रथम अक्षर को लेकर साम का नाम है। कुछ साम, द्रष्टा ऋषियों के नामानुसार है। सामवेद संहिता में लगभग २५०० साम संख्या है।

सम्पूर्ण सामों की नामावली देना असम्भव है। परन्तु कुछ सामों के नाम देना आवश्यक भी है, जिससे पाठक स्वयं परिचित हों, एवं संगीत शास्त्र के अन्वेषक प्राचीन रागों से भी परिचय प्राप्त कर सकें।

आत्रेय, आदित्य, औपगम, काण्व गौतम मौक्ष, अक्षर, अनूप, दीर्घ, महाकालेय, पुरीष, आदि हजारों संज्ञाएँ हैं, जिनके नामों में सामवेद की प्रकृति के अनेक रहस्य अपह्नुत हैं।

सामविकार

सामवेद में गान के अनुकूल ऋचा में जो शाब्दिक परिवर्तन होता हैं उसे सामविकार कहा जाता है। किसी भी ऋचा पर गान करते समय उसके

छन्द पर अनेक क्रियाएँ होती हैं, जिससे गानानुकूल ऋचा प्राप्त हो जाती है। जैमिनिसूत्रभाष्यकार शबरस्वामी (जै० सू० ६।२।२७) ने सूत्र के भाष्य में इस विषयकी विस्तृत चर्चा की है। विकार की मुख्य क्रियाएँ ६ प्रकार की हैं—

१. विकार २. विश्लेष, ३. विकर्षण, ४. अभ्यास, ५. विराम ६. स्तोभ।

१. 'विद्यमानवर्णस्थाने वर्णान्तरोच्चारणम् विकारः' ऋचा में विद्यमान शब्द या अक्षर के स्थान पर गानानुकूल शब्दोच्चारण विकार है—

जैसे—'अग्न' इस शब्द का सामान्तर्गत विकार 'ओग्नायि' होगा।

२. विश्लेष—'संधिविच्छेदो विश्लेषः' अक्षर अथवा पदों का आवश्यकतानुसार विच्छेद करके कहना ही 'विश्लेष' है—

जैसे—'वीतये' का विश्लेषान्तर्गत रूप—

'वोयितोया २ यि' होगा।

३. विकर्षण—ह्रस्वस्थान में दीर्घ उच्चारण और दीर्घस्थान में प्लुत उच्चारण विकर्षण कहलाता है—'ह्रस्वस्थाने दीर्घोच्चारणम् दीर्घस्थाने प्लुतोच्चारणं विकर्षणम्'।

४. अभ्यास—'द्विस्त्रिरुच्चारणमभ्यासः' किसी भी पद या अक्षर को सामप्रकृति के अनुकूल पुनरुच्चार की क्रिया को 'अभ्यास' कहा जाता है।

५. विराम—'विश्रामो विरामः' साम गान के समय कुछ क्षण रुक जाना ही 'विराम' है—

जैसे—गृणानो हव्यदातये।

इसमें 'गृणानोह' का गान करने के उपरान्त कुछ क्षण विश्राम किया जाता है।

६. स्तोभ—ऋचा से अधिक अवान्तरवर्णों को गान में सम्मिलित करना स्तोभ है— 'अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षणवर्णः स्तोभः'। स्तोभानुसंहारपरिशिष्टकार ने स्तोभ का लक्षण इस प्रकार किया है—

"ऋचो यदधिकं किञ्चित् द्विरुक्तं वापि दृश्यते।
स्तोभत्वं तस्य मन्यन्ते क्रमशः शास्त्रचिन्तकाः॥

जैसे—'तिस' इस ऋगक्षर का स्तोभ—

'त्सा २ यि'।

वर्णित स्तोभ के तीन प्रकार हैं— १. वर्णस्तोभ, २. पदस्तोभ, ३. वाक्यस्तोभ। इकारादि वर्णस्तोभ और हाइ, हाउ इत्यादि पद स्तोभ कहे जाते हैं। वाक्य स्तोभ नौ प्रकार का होता है। १. अशस्ति, २. स्तुति, ३. संख्यान, ४. प्रलय, ५. परिदेवन, ६. प्रैष, ७. अन्वेषण, ८. सृष्टि, ९. आख्यान।

सप्तस्वर—सप्तस्वरात्मक गायन अत्यन्त प्राचीन है। सप्तधा वै वागवदत्तावद्वै वागवदत् (ऐ० ब्रा० २।७) इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि—लौकिक गानरूपी वाणी का जैसे सात स्वरों से गान किया जाता है, वैसे ही वैदिक गानरूपी वाणी भी क्रुष्टादि सात स्वरों से गाई जाती है। सामगान में प्रयुक्त सप्तस्वर सामविधान ब्राह्मण (प्र० १ खं १) में इस प्रकार हैं—१. क्रुष्ट, २. प्रथम, ३. द्वितीय, ४. तृतीय, ५. चतुर्थ, ६. पंचम, ७. अन्त्य। इसी ग्रंथ में अन्य स्थान पर पंचम स्वर को 'मंद्र' एवं अन्त्य स्वर को 'अतिस्वार्य' कहा गया है। नारदीय शिक्षा में सप्तस्वरों का परिगणन इस प्रकार है—

प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रक्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान्कुर्वन्ति सामगाः॥

(अ० १ कं० १)

सामगायन का स्वर विस्तार नारदीय शिक्षा के अनुसार इस प्रकार है—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपंचाशदित्येतत्स्वरमण्डलम्॥

सामगान के सप्त स्वरों में और लौकिकशास्त्रीय संगीत के सप्तस्वरों में स्थूल भेद यह है कि साम का स्वरसप्तक 'अवरोहारोह' क्रम में है और लौकिक गान का स्वरसप्तक 'आरोहावरोह' क्रम में होता है।

स्वरमापन—

स्वर निर्णय के पश्चात् इन स्वरों का मापन कैसे हो?' यह जिज्ञासा होती है, उसी विषय का यहाँ हम विवेचन कर रहे है। यह ध्यातव्य है कि हस्त स्वर के बिना वेदाध्ययन निषिद्ध है। सामगान में गानवीणा (कण्ठ) का प्रयोग होता है। जैसे—काष्ठ निर्मित वीणा के विभिन्न पर्दों से अलग

३ स्वर निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीर के विभिन्न अङ्गों से विभिन्न प्रकार के स्वर उत्पन्न होते हैं। और कुछ क्रियाओं को हस्तवीणा (हाथों) से दिखाया जाता है। 'राणायणी' तथा 'कौथुमी' शाखा के हस्तस्वर समान ही हैं। वे० मू० पं० प्र० विनायक रामचन्द्र रटाटे जी के अनुसार "दक्षिण भारत के कौथुमशाखीय उद्गाता हस्तस्वर का प्रयोग नहीं के बराबर करते हैं।[1] स्वरप्रदर्शन में दोनों हाथों का प्रयोग होता है। दक्षिण हस्त (दाहिने हाथ) की अंगुलियों पर स्वर प्रदर्शित होते हैं, और वामहस्त (बायें हाथ) की अंगुलियों पर लय तथा मात्रा प्रदर्शित की जाती हैं। गान के समय पद्मासन में गायक को अवस्थित होना चाहिये। गायक अपने दोनों हस्त अपने घुटनों पर इस प्रकार रखे कि 'गोकर्ण' (गाय के कान) के समान आकृति प्रतीत हो। वर्णों में लगनेवाले स्वर तथा अन्य क्रियाएँ कण्ठ तथा अंगुलियों पर समान रुप से होनी चाहिये। नारदीय शिक्षा में क्रुष्टादि स्वरों को गान्धर्वस्वरों से मिलाकर कहा गया है—

स्वर संकेतः[2]—

१—क्रुष्टस्वर अंगूठे को खुला रखकर दिखाया जाता है। इसका बोधक अङ्क ७ है।

२—प्रथमस्वर अंगूठे के मध्यपर्व पर होता है। इसका बोधक अङ्क १ है।

३—द्वितीयस्वर तर्जनी के मध्यपर्व पर है। इसका बोधक अङ्क २ है।

४—तृतीयस्वर मध्यमा के पर्व पर है। इसका बोधक अङ्क ३ है।

५—चतुर्थस्वर अनामिका के मध्यपर्व पर है। इसका बोधक अङ्क ४ है।

६—मन्द्रस्वर कनिष्ठिका के मध्यपर्व पर है। इसका बोधक अङ्क ५ है।

७—अतिस्वार्यं स्वर कनिष्ठिका के नीचे के पर्व पर है। इसका बोधक अंक ६ है।

क्रुष्ट स्वर के विषय में मतैक्य नहीं है। कतिपय लोगों के मत में क्रुष्ट का कोई अंक न होकर अतिक्रुष्ट को सातवें (७) अंक से दर्शाया जाता है।

---

१. सामवेद विषयक लेख।

२. अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो ह्यङ्गुष्ठे प्रथमः स्वरः।
प्रादेशिन्यां तु गांधार ऋषभस्तदनन्तरम्॥
अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां च धैवतः।
तस्याधस्ताच्च योन्यासु निषादं तत्र विन्यसेत्॥
(ना० शि० १ प्र ०६ कं० ३,४)

मूल स्वरसप्तक (क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्रः अतिस्वार्य) को प्रकृतिस्वर कहते हैं, इनमें कुछ विकृति स्वर भी होते हैं। इनमें कुछ पुनः पुनः आनेवाले स्वरसमुच्चय होते है, अथवा स्वर के विकृत स्वरुप आते हैं। उदाहरणार्थ = प्रेंख। प्रेंख का अर्थ 'पीछे के स्वर की दो मात्रा बढाना और उस स्वर का अन्त दूसरे स्वर में करना होता है। इसका बोधक चिह्न कुछ प्रतियों में २ हैं। और कुछ विशिष्ट प्रतियों में 'प्रे' हैं। नमन = अर्थात् पूर्व के अक्षरों का १, २, ३, इन (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) स्वरों में गान करना है। कर्षण का बोधक चिह्न ⌒ वा ⌣ हैं। इस प्रकार के बोधक चिह्नों के मध्य जितने संख्यांक हों, उतने ही स्वरों का अनुक्रमपूर्वक आरोह अथवा अवरोह होता हैं। विनत का बोधक चिह्न 'वि' अथवा 'S' हैं। इसका संकेतितार्थ प्रथम, द्वितीय (१, २,) होता है।

ग्रामगेयगान में जहाँ विनत होता है, वहीं ऊहगान में 'प्रेंख' होता है। अत्युत्क्रम एवं संप्रसारण दो विकृतियाँ हैं। जिनका अर्थ क्रमशः अत्युत्क्रम = ४५६५, संप्रसारण २३४५ है। अर्थात् स्वरों को पुनः पुनः प्रयुक्त करना है। इसे हम 'तान' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं।

साम गायन में स्वरों की उच्च-नीचता एवं मात्रा मुख्यतया शब्द पर अवलम्बित रहती हैं। एक साम की ही सरणि में दूसरा मंत्र यदि कहना हो तो शब्द का उच्चार दीर्घकाल तक अथवा अल्पकाल तक करके अथवा कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा अधिक करके मात्रायें बराबर करली जाती हैं। यदा कदा दीर्घ स्वर (वृद्धस्वर) होतें हैं। दीर्घ का तात्पर्य. कम उच्चार या अधिक से हैं। अथवा बलपूर्वक उच्चारण अपेक्षितहै। इसके बोधक चिह्नों की दो परिपाटियाँ प्रचलित हैं। उत्तरहिन्दुस्थान की प्रचलित पोथियों में 'र' अक्षर है। एवं दक्षिण हिन्दुस्थान की पोथियों में 'ओ' बोधक अक्षर है। पोथी में जब कुछ बोधक चिह्न पंक्तिवद्ध हों और उनके शीर्षभाग में दूसरे बोधक चिह्न हों तो शीर्षभाग के बोधक चिह्न प्रचलित पोथियों में मात्रा अथवा काल के परिज्ञायक होते हैं। हम कुछ बोधक चिह्नों का निदर्शन मात्र कर सकें हैं। अन्य और भी हैं, जिनके विषय में अन्यत्र सम्बन्धित ग्रन्थों को देखा जा सकता है।

स्तोम—साम गायन के अभ्यास में 'स्तोम' को समझना अत्यन्त आवश्यक हैं। सामगान मूलऋचा पर होता है। प्रत्येक साम में तीन ऋचाएँ होती हैं। इन ऋचाओं की सामगान में पुनः पुनः आवृत्ति को ही स्तोम कहतें हैं। कुछ स्तोमों का यहाँ पर विवेचन कर रहे हैं—

१. त्रिवृत् स्तोम—साम में प्रयुक्त तीन ऋचाओं में प्रत्येक ऋचा की तीन बार आवृत्ति को ही, त्रिवृत् स्तोम कहतें हैं।

२—पंचदशस्तोम—पंचदश स्तोम अर्थात् तीन ऋचाओं को आवृत्तिभेद से पन्द्रह बार कहना। तीन ऋचाएँ आवृत्तिभेद से पन्द्रह इस प्रकार होती हैं-प्रथम पर्याय में प्रथम ऋचा-तीन बार, द्वितीय एकबार, तृतीय-एकबार। द्वितीय पर्याय में प्रथम ऋचा एकबार, द्वितीयऋचा-तीन बार, तृतीय ऋचा-एक बार। तृतीय पर्याय में प्रथम एवं द्वितीय ऋचा को एक एक बार एवं तृतीय ऋचा तीन बार। इस विधा का सहज बोध निम्नांकित रीति से प्राप्त कर सकतें है—

प्रथम पर्याय

प्रथम ऋचा ३ बार आवृत्ति।
द्वितीय ऋचा १ बार आवृत्ति।
तृतीय ऋचा १ बार आवृत्ति।

द्वितीय पर्याय

प्रथम ऋचा १ एक बार आवृत्ति।
द्वितीय ऋचा ३ तीन बार आवृत्ति।
तृतीय ऋचा १ एक बार आवृत्ति।

तृतीय पर्याय

प्रथम ऋचा १ एक बार आवृति
द्वितीय ऋचा १ एक बार आवृत्ति
तृतीय ऋचा ३ तीन बार आवृत्ति

सप्तदशस्तोम—साम में प्रयुक्त तीन ऋचाओं को आवृत्ति भेद से सतरा (१७) करना है।

प्रथम पर्याय	आवृति
प्रथम ऋचा	(३) तीनबार।
द्वितीय ऋचा	(१) एक बार।
तृतीय ऋचा	(१) एक बार
द्वितीय पर्याय	आवृति
प्रथम ऋचा	(१) एक बार।
द्वितीय ऋचा	(३) तीन बार।
तृतीय ऋचा	(१) एक बार

तृतीय पर्याय	आवृत्ति
प्रथम ऋचा	(१) एक वार।
द्वितीय ऋचा	(३) तीन वार।
तृतीय ऋचा	(३) तीन वार।

इस प्रकार प्रथम एवं द्वितीय पर्याय में दस (१०) एवं तृयीय पर्याय में (सात) मिलकर सतरा (१७) बार आवृत्ति हो जाती है।

एकविंशस्तोभ—प्रत्येक पर्याय में (७) वार अवृत्ति करने से तीन पर्यायों में (२१) वार आवृत्ति हो जाती है।

विष्टुति—स्तोम के पर्यायों में प्रयुक्त ऋचाओं के अनुक्रम में विपर्यास करना ही विष्टुति हैं—जैसे उदाहरण रुप में पंचदशस्तोम की विष्टुति को समझ सकते हैं।

पंचदशस्तोम के प्रथम पर्याय में प्रथम ऋचा को तीन वार, और द्वितीय ऋचा तथा तृतीय ऋचा को एक-एक वार कहना हैं। अर्थात् विपर्यास करके ऋचाओं की संख्या ५ पाँच करना ही विष्टुति है।

स्तोम की विष्टुति (चाल) निश्चित हैं, प्रकृत प्रसंग में कुछ स्तोम एवं उनकी विष्टुतियों का नामांकन कर रहे हैं।

१. **त्रिवृत् स्तोम की विष्टुति—उद्यती, परिवर्तिनी, कुलायिनी।**
२. **पञ्चदशस्तोम की विष्टुति—पंचपंचिनी, उद्यती, अभिक्रामंती।**
३. **सप्तदश स्तोम की विष्टुति—दशसप्ता, सप्तास्थिता, उद्यती, भस्रा।**
४. **एकविंशस्तोम की विष्टुति—सप्तसप्तिनी, उद्यती, प्रतिष्ठिता, सूर्म्या।**
५. **त्रयस्त्रिंशस्तोम की विष्टुति-समत्र्यंशा, नेदीयः-संक्रमा, उद्यती, प्रत्यवरोहिणी उद्यती।**
६. **त्रिणवस्तोम की विष्टुति—प्रतिष्ठिता, उद्यती,।**
७. **चतुश्चत्वारिंशत्स्तोम की विष्टुति—प्रतिष्ठिता, निर्मध्या,**

विभिन्न उपरिलिखित विष्टुतियों का नामोल्लेख हमने ताण्ड्यमहाब्राह्मण के अनुसार किया है।

सामवेद के ग्रंथ

ब्राह्मण

१—ताण्डय ब्राह्मण ।
२—षड्विंश ब्राह्मण
३—मन्त्रब्राह्मण
४—दैवत ब्राह्मण
५—आर्षेयब्राह्मण
६—सामविधान ब्राह्मण
७—संहितोपनिषद् ब्राह्मण
८—वंशब्राह्मण

आरण्यक

कोई भी उपलब्ध नहीं हैं ।

श्रौतसूत्र

१—द्राह्यायण श्रौतसूत्र
२—लाट्यायन श्रौतसूत्र
३—मशकसूत्र

गृह्यसूत्र

१—गोभिलगृह्यसूत्र
२—खदिरगृह्यसूत्र
३—जैमिनीयगृह्यसूत्र

व्याकरण

१—सामप्रातिशाख्य (पुष्पकृत)

सामपरिशिष्ट

१. स्नान सूत्र
२. सन्ध्यासूत्र
३. गोभिलगृह्यसूत्र
४. अपरसूत्र
५. पुष्पसूत्र
६. गृह्यासंग्रह
७. कर्मप्रदीप
८. गोभिलीयम्
९. श्राद्धकल्प
१०. अद्भुतशान्ति

११. कुशकण्डिका
१२. महानाम्नी
१३. आचमन
१४. अमृताहरण
१५. गायत्र्यनुक्रमणी
१६. सामगीतिः
१७. सामप्रकाश
१८. सामदर्पण
१९. सामसंख्या
२०. उपवीत
२१. स्थितिसंधि
२२. रुद्रविधान
२३. मात्रालक्षण
२४. छल्लाविधान
२५. वृषोत्सर्ग
२६. क्रतुसंख्याविधि
२७. षड्वर्णिका
२८. गीतिसंज्ञा
२९. गीतिकल्प
३०. प्रवासविधि
३१. प्रणत
३२. चरणव्यूह
३३. कलशोत्पत्ति
३४. नैगेयानामृक्षुदैवत
३५. प्रोष्ठपदी
३६. सावित्रपाणि
३७. गणपतिस्तोत्र
३८. भूतपाडी
३९. गीतपाडी
४०. मन्त्रानुक्रमणिका
४१. पक्षहोमविधान
४२. विशेषभूत
४३. स्तोभानुसंहार
४४. श्रावणविधि
४५. संस्कार
४६. हितवाक्य
४७. उत्तरहितवाक्य
४८. सोमोत्पत्ति
४९. प्रातर्होम
५०. गायत्रविधान
५१. श्रौतप्रायश्चित
५२. श्रौतहोम
५३. अमृताहरण
५४. अवग्रहदशक



अथर्ववेद

अंगिरावंशज अथर्वा ऋषि के द्वारा दृष्ट होने से इस वेद का नाम अथर्व वेद पड़ा। परन्तु अथर्ववेद में इस वेद की अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद, भृग्वंगिरसवेद, भैषज्य वेद, आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। अथर्व शब्द 'थर्व'–कौटिल्ये हिंसायाम्'--धातु से निष्पन्न हुआ है। अतएव अथर्व शब्द का अर्थ है, अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन को स्थिर बनाने वाला व्यक्ति। अङ्गिरेभ्यः स्वाहा इस प्रकार का तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख प्राप्त होता है। इस कारण 'अङ्गिरस वेद' यह अथर्ववेद की संज्ञा है, ऐसा प्रतीत होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति बृहदारण्यकोपनिषत् में इस प्रकार की गई हैं,—'शरीरस्थ रहने वाला जो सप्त धातुमय रस, तद् विषयक चिकित्सा जिसमें है वह 'अङ्गिरस वेद' है।[1] इसी को ब्रह्मवेद भी कहा गया है। कतिपय विद्वान् इस नामकरण का कारण ब्रह्मा नामक ऋत्विक् से सम्बद्ध होना बताते हैं। जैसे 'होता' का ऋग्वेद से, अध्वर्यु का यजुर्वेद से, उद्गाता का सामवेद से सम्बन्ध है, वैसे ही 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् का अथर्ववेद से सम्बन्ध है। इस हेतु उसे अर्थात् अथर्व वेद को ब्रह्मवेद कहा जाता है।[2]

"प्रजापतिर्यज्ञमतनुत सचैव हौत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यम् साम्नौद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् ॥ (गो० ब्रा० ३।२)

परन्तु निरुक्तकार ब्रह्मा को केवल अथर्व वेद से ही नहीं अपितु चारों वेदों से सम्बद्ध मानते है—

ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (निरुक्त १।८)

इससे यह निष्कर्ष निकलता है—कि ब्रह्मवेद के अभिधान में 'ब्रह्मा' का सम्बन्ध निमित्त नहीं हैं, अपितु ब्रह्मतत्त्व का प्रकाशन करना है। स्वयं श्रुति स्फुट कह रही है—

---

१. अंगेषु गात्रेषु यो रसः सप्तधातुमयस्तमधिकृत्य या चिकित्सा साङ्गिरसानां चिकित्सा—बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।८

२. चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः

गोपथब्राह्म—२।–।१६

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा–
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ (मु. उ. १।११)

गोपथ ब्राह्मण में इसका नाम अथर्वाङ्गिरस प्राप्त होता है।[1] अथर्व-वेद संहिता में भी यही नाम (अथर्वाङ्गिरस) प्राप्त होता है।[2] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में अथर्ववेद की छन्दोवेदसंज्ञा होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

अथर्ववेद को विविध नामों से व्यवहृत करने में विशेष कारण भी हैं : क्योंकि प्रत्येक अभिधान (संज्ञा) अथर्ववेदगत वैशिष्टय को ही प्रकाशित करता है।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋग्वेद–१०।१०।१

अथर्वन् मंत्र सुखकारक एवं अङ्गिरस मंत्र अघोर पीडाकर हैं। उदाहरण रुप में अथर्वन् मन्त्रों में रोगनिवारक विधि है और अङ्गिरस मन्त्रों में शत्रु दुष्टमायावी आदि के द्वारा प्रदत्त कष्टों का निवारण है। अथर्ववेद के अनेक उपवेद हैं, जो इसके महत्त्व को और द्विगुणित कर रहे हैं।

चरण व्यूहकार ने प्रत्येक वेद का एक उपवेद स्वीकार किया है।

'वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्ति । ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो, यजुर्वेदस्यधनुर्वेद उपवेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदः, अथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः'। अर्थात् यहाँ अर्थशास्त्र, अथर्व वेद का उपवेद पठित है। आयुर्वेद ग्रन्थ भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार करता हैं। 'इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' (सुश्रुत १ अध्याय)। गोपथब्राह्मण में अथर्व वेद के पाँच उपवेद पठित हैं –– सर्प वेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहास वेद, पुराणवेद। शुक्रनीति में अथर्ववेद का उपवेद 'तंत्र' को कहा है––

ऋग्यजुः साम चाथर्वा वेदा आयुर्धनुःक्रमात्।
गान्धर्वश्चैव तन्त्राणि उपवेदाः प्रकीर्तिताः॥ ४।३।२७

---

१. गोपथ ब्राह्मण ३।२
२. अथर्व सं० १०।७।२०
३. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

श्रीमद्भागवत में अथर्व वेद का उपवेद 'स्थापत्य' बताया है।

अथर्ववेद का ब्रह्मा देवता है, अनुष्टुप् छन्द और स्वेच्छारुप है। हेमाद्रिकार ने इस वेद का स्वरुप निम्नशब्दों में व्यक्त किया है—

अथर्वणाभिधो वेदो धवलो मर्कटाननः।
अक्षसूत्रं च खट्वाङ्गं बिभ्राणो यजनप्रियः॥

अथर्ववेद की शाखाएँ

पतञ्जलि ने महाभाष्य में, और चरणव्यूहकार शौनक ने अथर्ववेद की नौ (९) शाखाओं का उल्लेख किया है। 'नवधा आथर्वणो वेदः!' ये नौ शाखाएँ अधोलिखित हैं—

१—पैप्पल २—दान्त ३—प्रदान्त ४—स्नात ५—सौत्र ६—ब्रह्मदावन ७—शौनक ८—वेवदर्शनी ९—चारणविद्या।

परन्तु अन्य मतानुसार नौ शाखाएं भिन्न हैं—

१—पैप्पलाद २—तौदायन ३—मौदायन ४—शौनक ५—जालज ६—जलद ७—ब्रह्मवेद ८—देवदर्शन ९—चारणवैद्य।

अथर्ववेद की नौ संहिताओं में से अधुना दो संहिताएं ही प्राप्त हैं—

(१) पैप्पलाद (२) शौनक।

पैप्पलादशाखा—यह शाखा पिप्पलाद ऋषि के नाम से है। पिप्पलाद मुनि प्रसिद्ध अध्यात्म वेत्ता थे। पिप्पलाद मुनि ने सुकेश, भारद्वाज आदि छः ऋषियों की शंकाओं का समाधान किया था। यह प्रश्नोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध भी है। प्रपञ्चहृदयकार ने पैप्पलाद शाखा का संकेत किया है। उन्होंनें पैप्पलाद शाखा को २० काण्डों का बताया है

"तथाऽऽथर्वणके पैप्पलादशाखायां मन्त्रो विंशतिकाण्डः।"

प्रो० ब्लूम फील्ड को पैप्पलादशाखा की पाण्डुलिपि शारदालिपि में प्राप्त हुई थी। १९०१ में इसको उन्होंने 'द काश्मीरियन अथर्ववेद' के नाम से प्रकाशित किया था।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हिन्दू संस्कृति अंक' कल्याण में पैप्पलादशाखा के तीन सूक्त प्रकाशित किये थे। संज्ञानसूक्त, पवमानसूक्त और गृहमहिमा! इस संहिता से दो एक मन्त्र जिज्ञासु पाठकों के हेतु यहाँ दिये जा रहे हैं—जितना अलौकिक संदेश इन मंत्रों में गर्भित है। प्रत्येक जिज्ञासु को वह द्रष्टव्य हैं।

अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा का संज्ञानसूक्त अत्यन्त उपकारक है। सूक्त में वर्णित एकता, अखण्डता का भाव अन्यत्र वाङ्मय में अप्राप्य है।

"श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदय से एक साथ मिलकर रहो। कभी विलग मत हो, एक दूसरे को प्रसन्न रख कर एक साथ मिलकर भारी बोझें को खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनों से सदा मिले हुए रहो।[1]"

पैप्पलाद संहिता का **पवमान सूक्त** अत्यन्त आलंकारिक है। "सोम अत्यन्त पवित्र है। उसकी धारा से सम्पूर्ण सृष्टि के कारण 'पंचमहाभूत' पवित्र होते हैं। ऋचाएँ, साम, यजु, और ब्राह्मण उससे पवित्र हुए हैं। अथर्वाङ्गिरस और देवता पवित्र हुए है।" वैदिकविद्वानों में यह सूक्त अत्यन्त लोकप्रिय है।

जिससे वनस्पतियों, पुष्प फल देनें वाले वृक्ष, औषधियाँ और लताएँ पवित्र हुई हैं, उस सहस्त्र धार सोम से पवमान मुझे पवित्र करे।[2]

जिससे ऋत और सत्य पवित्र हुए हैं, जो तप और दीक्षा को पवित्र करता है, उस सहस्त्रधार सोम से पवमान मुझे पवित्र करे।[3]

अथर्व वेद

शौनक संहिता

वर्तमान प्रसिद्ध संहिता शौनक संहिता है। इसका ह्विटन ने सर्वप्रथम १८५६ ई० में प्रकाशन किया था। इसका विभाजन काण्डात्मक है। इसमें २० काण्ड, ३६ प्रपाठक, ७३० सूक्त, ५९७७ मंत्र हैं। कुछ मतमतान्तरों से मन्त्र आदि की गणना में कुछ भिन्नता आ गई है। कुछ परम्परा ६०००

---

१. अथर्व. पैप्पलादशाखा--५।१९।५

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनोमा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यातसमग्रास्थसध्रीचीनान् ॥

२. पैप्पलादशाखा ९।२३।१३

येन पूता वनस्पतयो वानस्पत्या औषधयो वीरुधः सह येन पूताः।
तेना सहस्त्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥ ३ ॥

३. पैप्पलादशाखा ९।२३।२०

येन पूतमृतं सत्यं तपो दीक्षां पूतयते।
तेना सहस्त्रधारेण पवमानः पुनातु माम् ॥

मंत्र मानने की है। उनके मत में ३४ प्रपाठक एवं ७६० सूक्त हैं। संहितागत १२०० मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम, दशंम, अष्टम मण्डल में प्राप्त हैं। संहिता के बीसवें काण्ड को कुछ विद्वान् परिशिष्ट मानते हैं। परन्तु इस कथन में कुछ तर्क नहीं है, क्योंकि भाषा के आधार पर अथवा विषयविवेचन या संज्ञा के बल पर अनुसंधान,वेद विषयक क्षेत्र में नपुंसक तुल्य है। क्योंकि वेद समाधि-अवस्था में दृष्ट हैं। अतः अथर्व वेद की भाषा विषयक आलोचना निराधार ही है। इस संहिता के विषय-षिभाग का विवेचन 'अथर्ववेदीय सूक्तवर्गीकरण' शीर्षकान्तर्गत हुआ ही है। इस संहिता में एक से तेरह काण्ड तक अनेक विषयों 'ईश्वर-प्रार्थना, मोहन उच्चाटनादि' का विवेचन हुआ है। चौदहवें कांड में विवाहवर्तनी, पन्द्रहवें में अध्यात्मविद्या, सोलहवे में दुःख, दुःस्वप्नादि-मोचनमंत्र, सत्रहवे में अभ्युदय, प्रार्थना, अठारहवें काण्ड में पितृमेध, उन्नीसवे काण्ड में जल-अग्नि, यज्ञादिकों से सम्बन्धित मन्त्र है। बीसवां काण्ड इन्द्र सूक्तों का है।



अथर्ववेद के अस्तित्व का ऊहापोह—

अथर्ववेद को कुछ पण्डितंमन्य वेद नहीं मानतें। उनका कहना है कि अथर्ववेद का यज्ञ में कोई कार्य नहीं हैं—इस विषय में प्रमाण भी देते हैं। यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं यद् ऋचा तद् दृढम् (तै० सं० ६।५) (ऐ० ब्रा० ५।३२,) ये वाक्य भी इस सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं कि अथर्ववेद का यज्ञ से सम्बन्ध नहीं है। वेदत्रयी में भी अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। सर्वत्र वेदत्रयी से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का ही ग्रहण होता है। अतः वेद से त्रयी अर्थात् (ऋक्, यजु, साम) का ही ग्रहण होना चाहिये"—यह आधुनिक विचारकों का चिन्तन हैं।

इसका समाधान प्राचीन परम्परानुसार और विद्वानों के उपदेशानुसार कर रहें है—"ब्रह्मा का कार्य अथर्ववेद के विना सम्भव नहीं हैं। अन्य वेदों में भी ब्रह्मा के कार्यों का वर्णन हुआ है, परन्तु वह अपूर्ण हैं। अथवा स्पष्ट नहीं है, जैसे—हौत्रामर्शाः समाम्नाताः न तान् कुर्यात् (आश्व. ८–१३) इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता है और अस्पष्ट ज्ञान से कर्म करना श्रेयस्कर भी नहीं हैं। अन्य, यज्ञरुपी शरीर का निर्माण अथर्ववेद के विना असम्भव हैं। यज्ञ का अर्ध शरीर–वेदत्रयी से पूर्ण होता हैं, एवं शरीरार्धं 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वं' (गो० ब्रा० ३।२) अथर्व वेद से सिद्ध होता है। वैदिक वाङ्मय के अन्य स्थानों पर अथर्व वेद का ससम्मान उल्लेख भी है—(बृ० उपनिषद ४।४।१०, मुण्डक १।१) 'यम् ऋषयस्त्रयीविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूँषि (तै० ब्रा० १।२।१२६) इत्यादि स्थलों पर वेदों में जो भेद दृष्टिगत होते हैं, वे वास्तव में वेदों के भेद नहीं हैं, अपितु वेदगत मन्त्रों के भेद हैं। इससे सहजगत्या यह शंका उपस्थित होती हें कि ऋग्वेद (ऋक्), यजुर्वेद (यजुष्), सामवेद (साम) के समान अथर्व वेद की भी संज्ञा होनी चाहिये थी। परन्तु इसका समाधान गोपथ ब्राह्मण की आख्यायिका ही कर देती है। अथर्वानामक महर्षि ने इस वेद का साक्षात्कार किया। अतः महर्षि के नामानुसारही इस वेद की यह संज्ञा व्यवहृत होती हैं। (गो० ब्रा० १।४) इस वेद की ब्रह्मपरकता इसी से सिद्ध है कि इसका नाम ब्रह्म वेद भी है।

(गो० ब्रा० १।६।३।४)"

कुछ अन्य प्रमाण भी अथर्ववेद के अस्तित्व के द्योतक हैं। उन प्रभाण वाक्यों के दर्शन से—बूलर महोदय, और मूलर महोदय का भ्रम अवश्य ही दूर हो गया होगा।

(१) यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्ते (ऋ० १।८३।५,)।

(२) ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः (तापनीयोपनिषद्)।

(३) तत्रापरो ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः (मु. उ. १।१।५)।

(४) अथर्वाणं चतुर्थम् (छान्दोग्योपनिषद् ७।२।१)।

(५) ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (बृह० उ० ४।१।२)।

आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों से अज्ञान दूर हो सकता है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मणादि सम्पूर्ण वाङ्मय, अथर्ववेद के अस्तित्व को कह रहे हैं, परन्तु भारतीयज्ञान–परम्परा को निर्मूल समझने वाले विदेशियों का ही यह दुष्प्रचार है।' भारतीय सहृदय पाठक इस मिथ्या प्रचार से भ्रमित न हों। अथर्ववेद भी परमेश्वर के श्वांस हैं—अतः ऋग्यजुःसाम के समान ही अथर्ववेद भी चौथा वेद है।



अथर्ववेदीय सूक्तों का वर्गीकरण

अथर्ववेद अत्यन्त उपकारक वेद है। इस वेद का उपयोग यज्ञ कर्म में अधिक न होने से इसका महत्त्व न्यून नहीं होता है। अपितु लोकोपकारक होने से यह वेद अपने महत्त्व को यथावत् स्थिर रखे हुए है। इस वेद में २० कांड हैं। काण्डों में समाहित मंत्रों का अध्ययन समष्टिरुप से अत्यन्त कठिन हैं। परन्तु यदि सूक्तों का अथवा मंत्रों का अध्ययन व्यष्टि रुप से हो तो अध्ययनमूलक समस्या को यथाक्रम अवकाश प्राप्त हो सकता हैं।

भैषज्यसूक्त—इस वर्ग में रोगनिवारक प्रयोग मंत्रों का संग्रह हैं। रोग, राक्षसों के कारण उत्पन्न होते हैं। भैषज्य सूक्तों में कहीं रोगनिवारक औषधियों के आवाहन एवं स्तुति से रोगों का उपशमन बताया हैं, तो अन्यत्र जल में जो विशिष्ट रोगनिवारक शक्ति है, उस शक्ति की प्रार्थना की हैं। कतिपय सूक्तों में रोगों के कारणभूत राक्षसों को भगाने में निपुण अग्नि की प्रार्थना की हैं। कौशिक सूत्र में अथर्ववेदीय सूक्तों में प्रयुक्त मंत्रों से आयुर्वेदीय रोगों की लक्षणमीमांसा अत्यन्त विशद रुप से की गई है।

अथर्ववेद में ज्वर की विस्तृत मीमांसा है। ज्वर अनियमित एवं अत्यन्त पीडाकरक होता है। यह ज्वर 'तक्मन्' नामक राक्षस से उत्पन्न होता है। इस ज्वर के लक्षण एवं उसके शमन का उपाय अथर्ववेद के ५ वें काण्ड के २२ वे सूक्त में है। इस ज्वर के निम्न लक्षण हैं, जो इस सूक्त में उद्घृत हैं—

(१) यह अत्यन्त ताप से अग्नि के समान ज्वलनशील है।

(२) समस्त जनों को पीला बनाता है।

(३) एक क्षण बुखार उतरता है, और दूसरे क्षण अत्यन्त तेज हो जाता है। खांसी के योग से मनुष्य को हिला देता है।

---

१. 'अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधान्यङ्ङधराङ्त्रापरेहि॥
यत् त्वं शीतोथो रुरः सह कासावेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्मपरि वृङ्धि नः। (अथर्व० ५।२२)

खांसी को दूर करनेवाले मन्त्र ६ ठें काण्ड में वर्णित हैं—इन मन्त्रों के प्रयोग से खांसी रोग का उपशमन हो जाता है—जैसे–मन, बुद्धिगम्य, दूरस्थ विषयों के पास वेग से जाता है उसी प्रकार हे कास (खांसी) तू मनोवेग से जा। जिस प्रकार सूर्यकिरण वेग से जाते हैं, उसी प्रकार तू समुद्र के प्रवाह के साथ जा।'[1]

रक्तस्राव–स्तम्भक मन्त्र प्रथम काण्ड में दिये गये हैं। रक्तस्राव बढ जानें पर इनका शमन इन मन्त्रों से होता है—रक्तवस्त्र पहन कर जाने वाली स्त्रीरूप रक्तवाहिनियाँ भ्रातृरहित बहन के समान हतबल होकर अपने-अपने स्थान पर स्तब्ध रहें। सिकतावती एवं धनुष के समान विशिष्ट नाडी ने तुम्हे आक्रान्त किया है। तुम रुको एवं रोगी को सुख दो।[2]

गण्डमाला रोग को दूर करने वाले मन्त्र ६ ठें काण्ड में संगृहीत हैं। पांच और पचास गण्डमालाएँ जो गले के ऊपर (मन्या धमनी पर) जमी हैं, वे सब अपचित् कीडे के समान नष्ट हों। जो सात और सत्तर (गण्ड माला) ग्रैव्यानाडी पर एकत्र जमी हुई हैं, वे सब अपचित् कीडे के समान नष्ट हों।[3]

कुछ रोग जन्तु (कृमि) जन्य होतें हैं। यह शोध (रहस्य) जो वर्तमान चिकित्सा पद्धति में हुआ है, वह गौरव का विषय है", किन्तु अथर्ववेद में पूर्व से ही वह सुरक्षित हैं। यह कृमि विभिन्न प्रकार के होते हैं। इन कृमियों के नाश से रोग का निवारण बताया गया है। जैसे "जो कृमि

---

१. यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोनु प्रवाय्यऽम् ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्रपत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ अथर्व ६।१०५

२. अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥
परि वः सिकतावती धनूबृंहत्यऽक्रमीत् ।
तिष्ठतेनयता सु कम् ॥ अथर्व १।१७

३. पञ्च चयाः पञ्चाशच्च संयन्तिमन्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ अथर्व ६।२५

आंतों में सिर में, पार्ष्णी में, अवस्कव कृमि अर्थात् अन्दर घुसने वाले कृमि तथा अनेक मार्गों से प्रवेश करने वाले कृमि इन सब कृमियों को मन्त्रयोग से मैं नष्ट करता हूँ।[1]

जो कृमि, पर्वत में वनों में, वनस्पतियों में, जल में और जो शरीर में प्रवेश कर गये है उन सब कृमि समूहों को नष्ट करता हूँ।[2]

कृमियों के विभिन्न प्रकार बताये हैं।

काले कृमि, कत्थई रंग के कृमि, पीले कृमि, आदि अनेक प्रकार के कृमि हैं।[3]

आरोग्य मन्त्र—संसार में दीर्घकाल तक जीवित रहना मानवमात्र की अपनी स्वतंत्र इच्छा हैं। इसी कारण वह मृत्यु से बचने के लिये उद्यत रहता हैं। इसी उद्देश्य से अथर्ववेद प्रवृत्त हुआ हैं। दीर्घ आयुरारोग्य के हेतु अनेक मन्त्र—अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं। जैसे—"हम सौ वर्ष तक देखें। सौ वर्ष तक जीवित रहें। ज्ञान प्राप्त करें। हम सौ वर्ष तक बढें। सौ वर्ष तक हम पुष्ट रहें,। सौ वर्ष तक हमारा अस्तित्व रहे, सौ वर्ष से भी अधिक वर्षों तक हम जीवित रहें[4]—इस प्रकार की भावना अथर्ववेद में अनेकत्र दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ मनुष्य मृत्यु से दूर एवं अमरत्व के समीप आना चाहता है, और आरोग्य को सुस्थिर रखना चाहता है। जैसे—"मुझे पाप और मृत्यु न व्याप्त करे, हम शरीर से नीरोग हों और उत्तम वीर बनें, मृत्यु हमसे दूर हो, और अमृतपद हमें प्राप्त हो। हे मनुष्य! तू वृद्धावस्था से

---

१. अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि। अथर्व २।३१

२. ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
ये अस्माकं तन्वऽमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥
अथर्व० २।३१

३. सरुपौ द्वौ विरुपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः॥ अथर्व–५।२३

४. अथर्व वेद १९.६७

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात्।

पूर्व मत मर, हम सूर्य को बहुत काल तक देखते रहें।[1] दीर्घआयुष्यार्थ हाथ में रक्षासूत्र अथवा मणि बांधने का विधान भी अथर्ववेद में है।[2] अथर्व वेद के १७ वें कांड में इनकी विस्तृत चर्चा की गई है।

२. पौष्टिक मन्त्र—इस मन्त्र वर्ग में पौष्टिक मन्त्रों का ही समावेश होता है। किसान, धनी, व्यापारी इस वर्ग में संगृहीत प्रार्थनाओं से सुयश प्राप्त करने की इच्छा को पूर्ण करते हैं। घर बनाने के समय उपयुक्त मन्त्र, भूमि जोतने के समय पूर्व के मंत्र, बीज वपन के पूर्व के मंत्र, कीड़े मारने के मन्त्र, अग्निपीडा निवारक मन्त्र, पर्जन्यार्थ मन्त्र, चोर एवं हिंस्र पशुओं के निवारण हेतु प्रयुक्त मन्त्र इत्यादि मन्त्रों का समावेश मुख्य रुप से इस वर्ग में होता है।

उपर्युक्त सन्दर्भो को स्पष्ट करनेवाले अनेक स्थल हैं। ४ थें काण्ड का १५ वाँ पर्जन्य सूक्त अत्यन्त सुन्दर है। उसके एक दो मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

सभी दिशाओं से वायु के योग से पर्जन्य मेघ (वर्षामेघ) एकत्र हों, उन्मत्त बैल की गर्जना के समान गर्जना करने वाले मेघों से पृथ्वी पर भरपूर वर्षा हो।[3]

हे पर्जन्य जोर से गर्जना कर, समुद्र को आलोडितकर दे—और विपुल वर्षा से पृथ्वी को नम बना कर सूर्य को मेघाच्छादित करके वर्षा कर दे।[4]

---

१. अथर्ववेद—मा मा प्रातत पाप्मा मोत मृत्युः १७–१–२९
अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः — ५।३।५
परैतु मृत्युरमृतं न एतु १८।३।६२
मा पुरा जरसो मृथाः ५।३०।१७
ज्योगेव दृशेम सूर्यम् १।३१।४

२. अथर्ववेद—१९।२७, २८

३. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः
समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो
वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥

४. अभिक्रन्द स्तनयार्दयोदधिं
भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमा
शारेषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ अथर्ववेद ४।१५

मेरे लिए अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो ।[1] मनुष्य दुग्धादि पदार्थों से और राज्य से बढें ।[2]

इस प्रकार देखतें हैं कि कृषि की समृद्धि के हेतु वेद में अमूल्य उपदेश हैं, जिनके पालन से हम सुखी एवं समृद्ध हो सकते हैं ।

इन आदेशों का दर्शन हम विभिन्न सूक्तों में कर सकते हैं—यथा—

क्षेत्र के कर्षण (जुताई) के समय 'शुनासीर' नामक देवता की प्रार्थना का विधान है—बीजों के वपन के समय अधोलिखितत मन्त्रों का विधान है—६।१४२ वां सूक्त ।

मार्गशीर्ष आग्रहायण विधि के समय कहा जाने वाला भूमि सूक्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इस सूक्त में जिस प्रकार की दृढ़ भूमि की भक्ति दृष्टिगोचर होती है अन्यत्र दुर्लभ है—

(१) "हे भूमि-तेरा परिसर रोग, क्षय और भय से रहित हो, हम दीर्घायु हों, सदा सावधान रहकर सिर हथेली पर लेकर तेरे लिए सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत रहेंगे[3] ।"

(२) "जहाँ चारों ओर वृक्ष वनस्पति खड़े हैं, उस विश्वधारक पृथ्वी का हम गुणगान करते है[4] ।"

(३) "जिस पर हमारे पूर्वजों ने अद्भुत कार्य किये, जहाँ देवों ने असुरों को मारा है और जो गाय, घोड़े, पक्षियों की जन्मदात्री है वह भूक्षि हमें तेज और ऐश्वर्य दे[5] ।"

---

१. शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ६।७१।३

२. अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ६।७८।२

३. उपस्थाने अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुद्धयमाना व्यं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ।।६२।।

४. यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतमच्छा वदामसि ।। २७ ।।

५. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठाभगंवर्चः पृथिवी नो दधातु ।।४।।

अथर्व. १२।१

३. शांतिसूक्त—अथर्ववेद में यह स्पष्ट धारणा है कि गृह कलह, दुष्ट दैत्य मांत्रिकों के कारण ही होते हैं। इनके निवारक मन्त्रों द्वारा गृहशांति सम्भव है। इन मन्त्रों के प्रयोग से (उचित, योग्य) राजकीय, सामाजिक, न्यायिक संतुलन बनाया जा सकता है—इस विषय के उदाहरण रुप में तीसरे काण्ड का ३० वां सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"मैं तुम्हें अविद्वेषी, समानचित्तवृत्ति, व प्रीतियुक्त करता हूँ। गाय जिस प्रकार अपने वत्स से प्रीति करती है, उसी प्रकार तुम्हारा परस्पर प्रेमभाव हो, पिता के अनुकूल, एवं माता से समानमनस्क पुत्र हो। भार्या अपने पति से मधुरवाणी बोले।[1]

प्रणयमंत्र—इस वर्ग में समाहित मन्त्र, परिवारस्थ ऐक्यभाव को उत्पन्न करने में अत्यन्त उपकारक हैं। अथर्ववेद में विवाह व प्रेम विषयक मन्त्रों के स्वतन्त्र सूक्त हैं। इन मन्त्रों के प्रयोगों से कुमारिकाओं को योग्यवर प्राप्त होता है। ये मन्त्र कन्याओं को गृहिणी पद से सुशोभित करते हैं। इन मन्त्रों से झटिति गर्भधारण होता है, पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। गर्भवती को उचित स्वास्थ्यलाभ होता है। इस प्रकार के मन्त्र सात्त्विक श्रेणी के हैं। दूसरी श्रेणी में वे मन्त्र है, जिनके प्रयोग से—विवाह–सम्बन्ध में उपस्थित विषमताओं का निवारण होता है। पति के मत्सरग्रस्त स्वभाव का भी निरसन हो जाता है। दुराचारी पत्नी को एकनिष्ठ बनाने में तथा अपनी प्रणयिनी से मिलने हेतु प्रयुक्त होनेवाले मन्त्रों का भी इस वर्ग में संग्रह होता है।

इन मन्त्रों के व्यतिरिक्त कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं, जिनके द्वारा स्त्री अथवा पुरुष को वश में किया जा सकता है। जैसे यदि नायक नायिका से प्रेम सम्पादन करना चाहता है तो वह मृत्तिका की प्रतिमा बनावे। उस धनुष की प्रत्यञ्चा 'सन' की हो। 'शर' काली लकडी का हो। उसके अग्रभाग पर उल्लू का पंख एवं काँटा हो। नायक उस बाण से नायिका के हृदय का भेदन करे। भेदन करते समय इन मन्त्रों के उच्चार का विधान है।

---

१. अथर्ववेद—सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवान्घ्या ॥
अनुव्रतः पितुः पित्रो मात्रा भवतु संमनाः
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ ३।३०

वह कहता हैं।

"कामदेव तुझे व्यथित करे। तुम शय्या पर सुस्थिर नहीं रह सकती। काम का बाण भयंकर है। ऐसे बाण से मैं तेरे हृदय का भेदन करता हूँ।"

"जिस बाण में आधि (मानसिक पीडा) का पंख लगा है। काम ही जिसका शल्य है, संकल्प ही जिसका कुल्मल है। इस प्रकार का बाण सुसज्जित कर (हे कामिनी) कामदेव तेरा हृदयविदारण करे।"

"हे मित्रावरुण! इसका चित्तविक्षेप करो कार्याकार्यविभाग के ज्ञान से शून्य कर मेरे स्वाधीन करो।[1]"

यदि स्त्री किसी पुरुष से प्रेम सम्बन्ध करना चाहे तो वह भी नायक अथवा पुरुष की प्रतिमा बना कर, अग्नि में तप्त शरों से हृदय भेदन करे भेदन के समय निम्न मन्त्रों का विधान है। वह स्त्री, प्रतिमा का भेदन करते हुए कहे—

हे मरुत। इस पुरुष को उन्माद हो ऐसा करो। हे अन्तरिक्ष! इसको उन्माद दो। हे अग्नि! तुम इसको इतना उन्मत्त करो कि वह मेरा स्मरण कर शोकार्त हो जावे।[2]

आपादमस्तक तेरे शरीर में, मैं कामपीड़ा को प्रविष्ट करती हूँ। हे देवों! इसके पास ऐसा काम भेजो, जिससे वह मेरे स्मरण में शोकार्त हो।[3]

कुछ मंत्र ऐसे हैं—जो अत्यन्त भयंकर है। जैसे स्त्रियाँ अपनी सौत

---

१. उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृताः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
ता सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥
व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे॥ (अथर्व ३।२५)

२. उन्माद यत मरुत उदन्तरिक्षमादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु॥

३. नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो खोनि तिरामि ते। (अथर्व ६।१३०)
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ (अथर्व ६–१३१)

(अपने पति की प्रेमिका) को मार्ग से दूर करने के लिए इस प्रकार के अनुष्ठान करती हैं। इस कार्य के उपयुक्त मन्त्र निम्न हैं—

"वृक्ष के पुष्प जैसे तोड़ लिये जाते हैं—उसी प्रकार मैंने इसका भाग्य एवं तेज हरण कर स्वतः धारण किया है। जिसकी जड़ें पृथ्वी में गहरी हैं ऐसे पर्वत के समान वह चिरकाल तक अपने माँ बाप के यहाँ रहे।"

हे यमराज ! यह तुम्हारी स्त्री हो, यह अपने माँ, बाप, भाई के घर चिरकाल तक रहे।[1]

कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनके प्रयोग से स्त्री को वन्ध्या (बाँझ) बनाया जा सकता है[2], किसी पुरुष के पुरुषत्व का हरण भी किया जा सकता है।[3]

कुछ मन्त्रसमूह इस प्रकार के है, जिसमें अभिशापमन्त्रों को बलहीन करने की सामर्थ्य है। उदाहरणार्थ काण्ड ५ का १४ वाँ सूक्त द्रष्टव्य है।

"हे औषधे ! गरुड ने तेरा अन्वेषण किया है। सूअर (शूकर) ने अपने नाक से पृथ्वी को खोद कर तुझे बाहर निकाला है। हे औषधे ! दुष्ट को तू रोगी बना कर उस जादू टोना करनेवाले को मार डाल।[4]

अथर्व संहिता के ६ वे काण्ड के ३७ वें सूक्त में भी इसी प्रकार का वर्णन हैं, परन्तु विशेषता यह हैं कि अभिशाप देने वाले पर ही अभिशाप का आरोप होता है।

उदाहरणार्थ—

"जैसे दाहक अग्नि सरोवर को बाधती नहीं है। उसीके समान हे

---

१. भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥
एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥ अथर्व- (१-१४)

२. अथर्व वेद—७-३५

३. अथर्व वेद ६-१३८

४. सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।
दिप्सौषधेत्वं दिप्सन्तमव कृत्माकृतं जहि॥ अथर्ववेद ५.१४

अभिशाप ! तू हमे बाधक न बन। जैसे आकाश से च्युत विद्युत्, वृक्ष को भस्म कर देती है। उसी प्रकार तू शाप देने वाले को नष्ट कर।[1]

५. राजकर्म सूक्त—इस वर्ग में राजाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले मंत्रों का समावेश होता है। इनमें कुछ मंशत्रुविषयक अभिशापपरक मन्त्र हैं, और कुछ पौष्टिक मन्त्र हैं। इनमें १—राज्याभिषेक के प्रसंग में पवित्र उदक से स्नान के मन्त्र। २—राजा का अन्य राजाओं पर प्रभुत्व रहे व उसके बल एवं कीर्ति की सदा वृद्धि के मन्त्र। ३—रथारोहण के समय के मन्त्र। ४—राजा के चुनाव के समय के मन्त्र ५—देश से विस्थापित राजा को पुनः गद्दी पर बैठाने के मन्त्र है। दुन्दुभिसूक्त हैं, जिसमें शत्रु पराजय एवं स्वविजय हेतु प्रर्थना की गई हैं। इस सूक्त के मन्त्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्यिक दृष्टि से वीर रस इन मन्त्रों में पूर्ण रूप से व्याप्त है। ये मन्त्र कायर पुरुष को भी उत्साह सम्पन्न कर सकते हैं।

लकडी से बनाया हुआ, बद्धियों से कसा हुआ, वीर के समान आचरण करने वाला, दुन्दुभि उच्चरव कर रहा हैं अपने आवाज (शब्द) को बढाकर, शत्रु पक्ष को बलहीन करने वाला तू विजयी सिंह के समान उच्चरव कर।"

दुन्दुभि की गडगड़ाहट सुन कर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रो के सघर्ष के बीच अपने पुत्र को छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम भूमि को कितना करुणरस से आप्लावित कर देती हैं[2]।"

६. अध्यात्म— इस वर्ग में तत्त्वज्ञान एवं जगदुत्पत्तिविषयक सूक्तों का समावेश होता है। इस वर्ग के विषय गहन एवं तत्त्वज्ञानात्मक होने से

---

१. अथर्व वेद—

> परि णो वृङ्घि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
> शप्तारमन्त्र जहि जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ ६–३७

२. उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः वाचं
> क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्सिंह इव जेष्यन्नभितंस्तनीहि।
> दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
> नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥

अथर्व वेद ५।२०

इन सूक्तों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः मंत्र विद्या एवं तत्वविद्या परस्पर भिन्न है, परन्तु अथर्ववेद में भैषज्य, शान्ति, पौष्टिक, अभिचार आदि मन्त्रों के साथ ही साथ तत्वज्ञानात्मक सूक्त भी हैं। जैसे—काल समस्त सृष्टि के अस्तित्व का मूलकारण है। अजर, भूरिरेत, सहस्राक्ष, सप्तरश्मिवान् अश्व रुपी काल हम सबका वहन कर रहा है। इस काल के सातचक्र, सात नाभी, अमृत अक्ष है। वह सभी लोकों का प्रेरक है। काल पूर्ण कुम्भ के समान अवच्छिन्न है, उसका हम साक्षात्कार अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से करते हैं। वही सम्पूर्ण भुवनों का व्यापकतत्व है। जिसे हम परमेव्योमनि। सम्बोधन देते हैं।[1],

अथर्ववेद के १३ काण्ड का ५४ वां सूक्त 'रोहित सूक्त' कहा जाता है। इस सूक्त में संग्रहीत तत्वज्ञान अपने कोटी का विलक्षण ही है। पृथ्वी के आधिदैविक, आधिभौतिक स्वरुप को स्पष्ट करने वाला महत्त्वपूर्ण सूक्त 'भूमिसूक्त' है।

७. प्रकीर्ण सूक्त—अन्त में हम कुछ ऐसे सूक्तों को पाते हैं, जो यज्ञार्थ हैं। जिनमें यज्ञ के हेतु प्रार्थना, आदि हैं। इस दृष्टि से दो आप्रीसूक्त लक्षणीय है (५।१२, ५।२७,) यजुर्वेद की गद्यात्मक शैली से सम्बद्ध गद्यमन्त्र १६ वें काण्ड में है। कुछ सूक्त यज्ञसाधनों से सम्बद्ध हैं। हवि को अर्पण करने हेतु विविध मन्त्र हैं (१।१५, २।२६, १९।१, ६।३९, ६।४०), २० वें काण्ड में सोमयाग विषयक सूक्त प्राप्त होते हैं। इस काण्डके अनेक सूक्त ऋग्वेद के हो सकते हैं, परन्तु 'कुंतापसूक्त' अपना विशिष्ट स्थान रखता है (२०।१२७–१३६)। कुन्ताप-सूक्त में दानस्तुति, कूटप्रश्नोत्तर, आदि विषय वर्णित हैं। इनके व्यतिरिक्त विवाहसूक्त (कांड १४) व्रात्यसूक्त (काण्ड १५) अभिषेक एवं दुःस्वप्ननाश (कांड १६) अन्त्यविधि के मन्त्र (काण्ड १८) हैं।



---

१. अथर्व वेद— (१९।५३।१, २, ३)

अथर्ववेद के ग्रन्थ

ब्राह्मण

१—गोपथ ब्राह्मण ।

श्रौतसूत्र

१—कौशिकसूत्र ।

गृह्यसूत्र

१—वैखानसगृह्यसूत्र ।

२—वाराहगृह्य सूत्र ।

व्याकरण

१—अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य ।

अथर्वपरिशिष्ट ग्रन्थ

१. नक्षत्रकल्पाभिधान
२. राष्ट्रसम्वर्ग
३. राजप्रथमाभिषेक
४. पुरोहितकर्म
५. पुष्पाभिषेक
६. पिष्टरात्र्याःकल्प
७. आरात्रिकल्प
८. घृतावेक्षण
९. तिलधेनुविधि
१० भूमिदानविधि
११. तुलापुरुषविधि
१२. आदित्यमण्डक
१३. हिरण्यगर्भविधि
१४. हस्तिरथविधि
१५. अश्वरथदानविधि
१६. गोसहस्रदानविधि
१७. हस्त्यश्वदीक्षा
१८. असाम्वत्सरीयं हस्त्यश्वदीक्षा
१९. वृषोत्सर्ग
२०. इन्द्रमहोत्सवविधि
२१. ब्रह्मयाग
२२. स्कन्दमहोत्सवविधि
२३. सम्भारलक्षणविधि
२४. अरणिलक्षणविधि
२५. यज्ञपात्रलक्षणविधि
२६. वेदिलक्षण
२७. कुण्डलक्षण
२८. समिल्लक्षण
२९. स्रुवलक्षण
३०. हस्तलक्षण
३१. लघुलक्षहोम
३२. बृहल्लक्षहोम
३३. कोटिहोम विधि
३४. गणमालाविधि
३५. घृतकम्बलविधि
३६. अनुलोपकल्प
३७. आसुरीकल्प
३८. उच्छुष्मकल्प
३९. समुच्चयप्रायश्चितविधि
४०. ब्रह्मकूर्चविधि
४१. तडागादिविधि
४२. पाशुपतव्रत
४३. सन्ध्योपासनविधि
४४. स्नानविधि
४५. तर्पणविधि
४६. श्राद्धविधि
४७. अग्निहोत्रकल्प
४८. उभयपटल
४९. वर्णपटल
५०. चरणव्यूह

५१. चन्द्रप्रातिपदिक
५२. ग्रहसंग्रहविधि
५३. राहुचार
५४. केतुचार
५५. ऋतुकेतुलक्षण
५६. कूर्मविभाग
५७. मण्डल
५८. दिग्दाहलक्षण
५९. उल्कालक्षण
६०. विद्युल्लक्षण
६१. परिवेषलक्षण
६२. भूमिकम्पलक्षण
६३. नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षण
६४. शेषोत्पात लक्षण
६५. सद्योवृषिलक्षण
६६. अद्‌भुतशान्तिः
६७. स्वप्नाध्याय
६८. अथर्वहृदय
६९. भार्गवपरिशिष्ट
७०. बार्हस्पत्यपरिशिष्ट
७१. उशनशाद्‌भुतानिपरिशिष्ट
७२. महाद्‌भुतपरिशिष्ट



वैदिक अतींद्रियस्थिति सम्बन्धों की अवधारणा

१. मरणोत्तरस्थिति विज्ञान

वैदिक सूक्तों में मृत्युविषयक उल्लेख बहुत कम हैं। अन्त्येष्टि प्रसंग में मरणोत्तरस्थितिविषयक विचार प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में दहन क्रिया एवं गाडने की क्रिया का संकेत है। एकस्थान में दहनविधि को कहा गया है[1] और अन्य स्थान में गाडने की विधि को भी संकेतित किया गया है।[2] 'अग्निदग्ध एवं अनग्निदग्ध' दो पितृवर्गों के उल्लेख हैं।[3] पृथिवी में गाडने का विधि सन्यासी एवं बालकों के लिये होता है। परन्तु दहन क्रिया, मृतक को स्वर्ग पहुँचाने का सुप्रतिष्ठित मार्ग है। इस हेतु उत्तरकालीन प्रेतविधि में दहन क्रिया ही गृहीत रही है।[4]

मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में वेद में जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे दहनसंस्कार से सुसम्बद्ध हैं। अग्निप्रेतों को दुसरे लोक (पितृलोक एवं देव-लोक) पहुँचाता है।[5] मर्त्य को वह अग्नि उत्तम अमर्त्यत्व प्रदान करता है।[6] दिव्यपक्षी अग्नि के द्वारा मनुष्य, सूर्य के अत्युच्च स्थान जहाँ पुराण ऋषि गये हैं, उस स्थान को जाते हैं।[7] गार्हपत्यअग्नि मृतक को सुकृत लोक ले जाता है।[8] अग्नि के धूम के साथ मृत मनुष्य दिव्यलोक में जाता है[9], इस दिव्य लोक का मार्ग बहुत दूर है, पूषन् मृतकों का संरक्षक है एवं सविता, मृतकों का मार्गदर्शक है।[10]

मृतमनुष्य के साथ वस्त्राभूषण देने का विधान है। वस्त्राभूषण देने का हेतु परलोक के जीवनक्रम में वस्त्राभूषणों की न्यूनता न हो।[11] पति

---

१. ऋ० १०।१६, २. ऋ० १०।१८।१०-१३,
३. ऋ० १०।१५।१४, अ० वे० १२।२।३८
४. आश्व० गृ० सू० ४।१,
५. ऋ० १०।१६।१-४, १०।१७।३,
६. ऋ० १।३१।७ ७. वा० सं० १८।५१,
८. अ० वे० ६।१२०।१, ९. आ० गृ० सू० ४।४।७,
१०. ऋ० १०।१७।४, ११. अ० वे० १८।४।३१,

के मृतशरीर के साथ जानेको पत्नी (सहर्ष उद्यत) को एवं मृत पुरुष के शस्त्रास्त्रों के दहन का विधि है।[१]

२. 'आत्मा'

अग्निसंस्कार अथवा गाडने से शरीर का ही नाश होता है। मृतक का आत्मा अमर्त्य है। वह शरीर से अलग भी रह सकता है। शरीर की मूर्छावस्था में भी वह शरीर से दूर रहता है एवं मरणोत्तर भी वह स्वतंत्र अस्तित्व में रहता है। शरीरस्थ चैतन्य को प्राण, आत्मन्, असु, मनस् इत्यादि अभिधान हैं।[१]

आत्मा, शरीर से पृथक् होने पर अमरत्व को प्राप्त होता है—तथापि मरणोत्तरस्थिति विज्ञान में मृत शरीर भी महत्त्वयुक्त रहता है, क्योंकि मरणोत्तर स्थिति भी देहयुक्त ही रहती है।[२] मरणोत्तर शरीर निर्व्यंग रहता है।[३] अर्थात् स्थूल भौतिक शरीर से भिन्न, अग्नि द्वारा परिशुद्ध सूक्ष्म शरीर रहता है।[४] मृतक का नेत्र सूर्य को एवं आत्मा वायु को समर्पित होता है।[५] और आत्मा शरीरान्तर प्राप्त करता है।[६]

पितर जिस मार्ग से गये हैं उसी मार्ग से जाकर[७] मृतक का आत्मा शाश्वत लोक में जाता है।[८] अग्नि ने राक्षसों को जिन पंखों से मारा,[९] उन पंखों पर आरुढ होकर आत्मा जाता है एवं उसमें देवों के समान तेजःसम्पन्नता आती है।[१०] मरुद्गण उसे ले जाते हैं, मन्द-मन्द वायु उसे हवा करते हैं, वृष्टि से शीतलता प्राप्त करता है। इस प्रकार उच्चलोकों का प्रवास करके मृतक का आत्मा पुनः पूर्ण शरीर धारण करता है।[११]

३. 'स्वर्ग'

पितर और यम जहाँ रहते है वह स्थान आकाश के मध्यभाग में है।[१२] अथवा वह स्थान द्युलोक में है जो कि आकाश में अत्युच्च स्थानीय है जहाँ

---

१. ऋ० १।११३।१६, ८।८६।५,
२. ऋ० १०।१६।५, अ० वे० १८।२।२६,
३. अ० वे० ६।१२०।३,
४. ऋ० १०।१६।६
५. ऋ० १०।१६।३,
६. ऋ० १०।५८।७
७. ऋ० १०।१४।७,
८. ऋ० ६।११३।७,
९. वा० सं० १८।५२
१०. अ० वे० ११।१।३७,
११. अ० वे० १८।२।२१–२६,
१२. ऋ० १०।१४।१५,

शाश्वत प्रकाश है।[1] अथर्ववेद के अनुसार, सर्वोच्च ज्योतिर्मय विश्व[2], आकाश का शिखर,[3] तीसरा आकाश और तीसरा स्वर्ग है।[4] मैत्रायणिसंहिता के अनुसार पितृलोक ही तृतीय लोक है।[5] ऋग्वेद के अनुसार पितृलोक सूर्य का सर्वोच्चभाग है,[6] जहाँ पितर सूर्य से संयोग करते हैं[7] पितरों के लिये ही सूर्य प्रकाशित होता है।[8] धार्मिक मनुष्य, विष्णु के जिस सर्वोच्च पाद को देखकर आनन्दित होते हैं,[9] उस पाद से पितरों का संयोग होता है।[10]

कठोर तपस्वी, वीर, दानी मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त होता है।[11] स्वर्ग में मृतक को आनन्दमय जीवन प्राप्त होता है।[12] जहाँ देवों का सान्निध्य प्राप्त करके[13] उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[14] स्वर्ग में मृतकों को सुन्दर शरीर प्राप्त होता है,[15] जहाँ मृतकों को जरा बाधित नहीं करती।[16] स्वर्ग में मृतक अपने बन्धुबांधवों को प्राप्त करता है।[17] जहाँ जहाँ शारीरिक पूर्णता रहती है[18] वहाँ न व्याधि है और न ही शारीरिक अङ्गों में विकार रहता है।[19]

ऋग्वेद में स्वर्गिक आनन्द का विस्तरशः वर्णन है।[20] स्वर्ग में अक्षय्य प्रकाश है—जहाँ जल-प्रवाह अत्यन्त वेगवान् और गति निर्बाध वाला है।[21] जहाँ आनन्द, सुख, समाधान एवं प्रेम का साम्राज्य है।[22]

---

१. ऋ० १०।१४।८, ९।११३।७,
२. अ० वे० ११।४।११, ४।३४।२,
३. अ० वे० १८।२।४७
४. अ० वे० ९।५।१,८, १८।२।४८,
५. मै० सं० १।१०।१८, २।३।९
६. ऋ० ९।११३।९,
७. ऋ० १०।१०७।२,
८. ऋ० १।१२५।६,
९. ऋ० १।१५४।५,
१०. ऋ० १०।१५।३,
११. १०।१५४।२, १।१२५।५, १०।१०७।२,
१२. १०।१४।८, १०।१५।१४
१३. ऋ० १०।१४।१४,
१४. ऋ० ९।११३।९,
१५. ऋ० १०।१४।८,
१६. ऋ० १०।२७।२१,
१७. अ० वे० ६।१२०।३,१२।३।१७,
१८. १०।१४।८, अ० वे० ६।१२०।३,
१९. अ० वे० ३।२८।५,
२०. ऋ० ९।११३।७–९
२१. तै० ब्रा० ३।१२।२।९,
२२. तै० ब्रा० २।४।६।६।

पृथिवी के अतिश्रेष्ठ आनन्द का सौगुना आनन्द स्वर्ग में हैं।[१] गायन, वादन है,[२] सोम, घृत, मधु की नदियाँ, जहाँ निरन्तर प्रवाहित होती हैं।[३] जहाँ दरिद्र, धनवान् अथवा प्रसिद्धि का भेद नहीं है।[४] वस्तुतः स्वर्ग, सुकृत करने वालों का जगत् है।[५]

४. नरक

वैदिक मान्यता के अनुसार पुण्यवान् मनुष्यों को स्वर्ग प्राप्त होता है, और दुर्जन प्रकृति को नरक प्राप्त होता है। राक्षसीवृत्ति वाले मनुष्यों का स्थान नीचे है जिसे 'नरकलोक'[६], एवं यम के ऊपर के लोक स्वर्ग लोक है।[७] नरक लोक हिंसक को प्राप्त होता है।[८] अथर्ववेद में नरक को 'अधमतम', 'कृष्णतम' और 'अन्धतम' नाम दिये गये हैं, और नरक की यातनाओं का भी वर्णन है।[१०] शतपथ ब्राह्मण में भी नरक यातनाओं का विस्तरशः वर्णन हुआ है।[११] पाश्चात्य विद्वान् मिस्टर रो कहते हैं कि ऋग्वेद में नरक का उल्लेख नहीं है, परन्तु ऋग्वेद में ही दुराचारी मनुष्यों हेतु अत्यधिक गहरा यह स्थान है।[११] दुराचारी लोगों को अगाध अंधकार में प्रक्षिप्त करने हेतु इन्द्र सोमकी प्रार्थना, 'नरक' को स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त उद्धरण है।

५. पितर

तीसरे स्वर्ग में रहने वाले पुण्यवान् 'पितर' कहे जाते हैं। ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य जाति के पूर्वज अथवा मूलपुरुष 'पितर' हैं।[१४] विष्णु के तृतीय पाद से सम्बद्ध पितरों के स्तुत्यर्थ ऋग्वेद में दो सूक्त हैं।[१५]

---

१. श० ब्रा० १४।७।१।३२,
२. ऋ० १०।१३५।७,
३. ऋ० १०।१५४।१, अ० वे० ४।३४।५,
४. अ० वे० ३।२९।३,
५. ऋ० १०।१६।४,
६. अ० वे० २।१४।३, ५।१९।३,
७. अ० वे० १२।४।३६,
८. वा० सं० ३०।५,
९. अ० वे० ८।२।२४, ५।३०।१८, १८।३।३,
१०. अ० वे० ५।१९,
११. श० ब्रा० ११।६।१, ११।२।७।३३
१२. ऋ० ४।५।५,
१३. ऋ० ७।१०४।३,
१४. ऋ० १०।१५।८
१५. ऋ० १०।१५, १०।५४

पितरों के नवग्व, वैरुप, अङ्गिरस, अथर्व, भृगु, वासिष्ठ आदि कुल प्रसिद्ध हैं। अङ्गिरसादि चार कुल ही अथर्ववेद द्रष्टा हैं एवं शेष ऋग्वेद के द्वितीय, सप्तम मण्डल के द्रष्टा हैं। अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवंआकाश में पितरों का वसति स्थान है।[1]

प्राचीन पितरों ने सोमयाग किया था।[2] वे यम के साथ आनन्द करते हैं। देवों के साथ भोजन करते हैं।[3] देवों के समान ही पितरों का जीवन क्रम, उन्हें सम्माननीय बनाता है। वे इन्द्र और अन्य देवों के रथों में भ्रमण करते हैं।[4] पितरों का अभीप्सित पेय सोम है, पितर दर्भासन पर दक्षिण दिशा में सोम पान करते हैं। पितर हजारों के समूह में यज्ञ भूमि पर आते हैं।[5]

पितरों का अन्न 'प्रदत्त बलि' होता है,—जिसका 'स्वधा' नाम ऋग्वेद में उल्लिखित है।[6] पितरों का अर्चन किया जाता है—जिससे भक्तों का उनके वंशजों का संरक्षण होता है।[7] उषा, नदी, पर्वत, द्यावा-पृथिवी, पूषा, एवं पितरों की कृपा की याचना एकत्र ही हुई है।[8]। सम्पत्ति, संतति, दीर्घायुष्य प्राप्त करने हेतु उनकी प्रार्थना की जाती है।[9]

पितर अमर हैं।[10] उन्हे देव कहा जाता है।[11] पितर मनुष्य से भिन्न हैं, उन्हें स्वतंत्र रुप से उत्पन्न किया गया है।

६. यम

सुख सम्पन्न मृतकों का नेता 'यम' है। ऋग्वेद में यम के स्तुत्यर्थक तीन सूक्त हैं।[12] यम देवों के साथ आनन्द करता है।[13] यम के साथ अनेक देवताओं का उल्लेख हुआ है जिनमें वरुण[14], बृहस्पति[15] एवं अग्नि प्रमुख

---

१. ऋ० १०।१४।४।६, १०।१५।८, १०।१४।३,५, अ० वे० १८।२।४९,
२. ऋ० १०।१५।८
३. ऋ० १०।१४।१०, ७।७६।४
४. ऋ० १०।१५।१०,
५. १०।१५।१, १०।१५।८–११,
६. ऋ० १०।१४।३,
७. ऋ० १०।१५।२, ५, ६,
८. ऋ० ६।५२।४, ६।७५।१०, ७।३५।१२
९. ऋ० १०।१५।७
१०. अ० वे० ६।४१।३,
११. अ० वे० १०।५६।४
१२. ऋ० १०।१४, १०।१३५, १०।१५४,
१३. ऋ० ७।७६।४, १०।१३५।१,
१४. ऋ० १०।१४।७
१५. ऋ० १०।१३।४,

हैं। अग्नि मृतकों का वाहक होने से यम का घनिष्ठ सम्बन्धी है।[1] वह यम का पुरोहित है[2], जिसे यम ने खोज निकाला।[3] अग्नि, यम एवं मातरिश्वन् एक ही देवता के भिन्न भिन्न नाम हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यम के देवतात्व की सिद्धि हो जाती है। यम देवता मात्र ही नहीं हैं अपितु मृतकों का शासनकर्ता भी है।[5] मृतक स्वर्ग में जाकर वरुण एवं यम से ही प्रथम साक्षात्कार करते हैं।[6] यम का पितरों से सम्बन्ध है, विशेषकर अङ्गिरस के साथ[7], जिनके साथ यज्ञ में आकर वह आनन्द करता हैं।[8] तैत्तिरीय आरण्यक में यम के घोड़ों का उल्लेख हैं जिसके अनुसार वे अश्व हिरण्यनेत्र एवं लोहमय खुरों वाले हैं।[9]

यम का वसतिस्थान आकाश में अत्यन्त दूर प्रदेश में है।[10] तीन स्वर्गों में दो सविता के हैं. व एक यम का है।[11] यम का स्वर्ग सर्वोच्च है। वाजसनेयी संहिता के अनुसार यम और यमी स्वर्ग में सर्वोच्च स्थान पर रहते हैं[12], जहाँ निरन्तर गायन एवं वादन चलता रहता है।[13] विवस्वान् यम का पिता, और सरण्यू उसकी माँ है।[14]



---

१. ऋ० १०।२१।५,
२. ऋ० १०।५२।३,
३. ऋ० १०।५१।३
४. ऋ० १०।५१।३,
५. ऋ० ६।११३।८, १०।१६।६
६. ऋ० १०।१४।७
७. ऋ० १०।१४।३,
८. ऋ० १०।१४।३, १०।१५।८
९. तै० आ० ६।५।२,
१०. ऋ० ६।११३।८,
११. १।३५।६,
१२. वा० सं० १२।६३,
१३. ऋ० १०।१३५।७,
१४. ऋ० १०।१४।५, १०।१७।१,

तृतीय अध्याय

ब्राह्मण

वेद का सर्वमान्य लक्षण 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' है यह पूर्व किया गया विवेचन क्रम से प्राप्त है। वेदवाङ्मय में ग्रन्थवाचक ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्माणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' मेदिनी कोषकार के अनुसार भी ब्राह्मणशब्द नपुंसकलिंग है अन्म ग्रन्थों में भी यही व्यवस्था दृष्टिगत होती है।[1] तै० सं० में भी ग्रन्थवाचक ब्राह्मणशब्द नपुंसकलिंग में ही प्रयुक्त हुआ है।[2] मन्त्रों के व्याख्या ग्रन्थ 'ब्राह्मण' है। ब्रह्मन् = मन्त्रवाच्य शब्द है, ब्रह्म वै मन्त्रः।[3] तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्म अर्थात् वेद। इन वेदों का ज्ञान, जिनके कारण होता है, वे ब्राह्मण ग्रंथ हैं। तै० सं० के भाष्यकार भट्टभास्कर ने ब्राह्मणशब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'जिसमें मन्त्रों एवं उनके विनियोगों की व्याख्या निहित होती है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।[4]

ब्राह्मणशब्द का मूल अर्थ यज्ञकर्मों का विस्तृत विवेचन है। मन्त्रों की व्याख्या होने पर भी ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक विषयों का समावेश है जिनका संहिता ग्रन्थों में उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म शब्द का अन्य अर्थ यज्ञ भी है। अतः अनेक प्रकार के यज्ञों के कर्मकाण्ड का अर्थात् कौन से मन्त्र से कौन सा कार्य करें, इसका विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में है। इसी हेतु से ब्राह्मण को विनियोगात्मक ग्रंथ कहा जाता है। एवं यज्ञों के विधान के प्रसंग में अनेक शस्त्रों का उल्लेख भी यत्र तत्र प्राप्त होता है। पाश्चात्य संशोधकों ने ब्राह्मण ग्रंन्थों की प्रकृति से अलग रहकर उनपर आक्षेप किये हैं, जो आधारहीन हैं।

उपर्युक्त अर्थनिश्चय पर आधारित अन्य भाष्यकारों ने भी इसी अर्थ का अनुसरण किया है—"तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्र व्याख्यानरूपत्वाद्व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति" इति काण्व-

---

१. पाणिनि ३।४।३६ निरुक्त ४।२७, ब्राह्मण शत ४।६।६।२०, ऐ० ब्रा० ६।२५,

२. तै० सं० ३।७।१।१,

३. श० ब्रा० ७।१।१।५,

४. तै० सं० १।५।१,

भाष्य में सायण। "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्र-व्याख्यानरुपत्वान्मंत्रा एवादौ समाम्नाताः" इति तै. सं. भाष्य में सायण। 'नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते' वाचस्पति मिश्र। इन निर्वचनों से यहस्पष्ट ही है कि ब्राह्मण = "ब्रह्मणो वेदस्य मन्त्रराशेरिदं नाम, यज्ञक्रियावस्तुतत्त्वादिनिरुपकं प्रवचनं ब्राह्मणम्"—मत्रराशि-रूप वेद की यज्ञक्रिया का वस्तुतः निरुपक ग्रन्थ का नाम ब्राह्मण है।

ब्राह्मण–प्रामाण्य

मन्त्रों के समान 'ब्राह्मण भाग' भी वेद है।

भारतीय वैदिक विद्वान "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस कात्यायन सूत्र के अनुसार मन्त्रों और ब्राह्मणों दोनों को ही 'वेद' मानते हैं। यही भारतीय परम्परा चली आ अही है।

तथापि कतिपय विवेकशून्य और पाश्चात्य शिक्षादीक्षित लोग 'ब्राह्मण भाग' को वेद नहीं मानने। उनका कहना है कि 'ब्राह्मण भाग' इसलिये वेद नहीं हो सकता कि 'ब्राह्मण ग्रंथ' को ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, और नाराशंसी के नाम से भी कहा जाता है।

ये ईश्वर के द्वारा उच्चरित नहीं है। ये तो वेदों की व्याख्याएँ है, जिनकी रचना महर्षियों ने की है।

कात्यायन को छोड़कर किसी भी अन्य ऋषि ने उसका वेद होना नहीं कहा है।

एवंच, देहधारी मनुष्यों के द्वारा रचित होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की 'वेद' संज्ञा नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में लौकिक मनुष्यों के नामोल्लेख सहित इतिहास प्राप्त होते हैं। मन्त्रों में वैसा कोई इतिहास नहीं है।

किन्तु यह कथन बहुत असंगत है। क्योंकि जैसे शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मणग्रंथों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के आख्यान उपलब्ध होते हैं, वैसे ही मन्त्रों में भी मनुष्यों के नाम उपलब्ध होते हैं। जैसे—

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं नन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥"

तब क्या मन्त्र भाग को भी वेद नहीं कहा जायगा ?

उसी तरह ब्राह्मण भाग के वेद, न होने में जो प्रथम-हेतु (ब्राह्मण की इतिहास, पुराण-ये संज्ञायें हैं) बताया है, उस पर किञ्चिद् विचार करते हैं—

जिससे ब्राह्मण ग्रन्थ को वेद, न मानने वालों के विचारों का अनौचित्य (खोखलापन) स्पष्ट हो जायगा। जब एक ही व्यक्ति की 'घट' कलश, द्रव्य आदि अनेक संज्ञाएँ, हो सकती हैं, तो ब्राह्मणभाग की इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि संज्ञाओं के होने में कौन सी अनुपपत्ति है ? अनेक संज्ञाओं के होने पर भी उसे 'वेद' कहने में कौन सी रुकावट है ? एवंञ्च ब्राह्मणभाग को वेद और इतिहास, पुराण भी कहा जा सकता है। अतः प्रथम हेतु निर्मूल है।

अब द्वितीय हेतु (वेद का व्याख्यानरूप होने से ब्राह्मणभाग वेद नहीं है) पर विचार करते हैं। यह द्वितीय हेतु भी असंगत है। ब्राह्मणभाग को वेद, न माननेवालों के आशय को हम अनुमान के आकार में इस तरह बता सकते हैं—"ब्राह्मणानि न वेदाः वेदव्याख्यानरूपत्वात्"—इस अनुमान में 'हेतु' भी अनैकान्तिक है। अर्थात् कहीं कहीं मन्त्र भी अन्य मन्त्र का व्याख्यान करते हैं, फिर भी उन्हे 'वेद' माना जाता है, तो 'ब्राणभाग' ने कौन सा अपराध किया ? जो वेद का व्याख्यान करने के कारण ही उन्हें वेद, न कहा जाय। यदि व्याख्यानरूप न होने से ही किसी ग्रन्थ का 'वेदत्व' हो तब तो सभी दर्शन-सूत्रों को भी 'वेद' शब्द से कहा जा सकेगा। किन्तु उन्हें कोई भी 'वेद' शब्द से नहीं कहता है। अतः व्याख्यानरूप होने से ब्राह्मण भाग की 'वेद' संज्ञा सर्वस और सर्वथा अमिट ही है। उसे मिटाया नहीं जा सकता।

किञ्च 'व्याख्यानरूपत्वात्'-यह 'हेतु', सोपाधिक भी है। यहाँ पर 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' 'उपाधि' है। जहाँ-जहाँ पूर्वपक्षियों का समस्त 'वेदत्वाभाव' रूप साध्य रहेगा, वहाँ-वहाँ 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व' भी रहेगा, जैसे-महाभारत आदि में। यह तो हुई 'उपाधि' में साध्य व्यापकता। अब उसी में साधन की अव्यापकता को भी देखिये। वेद व्याख्यानरूप हेतु, 'मन्त्रों' में भी है, किन्तु वहाँ ,स्मर्यमाणकर्तृकत्व' नहीं है। ऐसी स्थिति में उपाध्यभावरूप हेतु से 'ब्राह्मण' में साध्याभाव अर्थात् वेदत्व का अनुमान कर लिया जायगा। जैसे 'ब्राह्मणानि वेदाः स्मर्यमाणकर्तृकत्वाभावात्'। अतः इस प्रकार से पूर्वोक्त अनुमान, खण्डित हो जाता है।

इसी तरह तृतीय हेतु (ऋषिभिरुक्तत्वात्) ऋषियों से उक्त होने के कारण ब्राह्मणभाग, वेद नहीं है। यह तृतीय हेतु भी असंगत ही है। क्योंकि यदि ऋषियों से उक्त होना ही 'वेदत्व' का बाधक है, तब तो 'ऋगादिमंत्र' भी ऋषियों से उक्त हैं, क्योंकि अनादिकाल से उनका भी अध्ययनाध्यापन ऋषियों द्वारा ही चला आ रहा है। अतः ऋष्युक्तत्व, ब्राह्मणों के 'वेद' कहलाने में बाधक नहीं है। यदि 'उक्त' का अर्थ-'रचित' है, तब तो ब्राह्मण-भाग का ऋषियों से रचित होना ही असिद्ध है। तब उससे 'साध्य' की सिद्धि कैसे होगी ? यदि भारद्वाज, अंगिरा, पुलह, याज्ञवल्क्य, जनक आदि का संवाद देखकर 'ब्राह्मणभाग' को ऋषियों से रचित कहा जाय, तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वेदों की 'वेदता' ही इसी में है कि वे, अतीत, अनागत, वर्तमान, सन्निकृष्ट; विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं को वे स्वयं जानते हैं और दूसरों को जनाते हैं। "भूतं भवद्भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति"।

लौकिक वाक्यों के प्रयोग, अर्थपूर्वक हुआ करते हैं, किन्तु वैदिकवाक्यों के प्रयोग, अर्थपूर्वक नहीं हुआ करते। क्योंकि वेद, नित्य हैं। जब ऋषियों में भी अर्थनिरपेक्षा भविष्यत् बात कहने की शक्ति होती है, तो फिर ईश्वर-निःश्वासभूत-वेदों के लिए तो कहना ही क्या है ? साधारण लोग अर्थानुसारी शब्द बोला करते हैं परन्तु ऋषिलोगों के तो शब्दों का अनुसरण 'अर्थ' किया करते हैं—

"लौकिकानां ऋषीणां तु वागर्थमनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥"

अतः वेद में संवाद के आनेमात्र से ही उसकी अनादिता का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि वेदों से भी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की वस्तु कही जाती है। अन्यथा 'सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—इस संहिता मंत्र में भी अवेदत्वापत्ति आ जायगी। एवञ्च जैसे चन्द्र-सूर्य की सृष्टि का वर्णन होने पर भी मंत्रों का सृष्टि के पश्चात् निर्माण न मानकर यही माना जाता है कि वेद, अर्थपूर्वक नहीं होते, किन्तु अर्थ निरपेक्ष अतीत, अनागत सभी अर्थों का वर्णन करते हैं। ठीक यही स्थिति ब्राह्मण भागों की भी है। तब उनके वेदत्व में शङ्का होने का अवकाश ही कहां है ?

अब चतुर्थ हेतु (कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वात्) कात्यायन के अतिरिक्त अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणग्रन्थ को वेद शब्द से नहीं

माना । अतः वे वेद नहीं हैं । इस चतुर्थ हेतु का उपन्यास करना बड़े साहस और उपहास की बात है । क्योंकि—'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'–यह आपस्तम्ब महर्षि ने यज्ञ परिभाषासूत्रों में कहकर ब्राह्मण को 'वेद' माना है । इसके अतिरिक्त सर्ववैदिक शिरोधार्य मीमांसादर्शन में 'तच्चोदकेषुमंत्राख्या, शेषे ब्राह्मण शब्दः'—इन दो सूत्रों से महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि यज्ञ क्रिया के स्मरण कराने वाले वेद भाग को 'मन्त्र' कहा जाता है, और उससे अवशिष्ट वेदभाग को 'ब्राह्मण' कहा जाता है । यदि 'ब्राह्मण', वेद का भाग न होता तो उसे मंत्र की अपेक्षा शेष (अवशिष्ट) कैसे कहते? अतः यह स्पष्ट है कि वेद के मंत्र और ब्राह्मण दो भेद हैं । भाष्यकार शबर स्वामी भी यही कहते हैं कि 'मंत्र' का लक्षण कह देने पर 'ब्राह्मण' के लक्षण कथन की आवश्यकता नहीं रहती । जब मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं, तो जिसमें मंत्र का लक्षण न घटता हो, उसी वेद भाग को ब्राह्मण समझ सकते हैं—यह परिशेष न्याय से सिद्ध है ।

महर्षि जैमिनी ने पूर्वोक्त दो सूत्रों से सम्पूर्ण वेद का लक्षण बताकर उक्त वेद के ऋक्–साम–यजुर्मन्त्रभाग के लक्षणों को तीन सूत्रों से बताया है । 'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' । 'गीतिषु सामाख्या', । उक्त दोनों भागों से अन्य भाग को 'यजुः' कहा है । यदि मंत्र भाग ही वेद होता, तो मन्त्र का लक्षण कहने के बाद ही ऋगादि का लक्षण कहते । मन्त्र और ऋगादि के लक्षणों के बीच 'ब्राह्मण' का लक्षण कहना वेदैकदेश मन्त्र के समान ही ब्राह्मण को भी वेदैकदेश सिद्ध करता है । अतएव 'स्वर्गकामो यजेत्', 'न कलञ्जं भक्षयेत्'—इत्यादि धर्माधर्म का बोध कराने वाले विधि निषेध, ब्राह्मण भाग में ही आते हैं । वेद, 'अपौरुषेय' होने से ही उसका स्वतः प्रामाण्य मानकर धर्माधर्म की व्यवस्था की जाती है । मंत्रों में प्रायः विधि, निषेध है ही नहीं । अतः उनसे धर्माधर्म का ज्ञान हो ही नहीं सकता । अतएव ब्राह्मण वाक्यों से ही भिन्न–भिन्न कार्यों में मंत्रों का विनियोग किया जाता है ।

"कात्यायन के अतिरिक्त अन्य किसी ऋषि ने ब्राह्मण को वेद नहीं माना" यह कहना तो एकदम सफेद झूठ है, दूसरे की आँख में धूल झोकना मात्र है । प्रथमतः तो परम आप्त श्रौतसूत्रकार कात्यायन का वचन ही पर्याप्त है । तथा 'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—इसी वचन को अन्य ऋषियों ने सादर, स्वीकार किया है । बौधायनगृह्यसूत्र (२।६।३), बौधायन धर्मसूत्र (२।६।७), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२४।१।३१) सत्याषाढश्रौतसूत्र (१।१।७)

कात्यायन परिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र (२)—इतने ऋषियों ने अपने अपने ग्रन्थों में उक्तवचन को सादर उद्धृत किया है। 'वेदं च समाप्य स्नायात्' (पारस्कर) गृह्यसूत्र उपनयन प्रकरण), वहीं पर 'एवं विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः (विधि और तर्क ब्राह्मण हैं, विधेय, मन्त्र है), कौषीतकी सूत्र का भी यही मत है। चरणव्यूह में लिखा है—

"त्रिगुणं पठचते मन्त्र यन्त्र–ब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयो शेषाः शाखान्तराः स्मृताः"॥

जिसमें मन्त्र-ब्राह्मण के साथ त्रिगुण (संहिता, पद, क्रम) पढ़ा जाता है, वही यजुर्वेद है, शेष शाखान्तर है। अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र में "आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च"। तथा शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य (१।१।२) में "स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः" (१।१) सूत्र पर कहा है—"ब्राह्मणेऽपि स्वरविधानात् ब्राह्मणभागस्य मन्त्रत्वम्"। "प्रातिशाख्य प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट में कहा है—"ब्राह्मणे तूदात्तानुदात्तौ भाषिकस्वरौ" (८ सूत्र)। इस सूत्र में बताया गया है कि ब्राह्मण में भी स्वर विधान है। अतः ब्राह्मण भी छन्द हैं। क्योंकि स्वरनियम, 'स्वरसंस्कारयोः' इत्यादि वचन से वेद में ही हैं और वे स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, तथा प्रचित रूप हैं। सायणाचार्य भी मंत्रशुब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं—'मंत्रब्राह्मणत्वं तावद् वेदस्य अदुष्टं लक्षणम्'।

'षड्गुरु शिष्य' ने भी कहा है कि 'मंत्र ब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः'। कौटिल्य न भी 'ब्राह्मण' को 'आम्नाय' शब्द से कहा है। 'मंत्रब्राह्मणयोर्वेद नाम प्रोक्तमृगादिषु'—(४।२७१) इस शुक्रवचन के अनुसार भी मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। भाष्यकार शबर स्वामी के मत का उल्लेख करते हुए श्री कुमारिल भट्ट पाद तन्त्र वार्तिक में लिखते हैं—'मन्त्राश्च ब्राह्मणश्च वेदः'। 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' यहाँ पर 'श्रुति' शब्द से 'ब्राह्मण' का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उन्हीं में धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यागादिरूप धर्म का ज्ञान, विधिरूप ब्राह्मण से ही होता है। अतः इस प्रकार असंख्य प्रमाणों के रहते कौन ऐसा विवेकी बुद्धिमान होगा, जो 'ब्राह्मण ग्रन्थ' को 'वेद' न कहने का साहस करे॥ एवञ्च मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही 'वेद' शब्द से कहे जाते हैं।

—ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य—

ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय प्रतिपादन शैली संहिता ग्रन्थों की शैली से

भिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञकर्म का विधान है। अग्निहोत्र से लेकर विधीयमान समस्तयागों का निरुपण ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग, इत्यादि यागों के निरुपण के साथ साथ अहीन सत्रादि एवं काम्ययागों का वर्णन भी ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यज्ञ का विधान कब हो? कैसे हो? किन किन साधनों से हो? इस प्रकार अनेक यज्ञकर्म विषयक प्रश्नों का समाधान ग्रंथों में प्राप्त होता है। उपर्युक्त बिभागों की 'विधि' संज्ञा है। शबर स्वामी ने दस प्रकार के विधि का कथन किया है।

वस्तुतः विधि ही ब्राह्मणों का प्रधान विषय है इनके व्यतिरिक्त अन्य विषय, विधि के ही पोषक होते हैं। इसी प्रकार के विषयों के विभाग में 'अर्थवाद' का ग्रहण होता है। अर्थवाद में विधिवाक्य के द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा और निषेधवाक्य द्वारा निषेध्यपदार्थ की निन्दा का ग्रहण होता है। "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः"। अर्थवाद के प्रमुख रूप से चार भेद हैं—'स्तुति, निन्दा, अन्य के द्वारा विहित कर्म, एवं पूर्व कल्प में घटित कथा। अर्थात् ब्राह्मण ग्रंथों में विधि, निषेध, और अर्थवाद ये चार प्रमुख विषय होते हैं। परन्तु विभिन्न आचार्यों ने ब्राह्मण के विषय विभाग को अनेक प्रकार से उपस्थित किया है। प्रतिज्ञा परिशिष्ट में कात्यायनाचार्य ने एकादश प्रकारक ब्राह्मण को कहा है—

"विधिर्निन्दा प्रशंसाऽध्यात्मधियज्ञमधिदैवतमधिभूतमनुवचनं परकृति पुराकल्पः सृष्टिरितिब्राह्मणम्।

शबर स्वामी ने ब्राह्मण ग्रंथों के विधेय दस पदार्थों का ग्रहण इस प्रकार किया है—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयोविधिः।
परक्रिपा पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥ २।१।८

बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वयं श्रुति के द्वारा ब्राह्मणों के आठ प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है—

"इतिहासः पुराणं विद्या, उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि" (२।४।१०)। पारस्कराचार्य ने केवल दो भागों को ही स्वीकार किया है—"विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः" (पा. गृ. सू. २।५) (विधि एवं तर्क)। गोपथ ब्राह्मण में वाकोवाक्य, अनुमार्जनादि अन्य भेद पठित हैं,

परन्तु ये सम्पूर्ण भेद बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ये समस्त भेद ज्ञानदृष्टया एवं विशषविवेचनदृष्टया अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतः हमने यहाँ सबका संग्रह करना श्रेयस्कर समझा है।

मंत्रों के अर्थ का प्रकाशन ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है इस हेतु इन्हें भाष्य ग्रंथ भी कहा जाता है। कौन से मंत्र का कौन से कर्म हेतु विनियोग होगा ? इसका कथन तो ब्राह्मणों में है ही, प्रत्युत मंत्र में प्रयुक्त शब्द का अर्थ कर्म से सुसंवादी कैसे है ? इसका वर्णन भी अत्यन्त वैज्ञानिक शैली में प्राप्त होता है। उदा०–सनः पक्स्वशं गवे (साम. २।११।१३) इस ऋचा पर साम–गान पशुरोगनिवारक यज्ञ में करना चाहिये, ऐसा विधि ताण्डयब्राह्मण में है। प्रस्तुत मंत्र में पशुओं के रोग निवारण का संकेत प्राप्त ही है। इस कारण कर्म के अनुरुप मंत्र का विनियोग हुआ है। परन्तु "आ नो मित्रा-वरुणा" (साम. २।१।१।५।१) दीर्घ रोग से ग्रसित मनुष्य के रोग निवार-णार्थं इस ऋचा पर सामगान करने का विधि है। प्रकृत मंत्र में मित्रा वरुण की स्तुति मात्र है। उसके अर्थ का कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसे स्थलों पर ब्राह्मण ग्रंथों में मंत्र के रहस्य को स्फुट-स्पष्ट किया गया है।

तांड्यमहाब्राह्मण में कहा गया है कि मित्र, दिवस की देवता है एवं प्राण की प्रतिनिधि है, वरुण रात्रि की देवता है, एवं अपान की प्रतिनिधि है। इस हेतु ये देवता दीर्घ रोगी के शरीर में वास कर उसके प्राण, अपान को नियंत्रित करें। ऐसा आध्यात्मिक स्पष्टीकरण ब्राह्मणव्यतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्राह्मण संख्या

प्रतिशाखा के अनुसार प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण ग्रंथ थे। काल के प्रभाव से अधिकतर लुप्त हो गये हैं, तथापि कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। एवं अन्य लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख अन्य श्रौतादि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

प्राप्त ब्राह्मण ग्रन्थ निम्न हैं—

ऋग्वेद--(१) ऐतरेय ब्राह्मण (२) शांखायन ब्राह्मण।

यजुर्वेद—

(१) शुक्लयजुर्वेद—शतपथब्राह्मण।

(२) कृष्णयजुर्वेद—तैत्तिरीय ब्राह्मण।

सामवेद—

(१) ताण्ड्य (२) षड्विंश (३) सामविधान (४) आर्षेय (५) दैवत (६) छान्दोग्य (७) संहितोपनिषद् (८) वंश (९) जैमिनीय।

इस संख्या से स्पष्ट है कि कुछ ब्राह्मण ग्रंथ ही उपलब्ध हैं। अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष हमें नहीं है, परन्तु वाङ्मयादि में उनका उल्लेख है। हम कुछ ब्राह्मणों का निर्देश प्रस्तुत कर रहे हैं।

पैङ्गायनि ब्राह्मण

प्रपञ्चहृदय के अनुसार 'पैङ्ग्यनामक' ऋग्वेद की एक शाखा थी।[1]

आपस्तम्ब[2] एवं बौधायन[3] श्रौतसूत्रों में भी पैङ्गायनि ब्राह्मण के उल्लेख स्पष्टरूप में प्राप्त होते हैं।

(२) चरक ब्राह्मण

यजुर्वेद की चरक शाखा से सम्बन्धित ब्राह्मण के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं, और उसकी प्रधानता अन्यशास्त्रान्तरों में उद्धृत उद्धरणों से सुस्पष्ट हो जाती है। सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद भाष्य में चरक ब्राह्मण का संकेत किया है।[4]

स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्य में चरक ब्राह्मण को उद्धृत किया है।[5] प्रतिज्ञासूत्र की टीका में भी चरक ब्राह्मण का उल्लेख है।[6]

(३) काठक ब्राह्मण

यजुर्वेद की कठशाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण के अनेक उद्धरण वाङ्मय में यत्रतत्र उपन्यस्त हैं। कुछ उद्धरण प्रकृत प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है। गोविन्दानन्दविरचित शुद्धि कौमुदी में काठक ब्राह्मण का यत्रतत्र संग्रह है।[7] याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरार्क टीका में यह ब्राह्मण उद्धृत किया गया है।[8] काठक गृह्यसूत्र में अनेक स्थानों पर कठब्राह्मण के वचन प्राप्त होते हैं।[9] महाभारत में भी काठक ब्राह्मण का संकेत है।

---

१. प्र० हृदय, (त्रिवेन्द्रम १९३५, पृ. १८)

२. आप. श्रौतसूत्र ५।१४।१८

३. बौ. श्रौ.सू. ५।२९।४, ४. म. सू. ७७ मं. १० सायणभाष्य,

५. पृ. ३०४, सम्पादक लक्ष्मणस्वरूप, लाहोर

६. अनन्तभाष्य समेत १।८, ७. शुद्धिकौमुदी,

८. याज्ञवल्क्य अपरार्क टीका, ९. काठकगृह्यसूत्र,

(४) मैत्रायणी ब्राह्मण

यजुर्वेद से सम्बन्धित एक और ब्राह्मण का संकेत, वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। मैत्रायणि ऋषि इस शाखा के प्रवर्तक हैं। बौधायन श्रौत-सूत्र में इस ब्राह्मण का स्वनामोच्चारसहित उल्लेख है।[1] सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र में भी इस ब्राम्हण के अस्तित्व का स्फुट संकेत प्राप्त होता है।[2]

(५) खाण्डिकेय ब्राह्मण

चरणव्यूहकार के अनुसार तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध दो भेद हैं—प्रथम औखेय और द्वितीय खाण्डिकेय। भाषिक सूत्र में खाण्डिकेय ब्राम्हण के संकेत हैं।[3]

(६) भाल्लवि ब्राह्मण

सामवेद की शाखा से सम्बद्ध भाल्लवि ब्राम्हण के संकेत यत्रतत्र प्राप्त होते हैं। महाभाष्यकार ने भाल्लवि ब्राम्हण का उल्लेख किया है।[4] द्राह्या-यण श्रौतसूत्र मे भी इसका उद्धरण प्राप्त होता है।[5]

शाट्यायन ब्राह्मण

अनुपलब्ध उद्‌धृत ब्राह्मणों के संकेतों के आधार पर अनेक स्थलों पर शाट्यायन ब्राह्मण का भी उल्लेख है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में इसका संकेत हैं।[6] रुद्रदत्त आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में भी इस ब्राह्मण का स्वनाम सहित संग्रह हैं।[7] भारद्वाज गृह्यसूत्र एवं ऋक्सर्वानुक्रमण में भी इस ब्राह्मण के संकेत हैं।[8]

पं० भगवद्‌दत्तजी ने इस विषय पर अनेक जिज्ञासाओं का उपशमन करते हुए मौलिक चिन्तन किया है, जो इस क्षेत्र के अनुसंधान की अनेक समस्याओं की पूर्ति कर देता है। अनेक ब्राह्मण अनुपलब्ध हैं, परन्तु उनका चिन्तन ग्रंथान्तरों में शाश्वत रूप से अभी तक टंकित है। ऋग्वेद के निम्न ब्राह्मण अप्राप्य है—

(१) तलवकार, (२) बह्वृच, (३) आश्वलायन (४) गालव।

---

१. ३०।८, २. पृ. ९७२, गोपीनाथ, आनन्दाश्रम पूना,
३. ३।२६, ४. महा. ४।२।१०१ वार्तिक १९,
५. द्रा. श्रौ. सू. ३।४।२ ६. आ. श्रौ. सू. प्र. ५।क. २३। सू. ३
७. आ. श्रौ. सू. १४।२३।१४
८. भा. गृ. सू. ३।१८।१, ऋ. सर्वा. ३।३२

यजुर्वेद के अधोलिखित ब्राह्मण अनुपलब्ध हैं, परन्तु उनके संकेत ग्रंथान्तरों में हैं।

१–श्वेताश्वतर, २–औखेय[1] ३–हारिद्रविक[2], ४–तुम्बरु, ५–आह्वरक[3] ६–छागलेय, ७–कंकाति।[4]

सामवेद के ये बाह्मण १–कालबवि, २–रौरुकि, आदि ब्राह्मण अनुपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रकरण में कुछ ही ब्रह्माणों का उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण

ऐतरेयब्राह्मण

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण 'ऐतेरेय' है। ऋग्वेद में पठित स्वति के रहस्यों को ऐतरेय ब्राह्मण में सुस्पष्टरूप से प्राप्त किया जा सकता है। ग्रंथ की शैली दुघर्ष अवश्य है किन्तु अल्पआयास से अध्ययन योग्य भी है। इस ब्राह्मण का कर्ता ऐतेरेय-महीदास को माना जाता है, परन्तु इस धारणा में सत्यता न्यून ही है। क्योंकि आधुनिक अनुसंधान पद्धति, 'द्रष्टा' को ही कर्त्ता कह रही है, जिसके चलते यह भ्रमोत्पत्ति हो रही है।

ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायों से युक्त एक 'पञ्चिका' है। इसके व्यतिरिक्त प्रत्येक अध्यायगत व्यवस्था 'कण्डिका' से सुसज्ज है। इस प्रकार इसमें ४०–अध्याय, ८–पञ्चिका, २८५–कण्डिकायें हैं। इस ब्राह्मण का प्रधान विषय हौत्रकर्म हेतु ऋचाओं के विनियोग का निरुपण करना है। सोमयाग का सिस्तृत विवेचन इस ब्राह्मण में प्राप्त होता है। प्रथम १६ अध्यायों में अग्निष्टोम याग का ऊहापोह हुआ है। १७ एवं १८ वें अध्याय में ३६० दिवस पर्यंन्त सम्पन्न होने वाले गवामयन सत्र का विचार निरुपित है। १९ से २४ अध्याय पर्यंन्त द्वादशाहयाग का वर्णन है। २५ से ३२ अध्याय में अग्निहोत्र की व्यवस्था निरुपित है। अन्तिम ८ अध्यायों में राज्याभिषेक का विधि विस्तृत रूप में वर्णित है।

चरणव्यूह सूत्रगत यजुर्वेद खण्ड की टीका में महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण के प्रसार क्षेत्र की ओर संकेत किया है—

---

१. भा. सू. ३।२६, २. भा. ऋक् ५।४०।८।
३. शि० संग्रहे पृ. ३९७ ४. आ. श्रौ. १४।२०४

तुगा कृष्णा तथा गोदा सह्याद्रिशिखरावधि ।
आ आन्ध्रदेश पर्यन्तं बह्वृचश्चाश्वलायनी ।।

गोविन्दस्वामी तथा सायणाचार्य के भाष्यों से यह ब्राह्मण विभूषित है। इसका सम्पादन एवं प्रकाशन सर्वप्रथम प्रो. हाउग (M. Huag) ने बम्बई से १८६३ ई० में किया था, तदन्तर आउफ्रेख्ट महोदय ने कई उपयोगी सूचियों के साथ बाननगर से १८७६ ई० में प्रकाशित किया है। जिसकी लिपि रोमन है।

ऐतरेयब्राह्मणगत आख्यान, ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत अनेक इतिहास, प्रकीर्णावस्था में यत्रतत्र सुव्यवस्थित हैं। 'यः कल्पः सकल्पपूर्वः' इस न्याय से वेदादिवाङ्मय का अध्ययन आवश्यक है, जिससे उपलब्ध वेद अनेक युगों के इतिहास को हमारे सम्मुख प्रकट कर सकते हैं।

अग्नि एवं विष्णु ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भ में **'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'** ।। ऐसा उपक्रम हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्य देवता इन दो देवताओं में ही अन्तर्भूत हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य देवताओं का उल्लेख ही नहीं है। प्रत्येक देवता का प्रसङ्गानुरोध से संकीर्तन हुआ है। ऐसे स्थलों को पूर्वापर प्रसङ्ग के अनुरोध से समझना आवश्यक है। जैसे—**"इन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठौ बलिष्ठौ सहिष्ठौ सत्तमौ पारयिष्णुतमौ"** इस स्थल पर अग्नि एवं इन्द्र का ही प्राधान्य है।[1] एक अन्य स्थल पर सूर्य की प्रधानता वर्णित है—**'स वा एष उत्तरोऽस्मात्सर्वस्माद्भूताद्भविष्यतः। सर्वमेवेदमतिरोचते यदिदं किंचोत्तरोभवति।'**[2] तदनन्तर उपसंहार करते हुए कहते हैं कि अग्नि ही मुख्य देवता है, वही समयानुसार प्रसङ्गानुसार इन्द्रवायु, मित्रावरुण, इन्द्रविश्वदेव आदि स्वरूपों में परिणत होता है। यहाँ भ्रमात्मक स्थिति नहीं है-क्योंकि संहितागत मंत्रों का विनियोग हमें ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा ज्ञात हो जाता है। अतः तदनुसार उस प्रसङ्ग में प्रसङ्गानुरोध से तत्तद् विशेष देवताओं का प्राधान्य समझना चाहिये।

भौतिकविचारसरणि के अनुसार यह कल्पना कर सकते हैं कि 'अग्नि' साक्षात् चैतन्य पदार्थ है। यही शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। जैसे विद्युत शक्ति एक ही है, परन्तु कार्यानुरोध एवं प्रसङ्गानुरोध से तत्तद्-क्षेत्रों में उसका नाम, कार्य सभी भिन्न होते हैं, परन्तु वस्तुतः वह एक ही शक्ति है।

---

१. ऐ. ब्रा. द्वि. प० खण्ड ३६   २. च० पं० ख० १८

(२) **देवासुर युद्ध**—इस ब्राह्मण में देवासुर संग्राम का उल्लेख ८ स्थानों पर है। इन उल्लेखों के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान देवताओं द्वारा सम्पन्न होता था एवं असुर उसमें अनेक प्रकार से विघ्न उपस्थित करते थे। परन्तु यज्ञ से अपार सामर्थ्य को प्राप्त हुए देवों ने असुरों का संहार किया। अन्य स्थलों पर असुरों द्वारा सम्पन्न यज्ञों का भी उल्लेख है, परन्तु यज्ञ के गूढ रहस्य से अनभिज्ञ असुरों का पराभव हुआ। अन्य स्थल पर देवों को अधिक सामर्थ्य प्राप्त होने का मुख्य कारण उनके द्वारा विहित अग्नि देवता की योग्य स्तुति ही है।[1]

(३) **सोमोत्पत्ति**—सोम की उत्पत्ति का निरुपण ऐतरेय ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयग्राही है।

"सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन्कथमय-मस्मान्सोमो राजाऽऽगच्छेदिति......" इस प्रकरण में यह वर्णन है कि 'सम्पूर्ण देवों, ऋषियों ने सोचा कि सोम, यज्ञ कर्म में कैसे आयेगा? उस समय सोम का वसतिस्थान गन्धर्वलोक में था। उस समय वाक् ने स्त्रीरुप धारण कर सोम को देवलोक में लाया। सोमहरणप्रतिपादक सूक्तों को 'सौपर्ण सूक्त' संज्ञा होने का कारण इस ब्राह्मण में स्पष्ट कथित है। जब समस्त देवों, ऋषियों ने गायत्र्यादि छन्दों को परलोक से सोमआहरण हेतु भेजा तब सभी छन्दों ने पक्षियों का रुप धारण किया। इस हेतु पठित सूक्तों को सौपर्ण संज्ञा है। सोम का प्रथम पान कौन करे? इस हेतु एक शर्त रखी गयी, की जो दौड़ में प्रथम स्थान प्राप्त करेगा, वही सोम का प्रथम पान करेगा 'यो न उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यति।' इस प्रतियोगिता में वायु एवं इन्द्र प्रथम उपस्थित हुए, तदनन्तर मित्रावरुण आदि का आगमन हुआ। सोमापहरण हेतु ईशान्य दिशा श्रेष्ठ है, क्योंकि इसी दिशा में देवों ने असुरों को परास्त किया है।[2]

(४) **यज्ञदेवता**—देवों से यज्ञदेवता विलग हुए थे। इसका उल्लेख अधोलिखित है। यज्ञ देवताओं के विलग होने के उपरान्त देवों ने अदिति से प्रार्थना करके पुनः उन्हें प्राप्त किया। यज्ञ देवों के विलग होने से देवों को पूर्ण अन्न की प्राप्ति नहीं होती थी। ऐसे प्रसङ्ग में अश्विनौ नामक देवों ने यज्ञ देवता को पुष्ट किया। "आश्विनौ वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू" अश्विनौ देवों के अध्वर्यु, वैद्य हैं। "यज्ञेन वै देवा

१. ऐ० ब्रा० १।१४, १।२३, २।७, २।११, २।३१, ३।३९, ४।५, ६।४

२. ऐ. ब्रा. १।२७, ३।२५, २।३५, १।१२

ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्तेऽबिभयुरिमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यान्ते" देवों ने यज्ञ से ही स्वर्ग प्राप्त किया। उन्हें यह डर था कि हमारे समान ऋषि, मनुष्य भी स्वर्ग को प्राप्त न कर लें। इस हेतु उन्होंने यूप को अभीमुख गाडा, परन्तु ऋषि, मनुष्यों को यह रहस्य ज्ञात हुआ, जिससे उन्हों देवों के समान यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त किया।[1]

"त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः सोमपास्त्रयस्त्रिंशदसोपमाः" इस उल्लेख से ३३ देव सोमपा हैं, एवं ३३ देव सोम का पान नहीं करने वाले हैं ऐसा ज्ञात होता है। तदनन्तर आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र, बारह (१२) आदित्य, प्रजापति एवं वषट्कार ये ३३ सोमपा हैं एवं ११ प्रयाज, ११ अनुयाज, ११ उपयाज, ये ३३ देवता सोम न पीने वाले हैं—ऐसा उल्लेख है।[2]

५. वषट्कार के षट्तत्त्व—वेद का पुत्र हिरण्यदन् के मत का उल्लेख है, जिसमें वषट्कार के षट् तत्त्वों का निर्देश किया गया है—

"द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिताऽन्तरिक्षं पृथिव्यां
पृथिव्यप्स्वापः सत्ये सत्यं ब्रह्मणि ब्रह्म तपसि"

अर्थात् आकाश वायुपर, वायु पृथ्वीपर, पृथवी जलपर, जल सत्यपर, सत्य ब्रह्म पर एवं ब्रह्म तप पर अधिष्ठित है।[1]

६. साम्राज्याभिषेक—ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के महाभिषेक का गंभीर उदात्त वर्णन है। प्रजापति आदि समस्त देवों ने अतिशय शक्तिसम्पन्न, ओजस्वी इन्द्र को अपना राजा निर्धारित किया। उस समय 'ऋच्' संज्ञक नाना वेदमन्त्रों से बने हुए एवं अनेक देवताओं द्वारा पकड़े हुए सिंहासन का निर्माण हुआ। प्रथम इन्द्र ने उस आसन को प्रणाम किया एवं समस्त देवताओं के अधिष्ठातृत्व को कल्पित करके देवों के साम्राज्य पद का स्वीकार किया। तत्पश्चात् अन्य देवों ने उसको अभिषिक्त कर उसे अपनी शक्ति अर्पित की। इस अभिषेकोत्सव से इन्द्र को अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त हुई, जिसके चलते इन्द्र ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।[2]

७. विश्वामित्र एवं वामदेव—विश्वामित्र एवं वामदेव के मध्य 'संपात-ऋचा' का साक्षात्कार किसने किया? इसका स्पष्टीकरण अधोलिखित है—

---

१. ऐ. ब्रा. १।७, १८, २।१
२. ऐ. ब्रा. २।१८
३. ऐ. ब्रा. ३।६,
४. ऐ. ब्रा. ८।१२, १४

विश्वामित्र ने ऋचाओं का साक्षात्कार किया, परन्तु वामदेव ने सर्वसाधारण को उन्हें उपलब्ध करा दिया—तदनन्तर विश्वामित्र को अन्य ऋचाओं का साक्षात्कार हुआ।[1]

८. यज्ञ पशु के शरीरगत नानाप्रकार के भाग किसे किसे प्राप्त हों? इसका ज्ञान श्रुत के पुत्र देवभग को हुआ, परन्तु उसने यह गूढ़ ज्ञान अपनी मृत्युपर्यन्त किसी को भी नहीं बताया। तदनन्तर एक अमानुष व्यक्ति ने यह ज्ञान बभ्रू पुत्र गिरिज को दिया।[2]

९. क्षत्रिय और यज्ञ—प्रजापति ने सर्वत्र यज्ञ को प्रसृत किया, एवं ब्रह्म (ब्राह्मण जाति) क्षत्र (क्षत्रिय जाति) को उत्पन्न किया। तदनन्तर यज्ञ के अवशिष्ट पदार्थों का भक्षण करने वाले एवं न करनेवाले प्राणियों की उत्पत्ति हुई और वे ब्राह्मण जाति एवं क्षत्रिय जाति में प्रविष्ट हुए, जिस कारण यज्ञ देवता उनसे वियुक्त हो गयी। तब ब्रह्म एवं क्षत्र ने यज्ञ देवता का अनुगमन किया। उस समय ब्रह्म को उपकरण अर्थात् यज्ञकर्म में में प्रयुक्त सामग्री एवं क्षत्र के उपकरण अर्थात् धनुष, बाण, अश्व, रथ आदि थे। ब्रह्म के उपकरणों से यज्ञदेवता उनके निकट आयी और क्षत्र के उपकरणों को देखकर वह उनसे विलग हुई। तब क्षत्र ने स्वयं को यज्ञकर्म में प्रविष्ट करने हेतु ब्रह्मा की प्रार्थना की। तब ब्रह्मा ने क्षत्र से कहा की यज्ञ के समय अपने उपकरणों का त्यागकर ब्रह्म के उपकरणों को धारण करो अतएव क्षत्रिय द्वारा किये जाने वाले राजसूययज्ञ के प्रसङ्ग में पुरोहित के प्रवरादि के उच्चार का विधान है।[3]

१०. सुब्रह्मण्य वाक्—वाक् ही सुब्रह्मण्य हैं क्योंकि सोम के आहरण के समय ऋत्विज् सुब्रह्मण्याह्वान करते हैं। सोम, सुब्रह्मण्य का पुत्र है।[4]

शांखायन ब्राह्मण

ऋग्वेद का द्वितीय ब्राह्मण शांख्यायन ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण का अपरनाम कौषीतकि है। भगवद्दत्तजी ने शांखायन एवं कौषीतकि को भिन्न कहा है। उनके अनुसार कौषीतकि ब्राह्मण १८८७ बी. लिण्डनर द्वारा सम्पादित प्रकाशित हो चुका है, एवं शांखायन ब्राह्मण १९११ में गुलाब

१. ऐ. ब्रा. ६।१८ — ३. ऐ. ब्रा. ६।१३
२. ऐ. ब्रा. ७।१, — ४. ऐ. ब्रा. ७।१९

रायबजेशंकर द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित हो चुका है। परन्तु हमारे दृष्टिपथ में नहीं आने से इस विषयक इत्थं प्रकार से नहीं कहा जा सकता।

इस ब्राह्मण ग्रन्थ का परिमाण ३० अध्यायों का है। प्रत्येक अध्याय में खण्ड है। खण्डों की संख्या २२६ है। विषय विभाग ऐतरेय के समान ही है। प्रथम छः अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास इष्टि ऋतुयाग का निरूपण है। सात अध्याय से ३० अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण के समान सोमयाग का वर्णन है।

चरणव्यूह की महीदास कृत टीका में एक श्लोक उत्धृत है, जिसमें स्पष्ट कहा है कि शांखायनी शाखा, एवं ब्राह्मण कौषीतकि है। इससे यह ज्ञात हो रहा है कि शांखायनीयशाखा का ब्राह्मण चिरकाल से ही लुप्त है, जिस कारण शांखायनीय होने से कौषीतकि को ही शांखायन यह नाम प्राप्त हुआ है। इस ब्राह्मण के प्रसार प्रदेश का वर्णन निम्न श्लोक में है—

उत्तरे 'गुर्जरे देशे वेदो बह्वृच ईरितः।
कौषीतकि ब्राह्मणं च शाखाशांखायनी स्थिता ॥

(चरणव्यूह टी. कं. २)

यद्यपि दोनों ब्राह्मण समान विषय की चर्चा में व्यापृत हैं, किन्तु दृष्टिकोण विलक्षण है। यदि कौषीतकि की रचना शैली उत्कृष्टतर है, तो ऐतरेय विषयव्यापकता में उत्कृष्टतम है।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद के पञ्चदशशाखा भेद से ब्राह्मण १५ होना आवश्यक है। यह धूलिप्रक्षेप मात्र नहीं है, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थातरों में प्राप्त है। "नाशे च" (प्रा. सू. ३।४) प्रातिशाख्य सूत्र भाष्य में अनन्तदेव ने कहा है कि 'दुःनाशं' 'दुर्णाशं संख्यं तव'। शाबीयादिशाखा का उल्लेख इसी स्थान पर हुआ है। अरुणपाराशरशाखा ब्राह्मण का उल्लेख महाभाष्य में 'अरुणपराशरशाखा ब्राह्मणस्य कल्परुपत्वात् (व्या. म. भा. ४।२।६०) प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति पर विश्वरुपाचार्य की टीका में जाबाल ब्राह्मण का उल्लेख है (३।२३७)। अग्निनीयानमीमांसा में कात्यायन ब्राह्मण का उल्लेख "समुद्रो वा एष यदहोत्रस्तस्यैतेऽगाधतीर्थं यत्सम्बन्धी तस्मात्संधी होतव्यमिति कात्यायन ब्राह्मणं भवति" हुआ है। इस प्रकार पञ्चदश संख्याक

शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण थे, वर्तमान में केवल माध्यंदिन शतपथ एवं काण्व-शतपथ ही उपलब्ध है।

पञ्चदशशाखीय ब्राह्मणों का सामुदायिक अभिधान 'शतपथ' है। जैसे सम्पूर्ण संहिताओं की सामुदायिकी संज्ञा 'वाजसनेयी' है। परन्तु व्यष्टिस्वरूप में उनके स्वतन्त्र अभिधान भी हैं। जैसे 'काण्व'। सायणाचार्य ने काण्वसंहिता के भाष्योपक्रम में कहा है कि 'यद्यपि वेद स्वयम्भूपरमेष्ठी की परम्परा से आदित्य शिष्य याज्ञवल्क्य ने प्राप्त कर अनेक शिष्यों में प्रसृत किया है, तथापि महती तपस्या एवं ईश्वर अनुग्रह से लोक में कण्वनाम से प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं। इस हेतु 'काण्ववेदं अधीयते विदन्ति वेत्ति वा' जो काण्व वेद को जानते हैं जो अध्ययन करते हैं वे काण्व कहलाते हैं। इसी प्रकार जाबाल आदि ब्राह्मणों के विषय में जानना चाहिये।[1]

शतपथ संज्ञा अन्वर्थक है। "शतं पंथानो मार्गा नाम अध्याया यस्य स शतपथः"—इस व्युत्पत्ति से शताध्यायात्मक होने से यह शतपथ संज्ञा है। यही व्युत्पत्ति युक्तियुक्त है, क्योंकि 'शतपथवत्ताडयभाल्लवीनां ब्राह्मण-स्वराः' इस भाषिकसूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है कि शतपथश्च शता-ध्यायैः ॥ इससे यह स्पष्ट है कि शतपथ अन्वर्थक संज्ञा है।

शतपथ-अध्ययन परम्परा

कात्यायनाचार्य ने प्रतिज्ञापरिशिष्ट में शतपथान्तर्गत अशीतिपथ, षष्टिपथ, पंचदशपथ इस प्रकार के विभाग कल्पित किये हैं, जो शतपथ-ब्राह्मण की अध्ययन परम्परा को संकेतित कर रहे हैं। ८० अध्यायतक के भाग को अशीतिपथ यह संज्ञा है—एवं ६० अध्यायपर्यन्त के विभाग को षष्टिपथ यह संज्ञा है—इसका संकेत वार्तिकार कात्यायन ने 'क्रतूक्थादि-सूत्रान्ताट्ठक्' (पा. सू. ४।२।६०) के वार्तिक में दिया है। 'शतषष्टेः षिकन्पथः' शतशब्दाच्छष्टिशब्दाच्च परो यः पथिन् शब्दस्तदन्तात् षिकन् वाच्यः अर्थात् 'शत' एवं 'षष्टि' शब्द के परे वर्तमान पथशब्द से षिकन् प्रत्यय करने पर 'शतपथमधीयते शतपथिकः' 'षष्टिपथमधीयते

---

१. 'यद्यप्ययं वेदः स्वयम्भूपरमेष्ठ्यादिपरम्परा प्राप्त आदित्य शिष्येण याज्ञवल्क्येन बहुभ्यः शिष्येभ्यः उपदिष्टः, तथापि महतातपसाऽऽराधितस्येश्वर-स्यानुग्रहात्कण्वसम्बधितयैव लोके प्रथयते। तमेतं काण्ववेदमधीयते विदन्ति वेत्ति व्युत्पत्त्या कण्वशिष्य प्रशिष्यादिपरम्परया वर्तमानाः सर्वेऽपि काण्वाः इत्युच्यन्ते। एवं ज्ञात्वा जाबालादिषु द्रष्टव्यम्" ॥

षष्टिपथिकः इस प्रकार के शब्द सिद्ध होते हैं। प्रथम काण्ड से नवमकाण्ड पर्यन्तभाग ६० अध्यायात्मक होने के कारण उसे षष्टिपथ यह संज्ञा है। ६० अध्यायपर्तंत ही शतपथ का अध्ययन एवं अध्यापन सम्पन होता था क्योंकि माध्यन्दिनशतपथ में नवम काण्डपर्यंत अग्निचयनयाग पूर्ण हो जाता है। दशमकाण्ड में भी अग्निचयनयाग सम्बन्धी कुछ विशेष महत्वपूर्ण सामग्री है, परन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से वह मुख्य नहीं हैं, ज्ञानदृष्टया वह महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

'सौमिक' भाग ६० अध्यायपर्यंत ही होने से उस सीमा तक अध्ययन अध्यापन परम्परा का होना स्वाभाविक ही है। 'विभक्ति समीप' (पा० सू० २।१।६) में अंत शब्द के उदाहरण में 'अग्नि ग्रंथपर्यंतमधीते स साग्निः। अग्निशब्द श्चात्र तद्बोधके ग्रंथेवर्तंत इति तद्व्याख्यातारः।' अतः उपर्युक्त कथन स्पष्ट है। उपर्युक्त न्याय से ही अशीतिपथ ये संज्ञा १ से ८० अध्याय-पर्यन्त के भाग को प्राप्त है। क्योंकि ८० अध्याय तक समस्त उत्तरक्रतु समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार १ से १५ अध्याय पर्यंत काण्डद्वयात्मक भाग को **पंचदशपथ** यह संज्ञा है, क्योंकि यहाँ तक हविर्यज्ञ (ऐष्टिक) प्रकरण पूर्ण हो जाते हैं। उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'पंचदश अध्यायात्मक' शतपथ अध्येता को **पंचदशपथिक**, ६० अध्याया-त्मक' शतपथ अध्येता को **षष्टिपथिक**, ८० अध्याय तक शतपथ के अध्येता को **अशीतिपथिक** एवं शताध्यात्मक शतपथ के अध्येता को **शतपथिक** संज्ञा प्राप्त होती थी। साम्प्रत शतपथ अध्ययन की परंपरा नष्ट प्रायः हो गयी है। जो अध्ययन परम्परा वर्तमान में प्रचलित है वह 'प्रपाठात्मक' है अर्थात् सम्पूर्ण काण्डों से कुछ महत्त्वपूर्ण आठ प्रपाठकों का अध्ययन ही रह गया है। उसे ही ब्राह्मण पाठी कहा जाता है।

शतपथब्राह्मण का महत्त्व—ब्राह्मणग्रन्थों में विपुलकाय एवं यागा-नुष्ठान की दृष्टि से शतपथ का महत्त्व अत्यधिक है। सायणाचार्य ने शतपथ के महत्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकृत किया है—उसका सारांश हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

"राजा हरिहर ने मुझे अर्थात् सायण को आज्ञा प्रदान की कि आपने चारों वेदों की एक-एक शाखा का भाष्य किया है, परन्तु इतने कार्य से उन शाखाओं का एवं तत्समानार्थक शाखाओं का अध्ययन हो सकता है साम्प्रत जिस शाखा में मन्त्रार्थ पूर्णरुपेण निरुपित हो एवं

जिसमें ब्रह्मविद्या करतलामलकवत् प्रतिपादित हो—ऐसी शाखा का आप व्याख्यान करे। राजा की आज्ञा के अनुसार अनुसंधान करने पर समस्त गुण माध्यंदिन शतपथ में ही उपलब्ध हुए हैं —अतः उसका व्याख्यान कर रहा हूं।[1]

सायणाचार्य के इस कथन से अन्य ब्राह्मण ग्रंथों की अपेक्षा शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व पाठकवृन्द स्वयं जान सकता है। शतपथ के मार्मिक अध्ययन से अध्यात्मविद्या का ज्ञान, वैदिक विषयों का ज्ञान एवं पुराकल्प के इतिहास का ज्ञान, अन्य साधनों से जहाँ बाधित है वहाँ शतपथ के अध्ययन से सहज ही प्राप्त हो जाता है।

काण्व एवं माध्यंदिन शतपथ
विषय–परिचय

शुक्लयजुर्वेदीय काण्व एवं माध्यंदिन शाखा के ब्राह्मण की संज्ञा 'शतपथ' है। माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण में १४ काण्ड; १०० अध्याय, ६८ प्रपाठक ४३८ ब्राह्मण. ७६२४ कण्डिकाएँ हैं। काण्व शतपथ में प्रपाठक विभाग नहीं है। इसमें १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण, ६८०६ कण्डिकायें हैं। प्रस्तुत प्रकरण में दोनों ब्राह्मणों की काण्ड सूची दे रहे हैं, एवं तदनन्तर प्रत्येक काण्डगत अध्याय, प्रपाठक, ब्राह्मण कण्डिकाओं का विवरण भी दे रहे हैं, जिससे अध्ययन विषयक समस्या ग्रन्थि कुछ शिथिल अवश्य होगी।

ब्रह्मयज्ञादि नित्यस्वाध्याय विधि में अध्यायादि विभाग से ही अध्ययन क्रम सूत्रकारों ने कहा है। काण्व में प्रपाठकों का राहित्य इस तत्त्व को स्पष्ट करता है कि प्रपाठात्मक विभाग ग्रन्थ कंठीकरणदृष्टया वर्णित है। इसके व्यतिरिक्त विषयक्रमदृष्टया सृष्टि ब्राह्मण, संभार ब्राह्मण, नक्षत्र

---

१. "विजितारातिव्रातो वीरः श्रीहरिहरः क्षमाधीशः। धर्मब्रह्माध्वन्यः समादिशत्सायणाचार्यं ॥ ऋग्यजुःसामशाखानामेकैका व्याकृता त्वया। तावता तत्समानार्था ज्ञातुंशक्यास्ततः पराः वासनाविशदायत्र मंत्रार्थानामशेषतः। प्रायेणाध्वर्यवं कर्म पूर्णं शाखांतरैर्विना ॥ करामलकवद्यत्र परं तत्त्वं प्रकाशितं। या काचित्तादृशी शाखा त्वया व्याख्यायतामिति ॥ सर्वतः सायणाचार्यो विमृश्योदीरितान्गुणान्। माध्यन्दिने शतपथे ब्राह्मणे व्याकरोति तत् ॥"

ब्राह्मण, आधान ब्राह्मण, प्रयाजब्राह्मण, अनुयाजब्राह्मण, पत्नीसंयाजब्राह्मण अनेक संज्ञायें भाष्यकारों ने व्यवहृत की हैं, जिनका उल्लेख यहाँ होना आवश्यक न होने से उनका शब्दतः कीर्तन मात्र किया गया है।

माध्यन्दिनशतपथ काण्ड नामावली	काण्वशतपथ काण्ड नामावली
१. हविर्यज्ञ	१. एकपात
२. एकपादिका	२. हविर्यज्ञ
३. अध्वर	३. उद्धारि
४. ग्रह	४. अध्वर
५. सव	५. ग्रह
६. उखासंभरण	६. वाजपेय
७. हस्तिघट (षट्)	७. राजसूय
८. चिति	८. उखासंभरण
९. संचिति	९. हस्तिघट
१०. अग्निरहस्य	१०. चिति
११. अष्टाध्यायी	११. साग्निचिति (संचिति)
१२. मध्यम (सौत्रामणी)	१२. अग्निरहस्य
१३. अश्वमेध	१३. अष्टाध्यायी
	१४. मध्यम
१४. बृहदारण्यक	१५. अश्वमेध
	१६. प्रवर्ग्य
	१७. बृहदारण्यक

१०, ११, १२, १३, १४, इन काण्डों को महाभारत में भिन्न नामों से उद्धृत किया है—

ततः षष्टिपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहं।

चक्रे स परिशेषं सोत्तरं च प्रहर्षतः॥ शा.प.अ. ४३ श्लो. १६

अर्थात् १ से ९ काण्ड तक का भाग 'षष्टिसंज्ञक', १० वां काण्ड 'रहस्य-

संज्ञक', ११ वां काण्ड 'संग्रहसंज्ञक', १२ एवं १३ वें इन काण्डद्वय की संज्ञा 'परिशेष' एवं १४ वें काण्ड की संज्ञा 'उत्तर' है।

काण्व शतपथ ब्राह्मण

काण्डाङ्क	अध्याय	ब्राह्मण	कण्डिका
१	६	२२	३७६
२	८	३२	५३२
३	२	२२	१२४
४	९	२६	६४९
५	८	३८	९७४
६	२	७	७००
७	५	१९	२८९
८	८	२७	५११
९	५	१६	२५७
१०	५	२०	२४३
११	७	२०	४३७
१२	६	२८.	२८६
१३	८	३१	२५१
१४	९	२८	३९२
१५	८	४४	३०८
१६	२	८	१९२
१७	६	४७	२९५
योग १७	१०४	४३५	६८०६

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण

काण्डाङ्क	अध्याय	प्रपाठक	ब्राह्मण	कण्डिका
१	९	७	३७	८३७
२	६	५	२४	५४९
३	९	७	२७	८५९
४	६	५	३९	६४८
५	५	४	२५	४७१
६	८	५	२७	५३०
७	५	४	१२	३९८
८	७	४	२७	४३७
९	५	४	१५	४०२
१०	६	४	३१	३६९
११	८	४	४२	४३७
१२	९	४	२९	४५९
१३	८	४	४३	४३२
१४	९	७	५०	७९६
	१००	६८	४३८	७६२४

माध्यन्दिन एवं काण्व ब्राह्मण

विषय भेद

माध्यन्दिन एवं काण्वशतपथ में विषयशैली दृष्ट्या अधिक भेद नहीं है। माध्यन्दिनशतपथ में प्रथम काण्ड से नवम कण्ड पर्यन्त पिण्डपितृयज्ञ को छोड़कर विषयों का क्रम संहितानुसार ही है। संहिता में दर्शपूर्णमास के अनन्तर पिण्डपितृयज्ञ पठित है और ब्राह्मण में वह आधान के अनन्तर पठित है। तदनन्तर दशम से चतुर्दश काण्ड पर्यन्त विषय विभाग संहितानुसार ही पठित है।

काण्व एवं माध्यन्दिन संहिताओं का प्रारम्भ एक समान—अर्थात् दर्शपूर्णमास से ही है, परन्तु ब्राह्मणों का प्रारम्भ असमान अर्थात् माध्यन्दिन शतपथ का प्रारम्भ दर्शपूर्णमास से है, और काण्वशतपथ का प्रारम्भ आधान से है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि माध्यन्दिनशतपथ का प्रथम काण्ड, काण्वशतपथ का द्वितीय काण्ड है और जो द्वितीय काण्ड है वह

प्रथम काण्ड है। इसके व्यतिरिक्त कुछ कुछ विषयों का क्रम भिन्न है। यह भिन्नता अधोलिखित ग्रंथसूची से स्थूलतः जानी जा सकती है।

माध्यन्दिनशतपथ
विषय सूची

काण्ड	विषय
१	दर्शपूर्णमासेष्टि
२	आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, उपस्थान, प्रवत्स्यदुपस्थान, आगतोपस्थानादि, पिण्डपितृयज्ञ आग्रयण, चातुर्मास्ययाग।
३	सोमयाग, दीक्षाभिषव।
४	सोमयाग, सवनत्रयगतकर्म, षोडशीप्रभृति सोमसंस्था, द्वादशाहयाग, त्रिरत्राहीन–दक्षिणा, सत्रधर्म।
५	वाजपेय, राजसूय।
६	उखासंभरण, विष्णुक्रम, वात्सप्रोपस्थान, वनीवाहनकर्म।
७	चयनयाग, गार्हपत्यचयन, निर्ऋतिचयन, अग्निक्षेत्रसंस्कार, दर्भस्तंबादि अपस्यासादनपर्यन्त।
८	प्राणभृदादि, चयनसमाप्ति,
९	शतरुद्रीयहोम, धिष्ण्यचयन, पुनश्चितिः, चित्युपस्थान।
१०	चितिसम्पत्ति, चयनयागस्तुति, चित्यपक्षपुच्छविचार, सप्तविधप्रभृति एकशतविधपर्यन्त चित्याग्नि, वेदीमान सप्तविधादि एकशतविधसम्पत्ति, चयनकालादिविचार, चित्याग्नि की छन्द द्वारा अवयवसम्पत्ति, संवत्सरादिमुहूर्तपर्यन्त चयनसम्पत्ति, यजुष्मतीलोकंपृणा इत्यादि की संख्या, उपनिषद्रुप से अग्नि की उपासना, मनः सृष्टि, लोकादिरुप से अग्नि उपासना, अग्नि का सर्वतोमुखत्व, संप्रदायप्रवर्तक ऋषिवंशकथन, अग्निरहस्य।
११	आधानकाल, दर्शपूर्णमास एवं दाक्षायणयज्ञ के अनुष्ठान का अवधिकाल, दाक्षायणयज्ञ, पथिकृदिष्टि, अभ्युदितेष्टि, दर्शपूर्णमाससम्बन्धी अर्थवाद, इडा–स्विष्टकृत्–सूक्तवाक्–शंयुवाक्–पत्नीसंयाज–वेदालम्भ–समिष्टयजु–प्रधानयाग, मित्रविदेष्टि, हविसंमृद्धि, चातुर्मास्यविषयक अर्थवाद, पंचमहा-

काण्ड	विषय
	यज्ञ, स्वाध्यायप्रशंसा, अध्यात्मविद्या, पशुबंधप्रशंसा, षड्-होतारहोम ।
१२	दीक्षाक्रम, सत्र, पृष्ठयाभिप्लव, स्वरसाम, गवामयन, अग्नि-होत्रप्रायश्चित्त, मृतकाग्निहोत्र, मृतकदाह ।
१३	अश्वमेध, तद्व्रतप्रायश्चित्त, पुरुषमेध, सर्वमेध, दशरात्र, पितृमेध ।
१४	प्रवर्ग्य (धर्म), महावीर, प्रवर्ग्योत्सादन, प्रवर्ग्यकर्तृकनियम बृहदारण्यक (ब्रह्मविद्या) काम्यश्रीमन्थ, पुत्रमन्थ, वंश-ब्राह्मण ।

काण्वशतपथ

विषय सूची

काण्ड	विषय
१	आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायणयज्ञ, उपस्थान, प्रवत्स्यदुपस्थान, चातुर्मास्ययाग ।
२	दर्शपूर्णमासेष्टि ।
३	अग्निहोत्रविषयक अर्थवाद, दर्शपूर्णमासविषयक अर्थवाद ।
४	सोमयाग, दीक्षा, अभिषवप्रभृति ।
५	सोमयाग, सवनत्रयगतकर्म, षोडशीप्रभृतिसोमसंस्था, द्वाद-शाहयाग, त्रिरात्राहीनदक्षिणा, चतुस्त्रिंशद्धोम, सत्रधर्म ।
६	वाजपेय ।
७	राजसूय ।
८	उखासंभरण ।
९–१२	चयनयाग ।
१३	आधानकाल, पथिकृदिष्टि, प्रयाजानुयाजमन्त्रण, शंयुवाक्, पत्नीसंयाज, ब्रह्मचर्य, दर्शपूर्णमासशेष, पशुबन्ध ।
१४	दीक्षाक्रम, पृष्ठयाभिप्लवप्रभृति, सौत्रामणीयाग, अग्निहोत्र-प्रायश्चित्त, मृतकाग्नि होत्र ।
१५	अश्वमेध ।
१६	प्रवर्ग्यकर्म सांगोपाङ्ग ।
१७	बृहदारण्यक (ब्रह्मविद्या) ।

ब्राह्मण ग्रंथों का विशेषस्वरूप

पूर्वाचार्यो ने अथकपरिश्रम करके ब्राह्मणों की शैली को प्रतिपादित किया है। स्वयं श्रुति ने भी अष्टविध शैली का कथन किया है। शैली के अनुसार अर्थात् परम्परा पूर्वक अध्ययन करने पर असम्बद्ध प्रकरण भी सुसम्बद्ध होकर अपना रहस्य प्रकाशित करते हैं। कात्यायन ने एकादश प्रकार के ब्राह्मण ग्रंथों की प्रतिपादन शैली को प्रस्तुत किया है। बृहदारण्यक श्रुति ने आठ प्रकार की शैली का प्रतिपादन किया है—इस शैली को प्रत्येक ब्राह्मणों के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिये।

ब्राह्मणग्रंथों के अध्ययन की सुगमता के लिए हम यहाँ कात्यायन एवं बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति के अनुसार उदाहरण देकर शैली के प्रकारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं—

कात्यायन ने एकादश (११) प्रकार का शैली का कथन किया है—

"विधिनिन्दा प्रशंसाऽध्यात्ममधिदेवतमधिभूतमनुवचनं परकृतिः पुराकल्पः सृष्टिरिति ब्राह्मणम्" ॥

प्रकृत प्रकरण में हम प्रत्येक शैली का उदाहरण शतपथ ब्राह्मण के आधारानुसार दे रहे हैं। यही प्रकार अन्य ब्राह्मणों के विषय में समझना चाहिये—

१. विधि—"स एष उभयत्राच्युत आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति" (श. प. १।५।१।५)

अज्ञात का ज्ञापन करना 'विधि' है।

२. निन्दा—"तदुह स्माहापि वर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णान्तीति तदु तथा न कुर्यात्" (श. प. १।१।१।१०)।

अग्राह्य पदार्थो की निन्दा।

३. प्रशंसा—"अग्निर्वै देवानाम्मृदुहृदयतमः ! यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधावेत्। तस्मादग्नय एव" (श. प. १।६।२।१०)।

ग्राह्य पदार्थों की प्रशंसा।

४. अध्यात्म – "अथाध्यात्मम्। प्राणो वा अर्कः। तस्यान्नमेवकम् अन्नं हि प्राणायकम्। इति नु एवार्कस्य।" (श. प. १०।६।२।७)।

अध्यात्म, आत्मा से सम्बन्धित होता है।

५. अधियज्ञ—"अथाधियज्ञम्–यदेवाग्नावन्नमुपधीयतेतदन्नम् या आपस्तत्पानम्। परिश्रित एव श्रीः" (श. प. १०।२।६।१७)।

यज्ञ से जो सम्बन्धित हो।

६. **अधिदैवत**—"अथाधिदेवतम्—या वै सा वागग्निरेव सः। यत्तच्चक्षु. असौ स आदित्यः" (श. प. १०।३।३।७)।

देवता से जो सम्बन्धित हो।

७. **अधिभूत**—"तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी इति" (श. प. १।२।५।७)।

भूतों से जो सम्बन्धित हो।

८. **अनुवचन**—"अग्निर्वै हिमस्य भेषजम्" (श. प. १३।६।१।१)।
सर्वथा परिज्ञात अर्थ को बताना।

९. **परकृति**—"पुरुषो ह नारायणोऽकामयत" (श. प. १३।५।४।२)।
अन्य की कृति जिसमें बताई गई हो।

१०. **पुराकल्प**—"एतेन हेन्द्रोतो देवापः शौनको जनमजेयं पारीक्षितं याजयाञ्चकार" (श. प. १३।५।४।२)।

पूर्वेतिहास जिसमें बताया हो।

११. **सृष्टि**—"असद्वा इदमग्रआसीत्" (श. प. ६।१।१।१)।
आरम्भिक उत्पत्ति जिसमें बताई हो।

बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वयं श्रुति के द्वारा आठ प्रकार की शैली का कथन हुआ है—

इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि (बृ. उ. २।४।१०)।

इसके अनुसार भी हम प्रत्येक के उदाहरण दे रहे हैं।

१. **इतिहास**—"उर्वशी ह्यप्सराः" (श. प. ११।५।१।१)।
(पूर्व घटना प्रतिपादन।)

२. **पुराण**—"असद्वा इदमग्र आसीत्" (श. प. ६।१।१।१)।
(पञ्चलक्षणयुक्त बातें जिसमें बताई गई हों।)

३. **विद्या**—"देवजनविद्या वेदः सोऽयमिति" (श. प. १३।४।३।१०)।
(आत्मसम्बन्धी ज्ञान, जिसमें बताया हो।)

४. **उपनिषद्**—"प्रियमित्येनदुपासीत" (श. प. १४।६।१०।३।
(आत्मा के समीप ले जानेवाली विद्या।)

५. **श्लोक**—तदप्येते श्लोकाः अणुः पंथा वितरः (श. प. १४।४।२।११)
(ब्राह्मणप्रभव मन्त्र ही श्लोक है।)

६. सूत्र—आत्मेत्येवोपासीत (श. प. १४।४।४।२।२८)
वस्तुसंग्राहक वाक्य = सूत्र ।
७, अनुव्याख्यान—"प्राणा वै सत्यं" (श. प. १४।५।१।२३) ।
(मन्त्रों का विवरण = अनुव्याख्यान ।)
८. व्याख्यान—"मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता । (श. प. १४।४।३।२)
(अर्थवाद = व्याख्यान ।)

उपर्युक्त संकेतों के आधार पर ब्राह्मण ग्रंथों का अध्ययन होना आवश्यक है, जिससे ब्राह्मणग्रंथों की प्रकृति को सरलतया जाना जा सकता है। ग्रंथ की प्रकृति को बिना ज्ञात किये शास्त्र के रहस्य का ज्ञान दुर्गम हो जाता है परन्तु यदि वही अध्ययन प्रकृतिसापेक्ष हो तो ग्रंथ की समस्त ग्रथियाँ सुगमतया स्पष्ट होती जाती हैं। अतः पूर्वाचार्यों ने अपनी चिरन्तन मेधाशक्ति से ब्राह्मणग्रंथों की रचना शैली को स्पष्ट करने वाले जिन विधि, निन्दा, प्रशंसा, व्याख्यान आदि घटकों को प्रकाशित किया है, उन घटकों को आधार मानकर ही ब्राह्मणग्रंथों का अध्ययन करना चाहिये।

शतपथ ब्राह्मण का प्रसार—

चरणव्यूह की महार्णव टीका में शतपथ के व्यापक प्रचार प्रसार के संकेत प्राप्त होते हैं।

अङ्गवङ्गकलिगश्च कानीनो गुर्जरस्तथा ।
वाजसनेयी शाखा च माध्यन्दिनि प्रतिष्ठिता ॥

——शतपथब्राह्मणगत आख्यान-अग्निदेवता——

शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही 'अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः'[1] 'अग्नि ही सम्पूर्ण यज्ञव्रतों का शास्ता है' अग्निविषयक उदात्तवचन प्राप्त होता है। इस ब्राह्मण में अग्नि के सर्वाङ्गीण महत्त्व का वर्णन हुआ है यथा—**अग्निर्वै देवानामद्धातमाम्,**[2] **"अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः**[3]**"** **"अग्निर्वै यानिर्यज्ञस्य**[4]**"**। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण देवता अग्निमय हैं ऐसा भी उल्लेख है।[5] अग्नि को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वामित्व प्राप्त है। इसी उद्देश्य से अग्नि के साथ 'भूपति' 'भुवनपति' 'भूतानां पति' इत्यादि विशेषण व्यवहृत हुए हैं।

---

१. श. ब्रा. १।१।२ । २. श. ब्रा. ५।१।६ ।
३. श. ब्रा. ५।१।८ । ४. श. ब्रा. ५।१।१० ।
५. श. ब्रा. ५।१।११ ।

अग्नि ने अपने शरीर को चार भागों में पृथक् किया था, तीन शरीर नष्ट तो नष्ट हो गये, तदनन्तर वह अपने चतुर्थ शरीर के साथ जल में प्रविष्ट हुआ, जहाँ से देवताओं ने उसे प्राप्त किया। उस समय अग्नि ने जल को शापित किया।[1] देवों ने अग्नि की होतृपद पर स्थापना की, परन्तु अग्नि अपने तीन शरीर नष्ट होने के कारण अत्यधिक भयभीत हो गया था, इसलिए उसने प्रथमहविर्भाग के भक्षण के पण (शर्त) पर ही होतृ पद स्वीकार किया।[2] अग्नि को सहयोग से देवों ने यज्ञ की शाश्वत स्थापना की।[3]

प्रजापति एवं सृष्ट्युत्पत्ति

'प्रजापतिर्वैयज्ञः' इस ब्राह्मणवाक्य से यज्ञ को ही प्रजापति कहा गया है। परन्तु अन्य स्थानों पर **"द्वादश वै मासाः संवत्सरस्तस्यपञ्चर्तवः एष एव प्रजापतिः सप्तदशः"** बारहमास अर्थात् वर्षभर के समय को प्रजापति कहा है। अन्य स्थलों पर **"संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः"** ऐसा भी उल्लेख है।

सृष्टचुत्पत्ति विषयक प्रजापति की अनेक आख्यायिकाओं का उल्लेख हुआ है। प्रजापति ने देव, पितर, मानव, असुर, नानाप्रकार के अन्नों को उत्पन्न किया। देवों को यज्ञ, पितरों को स्वधा, मानवों को प्रातः और सायंकाल दिया। अन्न एवं ज्योति का विभाजन किया।[4] अन्यत्र प्रजापति के मुख से अग्नि प्रथम हुआ, तदनन्तर देव, औषधि, मनुष्य आदि का सर्जन हुआ यह उल्लेख है।[5] प्रजापति ने दाक्षायणयज्ञ करके प्रजोत्पत्ति की, ऐसा भी उल्लेख है।[6] षष्ठकाण्ड में अनेक स्थलों पर सृष्टचुत्पत्ति का मार्मिक एवं वैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध होता है। सृष्टिपूर्व, नामविकृति रहित **'सत्'** पदार्थ था, तदनन्तर **सत्** से विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ, उस विराट्–पुरुष से प्रजापति उत्पन्न हुआ। उस प्रजापति से पञ्चमहाभूत, मानव, पशु, पक्षी आदि का सर्जन सम्पन्न हुआ।[7] दशमकाण्ड में भी ऐसे ही मार्मिक उल्लेख हैं।[8]

---

१. श. ब्रा. १।२।३।१, २. श. ब्रा. १।३।३।१३, १।४।२।१,
३. श. ब्रा. १।५।३।२१, ४. श. ब्रा. २।४।२।१,
५. श. ब्रा. २।२।४।१, ६. श. ब्रा. २।४।४।१,
७. श. ब्रा. ६।१।१।१, ६।१।३।१, ६।२।१।१.
८. श. ब्रा. १०।१।३।१. १०।५।३।१

जल प्रलय सम्बन्धित कथा

प्रातःकाल संध्यावंदन करते समय सूर्यवंशी मनुप्रजापति के अर्घ्य में एक मत्स्य आया। जैसे ही मनु अर्घ्य देने को हुए उसी समय मनु को मत्स्य ने जल प्रलय की भावी घटना को कहकर, भविष्य में मनु को उत्तरगिरि पर्वत तक पहुँचाने का आश्वासन दिया और स्वयं की बड़े होने तक रक्षण करने की प्रार्थना की। मनु ने युवावस्था तक मत्स्य का रक्षण किया। तदनन्तर उसे समुद्र में प्रविष्ट किया। कालान्तर मे जलप्रलय के समय समस्त पृथवी के प्राणि जलमग्न हुए। परन्तु मनु एक नाव में बैठकर उस मत्स्य की सहायता से उत्तरगिरि को प्राप्त किये। तदनन्तर जल के प्रसार का संकुचन होने के उपरान्त वहीं रहते हुए स्वतः यज्ञ के द्वारा उत्पन्न की हुई इडादेवी के साथ विवाह करके, यज्ञ देवता को संतुष्ट कर प्रजोत्पादन किया। इसी हेतु से मनुष्यों की 'मानव' यह संज्ञा व्यवहृत हुई है।[1]

नक्षत्र विषयक आख्यायिका

अग्न्याधान हेतु प्रशस्त नक्षत्रों को कहकर उनके विषयक रोचक आख्यायिकाओं का निरूपण किया गया है। प्रथम **कृत्तिका** नक्षत्र विषयक सूचना है। कृतिका षट्संख्याक हैं। अग्निनक्षत्र होने से अग्न्याधान हेतु कृत्तिका ही योग्य है। पूर्व में कृत्तिका सप्तर्षियों की पत्नियाँ थीं, परन्तु बाद में सप्तर्षि उत्तरदिशा में उदित होने लगे एवं कृत्तिका पूर्व दिशा में उदित होने लगीं।

रोहिणी नक्षत्र पर अग्न्याधान करने से मनुष्य को अपने भोग की सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। प्रजापति ने प्रजाबुद्धि की मन में इच्छा करके प्रथम अग्न्याधान रोहिणी नक्षत्र पर किया।

मृगशीर्ष प्रजापति का शरीर अयज्ञित निर्वीर्य है। इस हेतु मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए।

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान अवश्य करना चाहिये। क्योंकि इस नक्षत्र की देवता इन्द्र है, एवं 'फल्गु' इन्द्र का गुप्त नाम भी है। और जिन्हें अग्नि का आधान कराना है, उन्हे **पुनर्वसु नक्षत्र** उचित है। क्षत्रियों को अग्न्याधान हेतु **चित्रा** नक्षत्र योग्य है। एक समय देव एवं असुर स्पर्धा पूर्वक

---

१. श० ब्रा० १।८।१।१

स्वर्गारोहण करना चाहते थे। असुरों ने 'रोहिणअग्नि' को प्रसन्न करने का उपक्रम किया। इन्द्र को चिन्ता हुई कि इससे 'असुरों' का जय होगा। तदर्थ इन्द्र ने असुरों के अधःपतन हेतु युक्ति प्रयुक्त की। असुर जब यज्ञ कर रहे थे, इन्द्र वहाँ ब्राह्मण के रुप में गया। वहाँ उसने अपनी इष्टिका को अग्निसात करने की इच्छा व्यक्त की, जिसे देवों ने स्वीकृति प्रदान की। परन्तु यज्ञ समाप्ति के अनन्तर इन्द्र ने अपनी इष्टिका अग्नि से विलग कर दी, जिससे असुरों का यज्ञीय अग्नि शान्त हो गया। जिससे असुरों का पराभव हुआ।

ये समस्त नक्षत्रगण पुराकाल में वीर्यशाली क्षत्रिय थे। किन्तु सूर्य ने उनका वीर्य निकाल लिया। तबसे इनकी संज्ञा नक्षत्र हुई। इस हेतु सूर्योदय के समय ही अग्न्याधान श्रेयस्कर है।[1]

इन्द्रवृत्र

शतपथ ब्राह्मण में इन्द्रवृत्र युद्ध के संकेत यथास्थान प्राप्त होते हैं। यह युद्ध त्रिककुदपर्वत पर हुआ था। वृत्र के देहान्त की वार्ता द्रुतगति वायु ने देवों को सुनायी, जिससे यज्ञ में वायु को हविर्भाग प्राप्त हुआ। अन्य उल्लेखों के अनुसार इन्द्र का नमुचि दैत्य के साथ भी युद्ध हुआ था। एक उल्लेख के अनुसार वेद (यज्ञविद्या) पूर्व में असुरों के हस्तगत थे। बाद में देवों को असुरों से अत्यन्त कष्ट होने लगे, तब इन्द्र ने विश्वकर्मा के पुत्र वृत्र नामक ब्राह्मण याजक से ऋक्, यजुः, साम तीनों प्रकार के मन्त्रों का हरण कर लिया, जिनके सहयोग से देवों ने असुरों को परास्त किया।[2]

'सर्वधर्मसमन्वय का महान् तत्त्व'

शतपथ ब्राह्मण के अग्नि रहस्य के इस कथन में सर्वधर्मसमन्वय सहज ही प्राप्त हो जाता है।

"अध्वर्यु, अग्नि रुप में अथवा यजुर्वेद कहकर उसकी उपासना करता है, 'यजु' का अर्थ है जिसके योग से सर्व एकत्र संयोजित रहते हैं, सामवेदी उसकी साम रुप में उपासना करते हैं क्योंकि साम का अर्थ है—सम = एक रुप। उसमें यह समस्त विश्व एकरुप हुआ है। ऋग्वेदी उसकी 'उक्थ' रुप में उपासना करते हैं, क्योंकि यह विश्व उसी से उत्थान को प्राप्त होता है। जादूगर जादू के रुप में उसकी उपासना करते हैं, क्योंकि जादू नियन्त्रण

१. श. ब्रा. २।१।२।१

२. श. ब्रा. १०।५।२।२०

शक्ति है। सर्पवेत्ता, सर्परूप में, देव अन्न के बलरूप में, मनुष्य धनरूप में, असुर मायारूप में, पितर स्वधारूप में, देवजनविद् देवजन रूप में, गन्धर्व रूप में, अप्सरा गन्ध रूप में, उसकी उपासना करते हैं। उसकी जो जिस रूप में उपासना करता है, वह उसी रूपका हो जाता है, उसकी सभी रूपों में उपासना की जा सकती है।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण—

कृष्णयजुर्वेद का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है, इसका आकार भी बृहत् है। इसमें स्वर युक्त पाठ प्राप्त होता है। इस ब्राह्मण का कर्ता वैशम्पायन शिष्य तित्तिर को कहा जाता हैं, परन्तु वह उसका द्रष्टा ही है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तीन काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड प्रपाठकों से विभाजित है, और प्रत्येक प्रपाठक, अनुवाकों में विभाजित हुए हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण
काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक् संख्या

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक्
प्रथम	८	७८
द्वितीय	८	९६
तृतीय	१२	१६६

विषय विभाग प्रत्येक काण्ड के अनुसार अत्यन्त व्यापक है। प्रथम प्रपाठक में अग्न्याधान विधि और द्वितीय प्रपाठक में गवामयनशेषविधि का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रपाठक में वाजपेय और चतुर्थ प्रपाठक में सोम का विवेचन है। पञ्चम से अष्टम प्रपाठक तक—नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय कांड में अग्निहोत्र, से उपहोम तक का विषय पांच प्रपाठकों में विवेचित है। षष्ठ से अष्टम प्रपाठक तक सौत्रामणी, काम्यपशु याज्यानुवाक्या, सवन, आदि विषय पठित हैं।

तृतीय कांड में प्रथम से तृतीय प्रपाठक तक नक्षत्रेष्टि, दर्शपूर्णमासेष्टि आदि का विस्तृत विचार है। चतुर्थ से सप्तमप्रपाठक तक मनुष्य पशुविधि, इष्टिहोत्र, पाशुकहोत्रादि विषय पठित है। अष्टम से द्वादश प्रपाठक तक अश्वमेध; सावित्रिचयन, नचिकेताग्निचयन विधि, चातुर्होत्राग्निचयन, वैश्वसृजाग्निचयनादि का वर्णन है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणगत आख्यान

–इन्द्र एवं भरद्वाज संवाद–

प्राचीन समय भरद्वाज ऋषि ने समस्त वेदादि का अध्ययन करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनके पास यश नहीं था। इस हेतु उन्हो ने इन्द्र को प्रसन्न करके १००,१००, वर्ष के तीन जन्म वररुप में प्राप्त किये। एवं तीनों जन्म गुरुकुल में वेदाध्ययन करते रहे। तृतीय जन्म में भारद्वाज अत्यन्त कृश होकर शय्या पर पडे थे, तब इन्द्र उनके पास आया और बोला कि 'हे भरद्वाज! तुम्हे यदि १०० वर्ष आयुष्य का चतुर्थ जन्म दिया गया तो तुम उस जन्म में कौन प्रयत्न से पुरुषार्थ सम्पादन करोगे? भरद्वाज ऋषि ने उत्तर दिया कि यदि मुझे १०० वर्ष का पुनः आयुष्य प्राप्त होगा तो पुनः मरणपर्यंत वेदाध्ययन करुंगा।

"सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना अविचार प्रसूत कल्पना गौरव है"। इस विषय का भरद्वाज को स्मरण कराने के लिये इन्द्र ने अपने योग सामर्थ्य से वेद के तीन विशाल पर्वत प्रकट किये। प्रत्येक पर्वत से एक-एक, मुष्टि वेद मंत्र लेकर इन्द्र ने भरद्वाज से कहा—'हे भरद्वाज! ये पर्वत काय तीन वेद देखो। इनका एकएक कण एकेक वेद है। तात्पर्य यह है कि वेद अनन्त है। इस हेतु समस्त वेद राशि का अध्ययन करने की अभिलाषा त्याज्य है। तुमसे यह प्रयत्न असाध्य है। अद्यप्रभृति तुमने जो गुरुकुल से अध्ययन किया है, वह इन तीन मुष्टियों के बराबर है। इनके व्यतिरिक्त ये तीन पर्वतप्राय राशि का तुम्हें साम्प्रत बोध भी नहीं है। इस हेतु सम्पूर्ण वेद राशि के अध्ययन के श्रेय को देने वाले 'सावित्राग्निचयन' का तुम्हें उपदेश करता हूँ। तदनन्तर इन्द्र ने 'सावित्राग्नियन' का कथन किया और तदनुसार आचरण से उसने स्वर्ग का आधिपत्य प्राप्त हुआ।[1]

'अष्टपुत्रा अदिति'

अदिति को आठ पुत्र प्रसूत हुए। उनमे से अदिति सात पुत्रों को लेकर देवताओं के पास गयी और अष्टम पुत्र 'मार्तंड' को छोड दिया। उसे छोडने का कारण यह था कि 'सातपुत्र ही उत्पन्न हों, यह भावना उसने पतिसमागम के समय धारण की थी। आठवां पुत्र 'मार्तंड' 'जीवित रहे अथवा मरे'—इस चिंता से वह विमुक्त थी। मृत-फूटे हुए अण्डे से उत्पन्न

---

१. तै० ब्रा० ३।१० ९–११

होने के कारण उसका नाम 'मार्तंड' है। 'मार्तण्ड' वर्तमान प्रत्यक्ष योग्य सूर्य है—इसका ही अन्य अभिधान 'विवस्वान्' है। अदिति के आठ पुत्रों के नाम—(१) मित्र (२) वरुण (३) धाता (४) अर्यमा (५) अंश (६) भग (७) इन्द्र (८) विवस्वान।[१]

वर्तमान परम्परा में सौभाग्यवती स्त्री को अष्टपुत्रवती का जो आशीर्वाद प्रदान किया जाता है, उसके मूल में यही वेद प्रमाण है।

मनु एवं इडा

मनु संबधी एवं यज्ञतत्त्व का प्रकाशन करने वाली 'इडा' नामक एक स्त्री थी। असुरों द्वारा अग्न्याधान क्रम दृष्टया अशुद्ध है, यह उसे ज्ञात हुआ। तदनन्तर देवों द्वारा सम्पादित अग्निचयन के अवलोकन से 'क्रम-दृष्टया वह भी अपूर्ण था, यह उसे प्रतीत हुआ। तत्पश्चात् मनु के निकट आकर उसने कहा "मैं तुम्हारा अग्न्याधान संस्कार कराती हूँ। "दैत्य एवं देवों द्वारा सम्पादित अग्न्याधान क्रम दृष्टया अपूर्ण रहा, जिस कारण उनका फलादेश व्यर्थ गया, वैसा व्यर्थ फलादेश न हो इस पद्धति से तुम्हारा अग्न्याधान सम्पादित करती हूँ। अग्न्याधान में प्रथम गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि एवं तदनन्तर आहवनीय इत्यादि क्रम पूर्वक अग्निस्थापन हुआ। उसके योग से मनु का अग्न्याधान संस्कार समुचित हुआ एवं वह प्रजा एवं पशुओं से सम्पन्न हुआ।[२]

जगत्सृष्टि

साम्प्रत प्रत्यक्ष स्थावर—जङ्गमात्मक संसार उत्पत्ति के पूर्व नहीं था। विधाता के मन में जगत् उत्पन्ने की इच्छा प्रकट हुई। उसने जगत् की उत्पत्ति के लिये असीम तप किया, जगत्स्रष्टा परमेश्वर के मनः संकल्प से एक विशेष धूम्र उत्पन्न हुआ। पुनः तप करने से अग्नि, तदनन्तर ज्योति, ज्वाला प्रभा इत्यादि उत्पन्न हुए, तदनन्तर वे पिण्डरूप में परिवर्तित हुए। यही 'प्रजापति' का बस्ती (मूत्राशय) है। परमेश्वर ने बस्तीसंज्ञक पिण्ड को विच्छेदित कर दिया, जिससे 'समुद्र' उत्पन्न हुआ, समुद्र की उत्पत्ति मूत्राशय से होने के कारण उसका जल लवण युक्त है। जलमय

१. तै० ब्रा० १।१।३. २. तै० ब्रा० १।१।४,

उस समुद्र से प्रजापति ने पृथ्वी, अन्तक्षि, द्यौः को क्रम से उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रजापति ने अपने शरीर से असुरों का निर्माण किया। तत्पश्चात् दिवसरात्र एवं (अहोरात्र) का संधिकाल निर्मित किया। दिवस से देव एवं रात्र से असुरों का निर्माण किया। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रजा का उत्पादन प्रजापति ने ही किया है।[1]

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद से सम्बद्ध ८ ब्राह्मण हैं। सायणाचार्य ने उनका उल्लेख क्रमानुसार इस प्रकार किया है—

अष्टौ हि ब्राह्मणग्रंथाः प्रौढब्राह्मणमादिमं ॥
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात्ततः सामविधिर्भवेत्।
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः ॥

इससे यह स्पष्ट है कि सामदेद के आठ ब्राह्मण हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—१. प्रौढ (तांड्य) महाब्राह्मण अथवा पञ्चविंश, २. षड्विंश ब्राह्मण, ३. सामविधान ब्राह्मण, ४. आर्षेय ब्राह्मण, ५. दैवत ब्राह्मण, ६. उपनिषद् ब्राह्मण, ७. संहितोपनिषद् ब्राह्मण, ८. वंश ब्राह्मण।

सामवेद के ब्राह्मण स्वर युक्त थे, परन्तु काल वेग से वे नष्ट हो गये। इस विषय में प्रमाणों की कमी नहीं है—

शतपथवत्ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः

भाषिक सूत्र (३।२५)

इसी प्रकार और एक स्पष्ट प्रमाण नारदी शिक्षा का है—

द्वितीय प्रथमावेतौ ताण्डिभालविनां स्वरौ।
तथा शतपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम् ॥

(नार. शि. १।१३)

वर्तमान में ब्राह्मण ग्रन्थों में जो स्वरराहित्य है इसका कारण कालवेग एवं प्रमाद ही रहा होगा। इसका प्रमाण कुमारिल भट्टपाद का तंत्र वार्तिक का यह श्लोक है।

---

१. तै० ब्रा० २।२।६

ब्राह्मणानिहि यान्यष्टौ सरहस्यान्यधीयते ।
छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतस्वरः ॥
(तं० वा० १।२।१२)

(१) ताण्ड्य अथवा पंचविंश ब्राह्मण

तांडिशाखा का ब्राह्मण 'ताण्डय ब्राह्मण' है। पञ्चविंशाध्यायात्मक होने के कारण इसे पंचविंशब्राह्मण भी कहते हैं। उपलब्ध सामवेदीय ब्राह्मणों में आकार दृष्टि से बृहत् होने से इसे 'महाब्राह्मण' 'प्रौढब्राह्मण' आदि संज्ञाए हैं। इसका सम्पादन १८७४ ई० में ए० सी० वेदान्त वागीश ने किया था। तदनन्तर श्रीचिन्नस्वामी ने इसका पुनः सम्पादन १९३४ ई० में किया।

यह ब्राह्मण २५ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय अनेक खण्डों में विभाजित है। प्रथम तीन अध्यायों में त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, स्तोमों की विष्टुतियों का विशदरुप में विचार है, इसके साथ ही साथ दक्षिणाप्रतिग्रह, रथारोहण मंत्र, आदि का वर्णन है।

चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में 'गवामयन' का विस्तृत वर्णव है। षष्ठ अध्याय में सोमप्रकृतिभूत 'ज्योतिष्टोम' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति, वाङ्नियम विधान, बहिष्पवमान आदि का सविस्तर वर्णन है। सप्तम से नवम अध्याय तक प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन, वामदेव के गान नियम, अभिचार प्रयोगार्थं ब्रह्मसामविधान, संधिस्तोत्र का विधान, अतिरात्र संस्था का विधान, होमत्रय विधान, आदि का सविस्तृत विवरण है। दशम अध्याय से पञ्चदश अध्याय तक द्वादशाह यागों का एवं अनुषंग से अनेक तत्सम्बन्धि आवश्यक विधियों का वर्णन है। षोडश से एकोनत्रिंश अध्याय तक अनेक प्रकार के एकाह यागों का वर्णन है। त्रिंश से पंचविंश अध्याय तक 'अहीन याग और सत्रों का विशदवर्णन है।

अति प्राचीन ब्राह्मणों में इस ब्राह्मण को स्थान प्राप्त है। इस ब्राह्मण में पूर्व कल्पविषयक अनेक ऐतिहासिक संकेत हैं, जिनका रहस्य भविष्य में स्फुटित हो सकता है। इसके १७ वे अध्याय में व्रात्य-यज्ञ स्तोम का जो वर्णन है वह अत्यन्त रोचक एवं महत्वपूर्ण है। संगीत शास्त्र विषयक मूल मौलिक सिद्धान्तों का ऐतिहासिक विवरण है जो संगीत के जिज्ञासु अन्वेक्षकों का विषय हो सकता है। इस ब्राह्मण के सम्पूर्ण विवरण का प्रति-

पादन करना असम्भव है, इस हेतु कुछ संकेत दिये जा रहे हैं जो अभी अनुसन्धेय हैं।

१. अन्तरिक्षायतना हि प्रजा (४।८।१३), २. चक्षुर्वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासः (५।६।११), ३. तस्मात्प्रजा दशमासो गर्भं भूत्वैकादशमनुप्रजायते तस्माद् द्वादशं नाभ्यतिहरन्ति (६।१।३) ४. तस्मात्तिर्यङ् वायुः पवते (१०।५।२) ५. अलोकोवा एष यदानुजावरः (२।१०।२) ६. यद्धि मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति (११।१।३) ७. नरो वै देवानां ग्रामः (६।६।२) ८. तस्मादूर्ध्वोऽग्निर्दीदाय (१०।५।२) ९, तस्मादवाङादित्यस्तपति (१०।५।२), १०. तस्मान्नाभिरनवतृण्णादशमी प्राणानां (६।८।३) ११. साचीव वै वयः पक्षौ कृत्वा पतीयः पतन्ति (५।१।१२) आदि अनेक संकेत हो सकते हैं यहाँ निदर्शन मात्र किया गया है।

२. षड्विंश ब्राह्मण

सामवेद का द्वितीय ब्राह्मण 'षड्विंशब्राह्मण' है। इस ब्राह्मण में पांच प्रपाठक अथवा अध्याय हैं। प्रथम प्रपाठक से पंचमप्रपाठक में क्रमशः ७, १०, १२, ७, १२, खण्ड हैं। इस ब्राह्मण का सर्वप्रथम प्रकाशन १८८१ ई० में जीवानन्द विद्यासागर ने किया था, तत्पश्चात अनेक विद्वानों ने इसे संशोधित करके प्रकाशित किया है।

इन ब्राह्मण ग्रन्थ का विषय यज्ञ परक है। इसमें निम्न विषयों का विवेचन है —

१—सुब्रह्मण्य विधि, २—सौम्यचरुविधान, ३—बहिष्पवमान, ४—प्रकीर्ण विषय, ५—ऋत्विग्विधान, ६—नैमित्तिक होम, ७—अध्वर्युप्रशंसा, ८—देवयजनविज्ञेयकर्म, ९—अवभृथ, १०—अभिचार प्रयोग, ११—द्वादशाहस्तुति, १२—श्येनादियाग विधि, १३—वैश्वदेवसत्र का विवरण।

३. सामविधान ब्राह्मण

सामवेद का अन्य महत्वपूर्ण ब्राह्मण 'सामविधान' है। इसमें प्रतिपादित विषयसामग्री अन्य ब्राह्मणों में प्रतिपादित विषयसामग्री से भिन्नता रखती है। इसका प्रथम प्रकाशन बर्नेल ने सायणभाष्य के साथ १८७३ ई० में किया था। १९६५ में तिरुपति विद्यापीठ से भी एक संस्करण प्रकाशित हुआ था।

सामविधान ब्राह्मण में तीन प्रपाठक या प्रकरण हैं। विषयानुक्रम प्रपाठक के अनुसार इस प्रकार है—

प्रथम प्रपाठक में अध्ययन विधान, पाँचरात्रिक-सामविधान, सप्तरात्रिकसामविधान, मासाद्यध्येयसामविधान, प्रायश्चितविधान, अश्लिलभाषणादिकों का प्रायश्चित्त, उपपातक प्रायश्चित्त, आदि का वर्णन हुआ है। द्वितीय प्रपाठक में काम्यप्रयोग विधान, मनुष्यवशीकरण, सौभाग्यसिद्धि प्रयोग, ब्रह्मवर्चससिद्धि प्रयोग, यशः सिद्धि प्रयोगादि का विवेचन है। तृतीय प्रपाठक में वास्तुशमन प्रयोग, अदृष्टदर्शनादि प्रयोग, संग्रामजयार्थ प्रयोग, पिशाचवशीकरण प्रयोग, जातिस्मर प्रयोग, अग्निस्वायत्तीकरण प्रयोग, भौतिक लाभ साधन प्रयोग, राष्ट्रुपासाना, साम प्रयोग, सूचनोपदेश, विहित प्रयोग, सामविधान ब्राह्मणोपदेशपात्र निर्देश, दक्षिणा नियम आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त विषयानुक्रम से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि श्रौत विधि के व्यतिरिक्त व्यापक विषयों का प्रतिपादन इस ब्राह्मण की विशिष्ट विशेषता है।

४. आर्षेयब्राह्मण

सामवेद का चतुर्थ ब्राह्मण ग्रंथ 'आर्षेय' है। यज्ञ में जिन सामों का गान किया जाता है उनके द्रष्टा, ऋषि, छंद, देवता आदि का ज्ञान अपेक्षित होता है, विस्मरण होने पर दोष होता है, इसी अभिप्राय से इस ब्राह्मण में सामों के ऋषि, देवता, छन्द आदि का विचार है। ब्राह्मण के अध्येता को गायत्र, गेय, आरण्य और महानाम्न संज्ञक सामों के नाम यथाक्रम ज्ञात होते जाते हैं और अतिदेश विधि से ऊह एवं ऊह्य सामगान सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। इस ग्रन्थ की अन्यतम विशेषता "कौन से सामों का कौन कौन से स्वर से गान प्रारम्भ करना" है, इस विषयक विवरण इस ग्रंथ में सम्यक्तया विवेचित हैं।

५. दैवतब्राह्मण

सामवेद का यह पांचवा ब्राह्मण है, इसका आकार अन्य ब्राह्मणों से बहुत छोटा है। इस ब्राह्मण का मुख्य विषय–'सामों के निधनों, (ध्रुवपदों) के द्वारा भिन्न-भिन्न देवतानुरुप सामों का वर्ग विभाग करना। इसमें केवल तीन खण्ड हैं — (१) प्रथम खण्ड में २६ कण्डिकाएँ हैं, जिनमें अग्नि, इन्द्र,

प्रजापति, सोम, वरुण त्वष्टा, आंगिरस, पूषा, सरस्वती इत्यादि साम-देवताओं का कथन किया गया है। प्रत्येक देवता परक साम के ध्रुवपद किस प्रकार के होते हैं, भेद विवेचनपुरस्सर गम्भीर वर्णन है। (२) द्वितीय खण्ड में ११ कण्डिकाएँ है, जिनमें सामों के आधारभूत गायत्री, उष्णिह्, ककुप् इत्यादि छंदों के शुभ्र, चित्र इत्यादि वर्ण एवं उनके देवताओं का का वर्णन है। (३) तृतीय खण्ड में २५ कण्डिकाएँ हैं, जिनमें वैदिकछंदों की व्युत्पत्तियों का मार्मिक वर्णन हैं। भाषाशास्त्रियों हेतु यह ब्राह्मण अत्यन्त उपादेय है। यास्काचार्य ने निरुक्त में इस ग्रंथ का अनुगमन किया है। खण्ड के अन्त में गायत्री मन्त्र का गान साम के द्वारा बताया गया है।

६. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों में यह ६ वां ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण को 'तलवकार' 'उपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं। 'शौनकादिभ्यश्छंदसि (४।३।१०६) सूत्र में पाणिनि ने 'तलवकार' ऋषि का उल्लेख किया है।

अद्वैत सिद्धान्तप्रस्थापक आद्यशंकराचार्य ने 'केनोपनिषद्' भाष्य की प्रस्तावना में कहा है कि "परब्रह्मविषयक उपनिषद् नवें अध्याय का प्रारम्भ है, पूर्व के आठ-अध्यायों में यज्ञकर्म का विस्तृत विवेचन और प्राणोपासना का भी गम्भीर विवरण है। उपनिषद् के अनन्तर गायत्रसाम एवं वंशपरम्परा का वर्णन है"। साम्प्रत उपलब्ध उपनिषद् ब्राह्मण का अध्यायक्रम उपरिनिर्दिष्ट अध्यायक्रम से नितान्त भिन्न है। उपलब्ध ब्राह्मण के ४ अध्याय हैं। जिसमें चतुर्थ अध्याय के १८ वें खण्ड से 'केनोपनिषद्' प्रारम्भ होता है जो कि २१ वे खण्ड तक है। शंकराचार्य ने जिन वंशावलियों का उल्लेख किया है वे उपनिषद् के पूर्व ही हैं।

जैमिनीयोपनिषद् को "गायत्रोपनिषद्" ये अवान्तर अभिधान भी व्यवहृत होता है।[1] ब्राह्मण का प्रारम्भ ही गायत्रसाम की उपासना से हुआ है। इस ब्राह्मण में दो ऐतिहासिक सामवेद की वंश परम्परा द्योतक वंशावलियाँ हैं, जिनका अवलोकन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकता है—

प्रथम वंशावली (३।४०-४२)

ब्रह्म—प्रजापति—परमेष्टी—सविता—अग्नि—इन्द्र—कश्यप—ऋष्यश्रृङ्ग—देवतरस—श्रुषवान्हेय—इन्द्रोत दैवाप शौनक—दृति ऐन्द्रोति शौनक-

---

१. उ. ब्रा. (४।१७)

पुलुष—सत्ययज्ञ—सोमशुष्मसात्ययज्ञ—हृत्स्वाशयआल्लकेयमहावृष—जनश्रुत—सायकजानश्रुतेय—नगरी जानश्रुतेय—शंग शाटयायनि आत्रेय—रामक्रातुजातेय— शङ्खबाभ्रव्य—दक्षकात्यायनि—कंसवारकि— प्रोष्ठपाद-वारक्य—कंसवारक्य—जयंतवारक्य— कुबेरवारक्य—जयंतवारक्य— जन-श्रुतवारक्य—सुदत्तपाराशर्य—आषाढ उत्तर—विपश्चित् शकुनि मित्र—जयंतपाराशर्य—श्यामजयंत लौहित्य—पल्लिगुप्त लौहित्य—सत्यश्रवा लौ-हित्य कृष्णधृतिसात्याकि— श्यामसुजयंत— कृष्णदत्तलौहित्य— मित्रभूति लौहित्य—श्याम जयन्त लौहित्य—त्रिदेव कृष्णरात लौहित्य—यशस्वी जयन्त लौहित्य—जयक—कृष्णरात लौहित्य—दक्ष जयन्त लौहित्य—विपश्चित् दृढ जयन्त—वैपश्चित दार्ढ जयन्ति—दार्ढ जयन्ति गुप्त।

द्वितीय वंशावली (उपनिषद् ब्राह्मण ४।१६-१६)

इन्द्र—अगस्त्य—इषश्यावाश्वि—गोषूक्ति—ज्वालायन—शाटयायनि—रामक्रातुजातेय—शङ्खबाभ्रव्य—दक्षकात्यायनि आत्रेय—कंसवारक्य—सुयज्ञ शांडिल्य—आग्निदत्त शाण्डिल्य—सुयज्ञशाण्डिल्य—जयन्त वारक्य—जनश्रुत वारक्य—सुदत्तपाराशर्य।

७. संहितोपनिषद् ब्राह्मण

सामवेद का एक अन्य महत्वपूर्ण ब्राह्मण है। इसमें पांच अध्याय अथवा खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भिन्न पद्धति से सामागान करने पर घटित परिणामों का वर्णन है। द्वितीय एवं तृतीय खण्ड में साम एवं मन्त्र के पृथकत्व का विचार संकेत रूप में हैं जिसका स्पष्टीकरण फुल्लसूत्र, सामतन्त्र आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है। इस ब्राह्मण में पूर्ण स्वर परम्परा प्राप्त होती है। चतुर्थ अध्याय में उपाध्याय को दी जानेवाली विशिष्ट दक्षिणा का विचार है।

'आरण्यगान' एवं 'ग्रामगेयगान' का उल्लेख इस ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है। तृतीय अध्याय में विद्यादेवी का उपदेश, गुरुमर्यादा आदि का विचार अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयग्राही है। निरुक्तकार यास्क ने एवं स्मृतिकारों ने उपर्युक्त आख्यानों को अपने ग्रन्थ का उपजीव्य माना है।

८. वंश ब्राह्मण

यह ब्राह्मण भी छोटा ही है। इसमें तीन खण्ड हैं। सामवेद के पूर्वाचार्यों की परिपूर्ण परम्पराओं का क्रमबद्ध निर्देश अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सामवेद का एक अन्यतम ब्राह्मण 'उपनिषद् ब्राह्मण' है। इसमें १० प्रपाठक हैं। इसमें गृह्यसंस्कारों का क्रमबद्ध विवरण है। शंकराचार्य ने इसे ताण्ड्यशाखा से सम्बद्ध माना है। इसी ब्राह्मण के अन्त में प्रसिद्ध उपनिषद् 'छान्दोग्य' है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण

अथर्ववेद का वर्तमान में एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण 'गोपथ' है। इसका प्रारम्भ 'ॐ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्' से होकर 'यत्रैवंविदं शंसति यत्रैवंविदं शंसतीति ब्राह्मणम्' इन पदों पर समाप्त होता है। इसके दो भाग हैं, पूर्व गोपथ एवं उत्तर गोपथ। दोनों भागों में ११ प्रपाठक हैं। प्रत्येक प्रपाठक कण्डिकाओं में विभक्त हैं। पूर्वगोपथ में ५ प्रपाठक एवं १३५ कण्डिकायें हैं और उत्तर गोपथ में ६ प्रपाठक और १२३ कण्डिकायें हैं।

गोपथ का विषय—गोपथ ब्राह्मण का विषय विवरण भी अन्य ब्राह्मण ग्रंथों के समान याज्ञिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट करता है। ग्रन्थ के पूर्वभाग में 'ॐ' की महिमा का विस्तृत वर्णन है। एतद्विषयक वैशिष्टय ये है कि 'ॐ' को द्विवर्ण तथा चतुर्मात्र माना है—

'स ओमित्येतदक्षरमपश्यद् द्विवर्णञ्चतुर्मात्र सर्वव्यापि' (१।१६)

एकमात्रिक 'अ' तथा द्विमात्रिक 'ऊ', 'ओ' एवं 'म्' ये चार मात्रायें हैं, इन चार मात्राओं से जगत् के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसे प्रथम स्वर मात्रा से पृथिवी, द्वितीय स्वरमात्रा से वायु, तृतीय स्वरमात्रा से सूर्य आदि की उत्पत्ति हुई है।

गायत्री मन्त्र के विषय में मौद्गल्य एवं मैत्रेय के संवाद महत्वपूर्ण हैं। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचर्य के महत्त्व का सुप्रतिपादन हुआ है। इन वर्णनों के मध्य में अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसूक्त के मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकरण में ब्रह्मचारी को गृहपत्नी द्वारा भिक्षा न दिये जाने पर उस गृहपत्नी का पुण्य-कर्म और धनादि का नष्ट होना लिखा है। ब्रह्मचारी हेतु चारों वेदों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

तृतीय प्रपाठक में 'याज्ञिक क्रिया के विषय में सारगर्भित विवेचन है। उद्दालक ऋषि के विचार यज्ञ प्रक्रिया का वैज्ञानिक रहस्य स्पष्ट करते हैं। इसी प्रपाठक में विभिन्न प्रायश्चित्तों का भी विधान है। चतुर्थ प्रपाठक में गृहपति, ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु एवं अन्य सहायक ऋत्विजों की

दीक्षा का विवेचन है। अठारह प्रकार के यज्ञ एवं उनके देवता और उनसे प्राप्त फलों का विवेचन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पंचम प्रपाठक में 'संवत्सर सत्र' का वर्णन है। अनन्तर अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का विवरण है।

उत्तरगोपथ में भी याज्ञिक प्रक्रिया का ही ऊहापोह हुआ है। प्रथम प्रपाठक में देवताओं के दो प्रकार—(सोमपा, एवं असोमपा) पूर्व एवं उत्तर पूर्णमासी का विचार, और विभिन्न देवताओं (इन्द्र, अग्नि, वरुण, पितर) के लिये हवि का विधान है। द्वितीय प्रपाठक में यज्ञ, धर्म और प्रवर्ग्य आदि का विस्तरशः विवेचन है। तृतीय प्रपाठक में वषट्कार और अनुवषट्कार आदि का विवेचन हैं। चतुर्थ प्रपाठक में उक्थ, षोडशी आदि संस्थाओं का विवेचन है। पंचम प्रपाठक में यज्ञ के पर्यायों में प्रयुक्त स्तुति, अहीन यागों का वर्णन है।

गोपथ ब्राह्मण के आख्यान भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं—कुछ आख्यानों के संकेत प्रस्तुत हैं—

१–गो ब्रा. ४।११, २–५।१, ३–५।८, ४–६।११

ब्राह्मण ग्रंथों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचार

यज्ञ क्रिया का सांगोपांग विचार ही ब्राह्मणग्रंथों का प्रधान उद्देश्य है, तथापि अनुषंग से शब्दनिर्वचन, राजा–आचार्य–ऋषि वंशावली, और विविध आख्यान–उपाख्यान आदि का यथाक्रम विवेचन प्राप्त होता है। प्रकृत में ब्राह्मण ग्रंथों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का उल्लेख कर रहे हैं।

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' यज्ञ कर्म ही अन्य कर्मों में श्रेष्ठतमकर्म है। यज्ञ सूर्यसमान तेजःस्वरुप है, यज्ञ को ही प्रजापति कहा गया है।[1]

यज्ञ से मनुष्य अन्य पापों से मुक्त होता है और अश्वमेध करने वाला ब्रह्महत्या के पातक से भी मुक्त हो जाता है। यज्ञ से ही मनुष्य के ऐहिक प्रयोजन सिद्ध होते हैं और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पुनर्जन्म एवं पुनर्मृत्यु से मुक्ति का एकमात्र साधन यज्ञ ही है।[2] वैदिक मन्त्रों के पठन से चित्त शांत एवं मन सबल होता है। मन्त्रोच्चार से वायुमण्डल भी प्रभावित होता है, सम्पूर्ण विश्व में धर्मचक्र घूमता है।[3]

---

१. श० ब्रा० ४।३।४।३, १४।१।१।६,

२. श० ब्रा० २।३।१।६, १३।५।४।१, ३. ऐ० ब्रा० १।४।३,

ब्राह्मणों का वृष्टि विज्ञान का रहस्य आधुनिक विज्ञान को भी मान्य होना चाहिये। ब्राह्मणों का एतद् विषयक वर्णन अत्यन्त गम्भीर हैं। 'अग्नेर्वै धूमो जायतेधूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः' = अग्नि (ताप) से धूम उत्पन्न होता है, धूम से बादल उत्पन्न होते हैं, बादलों से वृष्टि होती है। वायु वृष्टि में सहायक है, इस हेतु वृष्टि पर उसे प्रभावी कहा गया है।

ब्राह्मणों ने प्रजापति का मुख्य देवता के रुप में वर्णन किया है। प्रजापति अनादि, अमर, एवं लोक रक्षक है। सृष्टि का कर्ता भी वही है—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् ।' एक एव सोऽकामयत सृष्टि के पूर्व प्रजापति ही था, उसे सृष्टि की इच्छा हुई, उसकी इच्छामात्र से सकलसृष्टि का निर्माण हुआ।[1] सृष्टि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीन लोक हैं।

मनुष्य की आयुःसम्पदा १०० वर्ष है, कतिपय मनुष्य १०० वर्षों से अधिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जिसे पूर्ण आयुःसम्पदा का भोग करना हो, वह दिन में दो बार मिताहारग्रहण करे। शरीर में जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे मुख्यरूप से ऋतुसंधिकाल में ही होते हैं। शुद्ध जल रोगनाशक है। सुवर्ण (सोना) शरीरगत प्रतिकूल कीटाणुओं को नष्ट करता है।

गृहस्थाश्रम एवं तदनुषंग से 'पत्नी' का ब्राह्मणग्रंथों में अत्यन्त आदर है। पत्नी केवल गृहलक्ष्मी ही नहीं होती, अपितु 'अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी'—पत्नी, पुरुष का अर्द्धांग होती है।[2] गृहस्वामिनी स्त्री, लक्ष्मीरुपिणी होती है—'श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः स्त्री का ताड़न नहीं करना चाहिये—'न वै स्त्रियं ध्नन्ति' क्योंकि स्त्री घर की प्रतिष्ठा है, जिसे पत्नी न हो उसे यज्ञ का अधिकार नहीं होता।[3] गृहस्थाश्रम स्वीकार करके पत्नी द्वारा पुत्र को उत्पन्न करना चाहिये। 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' पुत्रहीन को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। पिता की उत्तर आयु में उनका पालन पुत्रों का कर्त्तव्य है 'तस्मादुत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवति'।

वैदिक धर्म में 'सत्य' महान् वस्तु है। सत्यभाषण सत्यसंकल्प एवं सत्यकर्म वैदिक धर्म के अपेक्षित आधार स्तम्भ हैं। असत्यभाषण एवं असत्याचरण वैदिक आर्यों की दृष्टि में महापातक है। 'ऋतेनैव स्वर्ग लोकं गमयति' सत्यमार्ग से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] 'अमेध्यो वै पुरुषो

---

१. श. ब्रा. ६।१।३।१, २. तै. ब्रा. ३।३।३।५,
३. तै० ब्रा० ३।६।४।७, श. ब्रा. ११।४।३।२,
४. ता. ब्रा. १८।२।१६,

यदनृतं वदति' असत्यभाषी पुरुष अशुद्ध होता है—उसका पावित्र्य नष्ट हो हो जाता है।[1] 'एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्' असत्य वाणी का छिद्र है, उसमें से सुकृत भ्रष्ट हो जाता है।

मनुष्य हेतु अभिमान एवं अहंकार हानिप्रद हैं। तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः' अहंकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह पराभव का, अधःपात का द्वार है।[2] मूर्ख गुरु द्वारा उपनयन नहीं कराना चाहिये। द्वेष एवं चोरी न करें, किसी के साथ अभद्र व्यवहार न हो क्योंकि ये सब पातक हैं जिनका उपशमन प्रायश्चित से ही होता है। समस्त प्रायश्चितों में 'यज्ञ' प्रधान प्रायश्चित है। मनुष्य आत्मविश्वास एवं दृढ़संकल्प-पूर्वक निरलस कार्य करे, सतत प्रयत्न करे—

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्यादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरंश्चरैवेति ॥[3]

गतिमान् मनुष्य को मधु प्राप्त होता है (उसके उद्दिष्ट सफल होते हैं, आगे बढ़ने वाले को स्वादिष्ट उदुम्बर (फल) प्राप्त होते हैं। सूर्य अविश्रांत रात्र, दिन, गतिशील है इसी कारण वह विश्ववंद्य है। इस हेतु दृढ़ निश्चय पूर्वक आगे बढ़ो।

ये समस्त उपदेश मानव के अभ्युदय एवं आत्मकल्याण हेतु हैं, वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से उपदेश वैदिकवाङ्मय में अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं।



---

१. श. ब्रा. ३।१।३।१८
२. श. ब्रा. ५।१।१।१
३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३।१५

ब्राह्मण शिक्षा

ब्रह्मचर्य-वरेण्यता

तमेवं विद्वासमेवं चरन्तं सर्वे वेदा आविशन्ति ।

यथा ह वा अग्निः समिद्धो रोचते एवं ह वै स स्नात्वा रोचते ।[1]

ब्रह्मचर्य रहस्यों का जानकार ब्रह्मचर्य-परायण ब्रह्मचारी को सभी वेद अपने तत्त्वावेश से सुशोभित कर देते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि देदीप्यमान होती है, ठीक उसी प्रकार वह ब्रह्मचारी स्नातक बनकर विश्व में चमकता है।

सत्य

द्वयं वै इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च ।
एतद् हवै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते यशः ॥[2]

वाणी के दो ही निस्सन्देह कर्म हैं—सत्य और झूठ। तीसरा कर्म नहीं है। इसी को देवगण अपना मुख्यव्रत मानकर पालन करते हैं, जो यह सत्य है, उसी से वे यश प्राप्त करते हैं।

अथैतन्मूलं वाचो यदनृतम् । तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति । स उद्वर्तते एवमेवानृतं वदनाविर्मूलात्मानं करोति स शुष्यति स उद्वर्तते ।[3]

'झूठ' वाणी का मूल है। जिस प्रकार नंगी जड़ोंवाला वृक्ष सूख जाता है तदनन्तर उखड जाता है। ऐसे ही मिथ्याभाषी पुरुष स्वयं को नंगी जड़ों का कर लेता है तत्पश्चात वह सूखकर धराशायी हो जाता है।

यद्वाव पुरुषो मनसा अभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ।[4]

जो कुछ भी पुरुष मनसे सोचता रहता है वही क्रियारूप से परिणत हो जाता है।

इस हेतु मनुष्य का परमकर्तव्य है कि न मनसे झूठ सोचे, न वाणी से बोले और न शरीर से करे। अतः मनसावाचाकर्मणा सत्य का सेवन आवश्यक है—

---

१. श. ब्रा. ११।३।३।७, २. श. ब्रा. १।१।१।४
३. ऐ. आ. २।३।६ ४. तै० आ० १।२३,

न मनसा अनृतमभिगच्छेन्न वदेन्न कुर्यात् ।[1]

तप

तपसा देवा देवतामग्र आयन तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन् । तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति ।[2]

जिस तप ने समस्त देव, ऋषि, मनुष्यात्मक विश्व को सर्वतः व्याप्त कर लिया है उसी तप के प्रभाव से इन्द्रादि ने देवत्व तथा नारद प्रमुख ऋषिग्रों ने स्वर्ग प्राप्त किया है । हम भी तपसे अपने अदानशील शत्रुओं को परास्त करें । शतपथब्राह्मण का भी यही कथन है—

तपसा वै लोकं जयन्ति । (शतपथ ३।४।४।२७)

तप रुप साधन से ही ज्ञान, उपासना आदि कर्म साध्य होते हैं, अन्तः करण की शुद्धता तप पर ही निर्भर है—

त्रयः प्राजापत्याः । प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमुषुर्देवा मनुष्या असुराः । उषित्वा ब्रह्मचर्यं······ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति······तेभ्यो हेतदक्षरयुवाच 'द–द–द' इति । तदेतदेवैषा देवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्ददद इति । दाम्यत दत्त दयध्वमिति ।[3]

देव, मनुष्य और असुर,' तीन पुत्र अपने पिता प्रजापति की शरण में कर्तव्य जिज्ञासा हेतु पहुंचे । ब्रह्मचर्यादि व्रत पालनपूर्वक पिता की सेवा करने लगे । पिता को प्रसन्न करके बोले "प्रभो ! हमें कर्तव्य का उपदेश करें ।" क्रमशः प्रत्येक को प्रजापति ने उपदेश दिया—'द' । द, द, द, ये तीन सदक्षर प्रजापति के महानुपदेश हैं । आकाश के विपुल प्रशस्त उदर में इन्हीं का नव्द भरा हुआ है । मेघध्वनि से समय–समय पर जिसकी व्यंजना होती है ।

प्रथम 'द' देवों के लिए आत्म-शासन का द्योतक है । प्रत्येक उन्नत जीवन के पतन का एकमात्र कारण है 'विलासिता' । इससे बचाने के लिए देवी वाक् की प्रेरणा जागरित है—'दाम्यत' = विलास हेतु प्रवृत्त इन्द्रियों का दमन ।

सामाजिक विषमता जन्य कलह को दूर करने के लिए मनुष्यों को सुन्दर उपदेश दिया गया है—'द' = दत्त, दान करो । इस मन्त्र के द्वारा

---

१. तै. ब्रा. १।७।२ २. तै. ब्रा. ३।१२।३,
३. श. ब्रा. १४।८।२२।४

मनुष्यमात्र को सञ्चय करने की पापिष्ठ प्रकृति का त्याग करना और वितरण का पाठ पढ़ाया है।

असुरों को अनादिनिधना वाग् मधुर उपदेश देती है 'द' = दयध्वम्। दया करो सब जीवों पर। अकारण वैर, रक्त-पिपासा, तथा हिंसक प्रवृत्तियों को रोकने का उपदेश दिया है।

यज्ञ—विभाग

सम्पूर्ण यज्ञ-प्रपञ्च इक्कीस भागों में विभक्त है—७ पाकयज्ञ संस्थाएँ,[1] ७—हविर्यज्ञ संस्थाएँ,[2] ७ सोम संस्थाएँ।[3]

पाकयज्ञों का अनुष्ठान स्मार्त (गृह्य, आवसथ्य अथवा औपासन) अग्नि में होता है। अतः इन्हें स्मार्त कर्म कहते हैं। इनकी प्रशंसा तैत्तिरीय संहिता में भी है।[4] सपत्नीक पुरुष हेतु यावज्जीवन अनुष्ठेय हैं। ये निम्न-लिखित हैं—**सायंप्रातः होम, स्थालीपाक, नवयज्ञ, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका, पशुः = शूलगव।**

सायंप्रातर्होम को 'औपासनहोम' भी कहते हैं। प्रातः 'सूर्य' एवं सायं प्रधान देवता 'अग्नि' होता है, प्रजापति दोनों समय 'अंगदेवता' रहता है। दधि, तण्डुल[5] आदि से औपासनहोम सम्पन्न किया जाता है।

स्थालीपाक—प्रत्येक अमावास्या में षट् पुरुषों के उद्देश्य से किया जाता है।[6] यह भी नित्य कर्म है। पाकयज्ञों का विशद विवेचन सूत्रग्रन्थों में हुआ है। कौषीतकि गृह्य सूत्र का उपक्रम ही 'अथातः पाकयज्ञं व्याख्यास्यामः' यहाँ से हुआ है। गौतमधर्मसूत्र एवं शांख्यायन गृह्यसूत्र में पाकयज्ञों की साङ्गोपाङ्ग पद्धति निरुपित है।

---

१. सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्चयः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुः॥ इति पाकसंस्थाः

२. अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्रसप्तमः॥ इति हविर्संस्थाः

३. अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः।
वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तमः॥ इति सोमसंस्थाः॥
(गोपथ. पू. ५।२३)

४. तै. सं. १।७।१

५. पा. गृ. सू. १।८।३ दध्न तण्डूलैरक्षतैर्वा,

६. मिता. गौ. ध. सू.॥ १।७।१६॥ पर्वणिभवः स्थालीपाकः पार्वणः॥

हविर्यज्ञ—और सोम दोनों प्रकार के यज्ञ श्रौत कर्म कहे जाते हैं। हविर्यज्ञ संस्थाएँ अधोलिखित हैं—**अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशुबन्ध।** पूर्णाहुति पर्यन्त अग्न्याधान करना चाहिए।[1] सायंप्रातः अग्निहोत्र संज्ञक कर्म करना चाहिए।[2] इसमें देवता 'स्मार्त औपासन' होम के समान ही होते हैं। परन्तु 'अग्निहोत्र' संज्ञा श्रौत कर्म की है।

दर्श (अमावास्या) में होने वाले 'आग्नेय, और ऐन्द्र द्वय ये तीनकर्म दर्श के नाम से प्रसिद्ध हैं और पूर्णमासी में अनुष्ठेय 'आग्नेय, अग्निषोमीय, उपांशुयाज, ये तीन कर्म 'पौर्णमास' संज्ञक हैं। सभी उक्त छः कर्म मिलकर 'दर्शपौर्णमास', कहलाते हैं।

सोमयाग संस्थाएँ—निम्नलिखित हैं—**अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, और आप्तोर्याम।** सोम एकलता है, जिसके रस से निष्पाद्ययाग, **'सोमयाग'** कहा जाता है। इसके तीन भेद होते हैं—१—एकाह, २—अहीन, ३—सत्र। जिस याग में सोमरस का अभिषव एक ही दिन होता है, उसे **एकाह** कहते हैं। जिसमें दो से बारह दिनों तक अभिषव होता है, उसे **'अहीन'** और जिस सोमयाग का अनुष्ठान पक्ष से लेकर सहस्र संवत्सर तक चालू रहता है, उसे **'सत्र'** कहते हैं।

पंच महायज्ञ[3]—पांच ही महायज्ञ हैं। वे ही महासत्र कहलाते हैं। इनकी संख्या पांच हैं—१—भूत-यज्ञ, २—मनुष्ययज्ञ, ३—पितृयज्ञ, ४—देवयज्ञ, ५—ब्रह्मयज्ञ। गृहस्थ व्यक्तियों के लिए इनका नियमपूर्वक विधान किया गया है।

प्रतिदिन गो आदि प्राणियों को भोजन दे—यही **भूतयज्ञ** का सम्पादन है। जलपात्र भार अन्न किसी भूखे मनुष्य को देना—**मनुष्ययज्ञ** का सम्पादन है। नित्यप्रति स्वधाकारपूर्वक पितरों को अन्न जल देना—**पितृयज्ञ** है। नित्यशः स्वाहाकारपूर्वक देवों को काष्ठपर्यन्त हविका अर्पण—**देवयज्ञ** है।[4]

---

१. अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत् (गोप. पू. ५।८)

२. सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति (तै. सं. ३।४।१०)

३. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। (शत० ११।५।६।१)

४. अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति।
अहरहर्दद्यादोदपात्रात् तथैतं मनुष्य यज्ञं समाप्नोति।

अपनी वंशपरम्परा के अनुसार शाखा का विधिपूर्वक आचार्य से अध्ययन 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है।[1]

आर्यजनों का पवित्र, परमोदार, चिरन्तनशास्त्रीय आचरण संसार के लिए एक महान् आदर्श है। जिसके द्वारा पवित्र हुए मनुष्य सांसारिक अग्नि परीक्षाओं में अनायास उत्तीर्ण हो जाते हैं, उसी पावन, स्वच्छ, आचारपथ पर चलकर ही पापात्मा घोर शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती हैं।[2]

स्त्री-प्रतिष्ठा—घरों की शोभा पत्नी से ही है। इस हेतु घरों में पत्नी की पूर्ण प्रतिष्ठा करनी चाहिए।[3] स्त्री ही निःसन्देह गृहलक्ष्मी है। इसलिए स्त्री के कोमल हृदय पर किसी प्रकार का आघात नहीं आने देना चाहिए।[4]

उपर्युक्त विवरण को प्रस्तुत करने एकमात्र उद्देश्य है कि पाठक ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित जीवन के उदात्त, शाश्वत सत्यतत्वों को जान सके। हम भारतीय 'आर्य' अवश्य हैं, परन्तु आर्यसंस्कृति से भिन्न आचार-व्यवहार के शासन से आज की जीवन पद्धति का निर्माण हो रहा है। जिसका प्रतिफल समाज भोग रहा है। संसार में व्याप्त अराजकता, भ्रष्टाचार का वातावरण पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति के प्राकृतिक असंतुलन के कारण निर्मित हुआ है। अतः प्रत्येक भारतीय को श्रद्धा, अभिमान पूर्वक आर्य संस्कृति का सेवक होना आवश्यक है, जो व्याप्त अशान्ति का समूलोच्छेद करने में समर्थ हो सकता है।

अहरहः स्वधा कुर्यादोदपात्रात्, तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति।
अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्, तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति।

१. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः (शत. ११।५।६।२) शत. ११।५।६।३

२. चरणं पवित्रं विततं पुराणं, येन पूतस्तरति दुष्कृतानि। तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता, अतिपाप्मानमरातिं तरेम (तै. ब्रा. ३।१२।३)

३. गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा। तद् गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति। (शत. प. ३।३।१।१०)

४. स्त्री वा एषा यत्पत्नीः नवै स्त्रियं घ्नन्ति (शत. प. ११।४।३।२)

चतुर्थ अध्याय

आरण्यक एवं उपनिषद्

आरण्यक सामान्य परिचय—अरण्य अर्थात् एकान्तवन में ज्ञानविज्ञान की प्रतिपादक जिस विद्या का पठन पाठन हो, वह विद्या जिन ग्रन्थों में सुरक्षित है- उन्हे आरण्यक कहते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि जिस प्रकार दधि से नवनीत, मलयाचल से चन्दन, औषधियों से जैसे अमृत उसी प्रकार वेदों से आरण्यक प्राप्त हुए हैं।[1] आचार्य सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य के प्राक्कथन में स्पष्ट प्रकाशित किया है–'अरण्य एव पाठ्यत्वाद आरण्यकमितीर्यते'। अर्थात्–इस आध्यात्मिक विद्या का अध्यापन अरण्य में ही होने के कारण यह आरण्यक हैं। 'एव' यह अव्यय ही इस रहस्य को प्रकाशित कर रहा है कि, इस विद्या का पठन वन में ही होता है। सार्वजनीन स्थान इस विद्या के हेतु अयोग्य है। इस विद्या का अन्य नाम 'रहस्य' भी है! गोपथब्राह्मण में भी 'रहस्य' शब्द प्राप्त होता है। मनु ने भी इसको 'रहस्य' संज्ञा से ही व्यवहृत किया है। आरण्यक ब्राह्मणान्तर्गत ही हैं—इस कारण इसे भी वेद यह संज्ञा स्वतः प्राप्त है। इसके सम्बन्ध में पौरुषेय होने का संशय करना अनुचित है—क्योंकि पूर्व से ही प्रत्येक भारतीय ऋषि-इस तथ्य को कहते आ रहे हैं कि–'संहिता एवं ब्राह्मण' वेद हैं। मनु कहते हैं कि 'वेदशब्देनर्ग्यजुः सामानि ब्राह्मण संहिता-न्युच्यन्ते'। शबरस्वामी कहते हैं मन्त्राश्च ब्राह्मणश्च वेदः, अतः आरण्यक भी वेद हैं।

विषयप्रतिपादन की दृष्टि से आरण्यक अत्यन्त गम्भीर विद्या के प्रकाशक हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक रहस्य, एवं यज्ञीय रहस्य की विद्या का प्रकाशन इन ग्रंन्थों का मुख्य अवदान हैं।

आरण्यक वाङ्मय, वेदांग एवं ब्राह्मणों के संयोजक हैं। गृह्यसूत्र में कथित अथवा तत्सदृश अनेक नित्यकर्मों का कथन आरण्यकों में प्राप्त होता है। उच्चारण विषयक चर्चा भी दृष्टिगत होती है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा ग्रंथों के उपजीव्य आरण्यक ही रहे हैं।

---

१. नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चदनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्यः औषधिभ्योऽमृतं यथा॥

आरण्यकों में यज्ञसंस्थान्तर्गत महाव्रत, उक्थ, पितृमेध, अरुण, केतुचयन, इत्यादि याज्ञिक विषयों का विवेचन प्राप्त होता है, परन्तु सर्वत्र आधि-दैविक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का ही विवेचन है, यह परम्परा प्रकृत वाङ्मय में भी अक्षुण्ण है। इन ग्रन्थों में यज्ञ का रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक अर्थ प्राप्त होता है। सर्वत्र मानसिक यज्ञ का घोष है। यज्ञ विश्व का नियन्ता, एवं चराचरात्मक विश्व का कल्याण कारक है। आरण्यकों में सकामकर्म एवं कर्मफल के प्रति औदासिन्य स्पष्ट अभिव्यक्त होता है। कर्म ही केवल आत्यन्तिक सुख का मार्ग नहीं है, अपितु ज्ञानमार्ग से संयुक्त कर्म ही आत्य-न्तिक सुख का सुप्रतिष्ठित मार्ग है।

ऋग्वेदीय आरण्यक

ऐतरेय आरण्यक--ऋग्वेदीय आरण्यकों में ऐतरेय आरण्यक अपने वैशिष्टय से अन्यतम है—इसमें कुल पाँच आरण्यक हैं—प्रथम आरण्यक में पाँच अध्याय, द्वितीय में सात अध्याय, तृतीय में दो, चतुर्थ में एक, पञ्चम में तीन अध्याय है—इस प्रकार अठारह १८, अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में महाव्रत का वर्णन है, द्वितीय आरण्यक में उक्थ के अर्थ का प्रतिपादन एवं उपनिषद् है। तृतीयारण्यक में संहिता के निभुजादि संज्ञाओं का विचार, एवं स्वर, स्पर्श, ऊष्म आदि वर्णों का भेद विवेचित है। चतुर्थ आरण्यक में महाव्रत में प्रयुक्त कतिपय महानाम्नी ऋचाओं का संग्रह है। पञ्चम आरण्यक में निष्कैवल्य शस्त्र का वर्णन है—इसे महाव्रत के माध्यन्दिन सवन में पढ़ा जाता है। इस आरण्यक का कोई एक ऋषि द्रष्टा नहीं हैं। प्रथम तीन आरण्यकों का द्रष्टा ऐतरेय है, चयुर्थ आरण्यक के द्रष्टा आश्वलायन, और पञ्चमआरण्यक के द्रष्टा शौनक हैं।

प्राण विद्या का प्रतिपादन आरण्यकों का प्रतिपादित प्रधान विषय है। ऐतरेय आरण्यक में प्राण की श्रेष्ठता इस प्रकार कही गयी है--

'प्राण, इस विश्व का धारक है, प्राणशक्ति से ही आकाश का स्वस्थान सुरक्षित है। वह प्रत्येक प्राणि में व्याप्त है'—

सोऽयमाकाश प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथा यमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्। (ऐ. आ. २।१।६)

यह आरण्यक सायणभाष्य के सहित मुद्रित है।

शांखायन आरण्यक—ऋग्वेद का द्वितीय आरण्यक है। इसका प्रतिपाद्य विषय ऐतरेय आरण्यक के समान है। जो महाव्रतादि कर्तव्य ऐतरेय आरण्यक में प्रतिपादित हैं—वही कर्तव्य इस आरण्यक में है। इसमें पन्द्रह अध्याय है, एवं १३७ खण्ड हैं। इसके तीसरे अध्याय से छठे अध्याय (आरण्यक) को कौषीतकि उपनिषद् कहते हैं।

आरण्यक के अन्त में एक वंश परिचय है—इसमें कहा है कि गुणाख्याच्छाङ्खायननादस्माभिरधीतम्—अर्थात् गुणाख्य शांखायन से हमने यह विद्या पढ़ी है—इसमें सिद्ध है कि 'गुणाख्य शांखायन' ही इस आरण्यक के द्रष्टा हैं।

यजुर्वेदीय आरण्यक

बृहदारण्यक—यह आरण्यक माध्यन्दिन शतपथ का ही भाग है, शतपथ १०।६।४ से इसका प्रारम्भ होता है। आरण्यक में ६ अध्याय है। प्रथम अध्याय में ६, द्वितीय में ५, तृतीय में ९, चतुर्थ में ५, पंचम में १५, एवं षष्ठाध्याय में ४ ब्राह्मण हैं—इस प्रकार सम्पूर्ण आरण्यक में ४४ ब्राह्मण हैं।

इस आरण्यक को उपनिषद् संज्ञा प्राप्त है, क्योंकि इसमें यज्ञ रहस्यों के प्रतिपादन के अतिरिक्त आत्मज्ञान के तत्वों का प्रतिपादन है। इस आरण्यक में, ब्रह्म, आत्मा, पुनर्जन्म, संन्यास आदि का विस्तृत उपपादन हुआ है। संन्यास का विधान अतीव सहजता से किया है। वहाँ कहा है कि—"इस आत्मा को जानकर मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा करते हुए परिव्राजक संन्यास धारण करता है। पूर्व आचार्य भी ऐसा ही कहते हैं और प्रजा की कामना नहीं करते"।[1] इस आरण्यक में गार्गी, मैत्रेयीब्रह्मवादिनियों का उत्कृष्ट चरित्र परिलक्षित होता है।

बृहदारण्यक (काण्व)—इस आरण्यक में छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायय में ६, द्वितीय में ६, तृतीय में ९, चतुर्थ में ६, एवं पञ्चम में १५, षष्ठ में ५ ब्राह्मण हैं—कुल ४७ ब्राह्मण है। विषय विवेचन माध्यन्दिन बृहदारण्यक के समान ही है। जिस प्रकार माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण एवं काण्व शतपथ ब्राह्मण का विषय प्रतिपादन सामान्यतः एक ही है, उसी प्रकार ब्राह्मण के ही भाग आरण्यक है, अतः यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये।

---

१. एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते·········

तैत्तिरीयारण्यक

इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं। सायणाचार्य के अनुसार दशमप्रपाठक 'खिल' है। प्रथम प्रपाठक में ३२, द्वितीय में २०, तृतीय में २१, चतुर्थ में ४२, पञ्चम में १२, षष्ठ में १२, सप्तम में १२, अष्टम में ८, नवम में १०, और दशम में ६४, अनुवाक हैं। सर्वअनुवाक संख्या २३३ हैं। इनमें सप्तम, अष्टम, तथा नवम प्रपाठक 'तैत्तिरीय उपनिषद्' हैं। दशमप्रपाठक 'नारायणीय उपनिषषद्' है। सायणाचार्य कहते हैं कि—जिस प्रकार बृहदारण्यक में सप्तम एवं अष्टम अध्याय को खिलकाण्ड माना गया है उसी प्रकार खिलकाण्ड के लक्षण से युक्त होने के कारण यह नारायणीय उपनिषद् भी नारायण की व्याख्या खिलकाण्ड रुपी याज्ञिक उपनिषद् है।[1]

प्रथम पाठक में 'अग्निउपासना' एवं तदर्थं इष्टि का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में पञ्चमहायज्ञ एवं स्वाध्याय का प्रतिपादन है। तृतीयप्रपाठक में चातुर्होत्र के मन्त्रों का विवेचन है। चतुर्थ में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों की व्याख्या है। पंचम प्रपाठक में यज्ञों से सम्बन्धित चर्चा है। षष्ठप्रपाठक में 'पितृमेध' से सम्बद्ध मन्त्रों का उपपादन है। सप्तम, अष्टम, नवम, प्रपाठक 'तैत्तिरीयउपनिषद्', इस नाम से प्रसिद्ध ही है। दशमप्रपाठक 'नारायणीयउपनिषद्' है। इसे हीपूर्वाचार्यों ने 'खिल' यह संज्ञा दी है। दशम प्रपाठक के अनुवाकों के सम्बन्ध में अत्यन्त मतभेद है। सायणाचार्य कहते हैं कि "दशमप्रपाठक के द्राविडपाठ में ६४ अनुवाक हैं, आन्ध्रीयपाठानुसार ८० अनुवाक हैं, कर्णाटीयपाठानुसार अनुवाक संख्या ७४ एवं ८९ है। अतः हम पाठान्तरों के साथ ८० अनुवाकों का व्याख्यान करेंगे"।[2]

विषय प्रतिपादन की द्रष्टि में यह आरण्यक विशिष्टस्थानापेक्षी है। इसके अध्ययन से पूर्वेतिहास एवं विज्ञान का अध्ययन सुकर हो जाता है। कश्यप का निर्वचन अत्यन्त वैज्ञानिक है। देववाणी में ही इस प्रकार की व्यवस्था है कि प्रत्येक शब्द के घटक (अवयव) ही अपने विवक्षित अर्थ को

---

१. यथा बृहदारण्य के सप्तमाष्टमाध्यायौ खिलकाण्डत्वेन आचार्यैः उदाहृतौ, तथेयं नारायणीया व्याख्या याज्ञिक उपनिषदपि खिलकाण्डरूपालक्षणो पेतत्वात्।

२. तत्रद्रविडानां चतुःषष्ठचतुवाकपाठः, आन्ध्राणामशीत्यनुवाकपाठः कर्णाटकेषु केषाञ्चिच्चतुः सप्ततिपाठः, अपरेषां नवाशीतिपाठः तत्र वयं पाठान्तराणि यथासम्भवं सूचयन्तः अशीतिपाठं प्राधान्येन व्याख्यास्यामः।

प्रकाशित करते हैं—जैसे कश्यपशब्द—'कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्' (कश्यप देखने वाला होता है, जो सूक्ष्म होने से सब कुछ देखता है)।[1] इस आरण्यक में, काशी, पांचाल, मत्स्य, कुरुक्षेत्र, खाण्डव, अहल्या आदि का वर्णन है। नर्क का वर्णन भी उपादेय है।[2] बौद्धों के द्वारा गृहीत 'श्रमण शब्द' वैदिक शब्द है, यह तपस्वी पुरुष का अभिधायक है।[3] यज्ञोपवीत (जनेउ) का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। यज्ञोपवीत धारण किये व्यक्ति के यज्ञ का प्रसार होता है। यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण जो कुछ पढ़ता है वह उसका यज्ञ ही है—

प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञः।
यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधते यजत एव तत्॥[4]

जल के चाररूप कहे गये हैं—मेघ, विद्युत, गर्जन, और वृष्टि। चत्वारि वा अपां रूपाणि। मेघो विद्युत्। स्तनयित्नुर्वृष्टिः।[5] इसमें एक दिव्य वैज्ञानिक रथ का वर्णन है, जिसके एक हजार धुरे हैं, अनेक चक्र, एवं एक हजार अश्व हैं।

'रथं सहस्रबन्धुरं। पुरुश्चक्रं सहस्राश्वम्।[6]

मैत्रायणीय आरण्यक

कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीशाखा का आरण्यक है। इस आरण्यक में सात (७) प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में ४ खण्ड, द्वितीय में ७, तृतीय में ५, चतुर्थ में ६, पंचम में २, षष्ठ में ३८, सप्तम में ११ खण्ड हैं—सर्व खण्ड संख्या ७३ हैं। मैत्र्युपनिषत् अथवा मैत्रायणी उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

सामवेदीय तलवकार आरण्यक

सामवेद से सम्बद्ध एक आरण्यक है—तलवकार आरण्यक। इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय, अनुवाक और खण्डों में विभक्त है। इस

---

१. १।८।८ (तैत्ति. आर.)
२. १।२०।१ (तैत्ति, आर.)
३. २।७।१ (तैत्ति. आर.)
४. ३।१।१ (तैत्ति. आर.)
५. १।२४।१ (तैत्ति. आर.)
६. १।३१।१ (तैत्ति. आर.)

आरण्यक की प्रतिपादन शैली हृदयस्पर्शिनी है। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक से केनोपनिषद् प्रारम्भ होता है। इस आरण्यक में सामवेदीय मंत्रों का विवक्षित सुन्दर अर्थाख्यान है, एवं अनेक सामों का विवेचन है। एवं अन्य कई आचार्यों का परिचय भगवती श्रुति (वेद) में सुरक्षित है। इसके द्रष्टा ऋषि जैमिनि एवं तलवकार हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति—'उपनिषद्' शब्द उप एवं नि उपसर्ग पूर्वक 'षद्लृ' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। 'उप' उपसर्ग का अर्थ समीप है, और 'निषद्' का अर्थ है; बैठना अर्थात् परम-तत्त्व के समीप ले जाने वाले ज्ञान को उपनिषद् कहते हैं। षद्लृ धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण, प्रगति (गति), अवसादन। ईशावास्योपनिषद् की भूमिका की निम्न पंक्तियों में धात्वर्थ को प्रकाशित किया गया है—

"उपनिषीदति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषत्[1]।"

अर्थात्–जो सम्पूर्ण अनर्थों के उत्पादक संसार को नष्ट करती है और सम्पूर्ण संसार की प्रकृति अविद्या को शिथिल करती है, ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, वह उपनिषद् है। अन्यत्र शंकराचार्य उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—जो श्रद्धाभक्तिपूर्वक आत्मभाव से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं उनके गर्भ-जन्म-जरा-रोगादि का जो नाश करती है, जो ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, एवं संसार के कारणभूत अविद्या को नष्ट करती है, वह उपनिषद् है।–'य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरः सरः सन्तः तेषां गर्भजन्मजरारोगादिवर्गं विनाशयति परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यासंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयति, इत्युपनिषद् उपनि-पूर्वस्य सदेरेवमर्थसंस्मरणात्।[2]

इस प्रकार अनेक व्याख्याएँ अन्यत्र भी हैं। परन्तु इतना अर्थ स्पष्ट हैं कि यच्चयावत् सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशक उपनिषद् हैं। उपनिषद् शब्द का प्रयोग रहस्यार्थ में भी हुआ है। उपनिषद् ग्रन्थों में भी 'इति रहस्यम्', 'इतिउपनिषद्' इत्यादि प्रयोग प्राप्त होते हैं। अमरकोषकार उपनिषद्

१. ईशा. उप. भू.।

२. कठो. भू.।

शब्द का अर्थ–'धर्मे रहस्युपनिषद्स्यात्' लिखते हैं–इसके अनुसार उपनिषद् शब्द–गूढ अर्थ एवं रहस्य में प्रयुक्त होता है। अन्त में उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति भी अपने अभिप्रेत अर्थ को प्रकाशित कर रही है—

अतः उप का अर्थ है समीप और नि—निष्ठा का द्योतक है और षद्लृ (स) धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण (हिंसा), गति और अवसादन, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। ये तीनों अर्थ उपनिषद् शब्दार्थ में संगत हैं। पदनिषद् पद ब्रह्मविद्या का बोधक है, क्योंकि मुमुक्षु जब श्रद्धाभक्ति पूर्वक आत्मभाव से ब्रह्मविद्या का सेवन करता है, तब यह ब्रह्मविद्या—

सर्व प्रथम उसके (संसार सत् है इत्याकारक) अज्ञान को शिथिल करती हैं (अवसादयति)।

तदनन्तर जन्ममरणरूप संसार के बीज भूत अज्ञान को नष्ट करती है (विश्रृणोति)।

अन्त में परब्रह्म के समोप ले जाती हैं अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कराती है (गमयति) अर्थात्–उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति। अतः उपनिषद् शब्द 'ब्रह्म विद्या' या 'आत्मविद्या' का प्रकाशक हैं।

'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः'—इस व्युत्पत्ति से वेदान्त शब्द का प्रयोग वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए किया गया है।

ब्रह्मविद्याप्रतिपादक उपनिषद् कितने हैं? इस प्रश्न का उत्तर कालकवलित हुए युग में प्राप्त होना असम्भव है, क्योंकि जिस प्रकार शाखाएँ लुप्त हुई हैं, उसी प्रकार उनसे सम्बद्ध उपनिषत् भी लुप्त हो गये हैं। सुदैव से आज भी कुछ प्रमाण ग्रंथ हैं, जो पूर्वापर संगति में निर्णायक हैं, जिनसे '१०८ उपनिषद् का इस लोक में अवतरण हुआ है'—यह स्पष्ट होता हैं। मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों का क्रम से नामोल्लेख है--

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः॥

ऐतरेयञ्च छांदोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्म कैवल्य-जाबाल-श्वेताश्वा हंस-आरुणिः॥
गर्भो नारायणो हंसो[1] विन्दु[2]र्नाद[3]-शिरः[4] शिखा[5]॥

---

१. परमहंस, २. अमृतविन्दुः, ३. अमृतनादः,
४. अथर्वशिरः, ५. अथर्वशिखा,

मैत्रायणीकौषितकी बृहज्जाबाल-तापनी[१] ॥
कालाग्निरुद्र मैत्रेयो सुबालक्षरि-मन्त्रिका ॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं[२] वज्रसूचिकम् ॥
ते[३]जोनाद[४]-ध्यान[५]-विद्या[६]योग्यतत्त्वात्म बोधकम् ॥
परिव्राट्[७]-त्रिशिखी[८]-सीता-चूडा[९]निर्वाण मण्डलम्[१०] ॥
दक्षिणाशरभंस्कदं[११] महानारायणाऽद्वयम्[१२] ॥
रहस्यं[१३] रामतपनं वासुदेवञ्च मुद्गलम् ॥
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्ष म[१४]हत् शारीरकं शिखा[१५] ॥
तुरीयातीत सन्यासपरिव्रा[१६]जाक्षमालिका ॥
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा[१७] सूर्योदयध्यात्म-कुण्डिका ॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परब्रह्मावधूतकम् ॥
त्रिपुरातापनं देवी त्रिपुराकठ[१८] भावना ॥
हृदयं[१९] कुण्डली भस्म[२०]रुद्राक्ष[२१]गणदर्शनम्[२२] ॥
तारसारमहावाक्य—पञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्[२३] ॥
गोपाल तापनं कृष्णं याज्ञवल्क्य वराहकम् ॥
शाटयायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ॥
कलि[२४] जाबाली सौभाग्य रहस्य[२५] ऋचमुक्तिकाः ॥[२६]

प्रकृत प्रसंग में ही आगे प्रत्येक वेद के उपनिषदों की गणना स्वतंत्र रुप में प्राप्त होती है। प्रथम पूर्ण १०८ उपनिषदों का नामोल्लेख हुआ हैं—तदनन्तर प्रत्येक वेद के उपनिषदों को बताया गया है।

---

१. नृसिंहतापनी, २. शुकरहस्यम्, ३. तेजोविन्दुः,
४. नादविन्दुः, ५. ध्यानविन्दुः,
६. ब्रह्मविद्या, ७. नारदपरिव्राट,
८. त्रिशिखिब्राह्मणः, ९. योगचूडामणिः,
१०. मण्डलब्राह्मणः, ११. दक्षिणामूर्त्तिः, १२. तारकम्,
१३. रामरहस्यम्, १४. महोपनिषत् १५. योगशिखा,
१६. परमहंसपरिव्राजक, १७. अन्नपूर्णा, १८. कटरुद्रः,
१९. योगकुण्डली, २०. भस्मजाबालः, २१. गणपतिः,
२२. जाबालदर्शनम्, २३. प्राणाग्निहोत्रम्,
२४. कलिसंतरणम्, २५. सरस्वती रहस्यम्।
२६. शब्दकल्पद्रुम—भाग१ पृष्ठ २५६

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत उन्नीस (१६) उपनिषद् इस प्रकार है।

१. अतीताध्यात्मम् , २. ईशावास्यम्, ३. यावालम्, ४. तारसारः, ५. तुरीयम्, ६. त्रिशिखी, ७. निरालम्बम्, ८. परमहंसः, ६. पैङ्गलम्, १०. ब्राह्मणमण्डलम्, ११. ब्राह्मणद्वयतारकम्, १२. भिक्षु, १३. मन्त्रिका १४. मुक्तिका, १५. याज्ञवल्क्यम्, १६. बृहदारण्यकम्, १७. शाट्यायणी, १८ सुबालः, १६. हसः।

सामवेदान्तर्गत षोडश (सोलह–१६) उपनिद् इस प्रकार हैं–

१. अव्यक्तम्. २. आरुणिः, ३. कुण्डिका, ४. केन, ५. छान्दोग्यम्, ६. जाबाल दर्शनम्, ७. जावाली, ८. महत् , ६. मैत्रायणी, १०. मैत्रेयी, ११. योगचूडामणिः, १२. रुद्राक्षम्, १३. वज्रसूचिकम्, १४. वासुदेवम्, १५. सन्यासम् , १६. सावित्री।

कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत बत्तीस (३२) उपनिषद् इस प्रकार हैं।

१. अक्षि, २. अमृतनादः, ३. अमृतबिन्दुः, ४. अवधूतम्, ५. एकक्षरा, ६. कठरुद्रः, ७. कठवल्ली, ८. कलिसंतरणम्, ६. कालाग्निरुद्रः, १०. कैवल्यम्, ११. क्षुरिका, १२. गर्भः, १३. तेजोबिन्दुः, १४. तैत्तिरीयकम् १५. दक्षिणामूर्तिः, १६. ध्यानबिन्दुः, १७. नारायण, १८. पञ्चब्राह्मण, १६. प्राणाग्निहोत्रम, २०. ब्रह्म, २१. ब्रह्मविद्या, २२. योगकुण्डलिनी, २३. योगतत्त्वम्, २४. योगशिखा, २५. वराहः, २६. शारीरकम्, २७. शुकरहस्यम् , २८. सर्वसारः, २६. श्वेताश्वतरः ३०. स्कन्दः, ३१. सरस्वती रहस्यम. ३२. हृदयम्।

ऋग्वेदान्तर्गत दश (१०) उपनिषद् इस प्रकार हैं—

१. अक्षमलिका, २. आत्मप्रबोधः, ३. ऐतरेयः, ४. कौषितकी, ५. त्रिपुरा, ७. नादविन्दु, ७. निर्वाणम्, ८. मुग्दला, ६. बह्वृचा, १०. सौभाग्यम्,।

अथर्ववेदान्तर्गत एकत्रिंशत (३१) इकतीस उपनिषद् इस प्रकार हैं।

१. अथर्वशिखा, २. अथर्वशिरः, ३. कृष्णः, ४. गणपतिः ५. गरुड, ६. गोपालतापनम्, ७. जावालम्, ८. त्रिपुरातापनम् , दत्तात्रेयः, १०. देवी, ११. नारदपरिव्राजकः, १२. नृसिंहतापनी, १३. परिव्राजकान्नपूर्णा, १४. परमहंसः, १५. पाशुपतम्, १६. भस्म, १८. भावना, १६. महानारायणम् , २०. महावाक्यम् , २१. माण्डूक्यम् , २२. मुण्डकम्, २३. रामतापनी, २४. रामरहस्यम् २५. बृहज्जाबालम्, २६. शरभम् ,

२७. शाण्डिल्यम्, २८. सीता, २९. सूर्यात्म, ३०. हयग्रीव, ३१. परब्रह्म।

उपनिषद्कोषकार ने २२३ उपनिषदों का उल्लेख किया है। अन्यान्य स्थानों पर और अनेक संख्याएं प्राप्त होती हैं। अतः उपनिषदों का भण्डार विशाल है। परन्तु प्रकृत प्रसङ्ग में हम उन्हीं उपनिषदों का विवरण कर रहें हैं—जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रत्येक वेद से सम्बद्ध प्रमुख उपनिषदें इस प्रकार हैं—

१. ऋग्वेद के उपनिषद्— १–ऐतरेय उपनिषद्।
२–कौषीतकि उपनिषद्।

२. शुक्लयजुर्वेद के उपनिषद्—१–ईशावास्योपनिषद्।
२–बृहदारण्यकोपनिषद्।

३. कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद्—१–तैत्तिरीयोपनिषद्।
२–कठोपनिषद्।
३–श्वेताश्वतरोपनिषत्।

४. सामवेद के उपनिषद्— १–केनोपनिषद्।
२–छान्दोग्योपनिषद्।

५. अथर्ववेद के उपनिषद्— १–मुण्डकोपनिषद्।
२–माण्डूक्योपनिषद्।
३–प्रश्नोपनिषद्।

प्रत्येक उपनिषद् के विषय विवेचन के उपरान्त प्रत्येक उपनिषद् का शान्तिपाठ यहाँ प्रसङ्गतः देना उचित ही प्रतीत होरहा है। जिससे उपनिषदों की सार्वजनीन संग्राहकता स्पष्ट हो सकेगी। शान्तिपाठ में प्रत्येक जीवमात्र के कल्याण का ही सन्देश है। दिव्यवचन तो अघमर्षिणी गङ्गा के समान हैं, जिनका अजस्रप्रवाह समस्त मानव समाज को अनादिकाल से एकसूत्र में बांधकर उनके अभ्युदय को प्रशस्त कर रहा है।

मुक्तिकोपनिषद् में प्रतिपादित १०८ उपनिषदों का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है जिनके श्रवणमात्र से ही सर्वपापनिवृत्ति हो जाती है—

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरंशतम्।
सकृच्छ्रवण मात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥ (मु. उ. १।४४)

(१) ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेयआरण्यक में दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवें और छठे

अध्याय को उपनिषद् कहा है। इसमें तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं। शेष द्वितीय एवं तृतीय अध्याय का अन्य अतिरिक्त खण्ड नहीं हैं।

प्रतिपाद्यविषय—प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम और मनुष्य का महत्त्व बताया गया है।

द्वितीय अध्याय में शरीर को अनित्य प्रतिपादित कर, वैराग्य उत्पन्न करने हेतु मनुष्य शरीर की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।—इस अध्याय में आत्मज्ञान के हेतुभूत वैराग्य सिद्धि के लिये जीवकी तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। पूर्व में (प्रथम अध्याय) जिसे **'आवसथ'** नाम से कहा है, उसमें जीव के तीन जन्म कहे **हैं—वीर्यरूप में माता की कुक्षी में प्रवेश पाना (२) बालक रूप में उत्पन्न होना (३) मृत्यु के उपरान्त पिता का पुनः जन्म ग्रहण करना।**

तृतीय अध्याय में—परमपद प्राप्ति के एक मात्र साधन भूत आत्म ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय में—'हृदय, मनः संज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान, विज्ञान, मति, स्मृति आदि संज्ञाओं का संज्ञी एक मात्र **प्रज्ञान** को ही कहा गया है। **यह प्रज्ञान** ही ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, पञ्च-महाभूत, उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज है। यही स्थावर-जङ्गम जगत् हैं। सारांशरूप में यह कहा है—समस्त ब्रह्माण्ड **'प्रज्ञान'** में स्थित हैं। **'प्रज्ञान'** से ही प्रेरित होता है। स्वयं भी **प्रज्ञानस्वरूप** ही है। **प्रज्ञान ही ब्रह्म हैं।**[1]

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितानाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे पहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

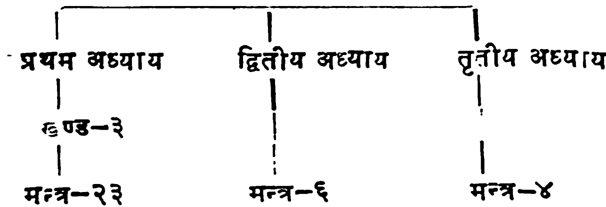
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः॥

---

१. एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि चक्षुद्रमिश्राणी व बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च, यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेयोपनिषद् ३।१।३)

हे प्रकाशरूप परमात्मन् ! तुम मेरे समक्ष आविर्भूत हो, मेरी वाणी, मन में प्रतिष्ठित हो, मन वाणी में स्थित हो। मेरे मन एवं वाणी, वेद को मेरे समीप लावें। मेरा अध्ययन मुझसे वियुक्त न हो, मैं अपने अध्ययन का अहोरात्र चिन्तन करूं, मेरा आचरण, विचार व उच्चार तद्रूप हो, मैं सर्वदा सत्य बोलूं। वह ब्रह्म रक्षा करे, मेरी रक्षा करे, आचार्य की रक्षा करे।

ऐतरेयोपनिषद्



(२) कौषीतकि उपनिषद्

यह उपनिषद् ऋग्वेद की कौषीतकि शाखा का होने के कारण इसका नाम कौषीतकि उपनिषद् है। कुछ विद्वान् कौषीतकि ऋषि को इसका कर्ता कहते हैं। परन्तु विचार करने पर यह भ्रम स्वतः दूर हो जाता है, क्योंकि वेद एवं उनकी शाखाएँ समस्त अपौरुषेय हैं। अतः मन्त्रद्रष्टा को कर्त्ता कहना स्वयं ही उपहासास्पद है।

इस उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य 'प्राण एवं प्राणोपासना' के महत्त्व का वर्णन है। इस उपनिषद् में चार अध्याय है, प्रथम अध्याय में 'देवयान' एव 'पितृयान' इन दो मार्गों का सविस्तार वर्णन है, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में चार ऋषियों के मतों का उल्लेख है। एवं समाज व्यवहार हेतु अनेक उपयुक्त वैज्ञानिक पद्धतियों का वर्णन है।

जैसे—१-धनकामना होने पर पौर्णिमा, अमावस्या, शुक्लपक्ष अथवा पुष्यनक्षत्र के योग में अग्न्याधान करना चाहिये।

२—स्त्री-पुरुषों को परस्पर प्रिय होने की कामना होने पर सुमुहूर्त में अग्न्याधान कर—जिसे प्रिय करना हो उसके नामोच्चारपूर्वक अग्नि में घृत की आहुति देनी चाहिये।

अन्तिम चतुर्थ अध्याय में बालाकी एवं अजात शत्रु का आख्यान सुन्दर ढंग से उल्लिखित है।

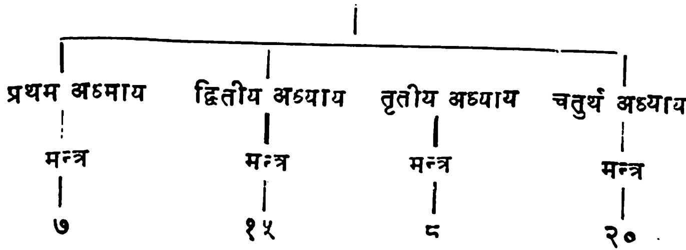
इन्द्र एवं प्रतर्दन के संवाद माध्यम से प्राण को प्रथम जीवतत्त्व कहा है। प्राण ही वायु है, प्राण ही ब्रह्म एवं अमृत है। प्राण ही षड्भावविकार-

शून्य है। प्राण का संचार सर्वत्र व्याप्त है प्राण से देवता, एवं देवताओं से लोक उत्पन्न हुए हैं।

एष प्राण एवं प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्। (३।८)

प्राण ही प्रज्ञात्मा है। वह आनन्ददाता, अजर, अमर है। वह सत्कर्म से न वृद्धिगत होता है न असत् कर्म से क्षीण ही होता है।

इस उपनिषद् को कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् भी कहा जाता है। यह उपनिषद् भाष्यकारों की उपेक्षा से प्रकाश में नहीं है, परन्तु विषय प्रतिपादन अत्यन्त रोचक एवं विज्ञानपूर्ण है।



शान्तिपाठ

कौषीतकि उपनिषद् का शान्तिपाठ, ऐतरेय उपनिषद् का शांतिपाठ है। अतः उसे तत्स्थान पर ही देखा जाय।

शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषद्

(१) ईशावास्योपनिषद्

शुक्लयजुर्वेद संहिता का 'ईशावास्य' उपनिषद् है। संहिता का अन्तिम ४० वाँ अध्याय उपनिषद् हैं। यह आकार से अत्यन्त लघु है, तथापि रहस्य से परिपूर्ण हैं। वैसे भी यजुर्वेदसंहिता में प्रारम्भ से ३९ अध्याय के अन्त तक कर्मकाण्ड ही हैं, परन्तु ४० वाँ अध्याय ज्ञानमार्ग को प्रशस्त करता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि उपनिषद् भाग का भी यज्ञकर्म में विनियोग करना चाहिये, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद् के मन्त्र आत्मा के यथार्थ रुप के प्रतिपादक हैं। आत्मा का शुद्ध रुप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व, सर्वगतत्वादि हैं। जिसका कर्म से विरोध है। दूसरी बात यह है कि—आत्मा के शुद्धत्व, निष्पापत्वादि लक्षणों का यथार्थ स्वरुप, उत्पाद्य, विकार्य, आप्य, और संस्कार्य रुप नहीं हैं। आत्मा

में इस प्रकार का कोई भी लक्षण नहीं हैं। इसलिए उपनिषदों के मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं किया जा सकता।

ईशावास्य उपनिषद् में अठारह मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र अज्ञानबन्ध का उच्छेदन करने में पूर्णतया समर्थ है—सर्वत्र, यच्चयावत् संसार, ईश्वर से व्याप्त हैं।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[1]

कर्म और ज्ञान ये दो विरोधी पक्ष हैं, परन्तु यह उपनिषद् तर्कशास्त्र दृष्टया इनका समन्वय करता है। इस लोक में ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना चाहिये, जिससे कर्मबन्ध नहीं होता। अनुभूति, कर्म एवं ज्ञान के पश्चात् हैं, परन्तु कर्म एवं ज्ञान दोनों का ही अनुभूति में पर्यवसान है। अग्रिम मन्त्रों में वीतरागस्थितप्रज्ञ का कितना स्फुट वर्णन है—जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से भी घृणा नहीं करता है। जिस समय पुरुष के समस्त भूत (प्राणि) परमात्मा स्वरुप ही प्रतीत होते हैं उस समय एकत्वदर्शी पुरुष को क्या शोक, और क्या मोह, हो सकता है?

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

इस उपनिषद् का नामकरण प्रारम्भ में आए हुए 'ईशावास्यमिदं' पद के आधार पर ही हुआ है। इस उपनिषद् में केवल १८ अठारह मन्त्र हैं।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ वह परब्रह्म पूर्ण हैं, और यह कार्य ब्रह्म भी पूर्ण है—उस पूर्ण परब्रह्म से यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमें से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है।

(२) बृहदारण्यकोपनिषद्

यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है। समस्त उपनिषदों में विस्तर से यह अधिक है, उस कारण इसका नाम बृहत् है एवं आरण्यकान्तर्गत समाविष्ट होने के कारण यह बृहदारण्यकोपनिषद् इस नाम से अभिहित हुआ है। इसके छह अध्याय हैं। ये तीन काण्डों में विभक्त हैं—(१) मधुकाण्ड, (२) मुनिकांड, (३) खिलकांड।

मधुकाण्ड—इस कांड में आत्मा परमात्मा का तादात्म्य प्रतिपादित किया गया है—"आत्मा सर्वव्यापक है" इस सिद्धान्त को अनुभव के आधार पर प्रदर्शित किया गया है। इस काण्ड को **उपदेश** कांड भी कहा जाता है।

मुनिकाण्ड—इस कांड में आत्मा-परमात्मा का तादात्म्य तर्कयुक्ति से किया गया है। इसे **उपपत्तिकांड** भी कहा जाता है।

खिलकाण्ड—उपासना के अनेक मार्गों के द्वारा आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य का उपपादन किया गया है। इसे **उपासना** कांड भी कहा जाता है।

प्रथम अध्याय में हिरण्यगर्भ को यज्ञीय पशु मानकर इसका वर्णन किया गया है। तदनन्तर मृत्यु से समस्त चराचरात्मक पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। मृत्यु ही हिरण्यगर्भ है। नानाविध प्रकारों से रचित विश्व का मूल हिरण्यगर्भ अर्थात् मृत्यु में है। मृत्यु अर्थात् विनाश। तात्पर्य यह है कि पदार्थ की नामरूपात्मक स्थिति का नाश। नामरूप के नाश के उपरान्त वस्तु पुनः नामरूपात्मक अवस्था को प्राप्त होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिसमें विलीन होकर पुनः उत्पन्न होता है वह हिरण्यगर्भ (मृत्यु) ही है।

तत्पश्चात् प्राण की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हुए, उसे सम्पूर्ण इन्द्रियों में श्रेष्ठ कहा गया है—

सा वा एषा देवता एतासां देवतानां पाप्मानं।
मृत्युमपहत्य अथैना मृत्युमत्यवहत्॥ (१।३।११)

तदनन्तर धर्म एवं सत्य की एकात्मकता, सदृष्टान्त कही गयी है—

स नैव व्यभवत्, तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः, तस्मात् धर्मात् परं नास्ति, अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवम्, यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्, तस्मात् सत्यं वदन्तम् आहुः धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति, एतद् हि एवैतद् उभयं भवति। १।४।१४

द्वितीय अध्याय—में गार्ग्य एवं अजातशत्रु का संवाद है, जिसमें अजातशत्रु के द्वारा गार्ग्य को ब्रह्म उपदेश किया गया है। तदनन्तर याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी का संवाद है। मैत्रेयी और कात्यायनी नामक याज्ञवल्क्य की दो भार्यायें थीं। याज्ञवल्क्य ने जब गृहस्थ धर्म को त्याग कर सन्यास मार्ग को स्वीकार किया, तब वह पत्नियों से बोला कि अब मैं अपनी सम्पत्ति का विभाजन तुम दोनों में करता हूँ। इतना सुनकर मैत्रेयी ने कहा कि 'बाह्य सम्पत्ति से मुझे क्या ? इस सम्पत्ति से अमरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए अमरत्व प्राप्ति का जो साधन हो उसका आप कथन करें। इतना कहने पर याज्ञवल्क्य ने 'आत्मज्ञान' को ही अमरत्व का मुख्य साधन कहा। आत्मा का श्रेष्ठत्व निम्न मन्त्र में बताया गया है—

"स वा अयं आत्मा, सर्वेषां भूतानां अधिपतिः, सर्बेषां भूतानां राजा, यद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वेसमर्पिताः एवमेव अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वेदेवाः सर्वेलोकाः सर्वेप्राणाः सर्वएत आत्मनः समर्दिताः" ॥ (२।५।१५)

यह आत्मा सम्पूर्णभूतों का अधिपति और राजा है। जैसे रथचक्र की नाभी में समस्त आरे केन्द्रित होते हैं, वैसे ही सर्वदेवगण, लोक, प्राण, किं बहुना सम्पूर्ण जीवन आत्मकेन्द्रित है। आत्मा ही अमृत है वही ब्रह्म है। दध्यङ् ऋषि द्वारा अश्विनीकुमारों को जिस मधुविद्या का उपदेश किया गया था, वही उपदेश याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है।

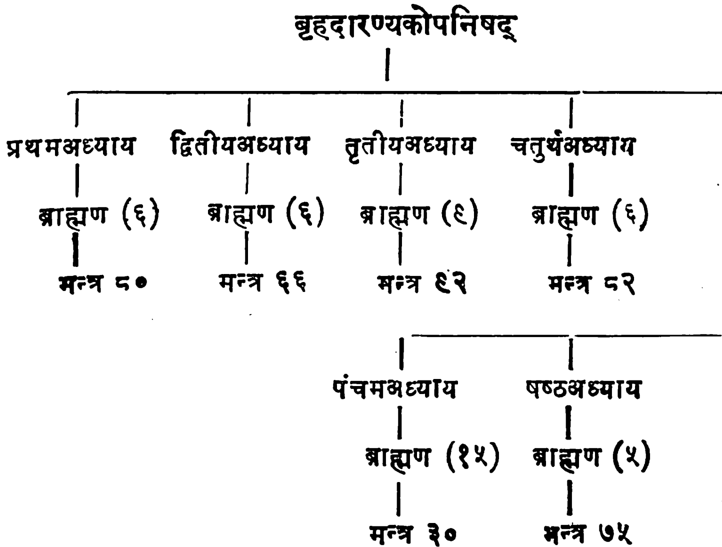
तृतीय अध्याय में अश्वल. आर्तभाग, उषस्तचाक्रायण, कहोल, गार्गी, उद्दालक, आरुणि, विदग्धशाकल्य आदि के द्वारा वैदेह जनक की राजसभा में विचारित प्रश्नों के उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिये हैं। **चतुर्थ अध्याय** में जनक एवं याज्ञवल्क्य की ब्रह्मविषयक चर्चा का उल्लेख है। **पंचम अध्याय** में नीतिशास्त्र, सृष्टिनिर्माणशास्त्र, परलोक शास्त्र, आदि विषयों का विशदीकरण किया है, उसके बाद गायत्री स्वरुप का वर्णन किया गया है। अध्याय के समारोप में महत्त्वपूर्ण तीन मन्त्र हैं। परमात्म स्वरुप (सत्य) का मुख सुवर्णमयपात्र से वेष्टित (ढका) है। ब्रह्मदर्शन में वह बाधक है। इस हेतु हे देव उसे तू दूर कर—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' ॥ (५।१८।१)

मनुष्य जबतक जीवित है, तब तक उसे आत्मदर्शन कर लेना चाहिये। क्योंकि आत्मदर्शन का मुख्य साधन देह ही है और देह पतन का काल (समय) निश्चित नहीं है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति शीघ्र आत्मज्ञान प्राप्त करे।

षष्ठ अध्याय में शरीरान्तर्गत समस्त शक्तियों की अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ है—इस तत्त्व को बताया है। श्वेतकेतु एवं आरुणि के वृत्तान्त, प्रवाहण एवं जैवली की पञ्चाग्निमीमांसा और इसके व्यतिरिक्त कुछ मन्त्रप्रयोगों का भी वर्णन है। तदनन्तर गुरुशिष्य-परम्परा का कथन है।

'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म'—ये महावाक्य दार्शनिक परम्परा के मुख्य उपजीव्य माने जाते हैं, जो इस उपनिषद् में प्राप्त होते हैं।



शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थ—

यह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म सर्व प्रकार से पूर्ण है। यह जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इस कारण वह पूर्ण है। पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण जगत् को अलग करने से पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

कृष्णयजुर्वेदीयोपनिषद्

(१) तैत्तिरीयोपनिषद्

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक ७, ८, ९, का नाम तैत्तिरीय उपनिषद् है। सप्तम प्रपाठक की शीक्षावल्ली संज्ञा है। अष्टम एवं नवम प्रपाठक की क्रमशः ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली संज्ञा है। सप्तम, अष्टम एवं नवम प्रपाठक को क्रमशः सांहिती उपनिषद् एवं वारुणी उपनिषद् भी कहते हैं। महत्त्वदृष्ट्या वारुणी उपनिषद्[1] (ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली) प्रधान हैं। इसमें विशुद्ध ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन है। वारुणी उपनिषद् का महत्त्व शीक्षावल्ली से ही अनुप्राणित हैं। एकाग्रचित्त एवं गुरुकृपा के विना ब्रह्मविद्या अप्राप्य है। अतः शिक्षावल्ली का आश्रय किये बिना औपनिषत्सिद्धान्त हृदयङ्गम होना असम्भव हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् के शीक्षावल्ली में विभिन्न उपासना आदि का उपदेश है। पाँच प्रकार की संहितोपासना[2] तृतीय अनुवाक में द्रष्टव्य है। एकादश अनुवाक में शिष्य के स्वाध्याय के अनन्तर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरण आदि का उपदेश करता है। यहाँ यह वचन स्मरणीय हैं कि देवकर्म, पितृकर्म, अतिथिपूजन, दान, स्वाध्याय में प्रमाद न हो। ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या है, इसका प्रारम्भ ही 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—इस वाक्य से है। यही सम्पूर्ण व्यासपरिमाण में प्रकीर्ण ब्रह्मविद्या का 'बीजभूत, सारभूत, असंदिग्ध, अस्तोभ, अनवद्य' सूत्र हैं। इस वल्ली में आगे 'ब्रह्म' का लक्षण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' बताया है। लक्षण के पश्चात् पक्षी के रूपक के द्वारा पांच कोशों का वर्णन अतीव रहस्यमय एवं गम्भीर है। तदनन्तर ब्रह्म की सार्वात्म्यप्रतिपादक 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' श्रुति इस तथ्य को प्रकाशित करती है, कि सम्पूर्ण जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ब्रह्म ही है। सप्तम अनुवाक में ब्रह्म को 'रसस्वरूप' कहा है इस रस की प्राप्ति से जीव भी रसमय, आनन्दमय हो जाता है। जब ब्रह्मज्ञानी, अदृश्य, अशीर्ण, अनिर्वाच्य, अनाश्रय परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब वह तत्काल सर्वथा निर्भय हो जाता है। साक्षात्कार तादात्म्य में है—और तादात्म्य में भेद कहाँ ? भेद से ही भय है—भेददर्शी को ही भय रहता है—'तत्त्वेव

---

१. सम्प्रदाय प्रवर्तक वरुण हैं इस कारण वारुणीयोपनिषद् यह संज्ञा है।

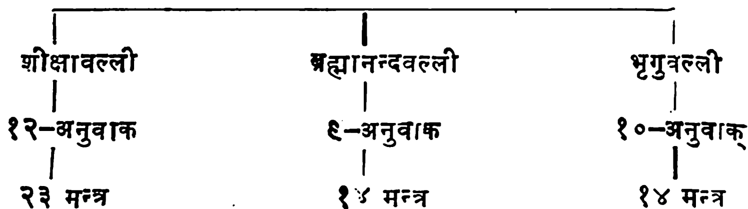
२. 'संहिता' शब्द का अर्थ संधि या वर्णों का सामीप्य हैं।

भयं विदुषो मन्वानस्य'। तादात्म्य का अर्थ ही है कि 'एकमय। जैसे 'दूध एवं जल का तादात्म्य'। सच्चिदानन्द ब्रह्म से तादात्म्य होने पर प्राकृत आनन्द व्यर्थ हो जाते हैं। मनुष्य, गन्धर्वादिकों का आनन्द तत्तत् व्यक्ति परक हैं, परन्तु ब्रह्मानन्द तो सर्वातिशय समष्टिरुप आनन्द है। इसके अनन्तर हृदयकमल के अधिष्ठाता पुरुष का एवं आदित्यमण्डल के अधिष्ठाता पुरुष का अभेद प्रदर्शित किया गया है। जो इन दोनों का अभेद जानता है वह दृष्टादृष्ट विषयसमूह से निवृत्त होकर समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है।

भृगुवल्ली में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के मुख्य साधन भूत पञ्चकोश विवेक का प्रतिपादन, वरुण एवं भृगु के आख्यान के रुप में दिया है। भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है और उनसे प्रश्न करता है कि जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें इनका उपरमण (लय) होता है, उस तत्त्व का उपदेश करें। इस पर वरुण ने अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी ये ब्रह्मोपलब्धि के छः साधन बताये हैं। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपोब्रह्म'।—तपसे ब्रह्म को जानने की इच्छा कर'। 'तप ही ब्रह्म है'। भृगु ने तप किया—अनेक संदेहों से निकलते हुए ब्रह्म को आनन्दात्मक ही निश्चित किया। तदनन्तर 'अन्न ही ब्रह्म-प्राप्ति में प्रथम सोपान है'। सप्तम अनुवाक में अन्न की प्रतिष्ठा का कथन है—अन्न की निन्दा न करे 'अन्नं न निन्द्यात्'। यह ब्रह्म का व्रत है। प्राण ही अन्न है। अन्न का तिरस्कार न करे, अन्न का संग्रह करें। कोई यदि निवास पर आवे तो उसका तिरस्कार न हो, उसका अन्न, जल, आसनादि से सेवा सत्कार करे। ऐसा करने से वह अन्नवान्, कीर्तिमान्, प्रजा, पशु, धन, धान्य से सम्पन्न होता है। इस प्रकार विहित ब्रह्मोपासना से उसे सार्वात्म्यका अनुभव होता है। उस समय वह अद्वैतावस्था में अवस्थित हुआ ब्रह्मवेत्ता 'साम' गा उठता है। समरुप होने से ब्रह्म ही साम है—'समत्वाद् ब्रह्मैव साम' "मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही 'अन्नाद' (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही 'श्लोककृत' अर्थात् अन्न एवं अन्नाद के संघात का कर्ता हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ही इस सत्यासत्यरुप जगत् के पहले उत्पन्न हुआ। मैं ही देवताओं से पूर्ववर्ती विराट् एवं अमृतत्व का केन्द्रस्वरुप हूँ। जो अन्नस्वरुप मुझ अन्नार्थी को देता है, वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है। और जो मुझे स्वयं ही भोगता है, उस अन्नभक्षी को

मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ। मै सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्य के समान नित्य प्रकाश स्वरुप है—इस प्रकार उपनिषद् है" [1]

इस प्रकार यह तैत्तिरीयोपनिषद् भारतीय वेदादिवाङ्मय का स्तम्भ ग्रंथ हैं। यह ग्रंथ वैज्ञानिक तत्वों का भी प्रकाशक है।



—तैत्तिरीयोपनिषद् का शांतिपाठ—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुण; । शंनो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ।। ॐ शातिः शातिः शान्तिः ।।

सूर्यदेव (मित्र) हमारे हेतु सुखकर हों। वरुण हमारे लिये कल्याणकारी हों, अर्यमा हमारे लिये सुखावह हों। इन्द्र एवं बृहस्पति हमारे लिए सुखप्रद हों, जिसका पादविक्षेप बहुत विस्तृत है, वह विष्णु शान्तिदायक हो। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो ! तुम्हे नमस्कार है। तुमही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम्ही को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्ही को ऋत् कहूँगा। तुम्ही को सत्य कहूँगा, मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्म निरुपण करने वाले आचार्य की रक्षा करते हुए मेरी रक्षा करो, एवं वक्ता की रक्षा करो।

---

१. अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहं श्लोककृदहंश्लोककृदहंश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाभायि । यो मा ददाति स इदेव मा वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाम् । सुवर्न ज्योतीः य एवं वेद । इत्युपनिषद् ।। ७ ।। (अनु. १० वल्ली—३)

(२) कठोपनिषद्

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में तीन वल्लियाँ हैं। इस उपनिषद् में यम द्वारा नचिकेता को प्रदत्त ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। नचिकेता जब यमलोक गया तब यम ने उसे तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता ने तीन वर मांगे–प्रथमवर पितृपरितोष, द्वितीय–स्वर्गसाधनभूतअग्निविद्या, तृतीय वर—नचिकेता ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मांगा, जो इस प्रकार है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

मनुष्य के मरणाधीन होने पर उसका आत्मत्त्व अविनाशी रहता है अथवा नहीं—यह सन्देह है। आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूं।

इस वर को सुनकर यम ने नचिकेता को यथासामर्थ्य प्रस्तुत वर का आग्रह त्यागने को कहा, परन्तु नचिकेता अपने आग्रह पर अटल रहा। अन्ततोगत्वा यम, नचिकेता का तृतीय वर भी स्वीकार करते हैं—इसी अध्याय में आगे वर्णित रहस्य अत्यन्त मार्मिक एवं चिन्तनीय है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

"श्रेय एवं प्रेय ये दो पदार्थ मिश्रित अवस्था में मानवमात्र के सम्मुख प्रकट होते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति उन दोनों का सम्यक् विचार कर उन्हें अलग-अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है, और मूढ़ योग-क्षेमके निमित्त से प्रेय का वरण करता है।"

अतः जिस मानव को श्रेयस् की इच्छा है, वह विवेक पुरस्सर प्रेय-कलाप को त्यागे। एवं जिस मनुष्य को प्रेयस् अभीष्ट है—वह यश–अपयश के विचारों से विमुक्त प्रिय कामनाओं का उपभोग करे। 'श्रेयस्' विद्या है और 'प्रेयस्' अविद्या है। परन्तु शास्त्रज्ञ,बुद्धिमान् व्यक्ति भी इस प्रेयस् रूप अविद्या से ग्रसित होकर ही जीवन व्यतीत करते हैं—इनकी गति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अन्धे मनुष्य के द्वारा ले जाये हुए अन्ध व्यक्ति की।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

(अ. १, व-२मं.५)

नित्यत्वविशिष्ट ब्रह्म का साधन अनित्यत्वविशिष्ट नहीं हो सकता। इस कारण ब्रह्मसाक्षात्कार के मार्ग में अनित्य फलों का त्याग करना चाहिये अध्यात्मयोग की प्राप्ति से ब्रह्मज्ञानाधिकारी पुरुष की शीत-उष्ण, जय-पराजय, हर्ष-शोक आदि में एक समान बुद्धि हो जाती है । ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर परमानन्द प्राप्त होता है । ब्रह्मतत्त्व, धर्माधर्म, कार्याकार्य से परे अनिर्वचनीय तत्त्व है । अतः ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है ।

द्वितीयवल्ली में 'ओंकारोपदेश' अतीव लोकोपकारी है । ओंकार ही अक्षरब्रह्म है, यह अक्षर ही 'पर' है—इस अक्षर को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है,वही उसका हो जाता है । यह मेधावी, विपश्चित् 'आत्मतत्त्व' न उत्पन्न होता है, न मरता है । यह किसी कारण से भी उत्पन्न नहीं है। इसके शरीर का नाशकाल में भी क्षय नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुरातन है । यह आत्मतत्त्व अणु से भी अणुतर है, और महान् से भी महत्तर है। आत्मा, जीवकी हृदयरूप गुहा में स्थिर है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोक रहित हो जाता है ।

इन औपनिषद सिद्धान्तों से इस प्रकार की प्रत्ययोत्पत्ति होती है—प्रथम आत्मा है, द्वितीय–उस आत्मतत्व को आत्मा से ही जाना जाता है, तृतीय–आत्मा एवं परमात्मा का ऐक्य ।

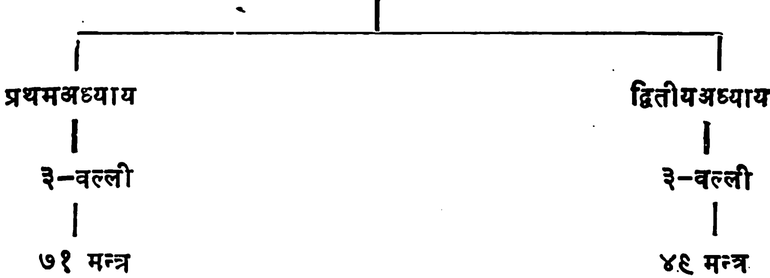
द्वितीय अध्याय में प्रथमतः मानव एकादशेन्द्रियाँ बहिर्मुखी क्यों है ? यह विचार किया गया है । बाह्यविषयों की ग्राहकता इन्द्रियों में स्वयं सिद्ध है । इन्द्रियों की आकांक्षाओं को पूर्ण करता हुआ मानव जन्ममरण चक्र में भ्रान्त हो जाता है । परन्तु इन्द्रियों को लगाम देकर जो मनुष्य आत्मज्ञान-प्राप्ति की प्रतिज्ञा करते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त कर जरामरणादि के प्रपञ्च से विमुक्त हो जाते हैं । इसी अध्याय में आगे आत्मा को अज, विशुद्धज्ञानरूप कहा है । वह आत्मतत्त्व सर्वान्तर्यामी और सर्व प्रकाशक है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तंमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वह आत्मतत्त्व सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है, उस नित्य-विज्ञानस्वरुप अजन्मा (आत्मा) का पुर, ग्यारह दरवाजों वाला है। इसका ध्यान करने पर मनुष्य को शोक नहीं होता।

मरणाधीन पुरुष के जीवात्मा की स्थिति का प्रतिपादन इस प्रकार है—जीवात्मा एवं परमात्मा ये दो तत्त्व हैं। परमात्मा अर्थात् उपाधिरहित एवं जीवात्मा अर्थात् उपाधि से युक्त। आत्मस्वरुप अर्थात् ही ब्रह्मस्वरुप। यह ब्रह्मस्वरुप कभी भी नष्ट नहीं होता।

कठोपनिषद्, तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक चिन्तकों को इसका अध्ययन करना चाहिये।



–शांति पाठ–

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

परमात्मा, हम आचार्य और शिष्य दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हमारा साथ-साथ पालन करे। हम साथ-साथ विद्या सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हमारा किया हुआ अध्ययन तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें।

(३) श्वेताश्वतरोपनिषद्—

श्वेताश्वतरोपनिषद्, कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसके वक्ता श्वेता-

श्वतरऋषि हैं। इस ब्रह्मविद्या का उपदेश चतुर्थाश्रमस्थ परमहंसों को हुआ था, यह बात इस उपनिषद् से ही सिद्ध है—

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥
(श्वेताश्व. अ. ६, मन्त्र–२१)

इस उपनिषद् में साधन, साध्य, साधक, प्रतिपाद्यविषय का निगद-व्याख्यान है। इसी उपनिषद् के मन्त्रों के आधार पर इस भूलोक पर, सांख्य, सगुण, निर्गुण, द्वैत, अद्वैतादि अनेक मतों का प्रकाशन हुआ है।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ जगत्कारण की मीमांसा से हुआ है। कतिपय ब्रह्मवादी आपस में विचार करते हैं कि जगत् का कारण क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा हम जीवन धारण करते हैं? कौन हमारा आधार है? किसकी प्रेरणा से सुख-दुःखादिकों का हम भोग करते हैं।

तदनन्तर महर्षियों ने 'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष' आदि विभिन्न कारणों से विचार किया है। परन्तु उनमें से कोई भी उस कारण की जिज्ञासा शान्त करने में समर्थ न हो सका, उन्हें सभी कारण अपूर्ण दिखाई दिये। तदनन्तर उन ब्रह्मवेत्ताओं ने प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने वाले उस मूलतत्त्व के विषय में अन्य किसी उपाय की गति न देखकर ध्यान-योग का आश्रय कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया, जो अकेला ही काल से लेकर आत्मातक समस्त कारणों का अधिष्ठान हैं।

इस प्रकार प्रथम अध्याय में जगत् के कारण का निर्णय हुआ है। तदनन्तर प्रणवचिन्तन पुरस्सर ध्यान के अभ्यास को ही उसके साक्षात्कार का कारण कहा है। उस कारण को सप्रमाण दृष्टान्तों के द्वारा पुष्ट भी किया है—

जैसे—जिस प्रकार अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नही देता और उसके लिङ्ग (सूक्ष्म स्वरूप) का नाश भी नहीं होता है, और फिर इन्धनरूप कारण के द्वारा ही उसका ग्रहण होता है,

उसी प्रकार अग्नि और अग्नि–लिङ्ग के समान प्रणव के द्वारा इस देह में आत्मा का ग्रहण किया जाता है।[1]

तदनन्तर वह ब्रह्मवेत्ता उस सर्वव्यापी आत्मा को "जो आत्मविद्या और तप का मूल है, तथा जिसमें परमश्रेय आश्रित है उसे" दूध में विद्यमान घृत के समान देखता है।[2]

द्वितीय अध्याय में ध्यान, योगविधि, प्राणायाम, आदि का विस्तृत वर्णन है—तदनन्तर योगसिद्धि के हेतु उपयुक्त स्थानों का निर्देश हुआ है। तदनन्तर उक्त विधि को करता हुआ देहधारी जीव, आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है। जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाशस्वरुप आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा, निश्चल, और समस्त तत्त्वों से विशुद्धदेव को जानकर वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है। तृतीय अध्याय में साध्य परमात्मा का सगुणरुप से, अन्तर्यामी रुप से, विराट्रुपसे तथा अन्त में शुद्धरूप से निरुपण हुआ है। चतुर्थ अध्याय में तत्त्वबोध की प्राप्ति और माया से मुक्त होने के लिए परमेश्वर की स्तुति की गई है। पञ्चम अध्याय में अक्षराश्रित विद्या, अविद्या और उनके शासक परमेश्वर के स्वरुप तथा माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में जीव की मुक्ति का कथन भी द्रष्टव्य है—अत्यन्त गम्भीर संसार के मध्य में अनाद्यनन्त, विश्व की (सृष्टि की) उत्पत्ति करनेवाले, अनेकरुप, विश्व के एकमात्र परिवेष्टा देव अर्थात् ज्योतिः स्वरुप परमात्मा को जानकर जीव समस्त पाशों से अर्थात् अविद्या, काम एवं कर्मादि से मुक्त हो जाता है। षष्ठ अध्याय में सर्वेश्वर, सर्वनियंतृ, अन्तर्यामी, परमेश्वर का वर्णन हुआ है। भगवत्प्राप्ति के साधनों (भगवदर्पण कर्म, उपासना, ज्ञान) का वर्णन किया गया है। अन्त में अनधिकारी को विद्या के उपदेश का निषेध किया गया है। क्योंकि जिसका चित्त अत्यन्त शांत न हो, जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे विद्या नहीं देनी चाहिये। बिना श्रद्धा, भक्ति के ब्रह्मविद्या के रहस्य को प्राप्त करना असम्भव

---

१. वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥
(श्वेता. १–१३)

२. सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥ (श्वेता. १–१६)

है। कहा भी है—जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है, उसी महात्मा के हृदय में इन गूढतत्वों का प्रकाश होता है—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

(श्वेता०उप०-६-२३)

श्वेताश्वतरोपनिषद्

प्र. अ. — मन्त्र–१६, द्वि. अ. — मंत्र–१७, तृ. अ. — मंत्र–२१, च. अ. — मंत्र–२२ प. अ. — मन्त्र–१४, ष. अ — मंत्र–२३,

–शांतिपाठ–

श्वेताश्वतरोपनिषद् का शांतिपाठ कठोपनिषद् के समान ही है—अतः हम उसका पुनः संकीर्तन करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

सामवेदीय उपनिषद्

(१) केनोपनिषद्

केनोपनिषद् **सामवेदीयतलवकार** ब्राह्मण के अन्तर्गत है। इसमें प्रारम्भ से अन्ततक सर्वप्रेरक प्रभु के ही स्वरूप और प्रभाव का वर्णन किया गया है—इसमें चार खण्ड हैं–प्रथम खण्ड में चार प्रश्न उपस्थित किये हैं जिनका समाधान ही इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य है। **प्रथम प्रश्न**–यह है कि मन, किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने विषयों की ओर जाता है?

द्वितीय प्रश्न—किसके द्वारा प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है? **तृतीय प्रश्न**–लौकिक पुरुष किसके द्वारा प्रेरित होकर इस शब्द रूपा वाणी को बोलते हैं? **चतुर्थ प्रश्न**—कौन देव चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करता है?[1]

तदनन्तर आत्मतत्त्व का सर्वनियन्तृत्व और उसके अज्ञेयत्व एवं अनिर्वचनीयत्व को स्पष्ट किया गया है—तत्पश्चात् परमात्मा वागादि से

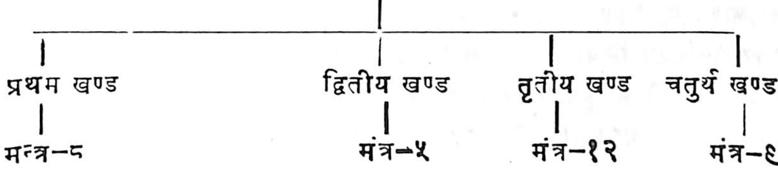
---

१. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १॥

अतीत एवं अनुपास्य है—यह स्पष्ट किया गया है। **द्वितीय खण्ड** में ब्रह्मज्ञान की अनिर्वचनीयता का उल्लेख है। परमतत्त्व की अनुभूति का वर्णन भी मननीय है। आगे इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती हैं—कि 'ब्रह्म, जिसे ज्ञात नहीं है उसी को ज्ञात है, और जिसे ज्ञात है वह उसे नहीं जानता। क्योंकि वह जानने वालों का बिना जाना हुआ है और न जानने वालों का जाना हुआ है—

> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

अतः यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तो ठीक है, और यदि इस जन्म में न जाना गया तो महती हानि है। **तृतीय खण्ड** में यक्षोपाख्यान है। इसके द्वारा देवताओं के अन्तःस्थ अहंवृत्ति का निरसन हुआ है। यक्षरूप में ब्रह्मतत्त्व के अवतरित होने के बाद अन्य किसी के भी द्वारा, अग्नि, वायु, इन्द्रादि देवताओं' के द्वारा उस यक्ष का प्रत्याख्यान न हो सका। तदनन्तर उमा का प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्णन तृतीय खण्ड में हुआ है। **चतुर्थ खण्ड** में उमा का सभी देवताओं को उपदेश है। तदनन्तर ब्रह्मविषयक अधिदैव स्वरुप एवं अध्यात्म स्वरुप का वर्णन है। तदनन्तर विद्या प्राप्ति के साधनों का उल्लेख है।



शांतिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शांतिः। शांतिः। शांतिः।

मेरे अङ्ग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल, और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों। यह सब उपनिषद् वेद्य ब्रह्म है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ। ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। हमारा परस्पर अनिराकरण हो,

अनिराकरण हो। उपनिषदों के धर्म, वे आत्मज्ञान में लगे हुए मुझमें हों, वे मुझमें हों! त्रिविध तापकी शान्ति हो!

(२) छान्दोग्योपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद् सामवेदान्तर्गत तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत है। यह उपनिषद् 'तत्त्वज्ञान, तदुपयोगीकर्म एवं उपासनादिका 'प्रतिपादक होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में उपासनाओं का वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में ज्ञान का। बिषय प्रतिपादन अत्यन्त गम्भीर, प्राञ्जल है। इस तत्त्वार्णव से अनेक रत्न प्रकाश में आये हैं, ये सनातन रत्न ही मानव जीवन के साध्य हैं।

सामवेदीय उपनिषद् होने से इसके प्रथम दो अध्यायों में सामविद्या का निरुपण है। प्रथम चध्याय में उद्गीथ का विवेचन करते हुए कहा है कि 'अक्षर, हृद्य, ॐकार—ये सब उद्गीथ के पर्यायवाची हैं–ये समस्त उस अव्यय, अविनाशी सत्ता के निदर्शक हैं। उद्गीथ से ही समस्त भावों का उदय होता है। विश्व में व्याप्त सात रसों के व्यतिरिक्त यह आठवाँ रस उद्गीथ है। यह रस ब्रह्मस्वरुप है। तदनन्तर प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में उद्गीथ की अन्य व्याख्या इस प्रकार वणित है—नासिका–सञ्चारी स्थूल प्राण ही उद्गीथ है। देवासुर सग्राम के समय देवों ने नासिक्य प्राण को आत्मरुप किया, परन्तु असुरों ने उस नासिक्य प्राण में अपना स्वरुप अवस्थित किया। उस कारण ही प्राण से अमृत एवं मृत्यु दोनों की सिद्धि होती है। तृतीय खण्ड में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से उद्गीथ की चार व्याख्याएँ प्राप्त होती है—प्रथम व्याख्या आधिदैविक है, जिसमें सूर्य को ही उद्गीथ कहा है। सूर्य 'तम' का नाशकर प्रकाश को उत्पन्न करता है। अंधकार एवं ज्योति का चक्र ही उद्गीथ का स्पन्दन है। स्पन्दनात्मक उद्गीथ का द्वितीय स्वरुप 'व्यान प्राण' है। वह प्राण एवं अपान का नियामक है। ऋक् एवं साम का स्पन्दन भी 'उद्गीथ' है। प्रथम अध्याय के अन्त में उद्गीथ की एक अन्य व्याख्या प्राप्त होती है जहाँ कुत्ते के 'रव' को ही उद्गीथ का स्वरुप कहा गया है।

तृतीय अध्याय में 'देवमधु' के रुप में सूर्य की उपासना की गई है। साथ ही साथ गायत्री वर्णन, देवकी पुत्र कृष्ण को घोरआंगिरस के द्वारा अध्यात्म विद्या का उपदेश, और कुछ आख्यानों का निरुपण है।–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस अध्याय का प्रधान सिद्धान्त है।

चतुर्थ अध्याय में रक का तत्त्वज्ञान, सत्यकाम-जाबाली वृत्तान्त, उपकोसला को जाबाली का ब्रह्मोपदेश, इत्यादि विषयों का वर्णन है। पंचम अध्याय में प्रवाहण जैवली के दार्शनिक सिद्धान्त, अश्वपति एवं केकय के सृष्टिविषयकतत्त्व प्रमुख विषय हैं। षष्ठाध्याय में महर्षि आरुणि के सिद्धन्तों का निरूपण है। ब्रह्म के सूक्ष्मतत्त्व का उपदेश आरुणि ने श्वेतकेतु को अतिमार्मिक रूप से किया है।

सप्तम अध्याय में सनत्कुमार एवं नारद का संवाद है। मंत्रवित् नारद आत्मज्ञान के लिये महर्षि सनत्कुमार के पास आते हैं। सनत्कुमार नारद को उपदेश करते हुए कहते हैं--

'यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (७।२४)

जो विशाल है वही अमृत है और जो अल्प है वही मर्त्य है।

अष्टम अध्याय में इन्द्र एवं विरोचन की कथा है। इस कथा के माध्यम से आत्मज्ञान विषयक अनेक रहस्यों को प्रकाशित किया है। जैसे—शरीर मर्त्य है, अर्थात् मृत्यु से ग्रसित है, परन्तु सूक्ष्म-शरीर अविनाशी है, वही अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है। आत्मा शरीर से युक्त रहने के काल तक प्रिय एवं अप्रिय से युक्त रहता है, किन्तु शरीर से विलग होते ही उसे प्रिय-अप्रिय का स्पर्श भी नहीं होता।

जीव जिसका त्याग करता है वह नष्ट होता है, परन्तु जीव शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। वही आत्मतत्त्व है। यही आत्मा प्रत्येक हृदय में है। हृदयस्थ आत्मा को जानने वाला ब्रह्मलोक में जाता है। आत्मा अमृत, अभय, एवं ब्रह्म है। अहोरात्र से परिच्छिन्न वही सम्पूर्ण लोकों को धारण करता है।

छान्दोग्य उपनिषद्

प्र. अ.	द्वि. अ.	तृ. अ.	च. अ.	पं. अ.	ष. अ.	स. अ.	अ. अ.
खंड-१३	खंड-२४	खंड-१९	खंड-१७	खंड-२४	खंड-१६	खंड-२६	खंड-१५
मंत्र-१०४	मंत्र-८२	मंत्र-९४	मंत्र-७८	मंत्र-८८	मंत्र-६९	मंत्र-५१	मंत्र-६२

शान्ति पाठ

छान्दोग्य उपनिषद् का शान्तिपाठ, केनोपनिषद् के समान ही है। अतः उसे तत्स्थान पर ही देख सकते हैं।

अथर्ववेदीय उपनिषत्

मुण्डकोपनिषद्

दश उपनिषदों के अन्तर्गत मुण्डकोपनिषद् (अथर्ववेद का), महत्वपूर्ण उपनिषद् है। यह तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो खण्ड हैं। 'मुण्डक' शब्द से तात्पर्य यह है कि **'मन का मुण्डन कर अविद्या से मुक्त करने वाला ज्ञान'**। इस उपनिषद् में प्रतिपादित सृष्टिविषयक उपपत्ति का ही अनुसरण सांख्य एवं वेदान्तशास्त्र ने किया है। मुमुक्षु के मन में आत्मानुभव-विषयक तीव्रजिज्ञासा को उत्पन्न करा देना ही उपनिषद् का प्रमुख प्रयोजन है। अन्यउपनिषद् भी आत्मज्ञान विषयक उत्पत्ति कराने हेतु ही प्रवृत्त हैं, तथापि मुण्डक उपनिषद् सर्वतोपरि माना जाता है।

इस उपनिषद् में अक्षर-विद्या का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अक्षर विद्या की परम्परा का उल्लेख भी प्राप्त होता है। यह अक्षर विद्या ब्रह्मा से अथर्वा को, अथर्वा ने अङ्गी को, अङ्गी ने भारद्वाज सत्यवाद को और उनसे अङ्गिरस को प्राप्त हुई है।

महागृहस्थ शौनक ऋषि ने अङ्गिरा मुनि को प्रश्न किया कि—हे भगवन्! ऐसी कौन सी वस्तु है जिस एक के जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति इति।
(मुण्डकोप० १.१.३)

इस प्रश्न के उत्तर में ही अङ्गिरस ऋषि ने सम्पूर्ण उपनिषद् का विस्तरशः वर्णन किया है। अङ्गिरस ऋषि कहते हैं—

जानने के योग्य परा एवं अपरा विद्याएँ हैं। वेद-वेदाङ्ग एवं इतर शास्त्रों का ज्ञान 'अपराविद्या' और अविनाशी ब्रह्म-प्राप्ति के ज्ञान को 'परा' विद्या कहते हैं।

अंगिरसऋषि के अनुसार 'अक्षर ब्रह्म का ज्ञान कर्मकाण्डात्मक यज्ञ से सम्भव नहीं है। सोलह ऋत्विज्, यजमान, पत्नी, इन अठारह १८ लोगों के गौण कर्म जिसमें कहे गये हैं—वह यज्ञरूपी नौका अस्थिर है। यज्ञ को श्रेयस्कर मानकर जो उसी में ही आनन्द समझते हैं, वे पुनः पुनः जरा एवं मृत्यु को भोगते हैं।

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरुपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतत् श्रेयो ये अभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।"

(मुण्डको प० १।२।७)

कर्मकाण्ड में अवरुद्ध रागात्मक पुरुषों की बुद्धि में ब्रह्मविद्या स्फुरित नहीं होती, परन्तु जो तप और श्रद्धा का व्रत लेकर अरण्य में ब्रह्मविद्या की उपासना करते हैं, उनके लिए ही अमृत मार्ग प्रशस्त हो जाता हैं।

द्वितीय मुण्डक के प्रथमखण्ड में नवीन विषय का अवतरण हुआ है। अधिदैवत और आध्यात्म की व्यवस्थापक रचना अक्षर ब्रह्म से कैसे उत्पन्न हुई ? इस प्रश्न के माध्यम से यह प्रकाशित किया है। इसी प्रश्न के समाधान में अग्रिम विवेचन है—

उर्ध्वमुख अग्नि की ज्वालाओं से जैसे हजारों स्फुलिंग बहिः प्रसृत होते हैं, वैसे ही एकमात्र अविनाशी अक्षर पुरुष से विश्वसंरचना के अगणित भाव उत्पन्न होते हैं। संसार के समस्त भावों का उद्गमस्थान एकमात्र अक्षरपुरुष है। वह अमूर्त, अजन्मा और सभी में आभ्यन्तर–बाह्य व्याप्त है। वह, मन एवं प्राण से श्रेष्ठ है, और उसके व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। अक्षरब्रह्म से ही प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, पंचमहाभूतों का विकास होता है। उसी के दिव्य अंश से मानव का आध्यात्मिक स्वरुप निर्मित हुआ है। इन गुणों से विशिष्ट अक्षर पुरुष व्यक्ति के हृदयकेंद्र में रहता है।

जो सामान्यतः एवं विशेषतः सब जानता है, समस्त पृथ्वी पर जिसकी महिमा (सत्ता) है। वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुरी अर्थात् प्रकाशमय हृदयाकाश में रहता है। वह मन को चेतना देने वाला एवं प्राण, शरीर का नियन्ता है। हृदय का आश्रय लेकर वह शरीर में रहता है—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।।"

"मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद् विज्ञानेन परीपश्यन्ति धीरा
आनन्दरुपममृतं यद् विभाति ।।"

(मुण्डकोप. २. २–७)

अमृतमय, आनन्दरूप से विलसित आत्मा का साक्षात्कार तत्वज्ञ ही करते हैं—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"

(मुण्डको. २।२।८)

अर्थात् सर्वज्ञ आत्मा के दर्शन होने पर हृदयग्रन्थि का भेदन होता है, समस्त कर्मजाल छिन्न भिन्न हो जाते हैं, एवं सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं।

तृतीय मुण्डक—के प्रथम खण्ड में ऋग्वेदीय अस्यावामीय सूक्त का एक मंत्र संगृहीत है। सदा एकत्र रहने वाले, परस्पर मित्र दो पक्षी एक ही वृक्ष के आश्रय से रहते हैं। उनमें से एक पक्षी वृक्ष के मधुर फल खाता है और दूसरा पक्षी स्वतः फल न खाकर, केवल देखता है—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥"

(मुण्डको० ३।१।१)

ये दो पक्षी ही 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' हैं। विश्व की दिव्यशक्तियों के ये दो रुप हैं, जिन्हें देवसत्य कहा जाता है। एक देवसत्य विराट्स्थानीय एवं द्वितीय अध्यात्मकेन्द्र में हैं। जीव का शिव से तद्रूप होना ही जीव की परमावस्था है। सामान्यतः जीब देह में आसक्त रहता है। देहाभिमानी होकर ही वह व्यवहार करता है। देहबुद्धि के कारण वह कुण्ठित रहता है। परन्तु जब वह ईश्वर को देखने लगता है तब वह शोकरहित हो जाता है। ईश्वर दर्शन की प्रक्रिया में जीव को अभ्यास अपेक्षित रहता है। इस अभ्यासक्रम का निदर्शन अग्रिम मंत्र में हुआ है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(मुण्डको ३।१।५)

अर्थात् यह आत्मा ज्योतिर्मय और शुभ्र है, जो शरीरान्तर्गत हृदयकमल में निवास करता है। सत्य, तप, यथार्थज्ञान और ब्रह्मचर्य के नित्य अभ्यास से उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है अर्थात् काम—

क्रोधादि विकार जिनके नष्ट हो गये हैं, उन साधकों को आत्मदर्शन होता है ।

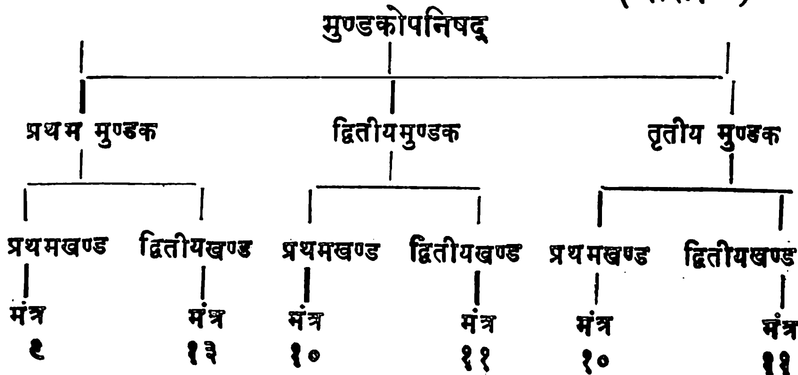
'सत्यमेव जयते नानृतम्' (३।१।४६) ये प्रसिद्ध वाक्य उपनिषद् में है । ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सत्य से व्याप्त है । पूर्णकाम ऋषि सत्यमार्ग से सत्य के परमनिधान परमात्मा को प्राप्त करते हैं । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' बल हीन को आत्मलाभ नहीं होता । परन्तु जो तप, श्रद्धा, इत्यादि साधनों से युक्त सत्यमार्ग में चलते रहते हैं वे ब्रह्मधाम प्राप्त करलेते हैं । उनकी स्थिति इस मन्त्र में बतायी गई है ।

> यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
> अस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय ।
> तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
> परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
>
> (मुण्डको० ३।२।८)

अर्थात् निरन्तर प्रवाहवती नदियाँ जैसे नाम एवं रुप का त्याग करके समुद्र में एकरुप हो जाती हैं, वैसे ही नाम, रुप से मुक्त हुआ विद्वान् सर्वश्रेष्ठ पुरुष, परात्पर पुरुष से एकरुप हो जाता है ।

अन्त में अंगिरस ऋषि ने कहा है कि जो शास्त्र विहित कर्म करने वाले हों, शाश्वत ब्रह्मनिष्ठ, एकर्षि नामक अग्नि के उपासक हों, उन्हें ही ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिए—

> क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
> स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
> तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
> शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
>
> (३।२।१०)



शांतिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

हे देवगण ! हम भगवान् का यजन करते हुए कानों से कल्याणमय वचन सुने, नेत्रों से कल्याण देखें, सुदृढ अंगों एवं शरीर से भगवान् की स्तुति करते हुए हम लोग जो आयु, आराध्यदेव परमात्मा के काम आ-सके, उसका उपभोग करें। सब ओर प्रसृत सुयशवाले इन्द्र हमारे लिये कल्याण का पोषण करें। सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान रखने वाले पूषा हमारे लिये कल्याण का पोषण करें। अरिष्टों को दूर करने वाले चक्रसदृश शक्तिशाली गरुडदेव हमारे लिये कल्याण का पोषण करें। बृहस्पति हमारा कल्याण करें।

॥ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

अथर्ववेद का अन्य उपनिषत् माण्डूक्य है। इसकी ज्ञानप्रकाशनक्षमता अत्यन्त गम्भीर एवं अथाह है। प्रत्येक प्रमेय का विस्तरशः वर्णन है। आत्मा की चतुर्विध अवस्था इसी उपनिषद् में वर्णित है। प्रश्नोपनिषद् में भी आत्मा की चतुर्विध अवस्था का विवरण है, परन्तु चतुर्थ अवस्था गर्भित है, जिसका सांगोपांग विवरण इस उपनिषद् में प्राप्त होता है।

इस उपनिषत् का वर्ण्य विषय सारांशरूप में इस प्रकार है—

ॐकार आत्मा का वाचक है। उसके अ, उ, म, और अर्धमात्रा ये चार अंश हैं। 'अ' अंश' जाग्रत् अवस्था का अभिमानी है, वही स्थूल शरीर समुदाय का भी अभिमानी है। जाग्रत् अवस्था में वह देह के बाहर वर्त-मान घटपटादि अवस्थाओं का दीर्घ अनुभव प्राप्त करता रहता है। इसे ही 'विश्व' अथवा 'वैश्वानर' कहते हैं।

'उकार' प्रणव का द्वितीय अंश है। वह स्वप्नावस्था का अभिमानी, वासनामय पदार्थों का भोक्ता है। स्वप्नावस्था में देहान्तर्गत ही वासना-

मय विश्व-प्रपंच का वह अनुभव करता है। तैजस् और सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता होने के कारण उसे 'प्रविभक्तभुक्' कहा जाता है।

प्रणव का तृतीय अंश 'मकार' है। वह कारण देह का अथवा सौषुप्त अवस्था का सूचक है। सुषुप्ति का अर्थ है 'गाढनिद्रा'। इस अवस्था में आत्मा के प्रविष्ट होते ही सुप्त, स्वरुप से एकरुप हो जाता है। इस अवस्था में भिन्न-भिन्न विषयों की प्रतीति नहीं होती, परन्तु आत्मतत्त्व का ज्ञान अव्याहत रहता है। इस हेतु उस अवस्था में आत्मा को 'प्रज्ञान घन' कहा जाता है। स्व-स्वरुप के आनन्द का अनुभव लेने के कारण उसे 'आनन्दभुक्' कहते हैं। परमसूक्ष्म चित्प्रतिबिम्बसहित अज्ञानवृत्ति उसके आनन्द के अनुभव का साधन होने के कारण उसे 'चेतोमुख' एवं इस अवस्था में आत्मा अन्तर्बाह्य विषयों के ज्ञान से रहित होने के कारण उसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है।

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से पर निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य ही 'अर्धमात्रात्मक' आत्मा का चतुर्थ अंश है, इसे 'तुरीय' भी कहा जाता है। इस तुरीयभाग का परिज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से असम्भव होने के कारण उसे 'अदृश्य' कहा जाता है। आदान–प्रदान का व्यवहार अनुपपन्न होने के कारण उसे 'अग्राह्य' एवं अव्यवहार्य' कहते हैं। अनुमान से अगम्य होने के कारण अलक्ष्य, एवं अन्तःकरण का अविषय होने के कारण 'अव्यपदेश्य' और एकमेवाद्वितीय आत्मरुप से स्वयं प्रकाशित होने के कारण 'एकात्मप्रत्ययसार' कहा गया है। समस्त प्रपंच का उपशम होने से उसे 'प्रपंचोपशम' कहते हैं। इसी अवस्था में उसे शांत, शिव एवं अद्वैत भी कहा जाता है।

जो मनुष्य इस प्रकार ओंकार और परब्रह्म परमात्मा की अर्थात् नाम और नामी की एकता के रहस्य को समझकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने हेतु तत्परता से साधन करता है, वह निस्संदेह आत्मा से परात्पर परब्रह्म परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है। इस उपनिषद् में १२ मन्त्र हैं।

माण्डूक्य उपनिषत् का शान्ति पाठ–मुण्डकोपनिषत् के समान ही है। पाठक तत्स्थान पर ही अवलोकन करें।

प्रश्नोपनिषत्

अथर्ववेद से सम्बद्ध अन्य उपनिषत् 'प्रश्नोपनिषत्' है। इसमें तत्त्वज्ञान

पूछे गये छह प्रश्न, छह शिष्यों द्वारा हैं। जिनका पिप्पलाद्ऋषि ने समर्पक एवं मार्मिक समाधान किया है। प्रश्नों के कारण ही इसे 'प्रश्नोपपनिषत्' कहा जाता है।

एकवार सुकेशाभारद्वाज, शैव्यसत्यकाम, सौर्यायणी–गार्ग्य, कौशल्य-आश्वलायन, भार्गव–वैदर्भी, कबन्धी कात्यायन, ये छह शिष्य पिप्पलाद् ऋषि के यहाँ आए और प्रार्थना की कि हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। पिप्पलाद ऋषि ने उन्हें एक वर्ष तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा का अभ्यास करने के पश्चात् ही प्रश्न करने को कहा।

एक वर्ष के उपरान्त कबन्धी कात्यायन ने प्रथम प्रश्न किया—हे भगवन् ! ये प्रजा कहाँ से उत्पन्न हुई है ? 'भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति' पिप्पलाद ऋषि ने प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है।

"प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेति एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति"।

अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से प्रजापति ने तप किया। तपसे 'प्राण' एवं 'रयि' का मिथुन = जोडा उत्पन्न किया। इन्हें उत्पन्न करने का उद्देश यह था कि ये दोनों मिलकर मेरी नाना प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे।

तदनन्तर भार्गव ने पिप्पलाद महर्षि से द्वितीय प्रश्न किया—हे भगवन्। कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं ? इनमें से कौन कौन इसे प्रकाशित करते हैं ? इन सब में श्रेष्ठ कौन है ?

पिप्पलाद्ऋषि ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया—

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, तथा मन, ये नौं देवता इस शरीर को धारण करते हैं। दशम प्राण श्रेष्ठतम है।

'प्राण' विश्वव्यापि तत्व है। वह चिच्छक्ति है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि का व्यापार प्राण–शक्ति से ही संचालित होता है। प्राण चिच्छक्ति-विलक्षण गतिमान् तत्त्व है, जीव के जन्म-मरणादि व्यवहार उसी के द्वारा नियंत्रित होते हैं।

तत्पश्चात् कौशल्य–आश्वलायन ने पूर्व प्रश्न के आधार पर ही तृतीय प्रश्न किया है। हे भगवन् ! यह प्राण किससे उत्पन्नहोता है ? वह इस

शरीर में कैसे आता है ? अपने को विभाजित कर कैसे रहता है ? उपर्युक्त प्रश्न का समाधान पिप्पलाद ऋषि ने इस प्रकार किया है—

"आत्मन एव प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोधिकृतेनाऽऽयाति अस्मिन् शरीरे।"

अर्थात् आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जेसे देह के साथ छाया, वैसे ही आत्मा के साथ यह प्राण रहता है। और उसका इस शरीर में मन से किये संकल्प से प्रवेश होता है।

इसके बाद चतुर्थ प्रश्न सौर्यायणी-गार्ग्य का है। हे भगवन्! इस मनुष्य-शरीर में कौन-कौन सोते हैं? कौन कौन जागते रहते हैं? कौन सा देव स्वप्न देखता है? यह सुख किसे होता है? ये सब किसमें निश्चितरूप से स्थिर रहते है?

पिप्पलाद ऋषि के द्वारा इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार हुआ है—निद्रा के समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ श्रेष्ठ मन में लीन होती हैं। इस अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है। इस शरीररूपी नगरी में प्राणादि वायु जाग्रत् रहते हैं। 'मन' स्वप्न का अनुभव करता है। पक्षी जिस प्रकार अपने निवास वृक्ष पर एकत्रित होते हैं। उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, उनकी तन्मात्राएं (शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श) एवं उनके विषय आत्मा में लीन होते हैं।

शैब्यसत्यकाम ने पंचम प्रश्न पूछा—हे भगवन्! मनुष्यों में जो कोई मृत्युपर्यंत ओंकार का ध्यान करता है, वह उपासना के बल से किस लोक को निस्संदेह जीत लेता है?

पिप्पलाद ऋषि ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है—ओंकार ब्रह्म 'पर' एवं 'अपर' उभयविध है। वह जिस प्रकार के ब्रह्म का ध्यान करता है, वह उसे प्राप्त होता है। तीन मात्राओं से युक्त ओंकार का जो ध्यान करता है वह स्थिरचित्त होकर ज्ञानी बनता है, और ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है।

ओंकार में अ, उ, म ये तीन मात्राएँ, दृश्य-विश्व, वासनात्मक-विश्व, और हिरण्यगर्भ की सूचक हैं। व्यष्टिरूप से चिंतन करनेवाले को शाश्वत समाधान प्राप्त नहीं होता है, परन्तु एक रूप से चिंतन करनेवाला अर्थात् साधक आत्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म लोक जाता है।

अन्तिम प्रश्न सुकेशा का है—षोडशकलात्मक पुरुष कहाँ रहता है ?

पिप्पलाद महर्षि ने कहा कि षोडशकलात्मक पुरुष मनुष्य-शरीर के अन्तर्भाग में रहता है। जिसमें ये सोलह कलाएँ प्रकट होती हैं, और प्रलयकाल में अपने परमाधार परम पुरुष-परमेश्वर में जाकर विलीन हो जाती हैं। अर्थात् एकमात्र परम पुरुष परमेश्वर के रुप में तदाकार हो जाती हैं।

प्रश्नोपनिषत्

प्रथम प्रश्न	द्वितीय प्रश्न	तृतीय प्रश्न	चतुर्थ प्रश्न	पचम प्रश्न	षष्ठ प्रश्न
मंत्र	मंत्र	मंत्र	मंत्र	मंत्र	मंत्र
१६	१३	१२	११	७	८

उपनिषदों का महत्त्व एवं तात्पर्य

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में परम निःश्रेयसरुप मोक्ष ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। यह सभी का सुनिश्चित सिद्धान्त है। बारंबार जन्म-मरण के चक्र से अलग होने के लिये, मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्न करना चाहिए। 'मोक्ष-अमृत' स्वरुप है।

प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्म को प्राप्त अथवा व्यक्त करानेवाली, निःसन्धिबन्धनात्मिका चिज्जड-ग्रंथिस्वरुपा अविद्या को शिथिल करानेवाली, नामरुप-क्रियात्मक मायामय विश्व-प्रपंच का समूलोन्मूलन करके जीव की ब्रह्मात्मता को बोधित करनेवाली ब्रह्म-विद्या ही उपनिषद् है। उसके उत्पादक एवं अभिव्यंजक होने से ईशावास्य, केन, कठ आदि मंत्र-ब्राह्मण वेदशीर्ष ग्रंथ भी उपनिषद्वाच्य होते हैं। यद्यपि उपनिषदें वेदशीर्ष या वेदसार हैं, तथापि वे वेद से पृथक् नहीं हैं। अतएव वे भी परमेश्वर के निःश्वासभूत तथा अनादि ही हैं। इस हेतु वेदकाल, उपनिषत्काल, आदि आधुनिक कालभेद की कल्पनाएँ व्यर्थ एवं निराधार हैं। क्योंकि पौरुषेय वस्तुओं में ही ज्ञान, क्रिया, शक्ति के विकास की कल्पना सम्भव होती है।

उपनिषदों का सार होने से ही गीता में भी 'गीतोपनिषद्' का व्यवहार होता है। गीता का भी मूल होने से उपनिषदों की महिमा अत्यन्त प्रख्यात

है—जैसे इक्षुदण्ड की अपेक्षा उसके सारभूत शर्करा आदि की मधुरता के समान उपनिषदों से भी अधिक मधुरता गीता में है। अतएव उपनिषद्रुप गौओं का अमृतमय दुग्ध गीता को कहा है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

तथापि उपनिषदों का महत्त्व अत्यन्त अनुपेक्षणीय है। जैसे गौ न होने से दुग्ध, एवं इक्षुदण्ड न होने से शर्करा दुर्लभ है, वैसे ही उपनिषदों के न होने पर गीता भी दुर्लभ है।

यद्यपि कहा जाता है कि उपनिषद् तो भगवान् के निःश्वास हैं जो कि सावधान–असावधान, सुप्त–प्रबुद्ध किसी भी अवस्था में प्रकट होते रहते हैं, परन्तु गीता पद्मनाभ भगवान् से प्रकट हुई है। तथापि योगयुक्त परम सावधान भगवान् के मुखपद्म से गीता का प्रादुर्भाव है इस हेतु गीता की महिमा अधिक है, फिर भी भगवान् का निःश्वास होने से ही उपनिषदों की विशेषता है। सुप्त, प्रबुद्ध, सावधान–असावधान प्रत्येक अवस्था में श्वास प्रकट होते हैं, इस हेतु उसमें बुद्धि और प्रयत्न की निरपेक्षता और सहज अकृत्रिमता सिद्ध होती है। अतः पुरुषाश्रित भ्रम प्रमादादि दूषणों का असंस्पर्श होने से उपनिषदों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है। और गीता का प्रामाण्य उपनिषद् मूलक ही है।

वेदसार होने से उपनिषदों में कर्म, उपासना एवं ज्ञान का वर्णन है। तत्सारभूत होने से गीता में भी ये ही तीनों विषय वर्णित हैं। वेद, उपनिषत्, गीता–इन सभी का अवान्तर तात्पर्य कर्म और उपासना में होते हुए भी महातात्पर्य स्वप्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परात्पर पर-ब्रह्म में ही है। उपनिषदों में कर्म का दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है।

उपनिषदों में सामान्यतः उपासना और विशेषतः ज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है। अतएव नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ-फल भोग–वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा तीव्र मुमुक्षा के होने पर ही उपनीत द्विजाति विचारात्मक उपनिषदों के श्रवण का अधिकारी होता है। जैसे, आलोक-सहकार पुरःसर मनः संयुक्त, निर्दोष चक्षु से रुप का बोध होता है, उसी प्रकार साधन-चतुष्टयसम्पन्न अधिकारी को ही उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिंगों द्वारा ब्रह्म में तात्पर्यनिर्धारणरुप उपनिषत्श्रवण से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, अन्य किसी साधन से नहीं।

उपनिषदों के तात्पर्य का विषय अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, परात्पर शुद्ध ब्रह्म ही है। जिससे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है, वही उपनिषदर्थं ब्रह्म है। आकाश का कारण अहम्, अहम् का भी कारण महान्, महान् का भी कारण अव्यक्त है। अव्यक्त, उपनिषदर्थ ब्रह्म से उत्पन्न या उसमें ही अध्यस्त होता है।

महत्त्व—उपनिषद्, वेद का ज्ञान-काण्ड है। यह चिरन्तन यह ज्ञान दीपक है, जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है और लयपर्यंत पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरतत्त्व है, जिसने सनातनधर्म एवं अन्यान्य धर्मों के मूल का सिञ्चन किया है। यह जगत्कल्याणकारी भारत की अपनी निधि है, जिसके सम्मुख विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्यराष्ट्र श्रद्धा से नतमस्तक रहा है, और रहेगा। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्यायरूप यह उपनिषद्, ज्ञान का आदि स्रोत और विद्या का अक्षय्य भंडार है। वेद विद्या के चरम सिद्धान्त —

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषत्, जीव को अल्पज्ञान से अनन्त ज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त सत्ता एवं अनन्त शक्ति की ओर, त्रिविध दुःखों से अनन्तसुख की ओर, और जन्म—मृत्युबन्धन से अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाती है।

औपनिषद तत्त्वज्ञान

'प्रतिभा' एवं 'तर्क' ये दोनों, बुद्धि के अर्थात् ज्ञानशक्ति के द्विविध रुप हैं। प्रतिभा एवं तर्क में मूलतः भेद नहीं है, ज्ञान शक्ति के ही ये दो आविष्कार हैं। प्रतिभा 'तर्कात्मक', एवं तर्क 'प्रतिभात्मक' होता है। भाषा, गणित, सामान्य एवं विशेषकल्पना और पृथक्करणात्मक विवेचन इत्यादि के सहयोग से प्रतिभात्मक मनोव्यापार तर्कात्मक हो जाता है। प्रतिभा एवं तर्क नैसर्गिक होते हुए भी परिश्रम साध्य ही होते हैं। तर्क एवं प्रतिभा ये दोनों पदार्थ परस्पर सहयोग से वृद्धिगत होते हैं। प्रतिभात्मक विचारों में मूर्त एवं अमूर्त का भेद नहीं रहता। अर्थात् शुद्ध कल्पना एवं संमिश्र कल्पना का पृथक्करण प्रतिभा में नहीं रहता और शुद्ध कल्पना ही विज्ञान निर्माण में परिणत होती है।

समस्त वेदवाङ्मय विज्ञानमय है, समस्त कथन गंभीर अर्थ के प्रकाशक हैं। उपनिषद् की कथावस्तु शुद्ध विज्ञानात्मक है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड के पश्चात् ज्ञानकाण्ड को कहा गया है। उपनिषदों के अतिरिक्त समस्त साहित्य 'अन्या वाचः' के समान क्षीण है, आत्मज्ञान ही एक मात्र तत्त्व है।[1] छान्दोग्यउपनिषद् में दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—नारद-सनत्कुमार-संवाद तथा उद्दालक और श्वेतकेतु का संवाद। छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय ७ में कहा है कि 'सनत्कुमार के निकट नारद ज्ञानप्राप्त्यर्थ गये। सनत्कुमार ने पूछा की तुम क्या पढे हो? प्रथम उसका कथन करो, तदनन्तर प्रश्न करना। नारद ने कहा "भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इतिहास, पुराण इत्यादि विद्याओं का अध्ययन किया है, अर्थात् मंत्र–विद्या मुझे ज्ञात हैं, परन्तु आत्मविद्या से अनभिज्ञ होने के कारण शोक-ग्रस्त हूँ।" सनत्कुकार ने कहा कि, नारद! तूने शब्दात्मक विद्या का अध्ययन किया है, वेद अर्थात् 'नाम' ही है। इस उद्धरण से कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड का उत्कर्ष स्पष्ट हो जाता है।[2]

६ अध्याय में 'पिता–पुत्र' उद्दालक एवं श्वेतकेतु के संवाद में भी उपर्युक्त तत्त्वज्ञान के वैशिष्टय का ही विचार है। पिता के कथनानुसार श्वेतकेतु ने १२ वर्ष तक सर्व वेदों का अध्ययन किया। अध्ययन के पश्चात् वह अभिमानी होकर पितृगृह आया। उद्दालक ने विचार किया की वेद के अध्ययन से तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ होगा यह मान लेना तो उचित नहीं है। उद्दालक ने श्वेतकेतु से पूछा की यदि स्वतः को विद्वान् मानते हो तो उत्तर दो कि 'जिस तत्त्व का ज्ञान होने से समस्त रहस्य ज्ञात हो जाते है। वह तत्त्व क्या है? जब श्वेतकेतु निरुत्तर रहे तो उद्दालक ने श्वेतकेतु को आत्मविद्या का कथन किया। इसी विचार को मुण्डकोपनिषद् में और अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

वैदिक कर्मकलाप का प्रतिपाद्य विषय 'यज्ञ' अर्थात् कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड के साधन से पुण्यप्राप्ति एवं उसके द्वारा स्वर्गप्राप्ति होती है। ऐहिक वैभव एवं पारलौकिक स्वर्गादि सब विनाशी–नश्वर हैं। स्वर्गस्थ देवादिक भी जन्ममरणाधीन हैं। देवताओं का अमरत्व भी मर्यादित है, इन्द्र, वरुण, आदित्य आदि देव, सृष्टि के साथ उत्पन्न होते हैं एवं प्रलयावस्था

---

१. बृहदारण्य कोपनिषद् (४।४।२०।२१)

२. छान्दोग्यउपनिषद् (अध्याय–७)

में नष्ट हो जाते हैं। सृष्टि एवं देव ही केवल अन्तिम अमर सत्य नहीं हैं। मुण्डकोपनिषद् में वेदोक्त कर्मकाण्ड का गौणत्व प्रकाशित हुआ है। जिसके अनुसार कर्मकाण्डरुप नौका प्रामाणिक नहीं है। यज्ञ को श्रेयस्कर समझकर जो उसका आश्रय करते हैं वे जन्ममृत्यु के चक्र में पुनः पुनः प्रविष्ट होते हैं।

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने अपनी पुस्तक 'वैदिक संस्कृती चा विकास' में पृष्ठ १३६ में मुण्डकोपनिषद् (१।२।७–१३) की व्याख्या अनर्गल पद्धति से ही की है—कुछ शब्दों का प्रयोग, व्यक्तिगत द्वेष पूर्वक ही किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के कथन तात्पर्यग्राही होते हैं। कर्मकाण्ड से आत्मशुद्धि हो जाती है, तदनन्तर वेदान्तानुसारी ज्ञानमार्गपूर्वक मोक्षमार्ग प्राप्त किया जाता है। उपर्युक्त अर्थ के द्योतक मंत्र, कर्म-क्रिया-कलाप के साक्षात् निषेधक नहीं हैं। 'अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः'[1] के द्वारा स्पष्ट ही है कि 'अविद्याग्रसित' मनुष्य ही जन्म–मरण के चक्र में प्रविष्ट होते हैं।

उपनिषदों में मुख्यतया तीन विषयों का प्रतिपादन प्राप्त होता है—

१. धर्म, २. सृष्टि, ३. अंतिम वस्तु सत्य। अंतिम वस्तु सत्य का प्रतिपादन ही उपनिषदों का मुख्य उपदेश है। अन्तिमवस्तुसत्य का अर्थात् ब्रह्म का स्वरुप स्पष्ट हो इस कारण उसके अङ्गरुप में सृष्टि-विषयक विचार उपनिषदों में प्राप्त होता है। क्योंकि अन्तिम–सत्य ही अनुभव में आनेवाले जीवन का रहस्य है। इस हेतु जीवन का एवं विश्व का अर्थ और कार्य–कारणभाव स्पष्ट होने से अन्तिम–सत्य वस्तु (ब्रह्म) का स्वरुप स्पष्ट हो जाता है। धर्म, सत्यदर्शन का साधन है, श्रेयः प्राप्ति उसी के अधीन है। धर्म शब्द से केवल यज्ञात्मककर्मकाण्ड ही विवक्षित नहीं है, अपितु यज्ञ से सम्बद्ध उपासना अथवा स्वतंत्र उपासना, व्रत, नियम, मोक्ष के शम-दमादि साधन भी विवक्षित हैं।

आत्मा—यास्काचार्य ने 'आत्मा' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

> आत्माऽतते वप्ति वापि वाप्त इव स्याद्।
> यावद् व्याप्तिभूत इति (निरुक्त ३।१३।२)

---

१. मुण्डकोपनिषद्—१।२।६

आत्मा शब्द (अत् = सातत्यगमने) अथवा (अप् = व्याप्तौ) धातु से निष्पन्न हुआ है। सतत गतिशील होने के कारण वह आत्मा है। शंकराचार्य ने उपर्युक्त गंभीर अर्थ को एक श्लोक में उपस्थित किया है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

अर्थात्—यह वस्तुजात का व्यापक है, वस्तुमात्र का ग्रहण करता है इस लोक में विषयों का उपभोग करता है, सदैव इसका सद्भाव प्राप्त होता है—इस कारण इसे आत्मा कहा जाता है।

ब्रह्म जगत् का आदिकारण है। 'आत्मा ही ब्रह्म है' ऐसा स्पष्ट उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषत् में है—'ब्रह्मभावश्चाहमात्मा ब्रह्म' (२।५।१९)। छान्दोग्यउपनिषत् में 'तत् त्वमसि' 'वह (ब्रह्म) तू है' उद्घोष किया है (६।८।७) इस हेतु आत्मा = प्रत्यगात्मा अर्थात् सकल विषयों का ज्ञाता, और ब्रह्म, जगत् का मूलकारण है। 'सोऽहमस्मि' इस अनुभव में आत्मा और ब्रह्म के अभेद का प्रत्यक्ष होता है।

'आत्मा का वास्तव्य हृदय में है' यह मत प्रत्येक उपनिषत् में स्पष्ट व्यक्त हुआ है। आत्मा एवं शरीर के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रजापति कहते हैं—'देहरुपी रथ का सारथी, शुद्ध, शांत, शाश्वत, अज एवं स्वतंत्र आत्मा है, (मैत्रा उ० २।३–४) वह समस्त शारीरिक क्रियाओं का अधिपति एवं इन्द्रियों का राजा है। वह इन्द्रियों से उपभोग लेता है और इन्द्रियाँ उसके आश्रय से जीवंत रहती हैं (कौषी. उ. ४।२०)।

कुछ व्यक्ति शरीर को ही आत्मा कहते हैं। परन्तु यह मानना ठीक नहीं हैं। कठोपनिषद् में शरीरात्मा का निराकरण यमराज ने नचिकेता के प्रश्नोत्तर में किया है—

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।"
(कठो. १।१।२०)

मनुष्य मृत्यु के उपरान्त रहता है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यमराज ने इस प्रकार दिया है—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' ॥
न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(कठोपनिषत् १।२।१५, १८)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि शरीरादि भौतिक तत्त्व विनाशी हैं। वे आत्मा नहीं हैं, क्योंकि आत्मा तो अजर, अमर है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
(क० उ० १।३।१०)

कुछ सम्प्रदायाचार्य आत्मा को 'अणु' कहते हैं, 'अंगुष्ठमात्र' कहते हैं। परन्तु यह कहना भी अनुचित है। क्योंकि आत्मा को अणु अथवा अंगुष्ठमात्र कहने से 'आत्मा को विभु, व्यापक, कहने वाली श्रुतियों के निरर्थक होने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। 'अणोरणीयान्' 'वालाग्र-शतभागस्य', इन मंत्रों के द्वारा आत्मा में जो अणु आदि की प्रतीति हो रही है, वह उसकी स्तुति मात्र है, परिमाण-निर्णायक नहीं है। क्योंकि एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा' (कठ. उ. १।३।१२) वह आत्मतत्त्व प्रच्छन्नतया सर्व भूतों में व्याप्त है, यह बात आत्मा को विभु माने बिना संभव नहीं हो सकती। इस हेतु आत्मा विभु है।

'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।'

आत्मा से विभु आकाश प्रकट हुआ। अतः अणु आत्मा से विभु आकाश का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है।

'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्'

यहाँ अणुता का शब्दशः प्रतिषेध प्राप्त होता है। इस हेतु औपनिषद् आत्मा अणु नहीं, अपितु विभु सर्वान्तर्यामी है।

आत्मा ज्ञानस्वरुप है। ज्ञानभिन्न समस्त पदार्थ जड होते हैं और आत्मा चेतन है, उसको जड कहना उचित नहीं होगा।

उपनिषदों में कहा है—

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृहदा) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरी.), अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृहदा) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदा.)। इन वाक्यों में आत्मा को ज्ञानस्वरुप कहा है। इस हेतु औपनिषद आत्मा ज्ञान स्वरुप है।

यच्चयावत् कार्यजात का कारण एक मात्र आत्मा ही है और कोई अन्य नहीं है। ऐतरेयोपनिषद् में कहा है कि 'यह समस्त जगत्, पूर्व में आत्मा ही था, कोई अन्य तत्त्व नहीं था, उस आत्मा ने स्वेच्छा से लोक का सर्जन किया--

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। (१, १, १,)

इसमे यह सिद्ध है कि सृष्टि के मूल में एक ब्रह्मतत्त्व ही रहा है। सम्पूर्ण जगत्, उसका विवर्त है, इसलिये उससे विरूप है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद्)

ब्रह्म

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन सकारात्मक एवं नकारात्मक दो पद्धतियों में प्राप्त होता है। ब्रह्म तेजोमय व अतेजोमय, काममय और अकाममय, क्रोधमय और अक्रोधमय, धर्ममय एवं अधर्ममय, वह सर्वमय है, तथा यह और वह उभयविध है—

तेजोमयोऽतेजोमयः, काममयोऽकाममयः, क्रोधमयोऽक्रोधमयः, धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतत् इदंमयोऽदोमयः।
(बृहदा. ४।४।५)

ब्रह्म, न अन्तः प्रज्ञ और न बहिष्प्रज्ञ है, और न उभयतः प्रज्ञ है, वह प्रज्ञानघन भी नहीं है, वह प्रज्ञ-अप्रज्ञ भी नहीं है—

नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् (मांडूक्य ७)

उपर्युक्त वर्णन यद्यपि नकारात्मक हैं। तथापि कठोपनिषत् एवं मुण्डकोपनित् के वर्णन 'अस्ति एवं नास्ति' उभयविध भाव का प्रदर्शक हैं—

ब्रह्म, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगंध, अनादि, अनन्त, महत् से भी महान् है, उसका हृदय में ध्यान करने से मनुष्य मृत्युमुख से मुक्त होता है—

"अशब्दमस्पर्शकरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" ॥

(कठ. उ. १।३।१५)

वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, और चक्षुः श्रोत्रादि से हीन है, इसी प्रकार अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है उसे विवेकीजन सब ओर देखते हैं —

यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।

(मुण्ड उ० १।१।६)

'नेति नेति' इत्याकारक जो सुप्रसिद्ध ब्रह्म का वर्णन है, उसका अर्थ भी सकारात्मक एवं नकारात्मक उभयविध उपपन्न होता है ।

ब्रह्म पूर्ण है । उसके एक भाग का ज्ञान होते ही निखिल ब्रह्म का ज्ञान होता है । क्योंकि सभी का आधारभूत एवं अन्तिम तत्त्व ब्रह्म ही है । (छा० उ० ६।१।२।७)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस प्रसिद्ध ब्रह्मवर्णन से सकारात्मक अर्थ उपपन्न होता है । ब्रह्म के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषत् श्रुति कहती है—

जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगीर्ण कर जाती है, तथा जैसे–पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अव्यय ब्रह्म से निखिल विश्व का निर्माण होता है ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवन्तीह विश्वम् ॥

(मुण्ड० उ० १।१।७)

वह अक्षर ब्रह्म सत्य है । जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले हजारों स्फुलिंग निकलते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं । उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥
(मु० उ० २।१।१)

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा जीवात्मा एवं ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। इस ब्रह्म का ज्ञान करणीय है। उससे एकरूप होने पर ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मज्ञान की इच्छा से 'सत्यकाम', गौतम ऋषि के पास गया। उपकौसल ने सत्यकाम को अपना गुरु बनाया, श्वेतकेतु इसी आकांक्षा से आरुणि की एवं भृगु, वरुण की शरण गया।

ब्रह्म-विद्या को अधीत करने के लिये सूक्ष्म एवं प्रखर बुद्धिमत्ता अपेक्षित होती है। निर्गुण, निराकार, एवं अनिर्वचनीय ब्रह्म की प्राप्ति सर्वसामान्य के लिये कष्टसाध्य है, क्योंकि मानव सान्त होने के कारण अनन्त ब्रह्म का ग्रहण नहीं कर सकता, इस विषयवस्तु का ज्ञान एवं मानवसामान्य के शाश्वत कल्याण की इच्छा, वैदिक ऋषियों को थी। इस हेतु उन्होंने मानवमात्र को ईश्वर का साक्षात्कार कराया।

ब्रह्म को सर्वत्र मूर्त एवं अमूर्त दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि ब्रह्म जब उपधि से युक्त होता है, तब वह ईश्वर होता है एवं ईश्वर जब उपाधिरहित होता है तब वह ब्रह्म—पदवाच्य होता है।

औपनिषद ब्रह्मविद्या

'ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्'—मुण्डकोपनिषद् के इस प्रसिद्ध श्रुतिवाक्य से 'ब्रह्म विद्या का श्रेष्ठत्व' ज्ञात होता हैं। अन्य विद्याएँ मनुष्य को ऐहिक उत्कर्ष प्रदान करतीं हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या का दाय मनुष्य को शाश्वत आनन्द देना हैं। ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा को अनुलक्षित करके भगवान् कृष्ण ने उसे राजविद्या एवं राजगुह्य कहा है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ (९।२)

संशय एवं विपरीत भावना से रहित अखण्ड ब्रह्माकार वृति ही ब्रह्मविद्या है। श्रवण, मनन, एवं निदिध्यास की परिपक्व अवस्था से ही ब्रह्माकारवृत्ति का लाभ प्राप्त होता है। इस हेतु गुरु और शास्त्रवचनों में दृढविश्वास करके, 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वचनों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। जिससे द्वैत का नाश होकर अद्वैत ब्रह्म-तत्त्व का प्रकाश प्राप्त होता है। पंचदशीकार ने कहा है—

अनुभव का अभाव रहने पर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का होना आवश्यक है। ध्यान करने से अविद्यमान वस्तु भी प्राप्त होती है, तो सदा सत् रहने वाले ब्रह्म की प्राप्ति ध्यान से क्यों नहीं हो सकती ?

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥

(९।५५)

'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना, अहंकार सूचक है; जो बन्ध का कारण है मोक्ष का नहीं', ऐसा कुछ लोग आक्षेप करते हैं परन्तु यह आक्षेप वस्तुतः निराधार है। 'अहं ब्रह्मास्मि' में यदि अहंकार है भी; तो वह 'शुद्ध अहंकार' है, जो बन्ध हेतु नहीं है। 'देह–बुद्धि' का अहंकार ही बन्ध हेतु होता है। वस्तुजात को ब्रह्ममय माननेवाला, अनेक का एकत्व में विलय करने वाला और ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता स्वीकार न करने वाला अहंकार वस्तुतः 'अहंकार' नहीं है। तत्त्वदर्शी एवं मुमुक्षु की 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना शुद्ध, पवित्र, आनन्दमय एवं संसार-सागर से उत्तरण की भावना है। उसे ही ब्रह्म—विद्या कहते हैं। ब्रह्मविद्या के विषय में बृहदारण्यकोपनिषत् के मार्मिक उद्गार इस प्रकार हैं।

जब हृदयस्थ समस्त कामनाएँ अद्वैत ब्रह्म–तत्त्व के अपरोक्ष ज्ञान से छिन्न–भिन्न होती हैं तब मर्त्य, 'अमृत' होकर जीवितावस्था में ही ब्रह्म-स्वरुप को प्राप्त होता है।

यदासर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥

(बृहदा० उ० ४।४।७)

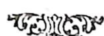
तैत्तिरीय उपनिषत् का भी यही मन्तव्य है—

अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के अपरोक्ष साक्षात्कार से जब मुमुक्षु द्वैत प्रपञ्चशून्य स्थूलादि शरीररहित, बुद्धयादिकों का अविषय, सब का लयस्थान, मायाभिन्न परब्रह्म में निर्भय (अविचल) स्थितिलाभ करता है, उस समय वह निर्भय ब्रह्म पद को प्राप्त होता है। जब दुराग्रह से अद्वैत परिपूर्ण ब्रह्म में उपास्य-उपासकादि भावों से भेदबुद्धि करता है तब उसे भय उत्पन्न होता है—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।

(तै० उ० २।७)

परब्रह्म के अभेदरूप साक्षात्कार के अनुभव से मनुष्य जिस अवस्था को प्राप्त होता है उस अवस्था को श्रीकृष्ण ने ब्राह्मी स्थिति कहा है।



पञ्चम अध्याय

वेदाङ्ग

मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार की विद्या का कथन है। एक परा एवं द्वितीय अपरा। परा विद्या से अक्षर ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है, एवं अपराविद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, आदि विषयो का समावेश होता है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति॥
(१।१।५)

इन्हीं को वेदों के षडङ्ग अथवा 'उपग्रन्थ' कहते हैं। वेद के अति गम्भीर अर्थ का बोधन कराने के लिये ही ये ग्रंथ प्रवृत्त हुए हैं। वेदाङ्ग कहने से यह स्फुटित हो रहा है, कि वेदचतुष्टय का षडङ्गों से घनिष्ठ संबंध है। प्रत्येक अङ्ग का अपना स्वतंत्र वैशिष्टय है। पाणिनीय-शिक्षा में वेद-पुरुष के अङ्गों को वेदांग ही कहा गया है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२ ॥

वेद के पैर 'छंद' हैं, 'कल्प' हाथ हैं, 'ज्योतिष' नेत्र हैं, 'निरुक्त' श्रोत्र हैं, 'शिक्षा' घ्राण है, और 'व्याकरण' मुख है—इस कारण अङ्गोंसहित अधीत वेद से ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है। अर्थात् ब्रह्मस्वरुप वेद-साधक को सार्थ एवं निर्बाध वेद प्राप्त होते हैं।

शिक्षा

वेदाङ्गों में सर्व प्रथम पठित अङ्ग शिक्षा है उसका अत्यन्त महत्व है। वेदमन्त्र का सम्यक् रुप से उच्चार करने हेतु स्वरज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता होती है। स्वर ही शब्दों के अर्थ-नियामक होते हैं। शब्द एक होने पर भी यदि स्वर-भेद हो गया तो अर्थ, भिन्न हो जाता है। इस हेतु

उच्चारण का विशेष महत्त्व है। अतः शिक्षा का अर्थ हुआ वैदिक मंत्रों की उच्चारण विधि के प्रतिपादक ग्रंथ।

सायणाचार्य 'शिक्षा' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—वर्ण स्वरादि के उच्चारणप्रकार, जहाँ उपदिष्ट हो वह शिक्षा है—

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा।

तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रारम्भ में ही शिक्षा के परिमाण को बताया गया है—वर्ण, स्वर, बल, मात्रा, साम, एवं संतान—इन छह अङ्गों का अध्ययन, शिक्षाग्रंथ से होता हैं—

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। (तै० उ० १।१)

वर्ण—अकार आदि को वर्ण कहते हैं। वेदार्थ-ज्ञानहेतु वर्ण-परिचय अत्यावश्यक है। पाणिनीय शिक्षा में ६३ या ६४ वर्ण माने गये हैं।

त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः (पा०शि० ३)

जिनमें, २१ स्वरसंज्ञक हैं, २५ स्पर्शसंज्ञक वर्ण हैं, ८ यादि, (य, र, ल, व, श, ष, स, ह संज्ञक) ४ यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, और दो स्वरों के मध्यवर्ती लकार ये ६३ वर्ण हैं और जो प्लुत लृकार को सम्मिलित करते हैं तो कुल ६४ वर्ण होते हैं।

स्वराविंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ⌓ क ⌓ पौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥
(पा० शि०, ४, ५,)

२. स्वर— उदात्त,[1] अनुदात्त,[2] स्वरित,[3] ये तीन स्वर हैं।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः (पा०शि० ११)

तालु आदि भागों के ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न अच् (स्वर) उदात्त संज्ञक होता है, निम्न भाग से उत्पन्न स्वर अनुदात्तसंज्ञक होता है, एवं उदात्त एवं अनुदात्त वर्ण के धर्म जिसमें संहृत होते हैं उसे स्वरित स्वर कहते हैं।

---

१. उच्चैरुदात्तः २. नीचैरनुदात्तः
३. समाहारः स्वरितः

वेद में स्वर का अत्यन्त महत्त्व है— क्योंकि स्वर के प्रमाद से अर्थ भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् स्वरभेद से विवक्षित अर्थ उपलब्ध न होकर अनर्थ (अविवक्षितअर्थ) प्रकाशित होता है—इस विषय में पाणिनीय शिक्षा कहती है—

स्वर अथवा वर्ण से भ्रष्ट मंत्र विवक्षित अर्थ को नहीं कहता, अपितु स्वर तथा वर्ण से भ्रष्ट हुआ वह मंत्र वाग्वज्र होकर यजमान का नाश करता है—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
सवाग्वज्रोयजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[1]

मात्रा—स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय को **मात्रा** कहते हैं। मात्रा तीन हैं—**ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत**। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—ये तीन मात्राएँ स्वरों में काल की निमामक होती हैं—

"ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि"—पा. शि. ११

एक मात्रा के उच्चारण में प्रयुक्त समय को **ह्रस्व**, दो मात्रा के उच्चारण में लगनेवाले समय को **दीर्घ**, तीन मात्रा के उच्चारण में विहित काल को **प्लुत** कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि – ह्रस्व की **एकमात्रा**, दीर्घ की **दो मात्रा**, प्लुत की **तीन मात्रा** होती हैं—इस प्रकार के विवेचन से मात्रा शब्द की योग्य व्युत्पत्ति स्वतः उपपन्न हो जाती है। मात्रा शब्द स्त्रीलिंग हैं। यह शब्द 'माङ् माने' धातु से निष्पन्न है। **योग्यकालपरिमाणात् त्रायते इति मात्रा**—अर्थात् योग्य कालपरिमाण से जो रक्षा करे वह मात्रा है।

बल—स्थान एवं प्रयत्न को **बल** कहने हैं। वर्णों (स्वर, व्यञ्जन) के उच्चारण के समय ध्वनियंत्र में जिन जिन स्थानों से टकराकर वायु बाहर निकलता है, वे 'स्थान' कहलाते हैं। ये स्थान आठ हैं—

हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दंत, नासिका, ओष्ठ, तालु ।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

पा० शि० १३,

---

1. पा० शि० ५२

प्रयत्नः—ध्वनि के उच्चारण में वागवयवों के द्वारा किये जानेवाले प्रयास को **प्रयत्न** कहते हैं। ये **आभ्यन्तर, और बाह्य** के भेद से दो प्रकार के हैं।

साम—'साम' शब्द साम्य को बताता है, अर्थात् अतिद्रुत (अत्यन्त शीघ्र) और अतिविलम्बित (अत्यन्त धीमे) इत्यादि दोषों से रहित, माधुर्यादि गुणों से युक्त उच्चारण को **साम** कहते हैं।

अक्षरों के उच्चारण काल में उच्चारणकर्ता में अनेक दोष परिलक्षित होते हैं, जिनका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा में पाठक के गुण–दोषों का वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक हुआ है। पाठक के गुणों का परिगणन सार्वभौममुक्ति से किया है। इसके अनुसार पाठक के माधुर्य, अक्षरव्यक्ति (वर्णो का स्पष्ट उच्चारण), पदच्छेद (पदों का विभाजन), सुस्वर, धैर्य, लयसामर्थ्य ये ६ गुण हैं—

> **माधुर्य्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।**
> **धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥**
>
> (पा० शि० ३३)

पाठक के छः अवगुणों (दोषों) का वर्णन भी पाणिनीय शिक्षा में किया गया है—

'गीती'—गाकर पढने वाला, **'शीघ्री'** अत्यन्त शीघ्रता से पढनेवाला, **'शिरःकम्पी'**—सिर को हिलाकर पढने वाला, । **'लिखितपाठक'**—स्वयं लिखित पुस्तक से पढ़ने वाला, **'अनर्थज्ञ'** अर्थ न जानने वाला, **'अल्पकण्ठ'**—आवाज दबाकर पढ़नेवाला ये छह नीच, अधम, अवर पाठक हैं।

> **गीती :शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।**
> **अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥**
>
> पा० शि० ३२

इसके अतिरिक्त भी पाठक के अनेक दोषों का वर्णन पाणिनीय शिक्षा में हुआ है।[1]

---

१. पा० शि० ३४, ३५

संतान—संतान का अर्थ संहिता है। पदों में अत्यन्त आसत्ति (सामीप्य) ही संतान (संहिता) है। निरुक्तकार यास्क, पद की प्रकृति[1] को संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही संधि होती है—यथा 'वायो आयाहि' दो स्वतंत्र पद हैं। जब इनमें सन्धि की जायगी तब उसे 'वायवायाहि' पढ़ा जायगा। प्रातिशाख्यों में कालव्यवधान से रहित पदों के मेल को संहिता कहा हैं।

प्रातिशाख्य

'प्रातिशाख्य' शब्द का अर्थ है—प्रत्येक शाखासम्बन्धी शास्त्र। वाजसनेयि—प्रातिशाख्य के भाष्यकार ने प्रातिशाख्य का स्पष्ट निवर्चन किया है—'शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्', 'प्रतिशाखायां भवम् प्रातिशाख्यम्'। प्रातिशाख्य, वेदाङ्गशिक्षा के महत्त्वपूर्ण उदाहरण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में मुख्यतः संहिता कहने की विधि, एवं पदपाठ से संहितापाठ बनाने का विवेचन है।

वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण, पदाध्ययन, संधिनियम, और यथार्थस्वररक्षण प्रातिशाख्यों के प्रमुख विषय हैं। इस सम्बन्ध में ऋक्-प्रातिशाख्य में कहा है—गुरु, लघु, साम्य, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, लोप, आगम, विकार, प्रकृति, विक्रम, क्रम, [स्वरित, उदात्त, नीच, श्वास, एवं नाद" ये सम्पूर्ण विषय वैदिक-भाषा के अध्येता को जानना आवश्यक है—

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकारश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।
एतत्सर्वं च विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता॥

उपर्युक्त विवेचन से प्रातिशाख्य शब्द के अर्थ, प्रकृति, एवं क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। उव्वट ने उपर्युक्त विवेचन का संग्रह इस प्रकार किया है—

शिक्षा-छन्दो-व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥

---

१. पदप्रकृतिः संहिता—निरुक्त—१।१७

शिक्षा, छन्द, व्याकरण—ये वेद विषयक सामान्य नियमों के प्रकाशक हैं, परन्तु तत्तत् नियमों का नियोग प्रत्येक शाखा (संहिता) में किस प्रकार हो ? इसी का उपपादन करना प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रयोजन है। अर्थात् शिक्षा-ग्रंथ, व्याकरण-ग्रंथ और छन्दो–ग्रंथ वेद विषयक सामान्य धारणा को उपस्थित करते हैं।

यद्यपि शिक्षा, व्याकरण और छन्दो–ग्रन्थ समष्टिवाचक वेद शब्द से सम्बद्ध क्रिया–कलापों का कथन करने हैं, तथापि प्रातिशाख्य प्रत्येक शाखा (अर्थात् वेद की किसी एक शाखा) से सम्बद्ध रहकर उस शाखा का विशिष्ट एवं साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कराते हैं। अतः प्रत्येक वैदिक-शाखा में प्रचलित शब्दस्वरुप एवं पाठक्रमादि का नियमबद्ध वर्णन ही प्रातिशाख्य है।'

> जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक् पाठमजानतः।
> प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयं सम्यक् पाठस्य सिद्धये ॥
>
> शु० यजु० प्राति० उवट्भाष्योपक्रमे

प्राचीन समय में प्रत्येक शाखा का स्वतंत्र प्रातिशाख्य था, परन्तु आज केवल आठ प्रातिशाख्य ही उपलब्ध हैं—

१. ऋक्-प्रातिशाख्य, २. वाजसनेयी प्रातिशाख्य, ३. तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य ४. सामवेदीय पूष्पसूत्र प्रातिशाख्य, ५. सामवेदीय कौथुमशाखा का ऋक्तंत्र प्रातिशाख्य, ६. अथर्ववेदीय शौनककृत चतुरध्यायिका प्रातिशाख्य ७. अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र, ८. अथर्व-प्रातिशाख्य।

प्रातिशाख्य अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ है। इन ग्रंथों का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने भी किया है। शिक्षा, व्याकरण एवं छंद के अध्ययन हेतु उनके ऐतिहासिक विकास का उदाहरण प्रातिशाख्य ही हैं। जब पाश्चात्य एवं वैदेशिक अपने व्यवहार हेतु भाषा का अनुसंधान कर रहे थे, उस समय भारत में भाषागत अध्ययन अपने चरमोत्कर्ष पर था। ध्वनि के उच्चारतंत्र का सांगोपांग शास्त्रीय वर्णन बिना किसी भौतिक-साधन के प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने किया है, जो आश्चर्यकारक एवं प्रशंसनीय है।

ऋक् प्रातिशाख्य

ऋग्वेद की शाकलशाखा की शैशिरीयशाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य ऋक्-प्रातिशाख्य है। इसे परिषद्सूत्र भी कहते हैं। विष्णुमित्र ने शौनक को इस ऋक्पार्षद् का रचयिता कहा है--

शौनकं च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम्—(वर्गद्वयवृत्ति, ५२) महर्षि शौनक ने दस ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इन्हीं ग्रंथों में ऋक्प्रातिशाख्य का भी परिगणन हुआ है।[1] प्राचीनता, वैज्ञानिकता एवं सुगठित विषय-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रंथ अद्वितीय है।

ऋक् प्रातिशाख्य में तीन अध्याय, अथवा, अठारह पटल हैं। यह छन्दोबद्ध रचना है। वर्णित विषय निम्न प्रकार का हैं—**प्रथमपटल में** अक्षर संज्ञा, स्वर संज्ञा, व्यञ्जन, स्पर्शवर्ण, अन्तःस्थ ऊष्म, अघोष, ह्रस्वदीर्घादि संज्ञाओं का विधान हैं, तदनन्तर स्वरभक्ति, ह्रस्वदीर्घप्लुतस्वर के उच्चारणकाल, वर्णस्थान, प्रगृह्य, रेफिसंज्ञादिकों का विधान है। **द्वितीयपटल** में संहितास्वरुप, विकृतिस्वरुप का प्रतिपादन है। संधि की परिभाषा, अनुलोमान्वक्षर संधि, प्रतिलोमान्वक्षर संधि, प्रश्लिष्ट संधि, क्षैप्रपदवृत्ति, उदग्राह, भुग्न, आदि संधियों को लक्ष्य-लक्षण, पुरस्सर बताया है। **तृतीय पटल में** स्वरों की संख्या, एवं उनके उच्चारण प्रकार, स्वर एवं अक्षर में धर्म-धर्मिसम्बन्ध, स्वरित, जात्यस्वरित आदि को बताया है। **चतुर्थ** एवं **पंचमपटल** में विभिन्न संधियों का वर्णन हैं। **षष्ठपटल**-ध्वन्यागम पटल है, **सप्तम अष्टम, नवम—प्लुतिपटल** है। **दशम** पटल में क्रमपाठ को लक्ष्य-लक्षणपूर्वक बताया है। **एकादशपटल** में भी क्रमपाठ के सामान्य स्वरुप का वर्णन किया गया है। **द्वादशपटल** में वर्णविषयक (अपदान्तादि वर्णों) का वर्णन हैं। **त्रयोदशपटल में** वर्णनिष्पत्ति के साधन-प्रयत्नादिकों का वर्णन हैं, जिससे वर्णों का नित्यत्व स्थापित किया गया है। अनुनासिक वर्णों के उच्चारण प्रकार,

---

१. शौनकीया दश ग्रन्थास्तदा ऋग्वेदगुप्तये ।
आर्ष्यनुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा ।।
अनुवाकानुक्रमणी सूक्तानुक्रमणी तथा ।
ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद् दैवतमेव च ।।
ातिशाख्यं शौनकीयं स्मार्तं दशममुच्यते ।

ऋकार, ॠकार, लृकार के स्वरूप का वर्णन है। चतुर्दश पटल में उच्चारण दोषों का लक्ष्य-लक्षण सहित विचार है। पंचदश पटल वेदाध्ययन-पटल' है। इसमें गुरुशिष्य सम्बन्धों का वर्णन है। ओंकार-महात्म्य एवं उसके उच्चारण प्रकारादि का वर्णन अत्यन्त रोचक एवं स्पृहणीय है।

षोडश पटल से अष्टादश पटल तक छंदों का विशद वर्णन है। तीन पटलों में छंदों के परिगणन के व्यतिरिक्त छन्दों के अभिमानी देवताओं, प्रजापति, देवता, असुरों के सात छन्दों का वर्णन आदि विषय भी वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक हैं।

ऋक्-प्रातिशाख्य यह 'ग्रन्थ संज्ञा ही उसके गौरव को सूचित करती है। सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रथम अध्ययन एवं अध्ययन-सरणि को प्रस्तुत करने का गौरव इन्हीं ग्रन्थों को है। शब्द. स्वर, व्यञ्जन, उच्चारण-स्थान आदि का विशद एवं सारयुक्त अध्ययन जो प्रातिशाख्यों में है, वह स्वयं ही इस प्रसिद्धि को सिद्ध कर रहा है, कि भारत में हजारों वर्ष पूर्व ही भाषाशास्त्र पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। केवल आध्यात्मिक साधनों से ही हमारे महर्षियों ने इतना सूक्ष्मअध्ययन प्रस्तुत किया है, जो आज भौतिकयुग में असम्भव है। वर्णनिष्पत्ति जैसे गंभीर विषय का सामान्यवर्णन अत्यन्त सारगर्भित एवं युक्ति-युक्त किया गया है।

प्रयोक्तुरीहागुणसंनिपाते वर्णीभवन्गुणविशेषयोगात् ।
एकः श्रुतीः कर्मणाप्नोति बह्वीः ॥
ऋक् प्रा० (१३।१३)

अर्थात् कण्ठवायु एव वक्ता की चेष्टा ही वर्णोत्पत्ति का कारण है। वक्ता की चेष्टा होने पर एक ही कण्ठ-वायु, विशेषगुणों (बाह्यप्रयत्न, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, परिमाण) के योग से अनेक वर्णों को धारण करता है। यह इतना स्पष्ट लक्षण है जो विषय की गंभीरता को स्पष्ट कर रहा है।

ऋक् प्रातिशाख्य पर 'उव्वट' का भाष्य प्राचीनतम है। उव्वट ने शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य भी किया है। विष्णुमित्र की वृत्ति भी इस प्रातिशाख्य पर है, जो केवल प्रारम्भ के दो वर्गों तक ही मुद्रित है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य दो खण्डों अथवा प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में १२ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ २४ अध्यायों में विभक्त है। विषयों का प्रतिपादन सुव्यवस्थित एवं गम्भीर है। विषय विवेचन की दृष्टि से प्रथम प्रश्न में वर्णसमाम्नाय, शब्दस्थान एवं उत्पत्ति–प्रकार, स्वर एवं विसर्ग संधियाँ, आदि विषयों का विवेचन हुआ है। द्वितीय प्रश्न में संहिता का स्वरूप, णत्व, षत्व, अनुस्वार-अनुनासिक एवं उदात्तादिस्वरों का विवेचन किया गया हैं। प्रकृत प्रातिशाख्य का 'वाणी' विषयक विवेचन अतीव सुन्दर एवं मनोग्राही है।

इस प्रतिशाख्य पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—**माहिषेय कृत 'पदक्रम सदन'** व्याख्या प्राचीनतम है। द्वितीय व्याख्या सोमआर्य की **'त्रिभाष्य रत्न'** है, जो 'पदक्रम–सदन' से अर्वाचीन है। तृतीय व्याख्या गोपाल यज्वा-विरचित **'वैदिकाभरण'** है—जो उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं से नवीन है। ये तीनों ही व्याख्याएँ व्याकरण शास्त्र के मार्मिक–गूढ स्थलों को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं। प्रत्येक व्याख्याकार ने अपने समकालीन एवं प्राचीन ऋषियों का भी उल्लेख किया है, जो व्याकरण विषयक तथ्यों के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य

शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिशाखा से सम्बद्ध प्रतिशाख्य वाजसनेयि-प्रातिशाख्य है। इसकी रचना महर्षिशौनक के द्वारा हुई है। इस प्राति-शाख्य के आठ (८) अध्याय हैं। सम्पूर्ण ग्रंथ में सूत्र संख्या ७१६ है। इसमें स्वरवर्ण–संस्कार, तद्विषयक विविध संज्ञा, परिभाषा, पदसंस्कार, क्रमलक्षण, प्रयोजनादि, तत्सम्बन्धी विविध संधि, वेद पठन विधि, स्वर–वर्ण-देवता आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का गम्भीर विवेचन किया गया है। इस प्रातिशाख्य में प्रसंगानुसार तत्तत्स्थानों पर पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख करके उनके मतों का परिचय दिया गया है।

पाणिनि का व्याकरण, वाजसनेयिप्रातिशाख्य से अत्यंत उपकृत है। कुछ सूत्रों को पाणिनि ने उसी स्वरूप में ग्रहण भी किया है। इस प्रातिशाख्य पर उव्वट की **मातृमोद** नामक व्याख्या प्राचीनतम है। दूसरी व्याख्या **'पदार्थ-प्रकाश', नागदेवात्मज अनन्त भट्ट** की है। तृतीयव्याख्या **'दीपिका'**

सदाशिव अग्निहोत्रिसुत रामअग्निहोत्री की है। चतुर्थ व्याख्या 'प्रातिशाख्य–'प्रदीप शिक्षा'—काशीस्थ बालकृष्ण पाठक गोडशे की है। अन्य और भी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं।

सामवेदीय प्रातिशाख्य

सामवेद प्रक्रिया को स्पष्ट करने हेतु अनेक प्रातिशाख्यों की रचना हुई है, कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं। उनमें मुख्य तीन हैं—ऋक्तंत्र, पुष्पसूत्र और सामतंत्र।

ऋक्तन्त्र

सामवेद की कौथुमी शाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य 'ऋक् तंत्र' है। इस ग्रंथ के प्रातिशाख्य होने का संकेत, ग्रंथ की पुष्पिका में निर्दिष्ट 'ऋक्तंत्र-व्याकरण' से प्राप्त होता है।

इस ग्रंथ के प्रणेता 'आचार्य शाकटायन' हैं। स्पष्ट रुप से कहा जाय तो पाणिनि एवं यास्काचार्य के ग्रंथों में संकेतित 'शाकटायन' ही इस ग्रंथ के रचयिता हैं। इस ग्रंथ में पाँच प्रपाठक हैं, जिनका विषय २८० सूत्रों में विभक्त हैं। विषयविवेचन की दृष्टि से गंभीर विवेचन किया गया है। जिसमें प्रथमतः अक्षर के उदय तथा प्रकार बता कर, व्याकरण में प्रचलित अनेक प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों का निर्देश किया गया है। इस ग्रंथ के अनेक विषय, अध्ययनार्थ अत्यधिक उपादेय हैं—जैसे, वर्णोच्चारणस्थान, संधि, पदान्तर, अक्षरों के नाना परिवर्तन, आदि।

यह ग्रंथ अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक है। अष्टाध्यायी ग्रंथ पर इस ग्रंथ के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यास्काचार्य ने भी अपने ग्रंथ निरुक्त में इनके मतों को ससम्मान उद्धृत किया है।

पुष्प सूत्र

सामवेद का अन्य प्रातिशाख्य 'पुष्पसूत्र' है, जिसकी रचना 'गोभिल ऋषि' ने की है।[1] कुछ विद्वान् ग्रंथ के नामानुसार इसका रचयिता पुष्प-ऋषि को निश्चित करते हैं।[2] हरदत्तरचित 'सामवेदीय सर्वानुक्रमणी' के अनुसार पुष्पसूत्र का रचयिता सूत्रकार 'वररुचि' है। अतः इस ग्रंथ के रचयिता के विषय में निश्चित रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

१. भा० सं० कोष ५–६४०,

२. वैदिक सा० सं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ २८३
—वैदिकसाहित्य–रामगोविन्द त्रिवेदी—पृ० २३८

इसमें दश (१०) प्रपाठक हैं। प्रथम चार प्रपाठकों में अनेक प्रकार के पारिभाषिक शब्द आये हैं—परन्तु इन प्रपाठकों पर किसी की भी टीका न होने से उन शब्दों का अर्थ लगाना असम्भव हो गया है।

सामप्रतिशाख्य का सम्बन्ध गान संहिता से है। उस कारण इस ग्रंथ में स्तोभ, स्तोभविधान, आदि का विवरण विशेषरूप से हुआ है। ऋग्वेद मंत्रों की साम वेद में परिणति कैसे हुई--इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रथम चार प्रपाठकों पर किसी का भाष्य नहीं हैं--पांचवें प्रपाठक से 'अजात शत्रु' का भाष्य है।

सामतंत्र

सामवेद का हो एक अन्य प्रातिशाख्य 'सामतंत्र' है। इसमें १३ प्रपाठक हैं। जिसमें सामगायनविधि, उसके संकेत और पद्धति, का वर्णन है। कुछ विद्वानों ने इस ग्रंथ का नाम 'सामलक्षणं-प्रातिशाख्यम्' दिया है जो उचित ही प्रतीत होता है। इसका लेखक महर्षि 'औदव्रजि' को समझा जाता है।

अथर्ववेदीय प्रतिशाख्य

अथर्व वेद के तीन प्रातिशाख्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। जिनके सम्यक् अध्ययन से अथर्ववेद की प्रकृति का अनुमान सहजगत्या हो जाता है। प्रथम ग्रंथ 'शौनकीया चतुरध्यायिका' है। जिसे डॉ० ह्विटनी' ने सानुवाद एवं सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस प्रातिशाख्य में चार अध्याय हैं।

द्वितीय ग्रथ 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र' है। जिसका सम्पादन 'पं० विश्वबन्धुशास्त्री' ने किया है, और प्रकाशन पंजाब-विश्वविद्यालय की ग्रंथमाला के अन्तर्गत हुआ है। यह ग्रंथ शब्द-विस्तर की दृष्टि से लघु है तथापि अनेक मार्मिक विषयों का स्पष्टी करण इस ग्रंथ से होता है।

तृतीय ग्रंथ 'अथर्व प्रातिशाख्य' है, जिसका लाहोर से डॉ० सूर्यकान्त-शास्त्री' ने भूमिका एवं टिप्पणी के साथ प्रकाशन किया है। इस ग्रन्थ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। कुछ विद्वान् इसे 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र' का ही बृहत् पाठ मानते हैं।

शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रंथों के विषयों का सम्बन्ध अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। प्रातिशाख्य ग्रंथों के आधार पर शिक्षाग्रंथों का निर्माण हुआ अथवा

शिक्षा ग्रंथों के आधार पर प्रातिशाख्य ग्रंथों का निर्माण हुआ, यह कहना कठिन है। क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में परा, अपरा विद्या के वर्णन के समय वेदाङ्गों की अपरा विद्या में गणना की है जिससे ऐसा लगता है कि शिक्षा ग्रंथों के आधार पर ही प्रातिशाख्य ग्रंथों का निर्माण हुआ है। दुर्दैव से आज प्राचीनतम शिक्षाकारों की शिक्षाएँ उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं; उनका वर्गीकरण प्रत्येक वेद के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में कर रहे हैं।

यजुर्वेदीय-शिक्षा ग्रंथ

ग्रन्थनाम	लेखक
१. याज्ञवल्क्य शिक्षा	याज्ञवल्क्य
२. वाशिष्ठी शिक्षा	वशिष्ठ
३. कात्यायनी शिक्षा	कात्यायन
४. पाराशरी शिक्षा	पराशर
५. माण्डव्य शिक्षा	माण्डव्य
६. अमोघानन्दिनी शिक्षा	अमोघानन्द
७. लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा	लघ्वमोघानन्द
८. अमरेशी शिक्षा	अमरेश
९. केशवी गद्यात्मिका	केशवदैवज्ञ
१०. केशवी पद्यात्मिका	केशवदैवज्ञ
११. मल्लशर्मशिक्षा	मल्लशर्मा
१२. स्वरांकुशशिक्षा	जयन्तस्वामी
१३. अवसान निर्णय शिक्षा	अनन्तदेव
१४. स्वरभक्ति निर्णय शिक्षा	कात्यायन
१५. क्रमसंधान शिक्षा	कात्यायन
१६. गलदृक् शिक्षा	कात्यायन
१७. मनः स्वार शिक्षा	याज्ञवल्क्य
१८. प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा	बालकृष्ण
१९. वेदपरिभाषा सूत्र शिक्षा	रामचन्द्र
२०. वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा	रामचन्द्र
२१. यजुर्विधान शिक्षा	रामचन्द्र
२२. स्वराष्टक शिक्षा	रामचन्द्र
२३. क्रमकारिका शिक्षा	रामचन्द्र
२४. माध्यन्दिनीय शिक्षा	माध्यन्दिन
२५. लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षा	माध्यन्दिन

सामवेदीय शिक्षा ग्रंथ

ग्रंथनाम	लेखक
१. गौतमी शिक्षा	गौतम
२. लोमशी शिक्षा	लोमश
३. नारदीय शिक्षा	नारद

अथर्ववेदीय शिक्षाग्रन्थ

ग्रन्थ नाम	लेखक
१. माण्डूकी शिक्षा	मण्डूक

सर्ववेदविषयिणी शिक्षा ग्रन्थ

१. षोडशश्लोकी शिक्षा	रामचन्द्र
२. पाणिनीय शिक्षा	पाणिनि
३. शिक्षा प्रकाश	पिंगलभाष्यकार

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा ग्रंथ

१. व्यास शिक्षा	व्यास

प्राप्त शिक्षाग्रन्थों का बहुत विशाल भण्डार हैं। इन ग्रंथों के प्रतिपाद्य विषय का अवलोकन कर पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि प्राचीन समय में भी भारत, भाषाक्षेत्र में अत्यन्त समृद्ध था।



कल्पसूत्र

वेदाङ्ग गणना में द्वितीयस्थानीय 'कल्प' हैं। 'कल्पसूत्र ग्रंथ' का तात्पर्य है 'प्रयोगविधि के यथार्थ प्रतिपादक ग्रन्थ। ये अत्यन्त संक्षिप्त होते हैं। सूत्र का अर्थ शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है—

> अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
> अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

अर्थात् न्यून अक्षर, संदेहरहित, सारवत्तर, सर्वविषयों के स्पष्टी करण से युक्त, विस्तररहित, निर्दोष वाक्य को सूत्र कहते हैं।

'कल्पसूत्र'—ग्रन्थ का भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक प्रकार से व्यवहार हुआ है, कहीं पर केवल सूत्र ग्रन्थ से व्यवहार होता है तो कहीं 'कल्पसूत्र' शब्द से व्यवहार होता है। कुमारिलभट्टपाद के व्याख्या ग्रन्थ

तंत्रवार्तिक के कल्पसूत्राधिकरण से इस विषय को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। यथा—

जिनसे सिद्ध प्रयोग का ज्ञान हो 'कल्प' हैं, और जो लक्षण प्रदर्शक हैं वे 'सूत्र' हैं। सिद्ध प्रयोगों के बोधक होने के कारण' 'कल्प', अनुष्ठान के साधन होते हैं। सूत्रों में प्रयोगों की सूचना होती हैं, एवं उनमें (कल्पों) में प्रयोगों की कल्पना करनी होती है। कल्प 'पठितसिद्ध' हैं, अर्थात् उनके द्वारा जैसे पठित हुए हैं, वैसे ही प्रयोग का अनुष्ठान प्रत्येक यज्ञ में आवश्यक होता है।[1] जैमिनि आचार्य ने सूत्रों को 'प्रयोगशास्त्र' कहा है।[2] क्योंकि ब्राह्मणों से आये हुए उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि प्रयोगविधि एवं उनके वाक्यशेष आदि में केवल प्रयोगविधि का ही सुसंगत, सुगठित विवरण सूत्रों में हुआ है। प्रयोग विधि की व्युत्पत्ति उपर्युक्त अर्थ को लक्ष्य करके इस प्रकार करनी चाहिये—'विधीयते इति विधिः प्रयोगाणां विधिः प्रयोगविधिः, प्रकृष्टा युक्तिः योजनं योगः प्रयोगः। प्रयोगशास्त्र परक अर्थ, उपर्युक्त व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो ही जाता है। वासुदेवअध्वरी ने अध्वर-मीमांसाकुतूहलवृत्ति' में कल्पसूत्रों का 'प्रयोगशास्त्र' कहकर ही स्पष्ट निर्देश किया है—

"प्रयोगस्य क्रत्वनुष्ठानस्य बोधकं शास्त्रं प्रयोगशास्त्रं बौधायन आपस्तंबादिकल्पसूत्रजालम्"। (१।३।१०)

उसी प्रकार 'अथैतस्य समाम्नायस्य विताने योगापत्तिं वक्ष्यामः[3] इत्यादि आश्वलायन श्रौतसूत्र के भाष्य में 'नारायण' ने भी कल्पसूत्र का अर्थ 'प्रयोगशास्त्र' ही किया है—"यानि प्रत्याम्नाय प्रयोगशास्त्राणि स्मर्यंते" इत्यादि स्पष्ट निर्देश किया है।

कल्पसूत्रों की प्राचीनता पर शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अन्य-वाङ्मयों में इन ग्रंथों के यथेष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं।

---

१. सिद्धरूपः प्रयोगो यैः कर्मणामनुगम्यते।
ते कल्पा लक्षणार्थानि सूत्राणीतिप्रचक्षते॥
कल्पनाद्धि प्रयोगाणां कल्पोऽनुष्ठानसाधनम्।
सूत्रं तु सूचनात्तेषां स्वयं कल्प्य-प्रयोगकम्॥
कल्पाः पठितसिद्धा हि प्रयोगाणां प्रतिक्रतु।
१।३।११। पृ० २२९ (तंत्रवार्तिक)

२. 'प्रयोगशास्त्रमिति चेन्नासन्नियमात् (जै० सू० १।३।१०)

३. आश्वलायन श्रौतसूत्र (१।१।१)

कल्पसूत्र के तीन प्रकार

कल्पसूत्रों की रचना सूत्रकारों ने तीन प्रकार से की है। १-श्रौतसूत्र, २—गृह्यसूत्र ३—धर्मसूत्र। 'शुल्व सूत्र' नामक चतुर्थ प्रकार आजकल प्रचलित है, जिसके स्वतंत्र अस्तित्व में प्रमाण नहीं है। शुल्व सूत्र, श्रौत-सूत्र के ही परिशिष्ट हैं। 'परिशिष्ट' का अर्थ 'अवशिष्ट' होता है।

मंत्र एवं ब्राह्मण द्वारा कथित, गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, इन अग्नियों द्वारा साध्य होने वाले कर्मसमुदायों के अनुष्ठानक्रम को प्रदर्शित करनेवाले ग्रंथ को 'श्रौतसूत्र' कहा जाता है। जातकर्मादि षोडश संस्कार एवं आवसथ्याधान, पाकसंस्था, आदि एकाग्निसाध्य कर्मों के अनुष्ठन क्रम का कथन करने वाले कल्पसूत्र को 'गृह्यसूत्र' कहते हैं। और साधारण वर्णाश्रम बोधक कल्पसूत्र को 'धर्मसूत्र' कहा जाता है।

तीनों प्रकार के सूत्रों की रचना कुछ शाखाओं में एक ही ऋषि ने की है। कहीं कहीं भिन्न भिन्न ऋषियों ने भी की है।

श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्रों का मुख्य विषय श्रुतिप्रतिपादित यज्ञों का प्रतिपादन करना है। श्रौतयज्ञों में हविर्यज्ञ, सोमयाग, पशुयाग, सत्र इत्यादि अनेक प्रकार हैं, इनसे, सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन इन ग्रंथों में प्राप्त होता है। विषय प्रतिपादन—शैली, प्रौढ एवं गम्भीर है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से उस काल की धार्मिक परिस्थिति का अनुमान सहज ही हो जाता है।

ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—१—आश्वलायन २—शांखायन। आश्व-लायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन महर्षि का है, और शांखायन श्रौतसूत्र, शांखायन महर्षि की कृति है। जिनमें १—पुरोऽनुवाक्या, २—याज्या, ३—तत्तत् शस्त्रों के अनुष्ठान प्रकार, उनके देश, काल, कर्त्ता का विधान ४—स्वरप्रतिगर ५—न्यूङ्ख, प्रायश्चित आदि का प्राधान्यतः विवेचन किया गया है।

१—आश्वलायन श्रौतसूत्र

ऋग्वेद की 'शाकल' एवं 'बाष्कल' शाखा का यही एक श्रौतसूत्र है। इस सूत्र में द्वादश अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परिभाषा, दर्शपूर्णमासेष्टि का

---

१. आश्वलायन श्रौतसूत्र १।१।१.

वर्णन है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में क्रमशः अग्न्याधान, अग्निहोत्र-होम, उपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ आग्रयण, पशु, पशुयाज्यापुरोऽनुवाक्या, निरूढ पशु, सौत्रामणी, प्रायश्चितादि का विवेचन हैं। चतुर्थ पंचम में अग्नि-ष्टोमयाग एवं षष्ठाध्याय में उक्थ्य, षोडशी, सोमप्रायश्चित्त अवभृथादि का वर्णन है। सप्तम एवं अष्टमाध्याय में सूत्रधर्म, न्यूङ्ख, शस्त्र, प्रतिगर आदि का मार्मिक विश्लेषण किया गया है। नवम एवं दशमाध्याय में राजसूय, वाजपेय, अहीन, द्वादशाह, अश्वमेधादि का वर्णन है। एकादशा-ध्याय में रात्रिसत्र, गवामयन, सारस्वतसत्र, प्रवरादि का वर्णन हैं।

इस श्रौतसूत्र में याज्ञिक कर्मों के विषय में अनेक नियमों का कथन किया गया है। यथा—

१—आहिताग्नि पुरुष ही यज्ञ का अधिकारी होता है।

२—विहारभूमि की प्रदक्षिणा करना 'होता' का प्रमुख कर्त्तव्य है।

३—सम्पूर्ण अनुष्ठान समंत्रक किये जाते हैं।

४—अध्वर्यु के द्वारा प्रैष मिलने के उपरान्त ही 'होता' मंत्र का उच्चार करता है।

इत्यादि अनेक वैज्ञानिक नियमों के दर्शन होते हैं, जो संस्कृतिदृष्टया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इस सूत्र पर अनेक भाष्य: लिखे गये हैं, जिनमें मुख्यरूप से, देवस्वामी, नारायणगार्ग्य, त्र्यम्बकभट्ट, रुद्रदत्तभट्ट, लक्ष्मीधर, षड्गुरुशिष्य महादेवसिद्धान्ती के भाष्य हैं। जिनमें गार्ग्यनारायणीयवृत्ति एवं सिद्धान्ती भाष्य प्रकाशित हो गये हैं।[1]

शांखायन श्रौतसूत्र

शांखायन ब्राह्मण से सम्बद्ध शांखायन श्रौतसूत्र, विषय एवं शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस श्रौतसूत्र में १८ अध्याय हैं—प्रथम द्वितीय अध्याय में परिभाषा, दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, उपस्थापन, अग्निसमारोपादि का विधान है। तृतीय, चतुर्थ अध्याय में वैमृधेष्टि, अभ्युदितेष्टि, प्रायश्चितेष्टि, दाक्षायणयाग, वसिष्ठयाग, पिण्डपितृयज्ञ, मृत-काग्निहोत्रादि का विवेचन किया गया है। पंचम से नवमअध्याय तक अग्निष्टोम-याग का वर्णन है। नवम अध्याय में 'चयन', एवं दशमाध्याय'

१—'न्यू कैटलागस कैटलोगोरम्'—डॉ० वी० राघवन, मद्रास विश्व-विद्यालय, भाग १–५, १९६६–१९६७

में द्वादशाह का स्पष्टीकरण है। एकादश एवं द्वादशाध्याय में चतुर्विंशादि अहीन हौत्र का विधान है। त्रयोदश एवं चतुर्दशाध्याय में पाशुकचातुर्मास्य, सौत्रामणी, गवामयन, सौमिकप्रायश्चित आदि का सुन्दर विवेचन है। पंचदश एवं षोडशाध्याय में वाजपेय, आप्तोर्याम, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, अहीन यागों का प्रतिपादन किया गया है। अन्तिम अध्यायों में महाव्रत, महाव्रतीय कर्म, गवामयनशेष, सारस्वत-सत्रादि का रोचक विवेचन किया गया है। इस श्रौतसूत्र पर 'आनर्तीय भाष्य' है।

यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र

शुक्लयजुर्वेद का एकमेव 'कात्यायन श्रौतसूत्र' ही उपलब्ध होता है। इसके कर्ता 'कात्यायन' हैं। प्रत्यक्षश्रुति के आधार पर रचित होने के कारण इसे 'श्रौतकल्प' कहा जाता है। कात्यायनाचार्य ने मंत्रभ्रांतिहर सूत्र में 'प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वाच्छ्रौतकल्प इति स्मृत:', यही संकेत दिया है।

कात्यायन श्रौतसूत्र में २६ अध्याय हैं। जो कण्डिकाओं में विभक्त हैं। अध्याय, कण्डिका, एवं सूत्रों की गणना अधोलिखित है—

अध्याय २६
कण्डिका २२०
सूत्र ६११७

सूत्रों में विषयानुक्रम, अध्यायक्रम से इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय में वक्ष्यमाण पदार्थों को सुबोध कराने के लिए विविध परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है। **द्वितीय एवं तृतीयाध्याय** में दर्श-पूर्णमास का सांगोपांग वर्णन किया गया है। **चतुर्थाध्याय** में पिण्डपितृयज्ञ, दर्शशेष, वत्सापाकरणादिपदार्थ, दाक्षायणयज्ञ, आग्रयणेष्टि, अग्न्याधान, पुनराधान अग्निहोत्रादि का वर्णन है। **पंचम एवं षष्ठाध्याय** में चातुर्मास्ययाग, मित्रविन्देष्टि, प्रतिवार्षिक निरुढ पशुबन्धयागादि का विधान है। **सप्तम से एकादशाध्याय** तक सांगोपांग सोमयाग का वर्णन है। **द्वादश एवं त्रयोदशाध्याय में** द्वादशस्तुत्यात्मक द्वादशाहयाग एवं गवामयन-सत्र का वणन है। **चतुर्दश एवं पञ्चदशाध्याय** में वाजपेय एवं राजसूय यागों का विवेचन है। **षोडश से अष्टादशाध्याय** में महाग्निचयन याग का वर्णन है। **एकोनविंश एवं विंशाध्याय** में सौत्रामणीयाग एवं अश्वमेधयाग

का विचार है। एकत्रिंश एवं द्वात्रिंशाध्याय में पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृ-मेध, एवं एकाहयाग का सांगोपांग विवेचन किया गया है। त्रयोविंश एवं चतुर्विंशाध्याय में क्रमशः द्विरात्रप्रभृति एकादशरात्रपर्यंत अहीनसंज्ञक याग एवं अनेक प्रकार के सत्रों का विधान है। पंचविंश एवं षडविंशाध्याय में अनेक प्रकार के प्रायश्चित, मृतकाग्निहोत्र कर्म एवं प्रवर्ग्य का वर्णन है।

शुक्लयजुर्वेदीय १५ शाखाओं पर कात्यानन ने सूत्र ग्रंथों की रचना की थी। तथापि कण्व एवं माध्यन्दिन शाखा को ही महत्त्व दिया गया। कर्काचार्य का भाष्य भी उपर्युक्त तथ्य को ही स्पष्ट करता है—

'स्मरन्ति हि पंचदशशाखोपनिबंधनं कृतमाचार्येणेति तस्मान्नास्ति प्रत्यक्ष-कृतो विशेषः। उच्यते। शाखाद्वयमधिकृत्य तात्पर्येणानुप्रवृत्त आचार्यः।

(का० श्रौ० सूत्र २।१।३)

कात्यायनाचार्य ने सूत्रों के प्रणयन के समय कर्मों का अथवा मन्त्रों का जो उपसंहार किया है वह शुक्लयजुर्वेदीय पंचदश शाखाओं से ही किया है। जिसका संकेत कात्यायन ने मन्त्रभ्रान्तिहरसूत्र में 'आम्नातः सर्वशाखासु यो मन्त्रः कर्मकारकः। प्रतीकमुक्तं तस्यैवानाम्नाते सर्व ईरितः' से दिया है। अर्थात् जो मन्त्र समस्त (पंचदश) शाखाओं में समान पठित हैं— वे प्रतीक रुप में कथित हैं, एवं जो मंत्र, किसी विशेष-शाखा के हैं, उन्हें सम्पूर्ण पढा गया है।

इस सूत्र पर अनेक भाष्यग्रंथों की रचना हुई है। डा० वी० राघवन् कृत 'न्यूकैटलाग्स' से गंगाधर, गदाधर, भर्तृयज्ञ, पद्मनाभ, वासुदेव, श्रीधर, भास्करमिश्र आदि के भी भाष्य होने की सूचना मिलती है।[1]

अनन्तदेव के ग्रंथ में अनेक भाष्यकारों के संकेत हैं—

मुनिं कात्यायनं कर्कं पितृभूतिं तथादिमान्।
यशोगोपिं भर्तृयज्ञं तथा भाष्यकृतोऽपरान्॥
पद्धत्यादिप्रणेतॄंश्च जनकं वेददान् गुरून्[2]।

किन्तु साम्प्रत प्रकाशित दो भाष्य और एक वृत्ति ही प्राप्त होते हैं—

---

१. न्यू० कै० कै० पृ० ३२५-३२८.

२. तै० सं० भा० पृ० ११७

१—उपाध्यायकर्ककृत 'कर्कभाष्य', २—याज्ञिकदेव भाष्य ३—महामहोपाध्याय विद्याधरशर्मा 'सरलावृत्ति'। समस्तभाष्यों में कर्काचार्य का भाष्य विशिष्ट प्रतिपादन शैली से मूर्धन्य स्थान पर है।

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेद के ९ श्रौतसूत्र प्राप्त होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१—बोधायन, २—भारद्वाज, ३—आपस्तम्ब ४—सत्याषाढ, ५—वैखानस, ६—वाधूल, ७—मानव, ८—वाराह ९—काठक श्रौतसूत्र।

१. बौधायन श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के 'बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, वैखानस, वाधूल नामक छः (६) श्रौतसूत्र हैं। प्राचीनता, प्रधानता एव प्रामाणिकता की दृष्टि से बौधायन श्रौतसूत्र को ही माना जाता है। इसके महत्त्व के संकेत अन्यत्र वाङ्मय में भी प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र ने 'प्रणम्य शिरसाचार्यान् बोधायनपुरःसरान्'[1] कहकर बोधायन के प्रामाण्य को स्वीकार किया है। सायणाचार्य ने भी अपने वेदार्थप्रकाश संज्ञक तैत्तिरीय श्रौतसूत्र का प्राथम्य स्वीकार किया है—"अथो बौधायनादिसूत्रोदाहरणपूर्वकं ब्राह्मणानुसारेण सूत्रार्थं योजयामः"।

श्रौतसूत्रों की भाषा के आधार पर भी 'बौधायन' प्राचीनतम हैं। क्योंकि 'बौधायन' की भाषा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के समान है।

बौधायन श्रौतसूत्र में तीस (३०) प्रश्न हैं। प्रश्नों में विषयक्रम अधोलिखित के अनुसार है—

प्रथम प्रश्न में दर्शपूर्णमास का सांगोपांग वर्णन है। **द्वितीय एवं तृतीय प्रश्न** में उपव्याहरण, देवयाचन, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, ब्रह्मत्व एवं हौत्र का विवेचन है। **चतुर्थ एवं पंचम प्रश्न** में पशुबन्ध, चातुर्मास्य, महापितृयज्ञ, त्र्यम्बकहोम, आदि का विवरण है। **षष्ठ, सप्तम, एवं अष्टम प्रश्न** में प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीय-सवन, और यज्ञपुच्छ, का विधान है। **नवम एवं दशम प्रश्न** में प्रवर्ग्य, प्रवर्ग्य-प्रायश्चित्त, अवान्तरदीक्षा, अग्निचयन

---

१. तै. सं० भा० पृ० ४

का विचार है। एकादश एवं द्वादश प्रश्न में वाजपेय, राजसूय, का वर्णन है। त्रयोदश एवं चतुर्दश प्रश्न में इष्टिकल्प, औपानुवाक्य, अजावशायाग, जयहोम, राष्ट्रभृद्धोम, का विवेचन किया गया है। पंचदश एवं षोडश प्रश्न में अश्वमेध, द्वादशाह, एवं सप्तदश प्रश्न में अतिरात्र का विचार हुआ है। अष्टादश एवं एकोनविंश प्रश्न में वृहस्पतिसवादि का वर्णन है। त्रिंश प्रश्न से त्रयोविंश प्रश्न के भाग को द्वैधसूत्र कहते हैं—जिनमें शालीकि, औपमन्यव, कात्य, आजीगंवि, गौतम, मैत्रेय, मौद्गल्य आदि आचार्यों की यज्ञप्रक्रिया से सम्बद्ध मतों का संकलन किया गया है। चतुर्विंश पंचविंश, षड्विंश प्रश्नों में कर्मान्त सूत्र हैं—जिनमें दर्शपूर्णमासादि अनुष्ठीयमान कर्मों के रहस्य, उनका महत्त्व, और परिभाषा, आदि का विचार है। सप्तविंश से एकोनत्रिंश प्रश्नों में प्रायश्चितों का विधान है। त्रिंश प्रश्न में शुल्वसूत्र का संकलन है।

बौधायन-श्रौतसूत्र पर अनेक भाष्य, वृत्तियों के संकेत प्राप्त होते हैं। सायण-भाष्य के सहित बौधायन-श्रौतसूत्र के दर्शपूर्णमासान्त भाग का सम्पादन डा० रूपनारायण पाण्डेय महोदय ने किया है। तथापि अनेक भाष्यकारों के भाष्य और वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१—भवस्वामी—बौधायन-श्रौतसूत्र पर 'भवस्वामी' का विवरण स्पष्ट है। क्योंकि केशवस्वामी ने 'भवस्वामी' के मतानुसार 'बौधायन-प्रयोगसार' का प्रणयन किया था।[1]

२—देवस्वामी—आश्वलायन श्रौतसूत्रकार देवस्वामी ने बौधायन-श्रौतसूत्र भाष्य की भी रचना की थी। इस भाष्यकार का संकेत आश्वलायन-वृत्तिकार, नारायणगार्ग्य,[2] माधवाचार्य, पुरुषोत्तम ने किया है।[3]

३—महादेव वाजपेयी—बौधायन-श्रौतसूत्र पर श्रौतचन्द्रिका 'सुबोधिनी' व्याख्या की रचना की है।[4]

---

१. भ० वे० इ० २ पृ० २१६-२२५

२. आ० श्रौ० गा० पृ०—१

आश्वलायनसूत्रस्य भाष्यं भगवता कृतम्।
देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं तदनाकुलम्॥

३. कै० कै० २ पृ० २६०,

४. श्रौ० को० प्रास्ताविकम्-पृ० १३

२ भारद्वाज श्रौतसूत्र

भारद्वाज–श्रौतसूत्र तैत्तिरीयशाखा के अनुसार है। इसके रचयिता ऋषि भारद्वाज हैं। हिरण्यकेशी सूत्र के टीकाकार ने अपनी प्रस्तावना में छः सूत्रों का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार बौधायन सूत्र के पश्चात् भारद्वाज श्रौतसूत्र है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र बौधायन श्रौतसूत्र की अपेक्षा अर्वाचीन है। यह श्रौतसूत्र पंचदश प्रश्नों में विभक्त है, जिनमें क्रमानुसार इन विषयों का विवेचन किया गया है—१. दर्शपूर्णमास, २. अग्न्याधान ३. अग्निहोत्र ४. आग्रयण, ५. निरुढपशुबन्ध ६ चातुर्मास्य (वैश्वदेवपर्व वरुणप्रघासपर्व, साकमेधपर्व, शुनासीरीयपर्व, काम्य, चातुर्मास्य, पंचसांवत्सर) ७. पूर्वप्रायश्चित्त, ८. ज्योतिष्टोम। (प्रातः-सवन, माध्यन्दिन-सवन, तृतीय सवन, यज्ञपुच्छ) ज्योत्तिष्टोम, ब्रह्मत्वादि।

इस श्रौतसूत्र के भाष्यग्रन्थों के संकेत भी स्पष्टरुप में प्राप्त होते हैं। भास्कर–भट्ट के पुत्र हरिहर ने अन्त्येष्टि पद्धत्ति के प्रारम्भ में भारद्वाज-श्रौतसूत्र के भाष्य को उद्धृत किया है।[1] सूची ग्रंथों के द्वारा भी भट्टगोपाल आदि के भाष्यों के संकेत प्राप्त होते हैं।[2] इस श्रौतसूत्र का रचनाकाल ६०० ई० पू० समझा जाता है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र भी तैत्तिरीयशाखा का अनुवर्तन करता है। सत्याषाढ श्रौतसूत्र के वैजयन्ती टीकाकार महादेव ने भारद्वाज के अनन्तर आपस्तम्ब का उल्लेख किया है।[3] तैत्तिरीय संहीता के भाष्यकार सायणाचार्य ने बौधायन–श्रौतसूत्र के साथ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का भी उल्लेख किया है।

---

१. भा० श्रौ. I प्रास्तविक पृ० २५

२. 'भरद्वाज कृतं सूत्रं तद्भाष्यं कल्पकारिकाः।
सुविलोक्येनाहिताग्निः समन्त्रं पैतृमेधिकम् ॥
भा० श्रौ० I प्रास्ताविक पृ० २१

३. स० श्रौ० पृ० १ 'तथा भरद्वाजमुनीश्वरस्तथापस्तम्ब
आचार्यं इदं परं स्फुटम्

यह श्रौतसूत्र २४ प्रश्नों में विभक्त है, जिसका विषय-विभाग गम्भीर एवं विस्तृत है, जिनमें—दर्शपूर्णमास, वैमृधेष्टि, दाक्षायणयज्ञ, याजमान, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, निरुढपशुबन्ध, चातुर्मास्य, प्रायश्चित, सोमयाग, सोमसंस्था, प्रवर्ग्य, चयन, वाजपेय. राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, द्वादशाह, एकाह, सत्र. यज्ञपरिभाषा आदि का विवेचन किया गया है।

सम्प्रति आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र की भाष्यपरम्परा जीवित है। श्रीरामाग्निचिद्-वृत्तिसहित धूर्तस्वामी-भाष्य के साथ आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र मैसूर से प्रकाशित हुआ है। धूर्तस्वामी भाष्य का प्रकाशन महामहोपाध्याय श्री चिन्नस्वामी ने भी किया है। धूर्तस्वामी का भाष्य आपस्तम्ब सूत्र पर केवल 'अग्निचयन' तक ही है। 'वाजपेय' का भाष्य कपर्दिस्वामी' का है, जिसका संकेत प्रयोगदीपिकाकार ने दिया है।[1] हस्तलेखरुप में अनेक भाष्यों के संकेत प्राप्त होते हैं— जिनमें मुख्य भाष्यकार—गृहदेवस्वामी, सोमनाथ-दीक्षित, कृष्णंभट्ट, अनन्तदेव आदि हैं।[2]

सत्याषाढ श्रौतसूत्र

सत्याषाढ द्वारा प्रणीत सत्याषाढ-श्रौतसूत्र तैत्तिरीयशाखा का ही अनुवर्तन करता है। सत्याषाढ का उपनाम 'हिरण्यकेशी' विश्रुत है।[3]

इस सूत्र में २९ प्रश्न हैं। जिनमें प्रथम दो प्रश्नों में परिभाषा, दर्शपूर्णमास, ऐन्द्रइष्टि, वैमृधेष्टि, पिण्डपितृयज्ञ आदि का व्याखान है। तृतीय प्रश्न में अग्न्याधान, तद ष्टि, पुनराधान, अग्निहोत्र, सोमाग्रयणेष्टि, पशुबन्धादि का विवेचन हुआ है। चतुर्थ एवं पंचम में निरुढपशुबन्ध, एवं चातुर्मास्य का वर्णन है। षष्ठ प्रश्न मे याजमान, होमोपस्थान, प्रवासोपस्थानादि का वर्णन है। सप्तम, अष्टम, नवम प्रश्नों में ज्योतिष्टोम, तद्विकार उक्थ्य, षोडश,. अतिरात्र, आप्तोर्यामादि का वर्णन है। दशम

---

१. आ० श्रौ० १, आपस्तम्बकल्पसूत्र परिचय—पृ० ३२-३३

२. न्यू० कै० कै० २ पृ० १३२-१३८

३. बो० गृ० ३।८ सर्पबलिप्रकरण 'सत्याषाढाय हिरण्यकेशाय' 'हिरण्यकेशीति यथार्थनाम भागभूद्वरात्तुष्टमुनीन्द्रसम्मनात्' स० श्रौ० १ पृ० २

'शिवप्रसादतोऽधिगतदिव्यचक्षुर्मुनिः सत्याषाढो हिरण्यकेशीति सर्वज्ञ पूज्यो बभूवेति' स० श्रौ० प्रस्तावना पृ० ७

प्रश्न में अग्निष्टोम, याजमान, होतृविनियोग, ब्रह्मत्व का कथन किया गया है। एकादश, द्वादश, त्रयोदश प्रश्नों में अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, चरक, सौत्रामणी, का विचार किया गया है। चतुर्दश, पञ्चदश, षोडश प्रश्नों में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेघ, विधि के अपराध में प्रायश्चित, द्वादशाह, अहीनसत्ररुप महाव्रत, गवामयन का विचार किया गया है। सप्तदश एवं अष्टादश प्रश्नों में एकाह, अहीन-सत्रादि का वर्णन है। एकोनविंश से विंश प्रश्न तक उपनयन, विवाह, गर्भाधानादि स्मार्त कर्मों का विवेचन किया गया है। एकविंश प्रश्न से पंचविंश प्रश्न तक याजुष-हौत्र, प्रवर–निर्णय, काम्येष्टि, पशुबंध, कोकिल, सौत्रामणीसव, प्रवर्ग्यादि का वर्णन है। षडविंश प्रश्न से एकोनत्रिंश प्रश्न तक—समयाचार, धर्म, मृतक–कर्मविधान, दहनप्रकार, अस्थिसंचयनादिका सांगोपांग विवेचन किया गया है।

इस सूत्र पर अनेक भाष्य हैं—प्रथमषट्कान्त कौशिकोगत्रोत्पन्न–'प्रयोगवैजयन्तीकार' 'महादेव' का व्याखान है। सप्तम प्रश्न से दशम प्रश्न तक 'गोपीनाथ भट्ट कृत' 'ज्योत्स्नावृत्ति' व्याख्या है। एकादश प्रश्न से नुतनप्रयोग 'चन्द्रिका व्याख्यान' महादेवदीक्षित सोमयाजी का है। एकोनविंश प्रश्न से 'गृह्यसूत्रमयी' 'मातृदत्ताचार्य' का व्याखान है। चतुर्विंश प्रश्न में नरसिंहपुत्र वाञ्छेश्वरसुधी की वृत्ति है। षड्विंश प्रश्न से 'महादेव दीक्षितकृत 'उज्ज्वल' व्याखया मुद्रित है। यह संस्करण 'आनन्दाश्रम मुद्रणालय' पूना से प्रकाशित है।

वैखानस श्रौतसूत्र

यह श्रौतसूत्र तैत्तिरीयशाखा की अवान्तर शाखा औखेयशाखीय है।[1] चरणव्यूह में तैत्तिरीयशाखा की अवान्तरशाखा के रुप में औखेयशाखा का उल्लेख है। ग्रंथ के कर्ता के विषय में मतभेद नहीं है।

इस श्रौतसूत्र के प्राचीन व्याख्याकार श्रीनिवास दीक्षित ने भी अपने स्वव्याख्याग्रन्थ के उपक्रम में ग्रंथकर्ता 'विखनाचार्य' को प्रणाम किया किया है—

> वेदार्थं येन विज्ञाय लोकानुग्रहकाम्यया।
> प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

---

१. वै० श्रौ० पृ० ३३४ 'इति श्रीमदौखेयशाखायां विखनसा–प्रोक्ते श्रीवैखानससूत्रे मूलगृह्ये द्वात्रिंश प्रश्नः'।

अतः स्पष्ट है कि इस सूत्र के कर्त्ता विखनाचार्य हैं। इस श्रौतसूत्र का प्रकाशन डॉ० कालण्ड महोदय ने कलकत्ता से १९४१ में किया था।

इस श्रौतसूत्र में २१ प्रश्न हैं। जिनमें अग्न्याधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरुढपशुबन्ध, सौत्रामणी, परिभाषा; (यज्ञायुध) अग्निष्टोम, वाजपेय, अग्निचयन, प्रायश्चित्तादि विषयों का का विवेचन किया गया है। अन्य सूत्रों की अपेक्षा इस सूत्र में विषयों का स्पष्टीकरण अच्छी तरह किया गया है। अन्य सूत्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर वर्णित हौत्र, ब्रह्मत्व, याजमानादि विषयों का इस सूत्र में एकसाथ ही प्रतिपादन है।

६. वाधूल श्रौतसूत्र

वाधूल श्रौतसूत्र भी तैत्तिरीयशाखीय है। प्रयोग वैजयन्तीकार महादेव ने भी इस श्रौतसूत्र का उल्लेख किया है। डॉ० कालण्ड महोदय ने 'एक्टा-ओरियण्टेलिया' पत्रिका में उपलब्ध सूत्र का अनुवादरुप में प्रकाशन किया था। इस श्रौतसूत्र में अधोलिखित विषयों का विचार किया गया है—अग्न्याधान, पुनराधान, अग्न्युपस्थान, प्रसवदुपस्थान, पुरोडाश, याजमान, आग्रयण, ब्रह्मत्व, चातुर्मास्य, पशुबंध, ज्योतिष्टोम, अग्नि-चयन, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, द्वादशाह, अहीन, एकाह आदि।

७. मानव श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा का सूत्र 'मानव' है। यह ग्रंथ एकादश भागों में विभक्त है, जिनमें विषय-प्रसार इस प्रकार है—प्रथम भाग में—दर्शपूर्णमास, होम, याजमान, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, पुनराधान, चातुर्मास्य, वैश्वदेव, एवं पशु का विवेचन है। द्वितीय भाग में सवनत्रयात्मक 'अग्निष्टोम' का वर्णन है। तृतीय भाग में 'प्रायश्चित्तों' का विधान हैं। चतुर्थ भाग में 'प्रवर्ग्य' विवेचन है। पंचम भाग में 'इष्टकल्प' का वर्णन है। षष्ठभाग में अग्निचयन, एवं सप्तमभाग में वाजपेय, गवामयन, का वर्णन किया गया है। अष्टमभाग में अनुग्राहिकों का कथन है। नवम भाग में राजसूय, एकाह, अहीनादिका विधान है। दशमभाग 'शुल्वसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। परिशिष्टात्मक एकादश भाग में प्रतिग्रहकल्प, मूलजाति-विधि, यमलशान्ति; आश्लेषाविधि रुद्रजपविधानादि का विचार है।

इस श्रौत सूत्र पर अनेक भाष्यों के होने के संकेत प्राप्त होते हैं।[1]

---

१. कै० कै० २ पृ० ४५१, मा० श्रौ० प्रावचन पृ० १–३
भाष्यकारों के नाम—अग्निस्वामी, बालकृष्णमिश्र, शंकर, शिवदास आदि।

८ वाराह श्रौतसूत्र

मैत्रायणी शाखा का अन्य सूत्र 'वाराह' है। इस सूत्र के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में प्राक्सौमिक-परिभाषा, याजमान, ब्रह्मत्व, दर्शपूर्णमास, आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, आग्रयणेष्टि, पशुबन्ध, चातुर्मास्य का विवेचन है। द्वितीयभाग में अग्निचयन का सांगोपांग विवरण है। ग्रंथ के तृतीय भाग में वाजपेय, द्वादशाह, गवामयन, महाव्रत, एकादशिनी, सौत्रामणी, राजसूय, अश्वमेध का विश्लेषण किया गया है।

डॉ० कालण्ड एवं रघुवीरमहोदय ने इसका सम्पादन किया है।

काठक श्रौतसूत्र

काठक श्रौतसूत्र के अस्तित्व के संकेत यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। हस्तलेख सूचीग्रंथों में काठक श्रौतसूत्र के अस्तित्व का ज्ञान होता है।[1] कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्कभाष्यादिकों में काठक श्रौतसूत्र के उद्धरण प्रात होते हैं।[2]

सामवेदीय श्रौतसूत्र

१ मशक श्रौतसूत्र

मशकाचार्य द्वारा प्रणीत 'मशक-श्रौतसूत्र' सामवेदीय 'कल्पसूत्र' है। इसका द्वितीय अभिधान 'आर्षेयकल्प' है। मशकाचार्य का नाम लाट्यायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है।[3] वरदराज, निवासाचार्य का भाष्य इस श्रौतसूत्र पर हैं।[4] इस सूत्र का क्रम पंचविंश ब्राह्मणानुसारी है। इस ग्रन्थ में एकादश ११ प्रपाठक है। जिनमें एकाह, अहीन, सत्रों का विवेचन किया गया है।

२-लाट्यायन श्रौतसूत्र

सामवेदीय कौथुमीशाखा का श्रौतसूत्र 'लाट्यान' है। पंचविंश ब्राह्मण के अनेक वाक्य इस ग्रंथ में उद्धृत हैं। इसके प्रथम सात प्रपाठकों में

---

१. न्यू० कै० कै० ३ पृ० ३०२-३
२. बौ० श्रौ० सू० प्रास्ताविकम् पृ० १५. डॉ० रुपनारायण पाण्डेय।
३. ला० श्रौ० सूत्र ७।६।१४ 'मशको गार्ग्यो मशकोगार्ग्योऽभ्यासम्'।
४. न्यू० कै० कै० २ पृ० १८० (बौ० श्रौ० पृ० १५ डॉ. रुपनारायण पाण्डे)।

सोमयाग का सामान्य वर्णन है। अष्टम एवं नवम, प्रपाठक में एकाह यागों एवं अनेक दिवसों तक चलने वाले यज्ञों का विवरण है। दशम प्रपाठक में सत्रों का वर्णन है।

इस सूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये। साम्प्रत अग्निस्वामी रचित भाष्य एवं रामकृष्ण दीक्षित और सायण के भाष्य प्राप्त होते हैं।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

यह श्रौतसूत्र राणायनी शाखा का अनुसरण करता है। इस श्रौतसूत्र के विषय प्रायः लाटचायन श्रौतसूत्र के विषय क्रम से अधिक सादृश्य रखते हैं। इसे वशिष्ठसूत्र से भी व्यवहृत किया जाता है। इस श्रौतसूत्र पर रुद्रस्कन्दस्वामी का विस्तृत भाष्य है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र

जैमिनि-शाखा का यह श्रौतसूत्र है परन्तु तलवकार से दृढ सम्बन्ध होने से यह श्रौतसूत्र तलवकार शाखीय भी माना जाता है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र वृत्ति के अग्निष्टोम प्रकरण में क्रमशः उद्गातृ-प्रवृत्ति-क्रम, उद्गातृसत्कारविधि, अग्निचयनपक्षविधि, पितापुत्रीय-विधि, विश्वरूपगानकालविधि, द्रोणकलशविधि, उपवेशनविधि, वह्निपवनविधि, प्रातःसवनविधि, दक्षिणादानविधि, पृष्ठविधि, तृतीयसवनक्रियाविधि, नाराशंसभक्षणविधि, अनुयाजविधि, पत्नीसंयाजविधि, अग्न्याधेयसामविधि, प्रवर्ग्यसामविधि, आदिविषय वर्णित हैं। तदनन्तर माध्वीयकारिका, स्तोभ-कल्पवृत्ति, प्राकृतवृत्ति, संज्ञा, विकृतिकल्प का विवेचन है। पर्यध्याय में महदहःक्लृप्तिः, स्तोत्रगीतिभेद, प्रतिहारविधि, सामलक्षण, ऊहलक्षण, निधनविधि, कल्पसमय, संवादविधि, महाव्रतविधि, हिंकारविधान, स्तोमकल्प, विष्टुति, पर्याय, सप्तदशस्तोम, एकविंशस्तोम, विष्टुतिभेद, स्तोभभेद आदि का सविस्तर वर्णन है।

अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैतान श्रौतसूत्र

अथर्व वेद के पांच कल्पसूत्र[1] थे। इसके संकेत प्रामाणिक ग्रंथों में

---

१. कौ० सू० परिशिष्ट, पृ० ३०८ मीमांसायां स्मृतिपादे कल्पसूत्राधिकरणे नक्षत्रकल्पो वैतानकल्पस्तृतीयः संहिताकल्पश्चतुर्थो आंगिरसां कल्पः शान्तिकल्पस्तु पंचमः।

उपलब्ध होते हैं। कल्पसूत्राधिकरण में उपवर्षाचार्य ने भी यही सूचित किया है—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः ।
तुर्य आंगिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ।।

वितान कल्पसूत्र में श्रौत विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है। यह श्रौतसूत्र कौशिकसूत्र के उपरान्त (पश्चात्) निर्मित हुआ है।

इस सूत्र में आठ—८ अध्याय हैं—जिनमें क्रमानुसार दर्णपूर्णमास अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आरम्भणीयेष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम, अग्निचयन, सौत्रामणी, गवामयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, एकाह—स्तोत्रविकार, अहीन—स्तोत्र विकार आदि विषयों का सविस्तर विवेचन है।

अनुक्रमणी

वेदों का सूची ग्रंथ 'अनुक्रमणी' हैं। इस ग्रथ की रचना का मूल उद्देश्य 'वेदों की रक्षा' और' वेदार्थ-मीमांसा' करना है। इस हेतु इन ग्रंथों का समावेश वेदाङ्ग साहित्य में किया जाता है। अनुक्रमणी ग्रन्थों से किसी भी मंत्र के ऋषि, देवता, छंद आदि का ज्ञान सुलभतया प्राप्त होता है। अनुक्रमणी के रचयिताओं में शौनक एवं कात्यायन अत्यधिक प्रसिद्ध आचार्य हैं। आचार्य शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के निमित्त दस[1] ग्रंथों का प्रणयन किया था। प्रथम पांच अनुक्रमणियाँ ऋग्वेद के दसों मण्डलों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, अनुवाकों, तथा सूक्तों की संख्या, नाम तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री का विवरण क्रमबद्ध प्रस्तुत करती हैं। ऋग्वविधान में ऋग्वेदीय मंत्रों का प्रयोग—विशेष कार्य की सिद्धि के लिये बतलाया गया है।

आचार्य कात्यायन एवं माधवभट्ट ने भी सर्वानुक्रमणी ग्रंथ का प्रणयन किया था।[2]

बृहद्देवता

'आचार्य शौनक द्वारा प्रणीत 'बृहद्देवता' ग्रंथ वैदिकवाङ्मय का

---

१. भा० सं० को० भाग १

२. १—आर्षानुक्रमणी, २—छन्दोऽनुक्रमणी, ३—देवतानुक्रमणी, ४—अनुवाकअनुक्रमणी ५—सूक्तानुक्रमणी, ६—ऋग्विधान, ८—बृहद्देवता, ९—प्रातिशाख्या १०—शौनकस्मृति।

आधार ग्रंथ है। बृहद्देवता के विना वैदिक अनुसंधान अप्रासंगिक हो जाता है। इस ग्रंथ का काल पाणिनि से पूर्व एवं यास्कोत्तर अर्थात् सन् पूर्व ८ वाँ शतक है। डॉ० मेक्डानल इस ग्रंथ के कर्ता शौनक से भिन्न किसी अन्य आचार्य को मानते हैं। परन्तु डॉ० मेक्डानल से पूर्व के आचर्यों ने शौनक के दस ग्रन्थों में वृहद्देवता का परिगणन किया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी की वृत्ति की भूमिका में वृत्तिकार 'षड्गुरुशिष्य' ने शौनक को ही बृहद्देवता का कर्ता स्वीकार किया है। इस हेतु भारतीय दृष्टिकोण को ही सरल एवं वैज्ञानिक समझते हुए 'बृहद्देवता' के कर्ता आचार्य शौनक ही निर्विविवाद सिद्ध होते हैं। वैदिक देवताओं के रहस्यों को इस प्रकाशमान ग्रंथ के आलोक में सहज देखा जा सकता है। वेद मंत्रों के विषय में शौनक का मत अत्यन्त स्पष्ट है।

अविदित्वा ऋषिं छन्दो देवतां योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि [illegible] ॥

मंत्र के ऋषि, छंद, देवता और विनियोग के ज्ञान विना मंत्र का अध्ययन अथवा अध्यापन पाप रुपी 'फल' देता है।

आठ अध्यायों में विभक्त 'वृहद्देवता' ग्रन्थ में (१२००) बारह सौ श्लोक हैं। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय के १२५ श्लोक इस ग्रन्थ की भूमिका को प्रस्तुत करते हैं, जिससे प्रत्येक देवता का स्वरुप, स्थान वैलक्षण्य आदि के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। भूमिका के अन्त में निपात, अव्यय, सर्वनाम, संज्ञा, समास, इत्यादि व्याकरण के विषयों की सारगर्भित चर्चा है। उपर्युक्त विवरण में ही यास्काचार्य के व्याकरण की दृष्टि से 'अपप्रयोगों' की टीका भी है। तदनन्तर समग्र ग्रन्थ में ऋग्वेदगत समस्त देवताओं का क्रमशः निर्देश है। कुछ रोचक आख्यान हैं, जो तत्तत् देवता के महत्त्व को बढाते हैं। इन आख्यानों का महाभारत के आख्यानों के साथ निकट का सम्बन्ध प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों के मत में महाभारत के आख्यानों के उपजीव्य बृहद्देवता के आख्यान हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि बृहद्देवता विश्वसाहित्य में कथा संग्रह को प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। प्रायः प्रसिद्ध आचार्यों ने बृहद्देवता ग्रन्थ का अपने ग्रन्थ की प्रकृति के अनुसार उपयोग किया है, जिसके कात्यायन, सायण, नीतिमंञ्जरीकार, आदि अनेक उदाहरण हैं।

बृहद्देवता का प्रमुख वैशिष्टय एकदेवतावाद का स्वतंत्र प्रतिपादन

है। "विभिन्न देवता एकमात्र परमात्मा तत्व के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं"—यह बृहद्देवता का शाश्वत सिद्धान्त है।

बृहद्देवताकार ने अपने कथन की वैज्ञानिकता को समकालीन आचार्यों के मतों के द्वारा और अधिक पुष्ट किया है। ऐसे मान्य आचार्यों में मधुक, श्वेतकेतु, गालव, शाकटायन, शाकपूणि, यास्क, गार्ग्य आदि का उल्लेख है।

सर्वानुक्रमणी

वैदिकवाङ्मय के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थों में महर्षि कात्यायन रचित 'सर्वानुक्रमणी' है। ऋग्वेद के समस्त विषयों के ज्ञान के लिये 'सर्वानुक्रमणी' प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक है। इस ग्रंथ में ऋषि का नाम, मंत्रों के देवता का नाम, छन्दों के नाम आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों का क्रमबद्ध सुगठित विवरण है। कतिपय स्थानों पर बृहद्देवता के उद्धरणों को भी सूत्ररूप में उपस्थित किया है। देवता [illegible] बृहद्देवता को ही प्रामाणिक मानकर उसके अनुसार ही विवरण प्रस्तुत किया है।

याजुष अनुक्रमणी

शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य कात्यायन है। इसमें पांच अध्याय है। इस ग्रन्थ की सहायता से माध्यन्दिनसंहिता के देवता, ऋषि, छंदों का विस्तृत विवरण प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रंथ की विशिष्टता 'याग विधान के नियम' तथा अनुष्ठानों का क्रमबद्ध वर्णन है। इस ग्रन्थ की सूत्रात्मक शैली को 'महायज्ञिक श्री देव' के भाष्य से समझा जा सकता है।

सामवेदीय ग्रंथ

सामवेद के श्रौतयाग से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं। अद्यावधि समस्त ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हैं। प्रमुख ग्रंथ अधोलिखित हैं—१—कल्पानुपद सूत्र, २—उपग्रन्थसूत्र, ३—अनुपद सूत्र, ४—सामसप्तलक्षण, ५—पंचविधानसूत्र, ६—उपनिदानसूत्र, ७—निदानसूत्र आदि।

अथर्ववेदीय ग्रन्थ

अथर्ववेद से सम्बद्ध भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिनके द्वारा अथर्व मन्त्रों के उच्चारण, विनियोग आदि स्पष्ट हो जाते हैं। इस वेद के प्रमुख ग्रन्थ—१—चतुरध्यायी, २—पञ्चपटलिका, ३—बृहत्सर्वानुक्रमणी आदि हैं।

शुल्बसूत्र

भारतवर्ष में शुल्व-सूत्र-साहित्य बहुत पुराना है। वैदेशिक विपश्चित् विभिन्न प्रकार से शुल्बसूत्रों के प्राचीनत्व का प्रतिपादन करते रहे हैं। कैण्टर महोदय (Cantor) के अनुसार शूल्व सूत्र ई० १०० वर्ष पूर्व के है, क्योंकि शुल्ब रेखागणित पर हीरो (Hero ई० स० २१५ के पूर्व) एलेक्जेण्ड्रिया वाले रेखागणित का प्रभाव स्पष्ट रुप से प्रतीत होता है। पर मेकडानल ने अपने (The History of Sanskrit) संस्कृत-साहित्य के इतिहास में इस धारणा का विरोध किया है। उनके अनुसार शुल्ब सूत्र १०० वर्ष से कहीं अधिक पूर्व के हैं, जो श्रौतसूत्रों के अंग हैं और इनका रेखागणित ब्राह्मणप्रतिपादित धर्म का विशेष अंग था। यज्ञ-वेदी बनने में इसकी सहायता ली जाती थी। वेदियों के निर्माण में प्रमाद होना अशुभ माना जाता था।[1] डॉ० थीबो ने भी लिखा है कि बीजगणित का ज्योतिष और रेखागणित का [illegible] भारतीयों ने ही किया है।[2]

1. The Sulva sutras are, however, probably far earlier til an that date (100 B. C.) for they from an integral portion of the srauta, Sutras and their geometry is a part of the Brahmanical theology, having taken its rise in India from practical motives as much as the science of grammar. The Prose parts of the Yajurveds and the Brahmans constantly speak of the arrangement of the saerifical ground and the construction of altars according to very stric rules p. 424

2. Drg. Thibaut on the Sulve Sutras; Vide, Journal of the Asiatic Society of Bengal 1875, P. 228, (डॉ० सत्यप्रकाश, डी० एस० सी०) वै० वि० भा० प० थीबो ने इस तथ्य का भी संकेत दिया है कि पाइथागोरस के नाम से जो प्रचलित प्रमेय है, वह प्राचीन आर्यों को पूर्व से ही ज्ञात था।

कल्पसूत्रों के उपाङ्गों के रूप में शुल्बसूत्र ग्रन्थों का ग्रहण किया जाता है। यज्ञों के काल–निर्धारण के लिये जैसे ज्योतिषशास्त्र का विकास हुआ, वैसे ही याग में प्रयुक्त वेदियों के निर्माण हेतु भूमितीय आकृतियों का विकास हुआ। भूमितीय ज्ञान के प्रतिपादक 'शुल्ब ग्रंथ' हैं। शुल्ब ग्रंथों में 'बौधायन' और 'आपस्तब' के ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कर्मकाण्ड का सम्बन्ध यजुर्वेद से ही है—इस हेतु शुल्ब ग्रन्थ यजुर्वेदान्तर्गत ही पाये जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक ही शुल्बसूत्र है—'कात्यायन शुल्ब सूत्र'। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध छः शुल्बसूत्र ग्रन्थ हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, मैत्रायणी, वाराह तथा बाधूल।

शुल्बसूत्रों की अवधारणा गणितीय सिद्धान्तों पर आधारित है। शुल्बसूत्रों में प्रथम 'लम्बाई' मापन, अग्नि विहार, चिति आदि के सम्बन्ध में मीमांसा अत्यधिक उपादेय है। चिति में प्रयुक्त 'इष्टका' अर्थात् ईंटों की आकृतियाँ भी रेखागणित के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट करती हैं। प्रत्येक चिति–कुण्ड में इष्टका अर्थात् इटा के पांच प्रस्तार होते हैं, एवं प्रत्येक प्रस्तार दो सौ ईंटों का होता है। विभिन्न प्रकार के कुण्डों का निर्माण कैसे हो? इस विषय को स्पष्ट करने में शुल्बसूत्रकारों की प्राथमिकता रही है। विभिन्न प्रकार की चित्तियों के नाम एवं माप भिन्न-भिन्न हैं। आकार की दृष्टि से उनके प्रकार 'वर्ग, वृत्त, तथा अर्धवृत्त' के समान हैं, परन्तु इनका क्षेत्रफल समान होना अत्यावश्यक है। भारतीय विद्वानों ने ज्यामिति के अधोलिखित प्राथमिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके महान् कार्य किया है—

(१) किसी दी हुई रेखा पर वर्ग की रचना करना।
(२) वर्ग को बराबर क्षेत्रफल वाले वृत्त में परिवर्तित करना।
(३) दिये हुए वृत्त को दुगुना करना।
(४) $\sqrt{२}$ का मान।
(५) अभीष्ट आकार को अर्थात् मूल आकृति को समरूप रखते हुए उसके क्षेत्रफल को अभीष्ट अनुपात में बढ़ाना।

इन विषयों के अतिरिक्त अनेक ज्यामितीय सिद्धान्त हैं, जो गणित के विषय में भारतीय गणितज्ञों के परिपक्व ज्ञान के प्रमाण हैं—

१. किसी वर्ग के अपवर्त्य के बराबर वर्ग की रचना।
२. किसी वर्ग के अपवर्तक के बराबर वर्ग की रचना।

३. दो विभिन्न वर्गों के योग के बराबर वर्ग की रचना।
४. दो विभिन्न वर्गों के अन्तर के बराबर वर्ग की रचना।
५. आयत के बराबर आयत की रचना।
६. वर्ग के बराबर आयत की रचना।
७. वर्ग के बराबर वर्ग की रचना।
८. वृत्त के बराबर वर्ग की रचना तथा इसका विलोम।
९. ज्ञात भुजाओं से आयत की रचना।
१०. किसी दिये हुए रेखा खण्ड पर वर्ग की रचना।

शुल्बसूत्रकारों की प्रमुख उपलब्धि शुल्बसूत्र (बौधायन) प्रमेय का का प्रतिपादन है, जो दुर्देवात् 'पाइथा गोरस' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रमेय का प्रतिपादन 'बौधायन' ने १५००–७५० ई० पू० कर दिया था। जबकि पायथागोरस का काल ई० पू० ६ वी शताब्दी माना जाता है, समकोण त्रिभुज प्रमेय का बौधायन शुल्व सूत्र में इस प्रकार वर्णन है—

दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया पार्श्वमानी रज्जुः तिर्यङ्मानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति।

(बौ० शु० १,४८ का० शु० २,११)

कर्ण पर बना वर्ग शेष दो भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है।'

बौधायन ने इस प्रमेय के निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

त्रिकचतुष्कयोर्द्वादशिकपञ्चकयोः पञ्चदशिकाष्टिकयोः सप्तिक-चतुर्विंशिकयोः द्वादशिकपञ्चत्रिंशिकयोः पञ्चदशिकषट्त्रिंशिकयो-रित्येतासूपलब्धिः।

बौधा० शु० (१·४९)

अर्थात् ये $(३^२+४^२,)$ $(१२^२+५^२,)$ $(१५^२+८^२,)$ $(७^२+२४^२,)$ $(१२^२+३५^२,)$ $(१५^२+३६^२)$ संख्याएँ अनुक्रम से ५, १३, १७, २५, ३७, ३९ इन संख्याओं की वर्ग होती हैं। इसे हम इस प्रकार भी समझ. सकते हैं—

(३, ४, ५), (१२, ५, १३), (१५, ८, १७) (७, २४, २५), (१२, ३५, ३७) (१५, ३६, ३९), इस प्रकार की संख्याओं को आधु-निक विद्वान् 'पाइथागोरियन' कहते हैं, वस्तुतः इनका नाम 'बौधा-नांक' होना चाहिए।

वृत्त के बराबर वर्ग की रचना करते समय $\sqrt{२}$ का मान आवश्यक था। इस प्रश्न का समाधान भी बौधायन, आपस्तम्ब आदि मनस्वियों ने किया है—$\sqrt{२}$ के मान को 'सविशेष' संज्ञा से व्यवहृत किया गया हैं। 'सविशेष' संज्ञा का अर्थ ही $\sqrt{२}$ के मान को स्पष्ट करता है—

प्रमाणं तृतीयेन वर्धयेत् तच्चतुर्थेन, आत्मचतुस्त्रिंशोनेन सविशेषः

(बौ. शु. १. ६१, ६२)
(आ. शु. १.१३,१४,)

इसका गणितीय अर्थ इस प्रकार होगा—

$$\sqrt{२} = १ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३ \cdot ४} - \frac{१}{३ \cdot ४ \cdot ३४}$$

वर्गमूल $\sqrt{२}$ का मान पांच दशांश स्थान तक शुद्ध है। सविशेष शब्द के अर्थ से इसका मान इस प्रकार निकलता है—'विशेष' अर्थात् पूर्ण-वर्ग = शेषरहित। **विशेषितः शेषः तेन युक्तः सविशेषितशेषः अथवा सविशेषशेषः सविशेषः** अर्थात् शेष एवं विशेष संख्याओं से युक्त मानको 'सविशेष' कहते हैं।

यज्ञ की वेदियों की रचना में अधोलिखित वर्गसमीकरण के हल किये जाने की आवश्यकता होती है—

$$क य^{२} + ख य = ग$$

बहुधा जिस समीकरण का प्रयोग होता था, वह यह है।

$$७ य^{२} + \frac{१}{२} य = ७\frac{१}{२} + म$$

जिससे

$$य = \frac{१}{२८} (\sqrt{८४१ + ११२ म} - १)$$

$$\text{या } य^{२} = \frac{१}{७८४} \{ ८४२ + ११२ म — २\sqrt{८४१ + ११२ म} \}$$

म के उच्चघातों का यदि समावेश न करें तो

$$य^{२} = १ + \frac{४ म}{२९} \text{ लगभग}$$

कात्यायन ने जो हल दिया उसके अनुसार

$$य^{२} = १ + \frac{म}{७}$$

आपस्तम्ब शल्बसूत्रादि में पूर्णांक भुज-समकोण त्रिभुज जिनकी एक

भुजा दी हो, निकालने की विधियाँ दी हैं। वर्तमान में प्रचलित बीज भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है।[1]

$$x^2 + a^2 = z^2 \; (य^2 + क^2 = र^2)$$

आदि शुल्बसूत्रों में भारतीय ऋषिप्रज्ञाप्रसूत अनेक ज्यामितीय सिद्धान्त हैं जिनको अनेक अवसरवादी गणितज्ञों ने अपने नाम से प्रकाशित करके भारतीय प्रज्ञा के चिन्तन को भ्रष्ट करने का कुचक्र खेला है।



गृह्यसूत्र

'गृह्यसूत्र' संज्ञा से ही गृह्यसूत्र के अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। क्योंकि 'गृह्य' शब्द का अर्थ गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित धर्मिक कर्म ही प्रतीत होता है। विवाह के उपरान्त घर में स्थापित किये जाने वाले अग्नि को 'गृह्याग्नि' एवं 'गृह्याग्नि' में किये जाने वाले संस्कारों के क्रमका, औचित्यानुसार विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों को 'गृह्यसत्र' कहते हैं। भिन्न-भिन्न गृह्यसूत्रों में संस्कारों की गणना भिन्न भिन्न है। संख्या में संस्कारों की न्यूनता का कारश 'शाखानुरोध' एवं 'शाखावैशिष्टय' हो सकता है। संस्कारों के व्यतिरिक्त कुटुम्ब संस्था का इन सूत्रों में विशेष प्रस्तार प्राप्त होता है। कुटुम्ब के कर्ता (पुरुष) के कर्तव्य—अकर्तव्यों का भी विवेचन गृह्यसूत्रकारों ने किया है। जो वर्तमान में प्रासंगिक एवं उपादेय है।

प्रायः गृह्यसूत्रों में १६ संस्कारों का विवेचन सविस्तर प्राप्त होता है, परन्तु संस्कारों के विवेचन में वैविध्य हो गया है। कतिपय आचार्यों ने 'विवाह संस्कार' से सूत्र ग्रन्थों का आरम्भ किया है, एवं कुछ आचार्यों ने उपनयन संस्कार से ही संस्कारों का विवेचन किया है। समस्त संस्कारों में विवाह संस्कार को अधिक प्राधान्य दिया गया है। 'विवाह' के आठ प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहे गये हैं। अन्य सूत्रकारों के इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। वैवाहिक अग्नि का गृह्याग्नि में रुपान्तर होने से

---

१. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा (डा. सत्यप्रकाश) १९५३, (बिहारराष्ट्र भाषापरिषद्)।

गृह्य कर्मों में विवाह को अधिक प्रधानता प्राप्त हुई है। विवाह-संस्कार के अतिरिक्त गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म, उपनयन, इत्यादि संस्कारों का वर्णन भी अति सुव्यवस्थित रुप से किया गया है।

संस्कार विवेचन के अतिरिक्त सात पाकयज्ञों[1] का विधान भी इन सूत्रों में किया गया है। पाकयज्ञों में कुछ यज्ञ अग्नि के साहाय्य से सम्पन्न होते हैं एवं कुछ यज्ञ श्राद्ध, पिण्डदान, स्वरुप के हैं। पाकयज्ञ वर्ष के भिन्न-भिन्न ऋतुओं में किये जाते हैं।

गृहस्थ द्वारा नित्य क्रियमाण पांच महायज्ञों का विवेचन गृह्यसूत्रों की अन्यतम विशेषता है। पंचमहायज्ञों के अन्तर्गत ही अतिथिज्ञ (अतिथिय-सत्कार) भी एक है, इसे ही 'मनुष्य यज्ञ' कहा जाता है। यज्ञ में नियुक्त ऋत्विज्' श्रेष्ठ अधिकारी पुरुष, विवाह हेतु उपस्थित 'वर' ये सर्वश्रेष्ठ अभ्यागत हैं। मधुपर्क विधि से पूजा करके इनका सत्कार करना चाहिये, सत्कार के अभाव में पुण्यक्षय होता है—

सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्।

(शा. गृ. सू. २।१७)

गृह्यसूत्रों में कौटुम्बिक आचारों के साथ ही साथ सामाजिक आचारों का भी विचार हुआ है। चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के आचार, उनके कर्तव्य, एवं अधिकारों का विवेचन प्रमुख रुप से हुआ है। गृह्यसूत्रों में व्यक्त धार्मिक कृत्यों के मूल स्वरुप का विचार करने से 'इण्डो-आर्यन्' अथवा 'इण्डो यूरोपियन' समुदाय के धार्मिक कृत्यों पर गृह्यसूत्रों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। गृह्यसूत्रों में व्यक्त अनेक 'विधि', ब्राह्मण-ग्रंथों में अप्राप्त होने से कुछ विद्वान् ब्राह्मण ग्रंथों के पूर्व गृह्यसूत्रों की रचना मानते हैं। कुछ आधुनिक विद्वान् उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में गृह्यसूत्रों के विधि, संस्कारों, का परिशीलन करते हैं जो हास्यास्पद हो सकता है क्योंकि उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थ अल्पतर हैं। सम्भव है, कि वे लुप्त किसी शाखा के संस्कार हों। अन्यच्च मंत्र ब्राह्मणात्मक वेद ही भारतीय मनीषा का स्वतंत्र सिद्धान्त है और वेद अनादि है। अत; गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि, अथवा संस्कारों के विषय में अप्रामाण्य नहीं है।

---

१. अष्टका, पार्वण स्थालीपाक, मासिक श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी।

वर्तमान में उपलब्ध गृह्यसूत्र निम्न हैं—

ऋग्वेद —आश्वलायन, कौषीतकि, शांखायन।

कृष्णयजुर्वेद—बौधायन, अग्निवेश्य, भारद्वाज, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़, वैखानस, मानव, वाराह।

शुक्लयजुर्वेद—पारस्कर।

सामवेद—गोभिल, खादिर, जैमिनीय।

अथर्ववेद—कौशिक।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं—

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र—२. शांखायन गृह्यसूत्र।

आश्वलायन गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में विवाह, पार्वण, पशुयाग, चैत्य, संस्कार इत्यादि विषय समाविष्ट हैं—द्वितीय अध्याय—में श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृह-निर्माण इत्यादि विषय विवेचित हैं। तृतीय अध्याय—में पंचमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ; भूतयज्ञ, नृयज्ञ) का कथन है जिनका अनुष्ठान आवश्यक कर्तव्य है। इसी अध्याय में आपत्काल एवं शुद्धकाल के कर्मों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अन्त्येष्टि, एवं श्राद्ध का सविस्तर विवेचन है।

अग्निहोत्री व्यक्ति के मरने पर उसके शव को तीनों प्रकार की अग्नि से प्रज्वलित करना चाहिये। यदि आहवनीय अग्नि प्रथम स्पर्श करे तो मृत व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्त होता है। गार्हपत्य अग्नि प्रथम स्पर्श करे तो अन्तरिक्षलोक प्राप्त होता है, और दक्षिणाग्नि से स्पर्श होने पर मनुष्यलोक प्राप्त होता है, परन्तु यदि तीनो अग्नियाँ युगपत् स्पर्श करें तो मोक्ष प्राप्ति होती है, यह समझना चाहिये। मृत अग्निहोत्री के यज्ञपात्र उसी के साथ जलाना आवश्यक है। परन्तु मृत्तिका पात्र (कौलालम्) उसके पुत्र द्वारा सुरक्षित रखे जाने चाहिये।[1]

इस सूत्र में तर्पण विधि का कथन करते हुए ऋग्वेद के मण्डलवार

---

१. आश्वलायनगृह्यसूत्र—४।३।८

ऋषियों का चयन किया गया है। जहाँ नामोलेख अशक्य हैं वहां तत्तत् स्थलों में प्रगाथ, क्षुद्रसूक्त, महासूक्त, एवं मध्यम सूक्त से उनका उल्लेख किया गया है। इसके व्यतिरिक्त सुमंतु, जैमिनि, वैशंपायन, पैल, सूत्रकार एवं भाष्यकार, व भारतकार आदि का उल्लेख है।

श्री॰ चि॰ वि॰ वैद्य के मत में इस सूत्र का काल ई॰ सनपूर्व १२०० वर्ष है। इस ग्रन्थ पर 'नारायण' एवं 'हरिदत्त' की टीका एवं 'देवस्वामी का भाष्य है।

शांखायन गृह्यसूत्र

शांखायन रचित गृह्यसूत्र में ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पार्वण, विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, गर्भरक्षण, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूडाकरण, गोदानादि का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में उपनयन, ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है। तृतीय अध्याय में स्नान, गृहनिर्माण, गृह प्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी एवं अष्टका का विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्ध, अध्यायोपाकरण, श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी, व चैत्री, इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पंचम एवं षष्ठ अध्याय में कुछ विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है।

-कौषीतकि गृह्यसूत्र-

यह ऋग्वेद की कौषीतकि शाखा का गृह्यसूत्र है जिसके रचयिता शांबव्य हैं। इसे शांबव्यसूत्र भी कहा जाता है। इसमें पांच अध्याय हैं। शांखायन गृह्यसूत्र से कौषीतकि गृह्यसूत्र का अत्यधिक साम्य है। कौषीतकि गृह्यसूत्र के पंचम अध्याय और्ध्वदेहिक सम्बन्धी है। कर्णवेध संस्कार का प्रयोग इस गृह्यसूत्र का वैशिष्ट्य है।

———

कृष्णयजुर्वेदीय सूत्र

कृष्णयजुर्वेद के ९ गृह्यसूत्र उपलब्ध होते हैं—

१. बौधायन गृह्यसूत्र

ये ४ प्रश्नों में विभक्त है। इस गृह्यसूत्र में गर्भाधान से लेकर षोडश संस्कार, सप्तपाकसंस्था, गृहस्थ एवं ब्रह्मचारी इत्यादि के धर्मों का संदर्भ

पुरस्सर विवेचन किया गया हैं। ग्रंथ के 'परिभाषा सूत्र' और 'शेषसूत्र' दो परिशिष्ट हैं। इन ग्रंथों में अतिथिधर्म, पितृमेध, उदकशान्ति एवं दुर्गाकल्प, प्रणवकल्प, ज्येष्ठाकल्प इत्यादि कल्पों का विधान है। यह गृह्यसूत्र मैसूर संस्कृतसीरिज से १९२० ई० में 'गोविन्दस्वामी भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ था।

२. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

आपस्तम्ब कल्पसूत्र के २७ वे प्रश्न को आपस्तम्ब गृह्यसूत्र कहा जाता है। आपस्तम्ब ऋषि ने इस सूत्र में गृह्यसंस्कार विषयक अल्पचर्चा ही की है, और शेष विस्तृत विवेचन अपने धर्मसूत्र ग्रन्थ में किया है। विवाह संस्कारविषयक चर्चा गृह्यसूत्र में विस्तृत है। आपस्तम्बकल्पसूत्र के २५ एवं २६ वे प्रश्न मंत्र पाठ के हैं। मंत्रपाठ एवं गृह्यसूत्र का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सूत्र १९२८ में काशी संस्कृत सीरिज से प्रकाशित हुआ था।

३. भारद्वाज गृह्यसूत्र

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा का यह गृह्यसूत्र है। इस गृह्यसूत्र के तीन ३ अध्याय हैं, जिनमें उपनयनादि संस्कार, सप्तपाक संस्था, वैश्वदेव, नांदीश्राद्ध एवं अद्भुत प्रायश्चित्तादिकों का विस्तृत विवेचन है। इस गृह्य-सूत्र को आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के पूर्व का माना जाता है। आपस्तम्ब एवं हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र से इस गृह्यसूत्र का बहुत साम्य है। इसका प्रकाशन एवं सम्पादन श्री हेरिण्टसालोमन्स ने किया था।

४. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र

हिरण्यकेशी कल्पसूत्र के १९ एवं २० वे प्रश्न को हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र कहा जाता है। इस गृह्यसूत्र का एक अन्य नाम 'सत्याषाढ गृह्यसूत्र' भी है। गृह्यसंस्कारों में प्रयुक्त मंत्रों का समावेश इस सूत्रग्रन्थ में है।

इस सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार मातृदत्त ने प्रथम प्रश्न के २९ वे खण्ड का उल्लेख नहीं किया है। इस पर कुछ विद्वान् उस खण्ड को प्रक्षिप्त कहते हैं।

५. वैखानसगृह्यसूत्र

तैत्तिरीयशाखीय 'वैखानसगृह्यसूत्र' है। इसमें विवाहादि समस्त संस्कार एवं पाकयज्ञों का सविस्तर मनोहारी वर्णन है।

६. वाधूलगृह्यसूत्र

तैत्तिरीयशाखा से सम्बद्ध 'वाधूल गृह्यसूत्र' है। इसका वर्ण्यविषय गृह्य-सूत्र–पद्धति से भिन्न है। इसे अग्निवेश्य गृह्यसूत्र भी कहा जाता है।

७. मानवगृह्य सूत्र

इस गृह्यसूत्र को 'मैत्रायणीय गृह्यसूत्र' भी कहा जाता है। मैत्रायणीय शाखा का अनुगामी यह गृह्यसूत्र है। सूत्र के भाष्यकार 'अष्टावक्र' ने मानवाचार्य को प्रस्तुत गृह्यसूत्र का कर्ता कहा है।

इस गृह्यसूत्र के 'पुरुषनामक' दो खंड हैं और प्रत्येक पुरुष अनेक खण्डों में विभाजित है। 'चारविनायक' एवं 'षष्ठीकल्प' का पूजन-विधि इस ग्रंथ की स्वतंत्र विशेषता है। काठक एवं वाराह गृह्यसूत्र का साम्य इस सूत्र के प्रारंभिक प्रकरण से है। इसमें अनेक विध व्रत, दीक्षा आदि का विवेचन है। अष्टावक्र वृत्ति के साथ गायकवाड ओरियण्टल सीरिज से यह प्रकाशित है।

८. काठकगृह्यसूत्र

इस सूत्र को लौगाक्षिगृह्यसूत्र' भी कहा जाता है। कश्मीर परम्परा के अनुसार इस सूत्र का कर्ता 'लौगाक्षि आचार्य को माना जाता है। इस सूत्र में ५ अध्याय हैं। इस सूत्र का प्रकाशन 'देवपाल भाष्य' के साथ 'डॉ० कैलेण्ड' ने १६०८ ई० में किया था।

६. वाराह गृह्यसूत्र

मैत्रायणी शाखा का यह गृह्यसूत्र है। इस सम्पूर्ण सूत्र में गृह्य संस्कारों का ही वर्णन है। इस सूत्र में अनेक सूत्र मानव एवं काठक गृह्यसूत्र से संगृहीत किये गये हैं। इस हेतु नूतन सामग्री का इसमें प्रायः अभाव ही है। इस गृह्यसूत्र को डॉ० रघुवीर महोदय ने सम्पादन करके प्रकाशित किया था, एवं डॉ० रोलाण्ड ने फ्रेंच भाषा में उसका अनुवाद किया था।

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र

कात्यायन विरचित 'पारस्कर गृह्यसूत्र' शुक्लयजुर्वेद का अन्यतम गृह्य-सूत्र है। कात्यायन का ही द्वितीय अभिधान 'पारस्कर' है, पारं करोति

पारस्कर : । 'पारस्करो देशो नगरं च' ये वाक्य 'पारस्करप्रभृतीनि च' इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर 'शब्देन्दुशेखरकार' नागोजीभट्ट ने उद्धृत किये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रौतस्मार्तकर्मों के अनुष्ठान के द्वारा दूसरे तट को ले जानेवाला, पारस्कर देश अथवा पारस्कर नगर में रहने वाला कात्यायन ही सूत्रकार है। ऋग्वेदसर्वानुक्रम के भाष्यकार षड्गुरु ने 'पारक्यं करोतीति पारस्करः इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'पारस्कर' कात्यायन का गुणबोधक अभिधान है, यह सिद्ध किया है। इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि स्वकीय शाखा के सूत्र ग्रन्थों की रचना करने के उपरान्त ऋग्वेद के लिये 'सर्वानुक्रम' सामवेद के लिये कर्म-प्रदीपिका, उपग्रन्थ, प्रतिहारि सूत्र इत्यादि परकीय शाखाओं के भी सूत्र ग्रंथों की रचना कात्यायन ने की है।

गृह्यसूत्र की प्रसिद्धि पारस्कर संज्ञक होने का कथन स्वयं कात्यायन ने मंत्रभ्रांति हर सूत्र में किया है।

'श्रौतः कात्यायनप्रोक्तः कल्पः सर्वोपकारकः। पारस्करनाम्ना प्रोक्तः' स्मार्तोवाजसनेयिनां'[1] प्रकृत में 'पारस्करनाम्ना प्रोक्तः' इस प्रयोग से स्मार्त सूत्र को कात्यायन ने ही किया है, यह स्पष्ट हो जाता है। पारस्कर और कात्यायन परस्पर एक ही व्यक्ति के अभिधान हैं।

इस सूत्र को स्मार्तसूत्र भी कहा जाता है। स्मार्त का अर्थ है, स्मृति-स्मरण—अनुमान। अर्थात् अनुमित श्रुतिमूलक। कात्यायन ने भी सूत्र-मंत्र प्रकाशक सूत्र में कहा है—

'आनुमानिकमूलत्वात्स्मार्तइत्यभिधीयते'।

गृह्यसूत्र अभिधान में रहस्य यह है कि 'गृह्य—अर्थात् आवस्थ्याग्नि एवं तत्सम्बन्धी कर्मों का जिनमें कथन हैं वे 'गृह्यसूत्र' होते हैं।

कात्यायन धर्मसमन्वयवादी थे, उनका समन्वय दुष्ट प्रवृत्तियों से रहित है। वर्तमान में अनेक कर्म—क्रियाकलाप जातकर्मादि संस्कार गुणोपसंहार दृष्ट्या कुछ शांखांतरीय, कुछ पुराणपठित और कुछ स्मृतिप्रतिपादित अंग कलाप समाविष्ट करके किये जाते हैं। स्वतःकात्यायन ने कहा है 'यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत्। विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयं अग्निहोत्रादि-कर्मवत्' ॥ कर्मप्रदीपिका (३।३) स्वानुक्तमपिकल्पोक्तं तत्कुर्यादविरोधि चेत्—(मन्त्रांभ्रातहर ७९) अर्थात् जो कर्म स्वशाखीयसूत्र में उक्त न हो, और परशाखीयसूत्र में उक्त हो—किन्तु यदि वह कर्म स्वशाखा के

१. श्रौतसूत्र २७

विरुद्ध न हो तो, अग्निहोत्रादि काम्यकर्म जैसे परशाखीय होते हैं उसी प्रकार उनका अनुष्ठान भी विद्वान् करें।

यह कथन गुणोपसंहार दृष्टया स्वशाखोक्त कर्म में अन्य शाखोक्त अङ्ग-कलापों का समावेश करने हेतु नहीं हैं, अपितु उन कर्मों के ग्रहण की अनुज्ञा है, जो स्वशाखा में उक्त ही न हो। उदाहरणार्थ—श्रौत-सूत्र में जैसे नक्षत्र सत्र, काम्येष्टि आदि, स्मार्त कर्मों में चत्वारिवेदव्रत, कर्णवेध आदि कर्म कर्तव्य होने पर अनुष्ठित करने हेतु अनुज्ञा मात्र है।

इस गृह्यसूत्र में तीन कांण्ड हैं। प्रत्येक काण्ड कण्डिकाओं में विभक्त है। प्रथम काण्ड में १६ कण्डिका, द्वितीय में १७, एवं तृतीयकाण्ड में १६ कण्डिकाएँ हैं। पूर्ण ग्रन्थ में सूत्र ७०७ हैं। विषयानुक्रम काण्डक्रमानुनार इस प्रकार है—

प्रथम काण्ड में—होमसाधारणकर्म, आवसथ्याधानविधि, मधुपर्क विधि, विवाहविधि, औपासन होम, यानभेदप्रायश्चित्, चतुर्थीकर्म, पक्षादिकर्म, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म रक्षाविधि, नामकरण, अन्नप्राशन आदि विषयों का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है।

द्वितीय कांड में—चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, श्रावणी, स्नातकव्रत पंचमहायज्ञविधि, उपाकर्म, उत्सर्जन, लांगलयोजन, इन्द्रयज्ञ, सीतायज्ञ आदि विषयों का वर्णन हुआ है।

तृतीय काण्ड में—नवान्नप्राशन, आग्रहायणीकर्म, अष्टका, शालाकर्म, शूलगवकर्म, वृषोत्सर्ग, उदककर्म, पशुविधि, रथारोहण, हस्त्यारोहणादिकर्मों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ पर अनेक भाष्य उपलब्ध होते हैं—भर्तृयज्ञ, कर्क, हरिहर, आचार्यजयराम, वैद्यनाथमिश्र, रामकृष्ण, विश्वनाथ, दीक्षित गदाधर आदि विद्वानों के भाष्य वर्तमान में उपलब्ध हैं।

सामवेदीय गृह्यसूत्र

सामवेद से सम्बद्ध तीन गृह्यसूत्र हैं—गोभिल गृह्यसूत्र, खादिर गृह्यसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र।

गोभिल गृह्यसूत्र

गोभिल ऋषि द्वारा रचित गृह्यसूत्र। सामवेदीय कौथुम एवं राणायन-शाखाध्यायी इस सूत्र का अनुकरण करते हैं। इसमें चार प्रपाठक हैं जिनमें

मुख्यतया ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्णमास, विवाह, गर्भाधानादि संस्कार, ब्रह्मचर्य, गोयज्ञ, श्रावणी, गृहनिर्माणादि विधियों का वर्णन हुआ है। कात्यायन ऋषि द्वारा रचित 'कर्मप्रदीप' परिशिष्ट से इस गृह्यसूत्र का महत्त्व स्वतः ही बढ जाता है।

खादिरगृह्यसूत्र

सामवेद की द्राह्यायण शाखा से सम्बद्ध 'खादिर-गृह्यसूत्र' है। यह संक्षिप्त रहते हुए भी पर्याप्त अर्थ का प्रकाशक है। गोभिल गृह्यसूत्र के विषयों का अत्यधिक संक्षेप से इसमें संग्रह किया गया है। यही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। रुद्रस्कन्द की टीका के साथ यह गृह्य-सूत्र मैसूर से प्रकाशित हुआ है।

जैमिनीय गृह्यसूत्र

जैमिनीय-गृह्यसूत्र का भी सूत्रग्रन्थों में विशिष्ट स्थान है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अन्य गृह्य-सूत्रों के साथ इसकी समानता है।

अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र

अथर्ववेद की शौनकशाखा का गृह्यसूत्र 'कौशिक-गृह्यसूत्र है। इस सूत्र को पूर्णरूपेण गृह्यसूत्र नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ग्रन्थ में अन्य गृह्यसूत्रादिग्रंथों के समान गर्भाधानादि संस्कारों का विवेचन हुआ है तथापि उन्हें प्राधान्य नहीं है, विधि के विस्तार की दृष्टि से भी कौशिक सूत्र ग्रन्थ अन्य सूत्रग्रन्थों से भिन्न ही है। क्योंकि ग्रन्थ में गृह्य विधि के प्रतिपादन के अतिरिक्त—अथर्ववेद की ऋचाओं से सम्बद्ध मंत्रविद्या, जादू, टोने आदि का भी प्रतिपादन हुआ है। विषय, भाषा एवं रचना-वैशिष्ट्य से भी कौशिक-सूत्र भिन्न सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र ग्रन्थ में निम्न विषयों का विवेचन हुआ है—दर्शपूर्णमास, मेधाजनन, ब्रह्मचारि संपद्, ग्राम-दुर्ग-राष्ट्रादि का लाभ, पुत्र-पशु-धन-धान्य-प्रजा इत्यादि समस्त सम्पत्साधनसमूह और मानवसमाज में ऐकमत्य होने के उद्देश्य से सौमनस्यादि उपायों का विवेचन।



धर्मसूत्र

धर्म के विषय में निर्णय प्रदान करनेवाले ग्रन्थ धर्मसूत्र हैं। धर्मसूत्र भी कल्पसूत्र का ही एकभाग है। गृह्यसूत्रों से भी विषय दृष्ट्या धर्मसूत्रों

में उपनयन, विवाह, अनध्याय, श्राद्ध, पंचमहायज्ञ, इत्यादि विषय गृह्यसूत्रों के समान ही है। यद्यपि उपर्युक्त विषयों में समानता है तथापि धर्मसूत्रों में आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, धार्मिक एवं तत्त्वज्ञानात्मक आदि विषय गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक हैं।

धर्मसूत्रों के कर्ता प्राचीन मनस्वी पुरुष हुए हैं। इन सूत्रों में मुख्यरुप से 'सामयाचारिक' एवं 'स्मार्त' धर्म का ही वर्णन किया गया है। परम्परागत आचार को 'स्मार्त धर्म' एवं रुढी को 'सामयाचारिक धर्म' कहते हैं। धर्मसूत्र धार्मिक आचारों के विषय में 'वेद प्रामाण्य' को ही स्वीकार करते हैं।

धर्मसूत्रों में प्रतिपादित विषय के प्रमुख रुप से तीन भेद 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नैमित्तिकधर्म' किये जा सकते हैं। गौतमधर्म सूत्रकार को भी ये भेद मान्य हैं (१९।१)।

वर्णधर्म में जाति एवं संकरजाति के धार्मिक कर्तव्य, एवं व्यवसाय का प्रतिपादन है यदि अधिकृत व्यक्ति उपदिष्ट व्यवसाय को करने में असमर्थ हैं तो ऐसे व्यक्तियों के लिये पर्याय से व्यवसाय की व्यवस्था दी गई है। क्षत्रिय वर्ण के कर्तव्य कर्म के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए राजा के कर्तव्य, प्रजासम्बन्ध, राज्य के प्राशासनिक नियम, राज्य की प्रशासन–प्रणाली, कर–पद्धति, एवं विशेषप्रसंग में प्राप्त प्रायश्चित्तादि का विशेष विवेचन किया गया है।

आश्रमधर्म का विवरण भी धर्मसूत्रों में व्यावहारिक एवं अनुशासनात्मक पद्धति से किया गया है। समस्त आश्रमों में गृहस्थ के कर्तव्यों के विवेचन के प्रसंग में विवाह, उसके प्रकार, पुत्रों के प्रकार, वारसापद्धति, नियोग नियम, पंचमहायज्ञ, श्राद्ध इत्यादि का भी विचार किया गया है।

नैमित्तिक धर्म के विवेचन के प्रसंग में अनेक प्रकार के पाप, उनके प्रायश्चित, जननाशौच, मृताशौच, एवं इनका काल, निषिद्ध–अन्न, आत्मा का स्वरुप इत्यादि विषयों का वर्णन है।

गौतम एवं वैखानस धर्मसूत्र गद्य में हैं एवं अन्य गद्य–पद्यात्मक हैं। गौतमधर्मसूत्र अत्यन्त प्राचीन सूत्र है। वस्तुतः वेद की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध धर्मसूत्र का होना आवश्यक है। परन्तु साम्प्रत कुछ एक ही धर्मसूत्र प्राप्त होते हैं। आश्वलायन एवं शांखायन धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। मानव धर्मसूत्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं, अद्यापि वह भी उपलब्ध नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध —(१) बौधायन, (२) गौतम, (३) आपस्तम्ब, (४) हिरण्यकेशी, (५) वसिष्ठ (६) विष्णु (७) वैखानस, (८) हारीत। ये आठ धर्मसूत्र हैं।

१. **बौधायन धर्मसूत्र**—यह धर्मसूत्र ४ प्रश्नों में विभाजित है; जिनमें चातुर्वर्ण्य के आचारनियम, पंचमहायज्ञ, विवाह के प्रकार, प्रायश्चित, नियोगनियम, श्राद्ध, प्राणायाम, अघमर्षण, संस्कार, शिष्टलक्षण, उत्तर एवं दक्षिण भारतीय आचारभिन्नता, अशौच, सपिण्ड, सकुल्य, संकरजाति, दायभाग इत्यादि विषयों का विवेचन है।

इस धर्मसूत्र का कुछ भाग गद्यमय एवं कुछ पद्यमय है। इस धर्मसूत्र की समानता गौतम एवं विष्णुधर्म सूत्र से है। इसमें संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं निदान ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। धर्मसूत्रकार ने अनेक स्थानों पर औपजांघली, कात्य काश्यप, प्रजापति इत्यादि भिन्न-भिन्न पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। सूत्र पर गोविंदस्वामी की टीका है।

२. **गौतम धर्मसूत्र**—गौतम मुनि द्वाराविरचित गौतम धर्मसूत्र है। यह धर्म-सूत्र सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें २८ अध्याय हैं, जिनमें धर्मका मूलाधार, ग्रंथ-पंक्ति लगाने के नियम, चातुर्वर्ण्य के उपनयन-काल, ब्राह्मण के व्यवसाय-निर्धारक नियम, आपद्धर्म संस्कार, न्याय, शिक्षा, साक्षी का विचार, स्त्री के कर्तव्य, नियोग, उपपातकों के गुप्त प्रायश्चित्त, स्त्रीधन, पुत्रों के प्रकार, दायविभाग इत्यादि विषयों की सविस्तर चर्चा की है।

गद्यात्मक इस धर्मसूत्र की भाषा पाणिनि संस्कृत के समान है। संहिता, ब्राह्मण, पुराण, वेदांग, तैत्तिरीय आरण्यक आदि के अनेक उद्धरण एवं अनेक मत-मतान्तरों का प्रस्तुतीकरण करके ग्रंथकार ने ग्रंथ वैशिष्ट्य को बढा दिया है।

बौधायन धर्मसूत्र में गौतम धर्मसूत्र का प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है तत्पश्चात् अनेक ग्रंथों, वसिष्ठध मंशास्त्र, अपरार्क, तंत्रवार्तिक, शांकरभाष्य, में गौतमधर्म सूत्र की सोद्धरण चर्चा है। हरदत्त ने 'मिताक्षरा—टीका एवं मस्करी और असहाय ने गौतमधर्मसूत्र का भाष्य किया है।

३. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**:—आपस्तम्म कल्पसूत्र के २८ एवं २९ वे प्रश्न को आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहा जाता है। इस सूत्र के एवं बौधायन धर्म सूत्र के कुछ परिच्छेद समान हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ११ पटल हैं। विषय की सम्बद्धता की दृष्टि से बौधायन धर्मसूत्र से अधिक सुसम्बद्धता इस ग्रंथ की अपनी स्वतंत्र विशेषता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्यात्मक है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पूर्वकाल से ही है क्योंकि प्रायः प्रत्येक "शाबरभाष्य, तंत्रवार्तिक, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, मेधातिथि एवं विश्वरुप" आदि भाष्यकार एवं टीकाकारों ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र की सोद्धरण चर्चा की है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आचार, प्रायश्चित्त, ब्रह्मचारि-धर्म, यज्ञोपवीत-धारण, श्राद्ध, अध्ययन, गृहस्थधर्म, वरसाधिकारी, नीति, अध्यात्म आदि विषयों का सप्रमाण विवेचन हुआ है। धर्मसूत्रकार ने प्रामाण्यबुद्धि से पूर्वकाल के 'कण्व, कुत्स, वार्ष्यायणि, पुष्कर आदि धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। बौधायन से आपस्तम्ब ने अपना वैमत्य अनेक स्थानों पर स्पष्ट कर दिया है। जैसे—बौधायन नियोग को मान्यता देते हैं परन्तु आपस्तम्ब नियोग का निषेध करते हैं।

राजधर्म के विषय में आपस्तम्ब ने अपने मतों को स्पष्ट रुप से व्यक्त किया है जैसे—ब्राह्मण के अपहृत धन को प्राप्त करने में यदि राजा मृत्यु को प्राप्त होता है तो राजा का वह यज्ञ ही है"[१]। "न्यायाधीश ऊहापोह—कुशल, निर्णय समर्थ—शुद्ध—कुलोत्पन्न, एवं प्रमाद—रहित होना आवश्यक हैं संशयात्मा राजा को दण्ड देने का अधिकार नहीं है।[२]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का काल ६००—३०० ई० पू० माना जाता है। डॉ० काणे के अनुसार. जिस काल में जैमिनि का पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय स्थापित हुआ, उसी काल का यह धर्मसूत्र है। क्योंकि इस सूत्र में बौद्ध अथवा तत्सदृश सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं है। इससे धर्मसूत्र का काल ६००—३०० ई० पू० निश्चित होता है।

४. हिरण्यकेशी धर्मसूत्रः—हिरण्यकेशी कल्पसूत्र के २६ एवं २७ वे प्रश्न को धर्मसूत्र' कहा जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र का ही रुपांतर 'हिरण्यकेशी धर्मसूत्र' है। डॉ० पी० वी० काणे इस सूत्र का काल 'पाँचवी शताब्दि से पूर्व का मानते हैं। इस सूत्र पर दो टीकाएँ 'हरदत्त' एवं 'महादेव' की हैं।

---

१. आ० ध० सू० १०।२६।२,
२. आ० ध० सू० ११।२६।५, ५।११।२

५. वसिष्ठ धर्मसूत्र :—यह धर्मसूत्र ३० अध्यायों में विभक्त है। धर्मसूत्र के टीकाकार यज्ञस्वामी एवं अन्य विद्वान्, वसिष्ठ–धर्मसूत्र को ऋग्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। इसमें विषय–प्रतिपादन अध्यायानुसार इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय में धर्म की व्याख्या, आर्यावर्त की सीमा, पंचमहापातक, छः प्रकार के विवाह इत्यादि विषय हैं। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में चातुर्वर्ण्य के अधिकार, कर्तव्य, वेदपठन की आवश्यकता, अशिक्षित ब्राह्मण निंदा, इत्यादि विषयों की चर्चा है। चतुर्थ अध्याय से षष्ठ अध्याय तक सभी वर्णो के समान कर्तव्य, अतिथिसत्कार, मधुपर्क, जननमरणाशौच, स्त्रीकर्तव्य, सदाचार इत्यादि का प्रतिपादन है। सप्तम से दशम अध्याय तक चार आश्रम, विद्यार्थी कर्तव्य, गृहस्थ धर्म, वानप्रस्थ धर्म, सन्यासधर्म, इत्यादि विषयों का संग्रह है। एकादश अध्याय से पंचदश अध्यायतक श्राद्ध, उपनयन, स्नातकधर्म, वेदपठन के नियम, वर्ज्यावर्ज्य अन्न के नियम, दत्तक–पुत्र–सम्बन्धि नियम, आदि विषय हैं। षोडष अध्याय से विंशति अध्याय तक राजकीयविधि, उत्तराधिकार नियम, चांडाल, अन्त्यावसायी, पुल्कस, सूत, अम्बष्ठ इत्यादि जातियों का वर्णन है। एकविंशति अध्याय से त्रिंशत् अध्याय तक व्यभिचार, गोवध, निषिद्ध–अन्नभक्षण, अपेयपान, पातकों के प्रायश्चित्त, दान, दक्षिणा आदि विषयों का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है।

वसिष्ठ धर्मसूत्र का गौतम, बौधायन धर्मसूत्र एवं शांखायन गृह्यसूत्र से अत्यधिक साम्य है। यह धर्मसूत्र गद्यात्मक है जिसमें ऋग्वेद, ऐतरेयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, मैत्रायणी, तैत्तिरीय, कण्वसंहिता का बहुशः उल्लेख हुआ है। वसिष्ठ धर्मसूत्र का उल्लेख भी मिताक्षरा, बृहदारण्यकोपनिषद्–भाष्य आदि ग्रंथों में बहुश्रुत है।

डॉ० काणे के अनुसार इस धर्मसूत्र का काल ३००–१०० ई० पू० है।

६. विष्णु धर्मसूत्र :—इस धर्म सूत्र में १०० प्रकरण है तथापि यह धर्मसूत्र आकार में लघु हैं। क्योंकि ४०, ४२, ७९ के समान अनेक अध्याय केवल एक सूत्र, अथवा एक श्लोकवाले ही हैं। इस सूत्र का प्रथम और अन्तिम अध्याय पद्यात्मक हैं और अन्य गद्यात्मक हैं। विष्णु धर्मसूत्र काठकशाखा से सम्बद्ध है। इस सूत्रमें निम्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है—

वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, व्यवहार, दिव्य (प्रायश्चित्त), दाय विभाग,

द्वादश प्रकार के पुत्र, युग और मन्वन्तर, अशौच, शौच, विवाह, स्त्रीधर्म, श्राद्ध, दान आदि।

इस धर्मसूत्र की भाषा अत्यधिक सरल, एवं व्याकरण शुद्ध है। इसमें काठकशाखा के मंत्र और काठकगृह्य सूत्र के अनेक उद्धरणों का समावेश किया गया है। इस सूत्र का काल ३०० से १०० ई० पू० माना जाता है।

७. वैखानस धर्मसूत्र—कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा से सम्बद्ध वैखानस गृह्यसूत्र है। उपलब्ध धर्मसूत्रों में इस सूत्र का अपना स्वतंत्र वैशिष्ट्य है। क्योंकि इस सूत्र में वर्णाश्रम कर्तव्यों का प्रधानरुप से विवेचन किया गया है जो कि अन्य धर्मसूत्रों में अप्राप्त है। मिश्र जातियों के विषय में इस सूत्र में उपलब्ध नामावली ऐतिहासिक संदर्भों हेतु अत्यन्त उपादेय हो सकती है।

८. हारीत धर्म सूत्र—हारीत मुनि द्वारा विरचित 'हरीत धर्म सूत्र' का अत्यन्त महत्त्व है। न्यायिक प्रक्रिया के चिंतन में हारीत का स्मरण प्रामाण्य बुद्धि से किया जाता है। यह धर्मसूत्र गद्य-पद्यात्मक है। विषयों का संग्रह अधोलिखित क्रमानुसार है—

धर्म के आधार, ब्राह्मण के 'उपकुर्वाण' एवं 'नैष्ठिक' दो भेद, स्नातक, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के आचार, जननमरणाशौच, श्राद्ध, पंक्तिपावन, आचरण के सामान्य नियम, पंचयज्ञ, वेदाभ्यास एवं अनध्याय निर्णय, राजा के कर्तव्य, राजनीति के नियम, न्यायालयीय कार्यपद्धति, पति-पत्नी के कर्तव्य, पातकों के प्रकार, प्रायश्चित्त, पापविमोचनात्मक प्रार्थना इत्यादि।

हारीत सूत्र में सर्वसामान्य विषयों का प्रतिपादन अन्यसूत्रों के समान ही हुआ है, परन्तु अनेक स्थानों पर हारीत ने अपना मत स्वतंत्र उपस्थापित किया है। हारीत के अनुसार राजा को शास्त्र, चातुर्वर्ण्य कर्तव्य एवं व्यवहार का ज्ञान अत्यावश्यक है" हारीत की दृष्टि में 'सती' होने का विधान सम्माननीय है।

व्याकरण

भाषा के अंग–प्रत्यंग का विश्लेषण जिसमें किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं। 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्' अर्थात्

कौन से शब्द का प्रयोग किस प्रकार से हो—इत्यादि ज्ञान व्याकरण से ही प्राप्त होता है। भाषामात्र में शब्दों की प्रवृत्ति स्वभाव सिद्ध होती है, शब्द व्याकरण के आदेश (आज्ञा) के सापेक्ष नहीं होते अपितु भाषा कि प्रवृत्ति ज्ञात कर शब्दों का प्रयोग कैसे करना चाहिये। इस विषय का व्याकरण केवल निर्देश मात्र करता है।

श्रुतिग्रंथों में व्याकरण विषयक उल्लेख

वस्तुतः वेदवाङ्मय में व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के संकेत बहुलरुप में प्राप्त होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में अक्षर विषयक,[1] ईकार, ऊकार एवं एकार[2] स्वर, ऊष्मन् के स्पर्शवर्ण[3] इत्यादि विषयों के संकेत मिलते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्ण एवं मात्रादि का उल्लेख है।[4] **ऐतरेय आरण्यक** में ऊष्मन्, स्पर्श, स्वर, अन्तःस्थ[5], व्यंजन एवं घोष[6] नकार एवं णकारभेद तथा सकार एवं षकारभेद,[7] संधि[8] आदि के संकेत स्फुटरुप में प्राप्त होते हैं। **शतपथ ब्राह्मण में** एकवचन एवं बहुवचन का भेद[9] और व्याकरणगत त्रिविध लिंगों का एवं व्यवहार में तीन लिंगों के होने का

१. हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समं ।१। आदिरिति द्व्यक्षरं (२।१०)।

२. अग्निरीकारआदित्य ऊकारो निहव एकारः (१।१३)।

३. सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानो यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रं शरणं (२।२२–३०)

४. वर्णः स्वरः। मात्रा बलम् (१।१)

५. तस्यैतस्यात्मनः प्राण ऊष्मरुपमस्थीनि स्पर्शरुपं मज्जानः स्वररुपं मांसं लोहितमित्येतदन्यच्चतुर्थमन्तःस्थरुपमिति (३।२।१)

६. तस्य यानि व्यंजनानि तच्छरीरं यो घोषः स आत्मा य ऊष्माणः स प्राणः (३।२।४)।

७. स यदि विचिकित्सेत्सणकारं ब्रुवाणो—अषकारा इति (३।२।६)

८. पूर्वमेवाक्षरं पूर्वरुपमुत्तररुपं योऽवकाशः पूर्वरुपोत्तररुपेऽन्तरेण येन संधिं विवर्तयति येन स्वरास्वरं विजानाति येन मात्रामात्रां विभजते ······संधिविज्ञापनो ······ साम—(३।१–५)

९. अथो नेदेकवचनेन बहुवचनं व्यवायामेति (१३।५।१।१८)।

संकेत प्राप्त होता है।[1] तैत्तिरीय संहिता में 'ऐन्द्रवायव ग्रह' के अर्थात् सोमपात्र की कथा में इन्द्र ने 'स्वयं को एवं वायु को एक ही सोमपात्र दिया जाय' यह वर मांगकर भाषा का व्याकरण किया—इत्याकारक उल्लेख है।[2] इस विषय के अनेक संकेत शतपथ में भी प्राप्त होते हैं। शतपथब्राह्मण में निरुक्त एवं निर्वचन पदों से भूषित कथा है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ॐ कार 'अकार, उकार, एव मकार' के संयोग से निष्पन्न होता है।[4]

पाणिनीय शिक्षा में वेद का मुख 'व्याकरण' कहा गया है। इससे षडंगों में व्याकरण के प्राधान्य को बल प्राप्त होता है, मुख के विना जैसे भोजनादि का व्यवहार असंभव होता है, और संभव न होने से शरीर का पोषण नहीं होता, वैसे ही व्याकरण के विना वेदपुरुष की शरीररक्षा और स्थिति असंभव है।

आचार्य 'वररुचि' ने व्याकरणशास्त्र के महत्त्व को कहते हुए इसके अध्ययन के पांच प्रकार बताये हैं। एवं महाभाष्यकारपतंजलि ने व्याकरण के त्रयोदश प्रयोजनों का उल्लेख किया है। वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन निम्नलिखित हैं—१. रक्षा, २. ऊह, ३. आगम, ४. लघु, ५. असंदेह।

१. रक्षा—व्याकरण अध्ययन का प्रधान प्रयोजन वेद की रक्षा है। इस हेतु वेदरक्षण का मुख्य भार वैयाकरणों पर निर्भर है।

२. ऊह—नवीन पदों की कल्पना। तात्पर्य यह है कि प्रयोग की

---

१. त्रेधाविहिता इष्टका उपधीयन्ते पुंनाम्न्यः स्त्रीनाम्न्यो नपुंसकनाम्न्यस्त्रेधाविहितानि उ एवेमानि पुरुषस्याङ्गानि पुंनामानि स्त्रीनामानि नपुंसकनामानि (१०।५।१।२) वाक् ह एवैतत्सर्वं यत्स्त्रीपुमान् नपुंसकं (१०।५।१।३)।

२. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'इमां नो व्याकुरु' इति सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सगृह्यते. तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते। (६।४।७)

३. श० प० (४।१।३।१२)

४. तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयोवर्णा अजायन्ताकार, उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदो ॐ इति (५।३२)

आवश्यकतानुसार मंत्र में प्रयुक्त शब्दों का भिन्न विभक्तियों एवं भिन्नलिंगों में विपरिणाम ही 'ऊह' है।

३. आगम—व्याकरण के अध्ययन का प्रमाण स्वयं श्रुति है इस हेतु श्रुति-प्रमाण पुरस्सर ही व्याकरण का अध्ययन सफल एवं सुस्थिर रहता है—यही द्विजमात्र का कर्तव्य है।

४. लघु—लघुता का एकमात्र साधन व्याकरण है। अगाध शब्द राशि का अध्ययन एक जन्म साध्य नहीं है। इस हेतु लघुमार्ग से दक्षता की प्राप्ति हेतु व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन अत्यावश्यक है।

५. असन्देह—वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न संदेहों के निराकरण का सामर्थ्य व्याकरण में ही है।

ऋक्तंत्रकार शाकटायन के अनुसार व्याकरण का उपदेश ब्रह्मा ने बृहस्पति को बृहस्पति ने इन्द्रको, इन्द्र ने भारद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों एवं ऋषियों ने ब्राह्मणों को किया है।

व्याकरण अगाधवारिधि है, जिसका संक्षेप अथवा अतिसंक्षेप पाणिनि-व्याकरण है इस विषयक अत्यन्तरोचक एक लौकिक आभाणक इस प्रकार है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुलाग्रविन्दूत्पतितं हि पाणिनौ' ॥

इस प्रकार इन्द्र से प्रारम्भ हुई परम्परा का अन्तिम सर्वोत्कृष्ट विश्राम पाणिनिव्याकरण-अष्टाध्यायी है। पाणिनि के पूर्व वैयाकरण विद्वानों का विपुल साहित्य था, जिसको पूर्णतः समन्वित करते हुए पाणिनि ने अपने ग्रंथ का ग्रथन किया। पाणिनि ने अपने ग्रंथ में इन प्रमुख विद्वानों का उल्लेख किया है—

१. आपिशलि (६।१।९२), २. स्फोटायन (६।१।१२३) ३. गार्ग्य (८।३।२०), ४. शाकल्य (८।३।१९), ५. शाकटायन (३।४।१११), ६. गालव (६।३।६१) ७. भारद्वाज (७।२।६३) ८. काश्यप (१।२।२५) ९. चाक्रवर्मण (६।१।१३०) १०. सेनक (५।४।११२)

पाणिनीय व्याकरण

भगवान् पाणिनि ने महेश्वर से प्राप्त 'अइउण्' इत्यादि चौदहसूत्रों को "जिन्हें अक्षर-समाम्नाय कहते हैं' प्रत्याहारादि की सिद्धि में उनका

आश्रयलेकर तत्तत्प्रत्याहारघटित विविध सूत्रों की रचना की। इसी हेतु इस व्याकरण को वेदाङ्गत्व प्राप्त हुआ है। लौकिक शब्दों का भी पूर्ण विवेचक होने से इस लोक में भी वह सर्व-मान्य है।

साम्प्रत पाणिनीयव्याकरण, वेदांग का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रंथ है। पाणिनि ने अल्पाक्षर और असंदिग्ध, ४००० सूत्रों द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत किया है। ग्रंथ की वैज्ञानिकता आधुनिक भाषामर्मज्ञों को आश्चर्य चकित कर देती है। सुसंस्कारित सुस्पष्ट व्याकरण-प्रदाता पाणिनि के समान संसार में आज तक कोई भी उत्पन्न नहीं हुआ और न होगा—यह हम स्पष्ट कह सकते हैं।

पाणिनि का काल इतिहास के आधुनिक विद्वानों ने सातवीं सदी ई० पूर्व निश्चित किया है।

पाणिनि ने सामान्य रूप से 'प्राच्य' उल्लेख के व्यतिरक्त 'आपिशलादि' वैयाकरणों का भी उल्लेख किया है। कथासरित्सागर के चतुर्थ तरंग में स्पष्ट उल्लेख है कि 'पाणिनि के पूर्व एवं समकालीन सम्प्रदायों के लुप्त होने का कारण एकमात्र पाणिनि है। लुप्त सम्प्रदायों में ऐन्द्र व्याकरण है, जिसकी परम्परा में 'व्याडि', 'वररुचि', 'कात्यायन', 'इन्द्रदत्तादि' उल्लिखित वैयाकरण हैं। पाणिनि के व्यतिरिक्त भी इतर संप्रदाय हैं जिन्होंने अपने व्याकरण से जनमानस को अवगत कराया। उनमें प्रमुख ये हैं—

१. **कात्यायन**—कात्यायन का काल उपलब्धसाहित्य के प्रमाण के आधार पर आधुनिक इतिहास कारों ने ई० पू० ५००-३५० निश्चित किया है। कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण के अव्याप्त स्थानों को अपने द्वारा निर्मित वार्तिकों से व्याप्त किया है।

उक्त विषयपर कात्यानाचार्य के दो ग्रंथ हैं।

(१) **वाजसनेयिप्रातिशाख्य**, (२) **वार्तिक**—कात्यायन ने पाणिनि के ४००० सूत्रों में से १५०० सूत्रों पर ४००० वार्तिकों की रचना की है। पतंजलि ने कात्यायन को दाक्षिणात्य कहा हैं—'प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः' (महाभाष्य पृ० १)। कात्यायन के उल्लेखों के अनुसार कात्यायन के पूर्व भी अनेक वार्तिककार हुए हैं। कात्यायन ने शाकटायन एवं शाकल्य का उल्लेख किया है—'प्रत्यय-सवर्णं मुदिशाकटायनः' (३।८) 'अविकारं शाकल्यः शषसेषु' (३।९)।

२. **पतंजलि**—कात्यायन के अनन्तर मूर्धन्य वैयाकरण पतञ्जलि का क्रम आता है। पतंजलि का काल १५० ई० पू० माना है। महाभाष्य में कात्यायन के वार्तिकों का परीक्षण हुआ है। जिन स्थलों पर कात्यायन के विचार अग्राह्य हैं वहाँ पतंजलि ने उनका निरास समारोह पूर्वक करके पाणिनि को पुनः प्रतिष्ठापित किया है।

३. **चन्द्रगोमिन्**—'पाणिनि' 'कात्यायन' 'पतंजलि' मुनित्रय की परम्परा का एक उद्भटवैयाकरण चन्द्रगोमिन् है। महाभाष्यकाल के उपरान्त परिवर्तित संस्कृत भाषा के अनुसार 'चन्द्रगोमिन्' ने सूत्र, वार्तिक, इष्टि इत्यादि में लोक प्रवाह के अनुसार स्वतः संशोधन किया। चन्द्र-गोमिन्' बौद्धपंथानुयायी वैयाकरण था।

४. **काशिकाकार वामन जयादित्य**—काशिका ग्रंथ, वामन, जया-दित्य अथवा वामनजयादित्य के नाम से संबोधित होता था। भट्टोजी-दीक्षित ने प्रौढ मनोरमा ग्रंथ (५।४।४२) की टीका में वामन एवं जयादित्य के मतों के विरोध को प्रस्तुत किया है। जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वामन और जयादित्य स्वतंत्र वैयाकरण थे। काशिका ग्रंथ के प्रथम पाँच अध्यायों का कर्तृत्व जयादित्य को, एवं अन्तिम अध्यायों का कर्तृत्व वामन को प्राप्त होता है।

काशिकाकारों का एकमात्र ध्येय चन्द्रगोमिन् द्वारा संशोधित व्याकरण-सिद्धान्तों का पाणिनि परम्परा में प्रवेश कराना था। काशिका ग्रंथ अष्टाध्यायी ग्रंथ की सुगम–सुबोध टीका है। काशिका–ग्रंथकार ने अपि-शलि एवं सौगानस् वैयाकरणों के वार्तिकों का उल्लेख किया है।

५. **भर्तृहरि**—पाणिनि परम्परा के अन्य उद्भट वैयाकरण भर्तृहरि हैं जिन्होंने व्याकरणशास्त्रविषयक 'वाक्यपदीय' ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ छन्दोबद्ध है—इसके तीन अध्याय है—(१) आगम काण्ड, (ब्रह्म काण्ड) (२) वाक्यकाण्ड, (३) प्रकीर्णकाण्ड। इस ग्रंथ में वैजि, सौभव हर्यक्षका उल्लेख चन्द्रगोमिन् के पूर्व काल से सम्बद्ध होने के कारण महत्त्व-पूर्ण है।

६. **कैयट**—पतंजलि के महाभाष्य के साथ जैसे पाणिनि–सम्प्रदाय का एक भाग पूर्ण होता है वैसे ही पाणिनि सम्प्रदाय के इतिहास के द्वितीय भाग का पठाक्षेप 'कैयट के प्रदीप' के साथ होता है।

कैयट के नाम से यह प्रतीत होता है कि वह काश्मीर के निवासी थे। काव्य प्रकाश के टीकाकार भीमसेन (ई० स० १७२२) ने कैयट

एवं मम्मट का सम्बन्ध जोड़ा है। परन्तु यह सम्बन्ध युक्तियुक्त प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रह ग्रंथ में कैयट के उल्लेख के अनुसार कैयट का काल ई० सं० १३०० के पूर्व नहीं स्थापित किया जा सकता। कैयट ने भर्तृहरि के सिद्धान्तों को बड़े समारोह के साथ स्वीकार किया है, अतः उसके विषय में अन्य विवेचन पिष्ट-पेषण ही है।

अष्टाध्यायी अनुसारी विवरण ग्रन्थ

पाणिनि के अष्टाध्यायी को विभिन्न रुपों में स्पष्ट करने वाले विवरण ग्रंथ भी हैं। विवरण ग्रंथों में अग्रगण्य ग्रंथ 'रूपमाला' है। भट्टोजी दीक्षित विरचित 'सिद्धान्त कौमुदी' रामचन्द्रकृत 'प्रकियाकौमुदी' ग्रंथ 'रुपमाला' के पश्चात् आते हैं। प्रक्रियाकौमुदी ग्रंथ पर अनेक टीकाएं हैं, परन्तु विट्ठलाचार्य की 'प्रसाद' टीका सर्वप्रसिद्ध है।

१. **भट्टोजी दीक्षित**—भट्टोजीदीक्षित का काल ई० सं० १६०० के लगभग माना जाता है। इनका सिद्धान्त कौमुदी ग्रंथ समस्त व्याकरण ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ एवं व्याकरणशास्त्र में प्रवेश हेतु परम्परा से अत्यन्त सुगम मार्ग है। ग्रंथकार ने स्वतः सिद्धान्तकौमुदी ग्रंथ की टीका प्रौढ मनोरमा का निर्माण भी किया है। 'शब्दकौस्तुभ' टीका 'पाणिनि के अष्टाध्यायी' ग्रंथ हेतु अनुपम ग्रंथ है।

दीक्षित-परम्परा में एक अन्य उद्भट विद्वान् नागोजीभट्ट अथवा 'नागेश' का नाम अत्यन्त आदर से लिया जाता है। शब्देन्दु शेखरादि ग्रंथ वैयाकरणों के निकष माने जाते हैं।

इस परम्परा के अनन्तर, बुद्धि के सौकुमार्य के कारण 'सिद्धान्त कौमुदी' अनुसारी अनेक लघु ग्रंथों का प्रणयन हुआ। इनमें 'वरदराज' का नाम प्रमुख है जिन्होंने १—मध्य सिद्धान्तकौमुदी, २—लघु-सिद्धान्तकौमुदी ३—सारसिद्धान्तकौमुदी, प्रमुख तीन ग्रंथों का प्रणयन किया।

उपर्युक्त विवरण से, पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ का जो सम्प्रदाय है उसका सामान्य स्वरुप परिलक्षित हो जाता है। व्याकरणशास्त्र के अन्यसम्प्रदाय न्यूनाधिकरुप से इसी सम्प्रदाय से निष्पन्न हुए हैं, इनके नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	प्रवर्तक	ग्रंथ
१. चान्द्र (४७० ई० सं०)	१—चन्द्रगोमिन्	चान्द्रव्याकरण उपग्रंथ–उणादिसूत्र, धातुपाठ, लिंगानुशासन, गणपाठ, उपसर्गवृत्ति, वर्णसूत्र ।
२. जैनेद्र	(देवनन्दीपूज्यपाद)	अभयनंदी एवं सोमदेव कृत टीका ।
३. शाकटायन (ई० सं० ८१४)	(शाकटायन)	शब्दानुशासन, अमोघ वृत्ति, परिभाषासूत्र, गणपाठ, धातुपाठ, उणादिसूत्र, लिंगानुशासन ।
४. हेमचन्द्र (ई० सं० ११४५)	(हेमचन्द्र)	शब्दानुशासन, शब्दानुशासन बृहद्वृत्ति, हैमलघुन्यास,

उक्त सम्प्रदायों के व्यतिरिक्त अनेक शाखा, प्रशाखाएँ हैं, जिन्होंने व्याकरणविषयक विचार किया है—इस विचार परंपरा को दो भागों में विभक्त किया जाता है—

१—कातंत्र शाखा, २—सारस्वत शाखा।

इन शाखाओं का वर्णन प्रस्तुत प्रसंग में अनुपयोगी होने से वर्णन करना अनुचित है ।

निरुक्त

वेदाङ्गों की गणना में निरुक्त को वेदपुरुष का श्रोत्र कहा है—'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते' । निरुक्त के कर्ता वेदमार्गप्रतिष्ठापक महर्षिप्रवर श्रीयास्काचार्य हैं । निरुक्त की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । यास्काचार्य ने स्वतः निरुक्तकारों में अपना १३ वाँ स्थान कहा है—जैसे—

औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठिवि क्रौष्टुकि, कात्थक्य एवं १३ वाँ स्वयं यास्क और १४ वाँ शाकपूणि का पुत्र या कौत्सव्य हो सकते हैं, क्योंकि निरुक्तग्रंथ में 'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदं' (१।१३), १४ निरुक्तों का विवरण दिया है ।

विषय प्रवेश

गो शब्द से 'देवपत्नी' शब्द तक निघण्टु का क्रियाकलाप है। किसी शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा किये विना स्वयं अर्थ प्रकाशन को निरुक्त कहा जाता है। 'गो' शब्द से प्रारम्भ कर 'देवपत्नी' शब्द तक जो समाम्नाय है उसे यास्क ने निरुक्त संज्ञा दी है।

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥" उक्त परिभाषा के अनुसार निरुक्त के पांच प्रकार हैं—१. वर्णागम, २. वर्णविपर्यय, ३. वर्णविकार, ४. वर्णनाश, ५. धातु का अर्थ के अतिशय से योग।

यास्काचार्य ने निरुक्त को तीनकाण्डों में बताया है।

१. निघण्टु २. नैगम, ३. देवता।

प्रथम काण्ड—निघण्टु में तीन अध्याय हैं। इसमें पहला प्रकरण 'समाम्नायः समाम्नातः' आया हैं। निरुक्त का सिद्धान्त है कि समस्त नाम 'आख्यातज' हैं। तीन प्रकार की क्रियाओं (निगमन, समाहनन और समाहरण) का विवेचन हुआ है।

पद की चार (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात) जातियाँ हैं, जिनमें 'नाम' एवं 'आख्यात' निरपेक्ष होकर अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं। परन्तु 'उपसर्ग' वं 'निपात' दूसरे शब्द के मिले विना सार्थक नहीं हो सकते।

'भाव' का प्राधान्य 'सत्व' में, और 'सत्व' की प्रधानता 'आख्यात' में होती है। 'भाव' अर्थात् 'भवतीति भावः'। भाव छः हैं—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।

'निपात' तथा 'उपसर्ग' उच्चनीच अर्थ में, उपमा और पादपूर्ति में आते हैं। 'अपि' शब्द सीमा के अर्थ में, 'त्य' विनिग्रहार्थ और 'त्व' अर्धनाम अथवा सर्वनाम से व्यवहृत होता है जैसे—

ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायती शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्यमात्रां विमिमीत उत्वः ॥

प्रकृत उद्धरण में 'त्व' एक का वाचक है। ऋत्विक् कर्म में ये ऋचा विनियुक्त होती है।

तृतीय पाद में 'बहुनाम' एवं ह्रस्वनाम' का निर्वचन हुआ है; चतुर्थ पाद में 'एकार्थ में' अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द की प्रक्रिया का विचार किया गया है।

द्वितीय काण्ड—'नैगम' में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एकशब्द की व्यवस्था को बताया गया है, जैसे—**'विस्तीर्य हि तमज्ञात-मृषिः संक्षेपतोऽब्रवीत् इत्थं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम।'** अर्थात् नैगम में एक पदादि और अनवगत संस्कारितपदों का वर्णन किया गया है। जैसे—**'उर्वशी'**—यह शब्द अनवगत है और अप्सरा अर्थ का वाचक है। अप्सरा का अर्थ है **"अप्सारिणी भवति अपः प्रति नित्यमेव सरति तस्य प्रियमुदकं तस्मादप्सरा इति"**। अन्य उदाहरण भी देखा जा सकता है जैसे—**'निचुम्पुणः** शब्द अनेकार्थ और अनवगत है। 'अपांजग्मि-निचुम्पुणः' शब्द सोम, समुद्र, अवभृथ का भी वाचक है। इसका निर्वचन इस प्रकार है—**नीचैरस्मिन्कुणन्ति शब्दं कुर्वन्ति यज्ञपात्रं दधतीति निचुम्पुणः।**

तृतीय काण्ड— 'दैवत' संज्ञक है; वेद की सम्पूर्णशाखाओं में जो गुणवाचक पद हैं उनकी व्याख्या 'नैगम' काण्ड में की गई है। अवशिष्ट पद जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है वे दैवत काण्ड में कथित हैं। **"तद्यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतम्"** जिन नामो में देवताओं की प्रधानतया स्तुति दृष्टिगत होती है उसे दैवत काण्ड' नाम से यास्काचार्य ने कहा है।

नैघण्टु और नैगमकाण्ड में जो शब्द पठित हुए हैं वे प्रायः मंत्रों में पठित देवताओं से सम्बद्ध ही हैं, किन्तु उन सब मंत्रों में देवताओं का स्पष्टीकरण न होने से दैवत काण्ड का प्रारम्भ किया गया है। जिस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु ऋषि जिस मंत्र से जिस देवता की प्रार्थना करता है उस मंत्र का वही देवता होता है।

देवता प्रसाद—(कृपा) सेही प्रत्येक प्रयोजन सिद्ध होते हैं केवल मानवीय आधिभौतिक पुरुषार्थ से ही कार्य की सफलता संभव होना अत्प्रयाशित है। गीता में भी कहा है—

"इष्टान्भोगान्हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञभाविताः'

देवताओं की स्तुति चार प्रकार से संभव है।

नाम, रूप, कर्म और बन्धुत्व ये चार प्रकार की स्तुतियाँ ही वेद मंत्रों में निहित हैं। स्तुति परक मंत्र त्रिविध हैं—**परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक।**

परोक्षकृत मंत्र सभी विभक्तियों में, रहते हैं, जिनमें आख्यात (धातु) प्रथमपुरुष के एक वचन में रहता है। "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः" देवता परोक्ष वृत्ति से प्रसन्न होते हैं। यथा—

"इन्द्रो दिव इन्द्र पृथिव्याः इन्द्रमित् गाथिनो बृहदिन्द्रेणैतेतृत्सबोवेविषाणा इन्द्राय साम गायत" इत्यादि परोक्षकृत मंत्र सम्पूर्ण विभक्तियों में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'सर्वनाम' और आख्यात (धातु) मध्यमपुरुष का प्रयुक्त होता है।

सर्वनाम, उत्तमपुरुष आख्यात के योग से आध्यात्मिक मंत्रों में प्रयुक्त होते हैं। परोक्षकृत एवं प्रत्यक्षकृत मंत्र वेद में अधिक हैं, आध्यात्मिक न्यून हैं।

निरुक्तकार ने तीन प्रकार के देवताओं को स्वीकार किया है "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।" तदनन्तर देवताओं के स्वरुप—आकार का सुव्यवस्थित विचार प्रस्तुत किया है।

दैवतप्रकरण के अनन्तर परिशिष्ट प्रकरण है। इसमें अग्नि स्तुति के मंत्र और अन्य स्तुत्यात्मक मंत्र आये हैं। तथा अव्यवहार्य मन्त्र जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय के योग का ज्ञान नहीं हो सकता उन्हें विवेचित किया गया है।

'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका'।

अन्त में अक्षर ब्रह्म की स्तुति और उसके ज्ञान में निष्ठा का कथन किया है—

'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तान्न वेद किमृचा करिष्यति न इत्तद् विदुस्तइमे समासते ॥'



निरुक्त की वेदांगता—

वेदाध्ययन के क्षेत्र में निरुक्त के उपकार को ध्यान में रखकर ही उसकी गणना वेदाङ्गों में की गयी है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन वेदाङ्गों में निरुक्त का प्राधान्य निर्विवाद सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वेदार्थ परिज्ञान में साक्षात् सहायक निरुक्त ही है। अन्य

वेदाङ्ग घटकों की उपयोगिता उसकी अपेक्षा कम है। शिक्षा का क्षेत्र मंत्रों के उच्चारण तक ही सीमित है, अर्थज्ञान में नहीं। 'कल्प' के आधार पर मंत्रों का नाना प्रकारक विनियोग होता है परन्तु अर्थज्ञान में उसका भी साक्षात् उपयोग नहीं है। इसी प्रकार अन्य व्याकरण, छन्द, ज्योतिष भी अन्य प्रकार से वेद के उपकारक हैं परन्तु वे भी साक्षात् रूप से अर्थज्ञान में सहायक नहीं होते हैं। निरुक्त वेदार्थ के परिज्ञान में साक्षात् सहायक होने से समस्त षड्ङ्गों में इसकी ही प्रधानता है।

निरुक्त के महत्त्व एवं असाधारण वेदोपकारकत्व का ज्ञान इससे भी हो सकता है कि एक व्याख्या ग्रंथ होते हुए भी उसकी गणना वेदाङ्गों में की गयी है और उसके मूलभूत 'निघण्टु' को वेदाङ्गों में नहीं रखा गया है। परन्तु 'निघण्टु' की वेदाङ्गों में गणना न होने से उसका महत्त्व न्यून नहीं होता। क्योंकि 'निघण्टु' वैदिक कोश है इस हेतु उसे वेद सदृश ही महत्त्व प्राप्त है। उपर्युक्त कथन का संकेत यास्काचार्य ने 'निघण्टु' रूप वैदिक शब्द कोष हेतु 'समाम्नायः' पद का प्रयोग करके दिया है। **आम्नायसमाम्नायशब्दयोर्वेद एव प्रसिद्धिः'** इस उक्ति से 'आम्नाय एवं समाम्नाय' शब्द वेद के वाचक हैं। निघण्टु में संगृहीतशब्द वेद के ही शब्द हैं।

निरुक्त का निर्वचन प्रकार

निरुक्तकारों का यह सिद्धान्त है कि शब्दों की प्रथम प्रवृत्ति प्रायः किसी न किसी क्रिया के आधार पर ही होती है, तत्पश्चात् वह शब्द गुणादि के योग से तत्क्रियारहित अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है। अर्थात् नैरुक्त अर्थगत प्रधान क्रिया को लक्षित कर ही तद्वाचक धातु की कल्पना करके शब्द का निर्वचन करता है। इसी आधार पर नैरुक्तों का यह सिद्धान्त निष्पन्न हुआ है—**'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'**।

नैरुक्त का प्रधान लक्ष्य–'अर्थानुसार निर्वचन करना' है। निरुक्तकारों का आग्रह यह नहीं है कि 'व' को 'ऊ' कैसे हो गया, ? 'ग्' को 'घ्' कैसे हुआ ? उदाहरणार्थ 'होतृ' शब्द है। 'होता' यज्ञ का एक ऋत्विज् होता है, उसका कार्यक्षेत्र मंत्रों से देवताओं की स्तुति या उनका आह्वान करने तक है। 'हु' धातु का अर्थ 'दान' और 'अदन' है। जो 'होता' के कार्य–को व्याप्त नहीं करता। परन्तु व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार 'तृन्' अथवा

'तृच्' प्रत्यय करके होतृ शब्द निष्पन्न हो जाता है। परन्तु नैरुक्त होतृ शब्द का निर्वचन 'हु' धातु से नहीं करते हैं क्योंकि उनका यह सिद्धान्त है कि 'अर्थनित्यः परीक्षेत, न संस्कारमाद्रियेत' अर्थ को दृष्टिगोचर करके ही प्रकृति–प्रत्ययादि की कल्पना संगत होती है—व्याकरण प्रयुक्त संस्कार का आग्रह न करें। इस हेतु नैरुक्त 'होतृ' शब्द का निर्वचन 'ह्वेञ्' धातु से करते हैं—'ह्वयते = स्तौति, आकारयति वा होता'। प्रकृत में 'व्' को 'उ' संप्रसारण और 'उ' को 'ओ' हो गया है। 'व् को उ' करनेवाला पाणिनि का कोई सूत्र नहीं है तथापि अर्थक्रिया के अनुसार संस्कार का आदर गौण हो जाता है।

निरुक्तकार अन्यों के समान विपर्यय से भ्रम में पड़कर 'तर्क्य' शब्द का निर्वचन 'तर्क' धातु से करते हैं, ऐसा नहीं हैं, अपितु वे 'कृत' धातु से 'कत्य्' बनाकर वर्ण विपर्यय से उसका निर्वचन करते हैं। निरुक्तकारों के सिद्धान्तों को वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है इस विषयक उदाहरण स्पष्ट है—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र की व्याख्या में यह भी एक प्रसिद्ध श्लोक है—

> भवेद् वर्णागमाद् 'हँसः' 'सिंहो' वर्णविपर्ययात्' ।
> 'गूढोत्मा' वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् 'पृषोदरम्' ॥

अर्थात् 'हंस' का बोधक मूल शब्द 'हस' था, अनुस्वार के आगम से 'हंस' हो गया है, 'सिंह' का वाचक मूल शब्द 'हिंस' था, किन्तु वर्ण विपर्यय से 'सिंह' बना, 'गूढात्मा' का वर्ण विकार से 'गूढोत्मा' बन गया है। उसी प्रकार 'पृषदुदरम्' में त् का लोप करके 'पृषोदरम्' निष्पन्न हो जाता है।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि 'भाषा प्रवाह में वर्णागम, वर्ण विकार, आदि नैसर्गिक हैं उन्हीं के आधार पर प्रमुख भाषाव्याकरणविद् अपने सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। अतः 'यास्काचार्य' प्रयुक्त निर्वचन प्रकार अतत्त्वकल्पित निराधार सृष्टि नहीं है, प्रत्युत निसर्गानुसारिणी—स्वभावानुसारिणी है।

निघण्टुका कर्ता

निघण्टु के कर्ता के विषय में अत्यन्त मतभेद हैं। श्रीदुर्गाचार्य, स्कन्दमहेश्वर, जर्मनपण्डित रोथ, प्रोफेसर कर्मरकर आदि विद्वान् यास्क

को निघण्टु का कर्ता स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु मधुसूदन सरस्वती, स्वामीदयानन्द आदि के मत निघण्टु का कर्तृत्व यास्काचार्य को देते हैं।

दुर्गाचार्य का मत इस प्रकार है—'विद्याम तस्यते वयमकूपारस्य दावने' वाक्य की व्याख्या के अनन्तर कहा है कि—**एतस्मिन् मन्त्रे 'अकूपारस्य दावने' इत्येवम् अनयोः पदयोरनुक्रमः तेन ज्ञायते अन्यै रेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं चकुर्वन् प्रयोजनस्याभावाद् एकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्‌्दयत्'** इसका तात्पर्य यह है कि निघण्टु एवं निरुक्त का कर्ता यदि एक होता तो जिस क्रम से मंत्रो में शब्द पठित हैं उसी क्रम को निघण्टु में भी रहने देता। मंत्र में **'अकूपारस्य दावने'** यह क्रम है किन्तु 'निघण्टु' में क्रम **'दावने, अकूपार'** इस प्रकार है, इससे यह स्पष्ट है कि निघण्टु एवं निरुक्त के कर्ता भिन्न हैं।

स्वामी दयानन्द आदि कहते हैं कि 'यह ग्रंथ (नघण्टु) ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य १० ग्रंथों में है। यह ग्रंथ विशेष कर वेद और सामान्य लौकिक ग्रंथों से सम्बन्ध रखता है। यह मूल ग्रंथ और भाष्य दोनों ही यास्काचार्य के हैं।

'महिम्नस्तोत्र' के सप्तमश्लोक की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती कहते हैं 'एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूत्ता एव। तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रंथो भगवता यास्केनैव कृतः।'' अभिप्राय यह है कि निघण्टु आदि निरुक्तान्तर्गत ही हैं। पञ्चाध्यायी निघण्टु की रचना भगवान् यास्काचार्य ने ही की है।

महाभारत के प्रमाणानुसार निघण्टु का कर्ता यास्क नहीं है अपितु प्रजापति कश्यप हैं—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिः प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥'[1]

निघण्टु के पंचमाध्याय में भी 'वृषाकपि' शब्द प्राप्त होता है। एक

१. महाभारत (शा० प० अ० ३४२, ८८—८९)

अन्य प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि निघण्टु के व्याख्यान कर्ता यास्काचार्य हैं—

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च योऽभवत् ।
तेनाविष्टं तु यत्किञ्चित् शिपिविष्टेति च स्मृतः ॥
यास्को मामृषिरव्यग्रोऽनेकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरोऽह्यहम् ॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादाद् अधोनष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान् ॥[२]

उपर्युक्त अनेकविध विरुद्ध प्रमाणों से मस्तिष्क भ्रान्त हो जाता है। परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि अन्य प्रमाणकारों की अपेक्षा व्यास प्राचीनतम है। इस हेतु व्यासमहर्षि द्वारा कथित 'निघण्टु' का कर्ता 'कश्यप ऋषि' एवं भाष्यकार 'यास्काचार्य हैं' युक्तियुक्त प्रमाण है।

'ज्योतिष'

षड्ङ्गों में 'ज्योतिष' का अन्यतम स्थान प्राप्त होता है। इसे वेद का चक्षु कहा जाता है 'ज्योतिषमयनं चक्षुः'। कालविधान शास्त्र के प्रतिनिधि ग्रंथ के रुप में इसकी रचना की गई है। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी कुछ इसी प्रकार कहा गया है—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥

अर्थात् यज्ञानुष्ठान हेतु वेद प्रवृत्त हैं, और यज्ञों का अनुष्ठान कालाधीन होता है, इस हेतु जो विद्वान् काल विधानशास्त्र जानता है वह यज्ञ वेत्ता होता है।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा वेदाङ्ग ज्योतिष का उद्देश स्पष्ट हो जाता है। 'देश कालौ स्मृत्वा' 'प्रत्येक कार्य के पूर्व देश, काल का स्मरण करना चाहिये'—इस वचन के अनुसार वैदिक आर्यों को यज्ञ–याग हेतु दिक्, देश एवं काल, के औचित्य का ज्ञान आवश्यक ही था। 'यज्ञ–याग हेतु कुण्ड–मण्डप के निर्माण में दिक् ज्ञान अनिवार्य होता है। 'विशिष्ट नक्षत्र पर विशिष्ट विधि विहित होता है।—इत्याकरक कालज्ञान आकाशीय नक्षत्र, ग्रहों की गति के सापेक्ष है इस हेतु वेदाङ्ग ज्योतिष की प्रवृत्ति

२. महाभारत (शा० प० अ० ३४२, ६९–९१)

हुई है। अतः वेदाङ्गों में तत्तत् अङ्ग का तत्तत् स्थानानुसार महत्त्व अक्षुण्ण है परन्तु सर्वाकार दृष्टया ज्योतिष के बिना वेद की प्रवृत्ति ही असम्भव है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥
(वे० ज्यो० ६)

वेदाङ्ग ज्योतिष ग्रन्थ—

ग्रंथ नाम	ग्रंथ कर्ता–काल	ग्रंथपरिमाण
ऋग्वेद ज्योतिष	ऋषि लगध	३६–श्लोक
यजुर्वेद ज्योतिष	ऋषि शेष	४४–श्लोक
अथर्ववेद ज्योतिष	ऋषि काश्यप	१२२ श्लोक १४ प्रकरण

ये ग्रन्थपरिणामतः अत्यन्त लघु हैं परन्तु अर्थ दृष्टया इनमें महत्त्वपूर्ण विवेचन उपलब्ध होते हैं—

ज्योतिष ग्रंथों के अनुसार पाँच वर्षों का एक युग होता है। कारण यह है कि पाँच वर्ष के अनन्तर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पुनः अपने मूल स्थान को प्राप्त होते हैं, जो कालचक्र की पूर्णता का द्योतक हैं। जिस ऋतु में दिवस का परिणाम लघु हो जाता है उस ऋतु की 'अमावस्या' से युगारम्भ होता है। इस काल में चन्द्र श्रविष्ठा (धनिष्ठा) नक्षत्रानुगामी होता है। इस पंच-वर्षात्मक युग में ६२ चांद्रमास और १८३० अहोरात्र होते हैं। इस काल खण्ड परिमाण में सूर्य के ५ और चन्द्र के ६७ भ्रमण सम्पन्न होते हैं और नक्षत्रों के १८३५ आवर्तन हो जाते हैं।

चन्द्र एवं सूर्य की युती—'अमावस्या' है, और सूर्य एवं चंद्र के मध्य ६ राशियों का अन्तर (पौर्णिमा) पर्व है। पंचवर्षात्मक युग में १२४ पर्व सम्पन्न होते हैं। प्रत्येक पर्व में १५ तिथियाँ रहती हैं।

युग के पांचवे भाग को 'वर्ष' संज्ञा है। एकवर्ष में ३६६ अहोरात्र होते हैं। एक वर्ष के दो समभागों को 'अयन' संज्ञा है। वर्ष के छठे भाग को 'ऋतु' कहते हैं।

सूर्य एवं चन्द्र जब धनिष्ठा नक्षत्र के प्रथम चरण में उदित होते हैं तब उत्तरायण एवं आश्लेषा के मध्यभाग में उदित होने पर दक्षिणायन प्रारम्भ होता है अयनों का आरम्भ अनुक्रम से माघ एवं श्रवणमास में

होता है। एक ऋतु में सूर्य ४॥ नक्षत्रों को भोगता है। गणित को सरल बनाने के उद्देश्य से इन मानों का निर्धारण आज से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय मनीषा ने कर दिया था, जो वर्तमान में निर्धारित मानों से बहुशः समान हैं। विश्व से तुलना करने पर पृथ्वी अत्यन्त लघु प्रतीत होती है—विश्व बहुत परिमाण का है।

छन्द

वेदाङ्ग ग्रंथों में पंचमस्थान प्राप्त 'छन्द' है। 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' छन्द वेदपुरुष के पादस्थानीय हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि छन्द ज्ञान विना वेदाध्ययन और वेद पंगु हैं। अतः वेद मंत्रों के उच्चारण हेतु छंद का ज्ञान अत्यावश्यक हो जाता है।

वैदिक वाङ्मय में छन्द पद के अनेक अर्थ समुपलब्ध होते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में 'सूर्य रश्मि' अर्थ में छन्दपद का प्रयोग प्राप्त होता है।[1] पुराणों में भी सर्वत्र सूर्य के प्रसिद्ध सात अश्व रश्मियाँ ही छन्द पद से संकेतित हैं।[2] परन्तु लौकिक वाङ्मय में, कोश ग्रन्थों में छन्द पद के (गायत्री आदि 'पद्य[3], वेद[4], इच्छा[5], संहिता[6] आदि) अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में अभिप्रेत अर्थ 'गायत्र्यादि छंद' ही है।

छन्दों का महत्त्व

दुर्गाचार्य ने स्वतः के निरुक्त भाष्य में उद्धृत किया है कि—'छन्द के विना वाक् उच्चरित ही नहीं होती'—

---

१. अन्न वाव पशवः, तान्यस्मा (प्रजापतये) अच्छदयंस्तानि अच्छदयँस्तस्माच्छदासि। श० प० ब्रा० ८।५।२।१
यहाँ प्रजापति पद से आदित्य समझना चाहिये।

२. एष वै रश्मिरन्नम्। श० प० ब्रा० ८।५।३।३, उपर्युक्त श्रुति में वर्णित 'अन्न' को ही प्रकृत श्रुति रश्मि कह रही है।

३. छन्दोभिरश्वरुपैः (वायु ५२।४५) छन्दोरुपैश्च तैरश्वैः (मत्स्य १२५।४२) छन्दोभिर्वाजिनरुपैस्तु (मत्स्य १२४।४) हयाश्च सप्त छंदासि (२।८।७)।

४. गायत्री प्रभृतिच्छन्दो वेदेच्छयोरपि। शाश्वतकोश ४०२ (विष्णु)

५. छन्द पद्येच्छयोः श्रुतौ। हैम, अनेकार्थ ५८३

६. इच्छासंहितयोरार्षे छन्दोवेदे च छन्दसि। काशिका १।२।३६

'नाच्छन्दसि वागुच्चरति इति ।'[1]

नाटयशास्त्रकार भरतमुनि कहते हैं कि 'छन्द से रहित कोई शब्द नहीं, और शब्द से रहित कोई छन्द नहीं ।

'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्' ।[2]

ऋग्यजुष्परिशिष्टकार कात्यायन मुनि के अनुसार विद्वान् पुरुष हेतु समस्त वाङ्मय छन्दोरुप है । क्योंकि छन्द और पृच्छा के विना कोई शब्द प्रवृत नहीं होता —

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद्विजानतः ।[3]
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन ॥

उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि पूर्वाचार्यों को छंद का महत्व पूर्णतया ज्ञात था ।

छन्द का लक्षण

छन्द का लक्षण महर्षियों द्वारा अत्यन्त अर्थानुसारी किया गया है । प्राचीन लक्षणकारों के छन्दोलक्षण निम्नानुसार हैं—

कात्यायन मुनि ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में छन्द के लक्षण को इस प्रकार निर्धारित किया है—

'यदक्षरपरीमाणं तच्छन्दः'[4]

जो अक्षरपरिमाण है वह छन्द है । अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण उपर्युक्त अर्थानुसारी ही है—

'छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते'

अर्थात् अक्षरसंख्या का अवच्छेदक धर्म छन्द है। उपर्युक्त दोनों लक्षण श्रुतिसम्मत वेदानुसारी हैं —प्रमाणार्थ—वैदिक मंत्र ये हैं—

अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ।[5]

अक्षर ही सप्तवाणी अर्थात् सप्तछन्दों का परिमाण है ।

---

१. निरुक्त ७।२, २. नाट्यशास्त्र १४।४४
३. ऋग्यजुषपरिशिष्टकात्यायन ।५।
४. ऋक्सर्वानुक्रमणी २।६
५. ऋग् १।१६४।२४

छन्दः पद के विभिन्न आचार्यों ने निर्वचन भी भिन्न भिन्न किये हैं। वैदिक वाङ्मय में छन्द का निर्वचन 'छदि' धातु से प्राप्त होता है—

'छन्दांसि छन्दयतीति वा।'[1] ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।[2]

निरुक्तकार ने छन्दः पद का निर्वचन करते हुए कहा कि आच्छादन के कारण छन्दः संज्ञा है—

छन्दांसि छादनात्[3]

जयदेवकृत—छन्दःसूत्र के विवृतिकार लिखते हैं कि जो आनन्दित करता है, अथवा श्रवणयोग्य होने से प्रकाशित होता है—उसे छन्द कहते हैं।[4]

अतः छन्दः पद के निर्वचन अनेक धातुओं से निष्पन्न होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अक्षर—संख्या का यथार्थ बोध ही छन्द है अथवा अक्षर—संख्या का यथार्थ बोध ही छन्द का मूल तत्त्व है। इस विषय में प्राचीनतम प्रमाण ऋग्वेद संहिता के प्रथम मंडल का अधोलिखित मंत्र है—

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।[5]

अर्थात् अक्षर संख्या ही भारतीय छंदः शास्त्र का मूलस्तम्भ है। अक्षर संख्या के सोपान पर ही भारतीय छंदःशास्त्र की रचना हुई है।

भ्रान्तधारणा

छन्दोविषयक सामान्य धारणा यही है कि मंत्रोत्पत्ति के अनन्तर छन्द के लक्षण निर्मित हुए हैं। परन्तु यह धारणा वेदविमुख पक्षकारों की ही हो सकती है। क्योंकि वेद में सर्वत्र छन्दों का नामसंकीर्तन बहुलरुप में प्राप्त होता हैं। ऋग्वेद में ही अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में

---

१. दैवतब्राह्मण १।३, २. तै० सं० ५।६।६।१

३. निरुक्त ७।२।

४. चंदति ह्लादं करोति दीप्यते वा श्रव्यतया इति छन्दः २।१

५. ऋग्वेद सं० १।१६४।२४

शक्वरी, अनुष्टुभ्, गायत्री, उष्णिक्, बृहती, विराट्, त्रिष्टुभ्, जगती आदि छन्दों का नामोल्लेख है—

१. शक्वरी—गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु (ऋग्वेद १०।७१।११)

२. अनुष्टुभ्—अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणं (ऋग्वेद १०।१२४।९)

सप्त छन्दों के उल्लेख समग्ररूप में भी प्राप्त होते हैं—

'अग्ने १ गायत्र्यभवत् सयुग्वा २ उष्णिहया सविता संबभूव ।

३. अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पते ४. बृहती वाचमावत । ५. विराड् मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य ६. त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।

विश्वान्देवान् ७. जगत्या विवेश (ऋग्वेद १०।१३०।४–५)

३. त्रिष्टुभ्—त्रिष्टुब् गायत्री छंदांसि सर्वाता (ऋग्वेद १०।१४।१६)
अर्काः त्रिष्टुभः सं नवंते (ऋग्वेद ९।९७।३५)

४. जगती—जगता सिंधुं दिव्यस्तभायत् (ऋग्वेद १।१६४।२५)

५. गायत्री—गायत्रेण नवीयसा (१।१२।११)
ता गायत्रेषु गायत (ऋ० १।२१।२)
गायत्रेण समज्यते (ऋ० १।१८८।११)
गायत्रेश्चर्षणयः (ऋ० ८।१६।९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि, ऋङ्मंत्रों में ही सप्तच्छन्दों के विषय में नामसहित उल्लेख प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋक्, यजुः साम, अथर्व मंत्रों के साथ ही गायत्र्यादि छन्द उत्पन्न हुए हैं।

छन्दों के भेद

संस्कृत वाङ्मय में दो प्रकार के छंद हैं—१. वैदिक छन्द २. लौकिक छन्द। हमें प्रकृत संदर्भानुसार 'वैदिक छंदों' का ही विचार अभीष्ट है। वैदिक छन्दों को दो भागों में "विभक्त किया जाता है। (१) अक्षर-गणना (२) पादाक्षरगणना। अक्षर-गणना पर अवलम्बित छंद यजुर्वेद में प्रयुक्त होते हैं और पादाक्षरगणना पर आश्रित छंद ऋग्वेदादि में प्रयुक्त होते हैं।"[1]

---

१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत छन्दोमीमांसा पृ० ८८

अक्षर शब्द वर्ण का पर्याय ही समझा जाता है। प्राचीन परम्परा में भी वर्ण की अक्षर संज्ञा होती थी--

'वर्णंबाहुः पूर्वसूत्रे। पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते'[१]

प्रकृत संदर्भ में 'अक्षर' को छंदःशास्त्रदृष्टया परिभाषित करना है।

वैदिक छंदःशास्त्र में 'अक्षर' शब्द से व्यंजनरहित स्वतंत्र स्वर तथा व्यंजनसहित स्वर दोनों का ग्रहण किया जाता है--

'स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः उत्तरैश्चावसितैः'[२]

वेद में प्रयुक्त छन्द एवं वेद में उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर छंदों के भेद का निर्धारण करना विषम ज्ञात होता है। प्रधानतया सात छंद ही व्यवहृत होते हैं--१. गायत्री, २. उष्णिक्, ३. अनुष्टुप्, ४. बृहती, ५. पंक्ति, ६. त्रिष्टुप् ७. जगती किन्तु कात्यायनाचार्य चौदह छंद स्वीकार करते हैं-प्रथम गायत्र्यादि सप्त छन्द, तदनन्तर, ८. अतिजगती, ९. शक्वरी, १०. अतिशक्वरी, ११. अष्टि, १२. अत्यष्टि, १३. धृति, १४. अतिधृति। इसी धारणा से पोषित ऋग्भाष्यकार वेंकट माधव ने कहा है—

चतुर्दशेत्थं कविभिः पुराणैश्छन्दांसि दृष्टानि समीरितानि।
इयन्ति दृष्टानि तु संहितायामन्यानि वेदेष्वपरेषु सन्ति॥

अर्थात् 'प्राचीन अनुसंधाताओं ने १४ छन्दों का निर्देश किया है, इतने ही छंद ऋग्वेद संहिता में हैं; एवं अन्य, अन्यान्य वेदों में हैं'। पिंगल, जयदेव प्रभृति २१ छंदों का स्वीकार करते हैं। पूर्व निर्दिष्ट १४ छंद, तदनन्तर, १५-कृति, १६-प्रकृति, १७-आकृति १८-विकृति, १९-संकृति, २०. अभिकृति; २१. उत्कृति'। भरत, शौनक, गार्ग्यादि २६. छंद स्वीकार करते हैं—पूर्व २१ निर्दिष्ट छंद, तदनन्तर, २२-मा, २३-प्रमा, २४. प्रतिमा, २५. उपमा, २६. समा। यहाँ इतना मात्र समझना है कि भरतमुनि प्रोक्त २६ छन्दों में अन्तिम पांच छंद व्यवहार्य नहीं है। स्वयं भरतमुनि एवं नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त पाद का भी यही कथन है—

गायत्रीप्रभृति त्वेषां प्रामाण्यं संप्रचक्ष्यते।
प्रयोगजानि सर्वाणि प्रायशो न भवन्ति हि॥[३]

---

१. महाभाष्य १।१ अइउण् सूत्रे
२. शुक्लयजुः प्रातिशाख्य १।९९-१०१
३. नाट्यशास्त्र—१४।५।७

इसकी टीका का भी यही सुस्पष्ट मन्तव्य है—

अक्षरस्याष्टौ गायत्रीप्रभृतीनि, तत एवारभ्य प्रयोगार्हतेति सूचयति, उक्तादीनामश्रवत्वात् ।

न तो वैदिक छंदों में मात्रा के विषय में चर्चा है, और न अक्षरों का गुरु, लघु का विभाग है ।

अक्षर संख्या और प्रगाथघटना

प्रगाथ का पठन भी अक्षर सख्या पर ही अवधारित है । ऋग्वेद के अष्टम मंडल को प्रगाथ मंडल कहा जाता है ।[1] अनुक्रमणी के अनुसार आठवे मंडल के १, १०, ४८, ५१ से ५४ सूक्तों के द्रष्टा 'प्रगाथ' हैं । अष्टम मंडल में अनेक ऋचाएँ प्रगाथ छंद की हैं । प्रगाथ सर्वदा व्यवहार्य वृत्त नहीं हैं अपितु मूल छंद में कृत्रिम व्यवस्था करके प्रगाथ निर्माण होता है । होता नामक ऋत्विज् यज्ञ प्रक्रिया में जिस 'शस्त्र' का पठन करता है, उसकी प्रथम तीन ऋचाओं को 'स्तोत्रिया' तथा शेष तीन ऋचाओं को 'अनुरुपा' कहते हैं । जब स्तोत्रिया अथवा अनुरुपा ऋचाएँ तीन-तीन न होकर दो होती हैं, अथवा जहाँ विशिष्ट प्रकार से दो ऋचाओं को तीन ऋचाओं में परिवर्तित किया जाता है, वहां उन ऋचाओं को प्रगाथ कहते हैं । इन प्रगाथ मन्त्रों के देवता के आधार पर 'ब्राह्मणस्पत्य प्रगाथ, इन्द्रनिहवप्रगाथ, सामप्रगाथ, मरुत्वतीयप्रगाथ, अच्युतप्रगाथ, इत्यादि अभिधान व्यवहृत होते हैं । आश्वलायन श्रौतसूत्रकार ने प्रगाथ का स्वरुप अधोलिखितरूप से स्पष्ट किया है—

तां द्वे तिस्रस्कारं शंसेत् । चतुर्थषष्ठौ पादौ पुनरभ्यसित्वा ॥
(५-१५)

अर्थात् दो ऋचाओं के आठ चरणों में चतुर्थ और छठवें चरण का पुनः पुनः अभ्यास अर्थात् पठन करना चाहिये । उदाहरणार्थ—

१—प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मंत्रं वदत्युक्थ्यं । यस्मिन्निन्द्रो वरूणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

तमिद्वोचे माविदथेषु शुभवं मंत्रं देवा अनेहसं । इमां च वाचं प्रतिहर्यतानरोविश्वेद्वामात्रो अश्नवत् ॥

---

1. ऐ० आरण्यक २।२।१

उपर्युक्त प्रगाथ की दो ऋचाएँ हैं इनको बृहती छंद की तीन. ऋचाओं में परिवर्तित करना है। बृहतीछंद में ३६ अक्षर होते हैं। तीन ऋचाएँ इस प्रकार बनती हैं —

१. प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मंत्रं वदत्युक्थ्यं। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ३।

२. देवा ओकांसि चक्रिरे देवा ओकांसि चक्रिरे तमिद्वोचे माविदथेषु शुभवं मंत्रं देवा अनेहसोम् ३।

३. मंत्रं देवा अनेहसं मंत्रं देवा अनेहसं। इमांच वाचं प्रतिहर्यता नरो विश्वेद्वामावो अश्नवोम् ३।

उपर्युक्त उदाहरण में दो ऋचाओं के आठ चरणों में से चतुर्थ और छठवें चरण का पुनः पुनः पठन किया गया है। बहती छंद में रचित होने से इस प्रगाथ को वार्हत-प्रगाथ कहा जाता है।

छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण

मादिच्छन्दपंचक

गायत्री से पूर्ववर्ती पांच छंद हैं, जो चार अक्षर से प्रारम्भ होकर ४-४ अक्षरों से बढते हैं।

मा प्रमा प्रतिमोपमा समा च चतुरक्षरात्।
चतुरुत्तरमुद्यन्ति पञ्चच्छंदांसि तानि ह ॥[1]

अर्थात् 'मा—४ अक्षरसंख्याक, 'प्रमा—८ अक्षरसंख्याक', प्रतिमा—१२—अक्षरसंख्याक, 'उपमा—१६ अक्षरसंख्याक, समा—२० अक्षरसंख्याक छन्द होते हैं।

गायत्र्यादि छन्दःसप्तक

गायत्र्यादि छंदः सप्तक में प्रसिद्ध सात छन्दों का समावेश होता है— १. गायत्री, २. उष्णिक्, ३. अनुष्टुभ्, ४. बृहती, ५. पंक्ति, ६. त्रिष्टुभ्, ७. जगती।

१—गायत्री छन्द

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पूर्व समय में समस्त छंद चार अक्षरों के ही थे—

---

१. ऋ० प्रतिशाख्य १७।१९

१. ऋ० प्रातिशाख्य १७।२०

छंदांसि वै तत्सोमं राजानं अच्छाचरँस्तानिहर्तहि चतुरक्षराणि चतुरक्षराण्येव च्छंदांसि ··· ··· (३।२५) त्रिष्टुभ् एवं जगती इन दो छन्दों का गायत्रीछन्द से वैमनस्य, उसके पास अधिक चार अक्षरों के कारण हो गया। उन दो छन्दों ने उन चार अक्षरों को लेने हेतु अपने विवाद को देवताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया, किन्तु देवों ने गायत्री के पक्ष में ही निर्णय दिया (ऐ० ब्रा० ३।२८), इसी स्थल पर ८ अक्षरों की गायत्री, ११ अक्षरों का त्रिष्टुभ्, १२ अक्षरों की जगती कैसे हुई ? इस रहस्य को स्पष्ट किया है। गायत्री के प्रत्येक पाद में ८ अक्षर होते हैं, सर्वपादों के अक्षरों की संख्या २४ होती है। इस छन्द की अग्नि देवता का निकट से सम्बन्ध है। प्रायः अग्निदेवतापरक सूक्त; गायत्री छन्द में ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिच्छन्दों के सात-सात छंदों में तीन विभाग हैं—प्रथम विभाग में गायत्री से जगती तक सात छन्द हैं, दूसरे विभाग में अतिजगती से अतिधृति तक सात छन्द हैं, तृतीय विभागान्तर्गत कृति से उत्कृति तक सात छन्द आते हैं।

छंदों के लक्षण ग्रंथ अनेक हैं, जो उनके भेद प्रभेदों का वर्णन करते हैं। पिंगलछन्दःसूत्र, उपनिदान सूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी, निदान-सूत्र आदि अनेक ग्रंथ हैं। ग्रंथ के विस्तर-भय से हम यहाँ ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार ही गायत्र्यादि छन्दःसप्तक का एवं उनके प्रमुख प्रभेदों का विवरण कर रहे हैं।

गायत्री[1]—गायत्री २४ अक्षरों की होती है। इसमें ८, ८ अक्षरों के तीन पाद होते हैं अथवा ६, ६ अक्षरों के चार पाद होते हैं।[2] (अष्टाक्षरा गायत्री ८+८+८=२४)।

उदा०—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्न-धातमम् ॥

षडक्षरागायत्री—

६+६+६+६=२४

उदा० इन्द्रः शचीपतिर् बलेन वीळितः।
दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहि ॥

१-२. गायत्री सा चतुर्विंशत्यक्षरा।
अष्टाक्षरास्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षडक्षराः ॥
(ऋक्० प्रा० १६।१६)

(१) पदपंक्तिगायत्री—यदि पांच-पांच अक्षरों के पांच पाद हों तो वह पदपंक्ति गायत्री होती है—

५ + ५ + ५ + ५ + ५ = २५

उदा०— घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम् ।
तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥

(२) भुरिक् पदपंक्तिगायत्री—अन्तिम पाद ६ अक्षरों का और शेष चार पाद ५–५ अक्षरों के हों तो वह पदपंक्तिभुरिक्गायत्री होती है—[1]

५ + ५ + ५ + ५ + ६ = २६

उदा०—अग्ने तमद्याऽश्वं न स्तोमैः क्र न भद्रं हृदिस्पृशम् ऋध्यामा त ओहैः ॥

(३) भुरिक्गायत्री—यदि प्रथमपाद ८ अक्षरों का द्वितीय पाद १० अक्षरों का और तृतीय अक्षरों का हो तो वह भुरिक् गायत्री होती है ।[2]

८ + १० + ७ = २५

उदा०—विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेद् अविद्वानित्यापरो अचेताः । नू चिन्नु मर्ते अक्रौ ॥

(४) पादनिचृत्—जिसमें ७–७ अक्षरों के तीन पाद होते हैं वह पादनिचृत् अथवा विराट्[3] गायत्री कहलाती है—

७ + ७ + ७ = २१

उदा०—यवाकु हि शचीनां यवाकु सुमतीनाम् ।
भूयाम वाजदाव्नाम् ॥

(५) अतिनिचृत् गायत्री—तीन पदों में क्रमशः ७, ६, ७, अक्षर हों तो वह अतिनिचृत् गायत्री होती है ।[4]

---

१. पञ्चकाः पञ्चषड्वान्त्यः पदपंक्तिर्हि सा भूरिक् ।
द्वौ वा पादौ चतुष्कश्च षट्कश्चैकस्त्रिपञ्चकाः ॥ (ऋ०प्रा०१६।१८)

२. षष्टको दशकः सप्ती विद्वांसाविति सा भुरिक् (ऋ. प्रा. १६।२०)

३. गायत्री त्रयः सप्ताक्षरा विराट् ।
सैषा पादनिचृन्नाम गायत्र्येवैकविंशिका ॥ (ऋ० प्रा० १६।२१)

४. षट्कः सप्तकयोर्मध्ये स्तोतॄणां विवाचीति ।
यस्या सातिनिचृन्नाम गायत्री द्विर्दशाक्षरा ॥ ऋ. प्रा. १६।२२

७ + ६ + ७ = २०

उदा०—पुरुतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि ।
वाजेभिर्वाजयताम् ॥

(६) वर्धमानागायत्री—जब तीनों पादों में क्रमशः ६, ७, एवं ८ अक्षर हों तो वह वर्धमाना गायत्री होती है।[1]

६ + ७ + ८ = २१

उदा०—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥

(७) द्विपदागायत्री – जिस छन्द में १२–१२ अक्षरों के दो पाद हों वह द्विपदागायत्री होती है।[2]

१२ + १२ = २४

उदा०—सनो वाजेष्वविता पुरुवसुः पुरस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत् ॥

(८) उष्णिक् गर्भा गायत्री—जिस छंद में प्रथमपाद ६ अक्षरों का, द्वितीयपाद ७ अक्षरों का, एवं तृतीयपाद ११ अक्षरों का हो तो वह उष्णिक् गायत्री होती है।[3]

६ + ७ + ११ = २४

उदा०—ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोषना । उतो न कृत्व्यानां नृवाहसा ॥

२—उष्णिक् छंद

उष्णिक् छंद[4] २८ अक्षरों का होता है। इसमें तीन पाद होते हैं।

---

१. उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः ।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्न यज्ञानामिति ॥ ऋ, प्रा. १६।२४

२ स नो वाजेषु पादौ द्वौ जागतौ द्विपदोच्यते । ऋ. प्रा. १६।२६

३. षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षरः ।
एषोष्णिग्गर्भा गायत्री ता मे अश्व्यानामिति ॥ ऋ. प्रा. १६।२८

४. उष्णिक्छद को ही, 'सप्तच्छन्दांसि चतुरुत्तराणि' इस पद्धति से 'उष्णिह' संज्ञा प्राप्त होती है। इस शब्द का अर्थ 'प्रसव' अर्थात् अन्य के द्वारा प्रवृत्त बुद्धि है—यह अर्थ उष्णिह छंद के लक्षण से स्पष्ट हो

प्रथम दो पाद ८-८ अक्षरों के होते हैं और तृतीय पाद १२ अक्षरों का होता है।[1] इस छंद का 'उष्णिक्' नाम औपमिक है।[2]

८+८+१२ = २८

(१) पुरउष्णिक्—जिसके प्रथम पाद में १२ अक्षर हों और द्वितीय, तृतीय पाद ८-८ अक्षरों के हों तो उसे पुरउष्णिक् कहते हैं।

१२+८+८ = २८

उदा०—तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥

(२) ककुप्—जिसके द्वितीय पाद में १२ अक्षर हों, और प्रथम एवं तृतीय पाद ८-८ अक्षरों के हों उसे ककुप् छन्द[3] कहते हैं—

८+१२+८ = २८

उदा०—युष्माकं स्मा रथाँ अनुमुदे दधे मरुतो जीरदानवः। वृष्टी द्यावो यतीरिव ॥

(३) ककुम्न्यङ्कुशिरा—जिसके पाद क्रमशः ११, १२, ४, अक्षरों के हों उसे 'ककुम्न्यङ्कुशिरा कहते हैं।[4]

११ + १२+४ = २७

उदा०—ददी रेकणस्तन्वे ददीर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् नूनमथ ॥

(४) पिपीलिकामध्या—जिसका प्रथम पाद ११ अक्षरोंका, द्वितीयपाद

जाता है, इसके अक्षरों की संख्या प्रत्येक पाद में ८+८+१२ = २८ होती है।

१. अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः।
पूर्वावष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः॥ ऋ. प्रा. १६।२६

२. 'उष्णिक उष्णिषिणीवेत्यौपमिकम्' निरुक्त ७।१२

३. पुरउष्णिक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप्। ऋ०. प्रा. १६।३०

४. ददी रेकण इति त्वेषा ककुम्न्यंकुशिरा निचृत्।
एकादशोऽस्याः प्रथम उत्तमश्चतुरक्षरः॥ ऋ. प्रा. १६।३३

६ अक्षरों का, एवं तृतीयपाद ११ अक्षरों का हो तो वह 'पिपीलिकामध्या उष्णिक् होता है।[1]

११+६+११ = २८

उदा०—हरी यस्य सुयुजा विव्रता बेरर्वन्तानु शेपा ।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ॥

(५) तनुशिरा—जिसके प्रथम एवं द्वितीय पाद ११-११ अक्षरों के हों, एवं तृतीय पाद ६ अक्षरों का हो, वह तनुशिरा छन्द है।[2]

११+११+६ = २८

उदा०—प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे न यया वाचा यजति ।
पज्रियो वाम् । प्रैषयुर्न विद्वान् ॥

(६) अनुष्टुब् गर्भा—जिसके प्रथम पाद में ५ अक्षर एवं अन्तिम तीन पादों में ८-८, अक्षर हों, उसे अनुष्टुब्गर्भा कहते हैं—[3]

५+८+८+८ = २९

उदा०—पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥

३. अनुष्टुप्

अनुष्टुप् छंद ३२ अक्षरों का होता है। इसमें ८-८ अक्षरों के चार पाद होते हैं।[4]

८+८+८+८ = ३२

---

१. एकादशाक्षरौ च द्वौ मध्ये चैकः षड्क्षरः ।
उष्णिक् पिपीलिकामध्या हरी यस्येति दृश्यते ॥ ऋ. प्रा. १६।३४

२. ताभ्यां परः षड्क्षरः प्र या तनुशिरा नाम । ऋ. प्रा. १६।३५

३. आद्यः पञ्चाक्षरः पादं उत्तरेऽष्टाक्षरास्त्रयः ।
अनुष्टुब्गर्भोष्णिक् सागस्त्येऽहित पितुं न्विति ॥ ऋ. प्रा. १६।३६

४. यह छन्द अधिक महत्त्व का है, ऋग्वेद में उल्लेख है कि उच्च रव से बुलाने पर इन्द्र शीघ्र आता है, यह ऋषियों की अध्यात्म-शक्ति से ज्ञात हुआ।

५. द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः १६।३७

(१) कृति—जिसके प्रथम, एवं द्वितीयपाद में १२-१२ अक्षर होते हैं, तृतीय पाद ८ अक्षरों का हो वह 'कृति-अनुष्टुप्' होता है।[1]

१२ + १२ + ८ = ३२

उदाहरण—

मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो।
गृहेभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः॥

(२) पिपीलिकामध्या[2]—जिसका प्रथमपाद १२ अक्षर, द्वितीय पाद ८ अक्षर, एवं तृतीय पाद १२ अक्षरों से युक्त हो तो वह 'पिपीलिकामध्या' अनुष्टुप् होता है।[3]

१२ + ८ + १२ = ३२

उदाहरण—

पर्यूषु प्रधन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे॥

(३) काविराट्—जिसमें प्रथमपाद ९ अक्षर, द्वितीयपाद १२ अक्षर एवं तृतीयपाद ९ अक्षर से युक्त हो उसे 'काविराट् अनुष्टुप् कहते हैं।[4]

९ + १२ + ९ = ३०

उदाहरण—

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य। प्रार्चद् दयमानो युवा कुः॥

(४) नष्टरूपा—जिसके प्रथमपाद में ९ अक्षर, द्वितीयपाद में १० अक्षर, एवं तृतीय पाद में १३ अक्षर हों, उसे नष्टरूपा अनुष्टुप् कहते हैं।[5]

९ + १० + १३ = ३२

---

१. कृतिर्द्वौ द्वादशाक्षरावेकश्चाष्टाक्षरः परः। (ऋ. प्रा० १६।३८

२. पिपीलिकामध्या इस छंद की संज्ञा से भी इसके लक्षण को समझ सकते हैं—पिपीलिका मध्यभाग में कृश होती है, और इस छंद के तीन पादों में व्यवस्था भी उपर्युक्त आकार के समान ही है—

१२ + ८ + १२ = ३२

३. यस्यास्त्वष्टाक्षरा मध्ये सा पिपीलिकमध्यमा। ऋ० प्रा० १६।३९

४. नवकौ द्वादशी द्व्यूना ता विद्वांसेति काविराट्। ऋ. प्रा० १६।४०

५. तेषामेकाधिकावन्त्यौ नष्टरूपा वि पृच्छामि। ऋ. प्रा. १६।४१

उदाहरण—

वि पृच्छामि पाक्या ३ न देवान् वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा। पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ॥

(५) विराट्—यदि १०–१० अक्षरों से युक्त तीन पाद अथवा ११–११ अक्षरों से युक्त तीन पाद हों तो, वे 'विराट् अनुष्टुप' कहे जाते हैं।[1]

१० + १० + १० = ३० अथवा ११ + ११ + ११ = ३३

उदाहरण—

(क) श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर् बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्। कृष्वा दुवास्तपन्तमा सचेमा ॥

(ख) अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोपयातम अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा ॥



४—'बृहती'

बृहती छंद प्रायः चार पाद एवं ३६ अक्षर से युक्त रहता है, इसके तीन पाद ८–८ अक्षरवाले एवं तृतीयपाद १२ अक्षरवाला होता है।[2]

८ + ८ + ८ + १२ = ३६

उदाहरण—

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत।

(१) पुरस्ताद्बृहती—जिसका प्रथम पाद १२ अक्षर का हो, एवं अन्तिम तीन पाद ८–८ अक्षर के हों उसे 'पुरस्ताद्बृहती' कहते हैं।

उदाहरण—

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥

(२) उपरिष्टाद्बृहती—जिसके प्रथम तीन पाद ८–८ अक्षर के हों

१. दशाक्षरास्त्रयो विराट्त्रयो वैकादशाक्षराः ॥ (ऋ० प्रा० १६।४२)

२. चतुष्पदा तु बृहती प्रायः षट्त्रिंशदक्षरा।
अष्टाक्षरास्त्रयः पादास्तृतीयो द्वादशाक्षरः ॥ ऋ. प्र. १६।४५

एवं अन्तिम चतुर्थ पाद १२ अक्षर का हो, तो वह 'उपरिष्टाद् बृहती' छन्द होता है।

८ + ८ + ८ + १२ = ३६

उदाहरण—

शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा ।
शर्म यच्छन्तु सप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः ॥

(३) उरोबृहती—जिसमें प्रथम पाद ८ अक्षर, द्वितीय पाद १२ अक्षर, एवं अन्तिम दो पाद ८–८ अक्षर के हों वह 'ऊरोबृहती' होती है।[1]

८ + १२ + ८ + ८ = ३६

इसे स्कन्धोग्रीवी, न्यङ्कुसारिणी भी कहा जाता है—

उदाहरण—

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः ।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥

(४) विराट्उर्ध्वबृहती—जिसमें तीन पाद १२–१२ अक्षर के हों, उसे विराट् उर्ध्वबृहती कहते हैं। इसे महाबृहती, सतोबृहती, उर्ध्वबृहती आदि अनेक नामों से भी कहा जाता है।[2]

१२ + १२ + १२ = ३६

उदाहरण—

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः। सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥



१. प्रथम तीन भेदों (पुरस्ताद् बृहती, उपरिष्टाद्बृहती, उरोबृहती) के लक्षण इस प्रकार हैं।

पुरस्ताद्बृहती नाम प्रथमे द्वादशाक्षरे ।
उपरिष्टाद् बृहत्यन्त्ये द्वितीये न्यङ्कुसारिणी ।
स्कन्धोग्रीव्युरोबृहती त्रेधैनां प्रतिजानते ॥ ऋ. प्रा. १६।४६

२. त्रयो द्वादशका यस्याः सा होर्ध्वबृहती विराट् । ऋ. प्रा. १६।४७

५—पंक्ति

पाँच पादों से युक्त, ४० अक्षरों के छंद का नाम पङ्क्ति है।[1]

८+८+८+८+८=४०

उदाहरण—

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषू तमर्भे हवामहे स वाजेषु प्रनोऽविषत्॥

(१) विराट् पंक्ति—१०-१० अक्षरों के चार पाद जिसमें हों उसे विराट् पंक्ति कहते हैं।[1]

१०+१०+१०+१०=४०

उदाहरण—

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥

(२) सतोबृहती—जिसके द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में ८-८ अक्षर, और प्रथम एवं तृतीय पाद १२-१२ अक्षर का हो, तो उसे 'सतोबृहती' कहते हैं।[2]

१२+८+१२+८=४०

उदाहरण—

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः॥

६—त्रिष्टुप्

४४ अक्षरों वाला छंद त्रिष्टुप् होता है। इसमें ११-११ अक्षर के चार पाद होते हैं।[3]

११+११+११+११=४४

उदाहरण—

पिबा सोममभि यमुग्र तर्द उर्ध्वं गव्यं महि गृणान इन्द्रवियो धृष्णो वधिषो वज्र हस्तविश्वा वृत्रममित्रियां शवोभिः।

---

१. पंक्तिरष्टाक्षराः पञ्च। ऋ. प्रा. १६।५४

२. चत्वारो दशका विराट्। ऋ० प्रा० १६।५५

३. युग्मावष्टाक्षरौ पादावयुजो द्वादशाक्षरौ सा सतोबृहती नाम। ऋ० प्रा० १६।५७

४. चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुबक्षराणि चतुष्पदा एकादशाक्षरैः पादैः ऋ० प्रा० १६।६४

(१) ज्योतिष्मती—जिसके तीन पाद १२–१२ अक्षर के हों, एवं एक पाद ८ अक्षर का हो, उसे 'ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्' कहा जाता है।[1]

१२ + १२ + १२ + ८ (किसी भी पाद में) ४४

उदाहरण—

यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत् काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवा अहं हुवइन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ॥

(२) विराटस्थाना—जिसमें एक अथवा अनेक पाद ९ या १० अक्षरों का हो, या एक अथवा अनेक पाद ११ अक्षर के हों तो वह 'विराटस्थाना त्रिष्टुप्' कहा जाता है।[2]

उदाहरण—

श्रुधी हवमिन्द्रा रिषण्यः स्याम ते दानव वसूनाम् ।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥

इस छन्द में अक्षर संख्या से अनेक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

जैसे— [illegible]+१० + १० + ११ = ४०
९ + ९ + १० + ११ = ३९
९ + १० + ११ + ११ = ४१

(३) यवमध्या—जिसके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम पाद में ८-८ अक्षर हों, एवं तृतीय पाद १२ अक्षर का हो उसे 'यवमध्या त्रिष्टुप्' कहा जाता है।[3]

८ + ८ + १२ + ८ + ८ = ४४

उदाहरण—

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्यरेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ॥

---

१. त्रयश्च द्वादशाक्षरा एकश्चाष्टाक्षरः क्वचित् ।
एषा ज्योतिष्मती नाम ततो ज्योतिर्यंतोऽष्टकः ॥ ऋ० प्रा० १६।७०

२. नवको दशको वास्यादेकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभः ।
एकादशाक्षरश्चापि विराट् स्थाना ह नाम सा ॥ ऋ० प्रा० १६।६

३. यवमध्या तु मध्यमे । ऋ० प्रा० १६।७७

७—जगती

४८ अक्षर एवं, १२–१२ अक्षरों के चारपादों से युक्त छंद को जगती छंद कहते हैं।[1]

१२+१२+१२+१२ = ४८

उदाहरण—

प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आन धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजंधिरे॥

(१) महापङ्क्ति जगती—जिस छन्द में ८–८ अक्षरों के ६ पाद हों, वह 'महापङ्क्ति जगती' होती है।[2]

८+८+८+८+८+८ = ४८

उदाहरण—

महि वो महतामवो वरुणमित्र दाशुषे।
यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशद्
अनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥

(२) महासतोबृहती—जिस छन्द में तीनपाद ८–८ अक्षरों के एवं दो पाद १२–१२ अक्षरों के हों, उसे 'महासतोबृहती' जगती कहा जाता है।[3]

८+८+८+१२+१२ = ४८

उदाहरण—

आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि।
तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा॥

यहाँ तक प्रमुख छन्दों के लक्षण एवं तत्तत् छन्दों के कतिपय प्रमुख प्रभेदों का विश्लेषण किया गया है।

---

१. पञ्चाशज्जगती द्व्यूना चत्वारो द्वादशाक्षरा तदस्या बहुलं वृत्तम्
ऋ० प्रा० १६।१।७४

२. महापङ्क्तिः षळष्टकाः। ऋ० प्रा० १६।१।७५

३. महासतो बृहत्यर्धे व्यूहयोरेतयोः सह।
संपाते त्वेति पादान्ते देववान् सप्तविंशके॥ ऋ० प्रा० १६।१।७७

षष्ठ अध्याय

देवता--परिचय

देवता लक्षणः—सिद्धान्त कौमुदी में 'सास्य देवता' [1] सूत्र की विवृत्ति में 'देवता' शब्द के दो लक्षण दिये गये हैं। १. त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्य-विशेषो देवता' २. 'मंत्र-स्तुत्या च'। प्रथम लक्षण का अर्थ है: 'जिसके उद्देश्य से आज्य आदि हविर्द्रव्य का याग किया जाय उसे देवता कहते हैं।' यह लक्षण श्रौतसूत्रानुसारी है। द्वितीय लक्षण निरुक्त के अनुसार है, जिसका अर्थ है 'मन्त्र से जिसकी स्तुति की जाय वह देवता है।' उपर्युक्त लक्षणों में प्रथम लक्षण 'यज्ञोपयोगी मात्र' है। देवता स्वरूप के परिचायक द्वितीय लक्षण का ही सर्वत्र उपयोग होता है।

देव शब्द व्युत्पत्ति—दिवादि परस्मैपदी 'दिवु' धातु से अच् प्रत्यय करने पर 'देव' शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ में 'दिवु' धातु के दस अर्थों का परिगणन कराया गया है।[2] जिसके अनुसार 'देव' शब्द का अर्थ होता है—दीव्यति, व्यवहरति, द्योतते, मोदते, वा इति देवः। व्यवहार से सत्ता, द्युति से प्रकाश एवं मोद से आनन्द सूचित होता है।

'द्युति' भौतिक प्रकाश नहीं है। वह स्वप्रकाश 'चित्' है। स्वप्रकाश का अर्थ है 'स्वव्यवहार में किसी दूसरे सजातीय पदार्थ की अपेक्षा न रखनेवाला प्रकाश। 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' ही स्वप्रकाश का लक्षण है।

मोद का अर्थ क्षणभंगुर विषयानन्द नहीं है, अपितु नित्य निरतिशयानन्द है। अतः 'देव' शब्द का अर्थ सच्चित् एवं आनन्दस्वरुप ब्रह्म तत्त्व हुआ। वह एक है, माया के सम्पर्क से उसमें अनेकत्व की कल्पना

---

१. सि० कौ० (४।२।२४)।

२. पा० धा० पा० (११०७) १– क्रीडा, २–विजिगीषा, ३– व्यवहार, ४– द्युति, ५– स्तुति ६–मोद, ७– मद, ८. स्वप्न, ९–कान्ति, १०–गति।

होती है। अब 'देव' शब्द का अर्थ हुआ 'मायावशात् दीव्यति, क्रीडति विविधसृष्टिरचनालक्षणां क्रीडां कुरुते इति देवः' अर्थात् माया से वेष्टित ब्रह्म ईश्वर।

वेदार्थभास्कर यास्काचार्य ने लोकोत्तर चातुरी द्वारा 'देव' शब्द का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण निर्वचन किया है—

'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवति वा यो देवः सा देवता इति (निरुक्त ७.१५) निर्वचन का तात्पर्य है 'दाता, वर-प्रदाता, द्योतमान, अर्थात् तेजः पुञ्जमूर्ति द्युलोक के निवासी व्यक्तिविशेष 'देवता' पदवाच्य है।

देवता : वैदिक सरणि

निघण्टु के ५ वें अध्याय में तथा 'निरुक्त' दैवतकाण्ड के ७ से १२ वें तक ६ अध्यायों में १५१ देवताओं का निरुपण है। निघण्टु के ५ वें अध्याय में ६ प्रकरण हैं, जिनकी यास्काचार्य ने क्रमशः एक-एक अध्याय में व्याख्या की है। निघण्टु के पंचम अध्याय के प्रथम तीन प्रकरणों में क्रमशः ३ + १३ + ३६ = ५२ पृथ्वी स्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। चतुर्थ एवं पंचम प्रकरण में क्रमशः ३२ + ३६ = ६८ अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं का निर्देश है। षष्ठ प्रकरण में ३१ द्युस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं।

मन्त्र-पदाद्यनुक्रमणिका में अकारादिवर्णानुक्रम से २७२ देवताओं का निर्देश किया गया है।[1] पं. सातवलेकर द्वारा संपादित 'दैवत-संहिता' में देवता संख्या २०३ ही है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि संख्या की इस विषमता का क्या कारण है? इसका प्रमुख कारण देवता के लक्षण का 'संकोच-प्रसार' है। ऋक् सर्वानुक्रमणी की दृष्टि में देवता का व्यापक लक्षण है 'या स्तूयते सा देवता' निष्कर्ष यह है कि स्तोता ऋषि है और स्तूयमान देवता है। इसी हेतु अनुक्रमणीकार दान, विवाह आदि को भी देवता श्रेणी में स्थान देते हैं। परन्तु निरुक्तकार यास्काचार्य देवता के लक्षण को संशोधित करते हैं। उनका मंतव्य यह है कि केवल स्तुति से ही देवता सिद्ध नहीं हो सकती, अपितु स्तोता की स्तुति से प्रसन्न देवता; जो स्तोता की अभीष्ट-

---

१. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर (प्रकाशक)

सिद्धि में समर्थ हो, वही देवतापदवाच्य है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवता-यामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"[1] तात्पर्य यह है कि जिस देवता के प्रसन्न होने पर अभीष्ट लाभ की इच्छा से स्तोता ऋषि; जिस स्तुति—मन्त्र का प्रयोग करता है, उस मंत्र का वही देवता होता है। अर्थात् जो देवता अपने भक्त की अभीष्ट-सिद्धि करने में अपूर्व शक्ति रखता हो, वह देव उस मंत्र का देवता होता है। इस आशय का एक मंत्र है, जिससे यह प्रकाशित होता है कि जिसके उद्देश्य से हवन-स्तवन किये जायँ और जो प्रसन्न होकर आराधक की अभीष्टसिद्धि का कारण बने, वह देवता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।[2]

अर्थात् हे जगत्स्वामी परमात्मा ! यह सब आपसे ही उत्पन्न हुआ है। आपसे भिन्न इनका कोई पालक या अधिष्ठाता नहीं है। अतः जिस फल की कामनावाले हम आपको उद्देश्य करके हवन करते हैं आपकी कृपा से हमें वह अभीष्ट फल प्राप्त हो।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया देवतालक्षण इस प्रकार है—'अभीष्टसिद्धिहेतु दिव्यशक्तिसम्पन्नत्वे सति मन्त्रस्तुत्यत्वम्'।

देवताओं की संख्या २७२ में स्तोतव्यता रूप सादृश्य से १२७ उपदेव संगृहीत हैं, वे सब निकाल देने पर १४५ देव शेष रहते हैं। उनमें से १२१ देवताओं का सभी आचार्यों ने समानरूप से निर्देश किया है। शेष २४ देवताओं के विषय में मतभेद है।

निघण्टु की १५१ देवताओं की नामावली में ६ देव ऐसे पठित हैं, जो ऋग्वेद की उपलब्ध शाखा में नहीं हैं—

१. देवी जोष्ट्री—निघण्टु ५।३।३५, निरुक्त-६।४२, मै० सं० ४।१३।८, तै० ब्रा० ३।६।१३)

२. देव ऊर्जाहुति— (निघण्टु ५।३।३६, निरुक्त ६।४३, मै० सं० ४।१३।८ तै० बा० ३।६।१३)।

---

१. निरुक्त ७।१ २. ऋ० वे० १०।१२१।१०

३. वाचस्पति—(निघण्टु ५।४।१०, निरुक्त १०।१८, अथर्व १।१।२)

४. सप्तर्षयः—निघण्टु ५।६।२५, निरुक्त १२।३७, वा० सं० ३४।५५, अथर्व १०।८९)

५. कुहू— (निघण्टु ५।५।२३, निरुक्त ११।३३, अथर्व ७।४७।१)

६. वसवः— (निघण्टु ५।६।२९, निरुक्त १२।४२, वा० सं० ८।१८)

यास्काचार्य एवं सायणाचार्य के देवताविषयक मत-भेद

ऋग्वेद की 'देवता' के विषय में यास्क एवं सायण के मत में अत्यधिक भिन्नता है। यह भिन्नता स्वयं ही अध्येताओं को अनुसंधान में प्रवृत्त करती हैं। 'देवता' के स्वरूप में भिन्नता आने से अर्थ भी भिन्न हो जाता है। सायण से पूर्व यास्क हुए हैं। यास्काचार्य की अध्ययन शैली लोकानुसारी है परन्तु सायणाचार्य की दृष्टि मंत्रानुसारी है। प्रस्तुत प्रसंग में हम उन स्थलों को संकेतित कर रहे हैं जहाँ भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है—

पृथ्वीस्थानीय देवता

देवता नाम	यास्काचार्य	सायणाचार्य
शकुनि[1]	शकुनि	कपिञ्जलरूपी इन्द्र
द्रुघण[2]	द्रुघण	इन्द्र
	रात्रि[3]	रात्रि देवता
	ऋग्वेद से उदाहरण यास्क ने नहीं दिया है। परन्तु सायणाचार्य, ऋग्वेदीय देवता स्वीकार करते है।	
हविर्धाने[4]	हविर्धान	द्यावापृथिवी देवत्यौ वा
शुनासीरौ[5]	वाय्वादित्यौ	इन्द्रवायु एवं इन्द्रादित्यौ
शुन[6]	देवता	शुनाख्यो वाय्विन्द्रयोरन्यतरोदेवः

---

१. ऋ० वे०—२।४२।१.
२. ऋ० वे० १०।१०२।९,
३. ऋ० वे० १०।१२७।१
४. ऋ० वे० २।४१।२१,
५. ऋ० वे० ४।५७।५,
६. ऋ० वे० ४।५७।५

मध्यस्थानीय देवता

देवता	यास्काचार्य	सायणाचार्य
अग्नि[1]	वैद्युदग्नि	विद्युत् और पार्थिव अग्नि
अग्नि[2]	धर्म	
क[3]	देवता	कः, प्रजापति
तार्क्ष्य	देवता	सुपर्ण
वात[5]	वात	वायु बायु, के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि यास्क वात एवं वायु में भेद स्वीकार करते हैं, परन्तु सायण अथवा अनुक्रमणीकार भेद नहीं मानते।
ऋत्[6]	देवता	इन्द्रो वा आदित्यो वा सत्यं वा यज्ञो वा अग्नि
अहिर्बुध्न्य[7]	देवता	अग्नि
विश्वानर[8]	विश्वानर	वैकुण्ठ इन्द्र
विश्वानर[9]	वायु	सर्वेषां नेता (सविता)
विधाता[10]	देवता यास्क नें प्रस्तुत स्थल में विधाता को देवता कहा है, और धाता को स्पष्ट करने हेतु अथर्ववेद का उदाहरण दिया है (अ० वे० ७।१७।२)	सायण धाता, विधाता दोनों को विदेवता स्वीकार करते हैं।

---

१. ऋ० वे० ४।५८।८,
२. ऋ० वे० १०।८५।४०
३. ऋ० वे० १०।१२१।१-८
४. ऋ० वे० १०।७८।१,
५. ऋ० वे० १०।१८६।१,
६. ऋ० वे० ४।२३।८
७. ऋ० वे० ७।३४।१७
८. ऋ० वे० १०।५०।१,
९. ऋ० वे० ७।७६।१
१०. ऋ० वे० १।१६७।३

मध्यस्थानीय स्त्री देवता

सरस्वती[1]	माध्यमिका वाक्	नदी
अनुमति[2]	यास्क ऋग्वेदीय उदाहरण नहीं देते	देवता
स्वस्ति[3]	देवता	विशेषण पृथिवी
पथ्या[4]	उदाहरण नहीं।	पथियोग्य सोदकदेश
इळा[5]	देवता	भूमि, गोरूपधरा मनोः पुत्री, माध्यमिका वाक्।
उर्वशी[6]	देवता	देवता, परन्तु अन्य स्थानों पर माध्यमिकी वाक्, आदित्याख्या द्युस्थान देवता।

द्युस्थानीय देवता

सविता[7]	आदित्य	मध्यस्थान देवता
सरण्यू[8]	देवता	मध्यमस्थान
वृषाकपायि[9]	आदित्यस्यपत्नी	इन्द्राणी
वृषाकपि[11]	आदित्य	वृषाकपि, देव,
समुद्र[12]	द्युस्थान देवता	अंतरिक्षस्थ देवता

'एकदेवता वाद'

पाश्चात्य विद्वानों ने ब्रह्माद्वैतप्रतिपादक वेदों में बहुदेवतावाद का कलंक लगाने की व्यर्थ ही कुचेष्टा की है। वेद में तथा वेदानुगामी 'बृहद्देवता' आदि वैदिक ग्रन्थों में एकदेवतावाद का ही सुस्पष्ट प्रतिपादन है। निदर्शन हेतु ऋग्वेद में 'चित्रं देवानाम्'[13] इस मंत्र के चतुर्थपाद में 'सूर्य आत्मा

---

१. ऋ० वे० १।३।१२, २. ऋ० वे० १।५६।६,
३. ऋ० वे० १०।६३।१६, ४. ऋ० वे० १०।६३।१५,
५. ऋ० वे० ५।४१।१६, ६. ऋ० वे० १०।६५।१०,
७. ऋ० वे० ५।४१।१६, ८. ऋ० वे० १०।१७।१,
९. ऋ० वे० १०।१७।२, १०. ऋ० वे० १०।८६।१३
११. ऋ० वे० १०।८६।२१, १२. ऋ० वे० ६।७३।४।
१३. ऋ० वे० १।११५।१,

जगतस्तस्थुषश्च' स्थावर-जंगम (जड-चेतन) समस्त विश्व का आत्मा एक ही सूर्य कहा गया है। 'ब्रह्म यज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्'[1] इस मंत्र में भी 'प्रजापति' रुप एक ही देवता वर्णित है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[2] अर्थात् एक 'सत्, चित्, आनन्दस्वरुप परब्रह्म तत्व को विद्वान् यम, वरुण, आदि अनेक देवताओं के रुप में व्यवहृत करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वेद में एक देवतावाद का ही प्रतिपादन हुआ है।

बृहद्देवता[3] में शौनकाचार्य ने स्पष्टरुप से सूर्य एवं प्रजापति को एक देवता के रूप में प्रतिपादित किया है। यास्काचार्य भी 'एकस्य सत:'[4] इस वचन से एकेश्वरवाद का ही मुक्तकण्ठ से समर्थन करते हैं। 'एकस्य सत: कथन का तात्पर्य है कि वस्तुत: ब्रह्मात्मतत्त्व ही एकमात्र ईश्वरतत्त्व है, उसमें होनेवाले त्रित्व के व्यपदेश का कारण पृथिव्यादि स्थानभेद एवं दाह, वृष्टि, प्रकाश आदि भिन्न-भिन्न कार्यकारिता है।

पाश्चात्यों का यह कहना कि 'अनेक देवता से एक देववाद का विकास हुआ है' अर्थात् आरम्भ में बहुदेवतावाद रहा, फिर विकास होने पर एक देवतावाद का जन्म हुआ। विकास-ह्रास की यह धारणा निराधार, मिथ्या है इसको तर्कसंगत नह कहीं सकते, अपितु नितान्त उपहसनीय है। क्योंकि विकास-ह्रास की यह कल्पना नितान्त निराधार है। विकास और ह्रास, देश-काल-वस्तु सापेक्ष होता है। सर्वथा ह्रासोत्तर विकास मानना नितान्त भूल है। यदि बाल्य-विकास, यौवन में है तो यौवन का ह्रास, वृद्धावस्था में सर्वानुभूत है। अत: ह्रासोत्तर विकास का प्रतिपादन नितान्त असंगत है। न्यायकुसुमाञ्जलिकार ने वर्तमान को ह्रास युग कहकर, ओजस्वी शब्दों में उत्तरोत्तर विकास के नियम का खण्डन किया है—

जन्मसंस्कारविद्यादे: शक्ते: स्वाध्यायकर्मणो: ।
ह्रासदर्शनतो ह्रास: सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥

(स्तबक २, कारिका ३)

मधुच्छन्दा ऋषि के भ्राता वैश्वामित्र प्रजापति का सूक्त[5] एकेश्वर वाद के पक्ष का पुष्ट प्रमाण है। इस सूक्त की २२ ऋचाओं में अन्तिम

---

१. वा० सं० १३।३,
२. ऋ० वे० १।१६४।४६
३. बृहद्देवता १।६२।६३,
४. निरुक्त ७।५।
५. ऋ० वे० ३।५५।

चरण 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'—यहाँ एकेश्वरवाद का पुष्ट प्रमाण है 'असुर' शब्द का अर्थ सुर–विरोधी राक्षसादि नहीं है अपितु उसका अर्थ है—'असुः प्राणो विद्यते यस्मिन् स असुरः' अर्थात् 'जिसमें प्राण, बल या सामर्थ्य हो वह असुर है'। तात्पर्य यह कि देवों की महती शक्ति एक ही है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि देवता एक ही है, देववर्ग उसी का प्रपंच या विस्तार है।

एकदेवतावाद की पुष्टि में एक–दो वेदवाक्य और भी प्रमाणरुप में दिये जा सकते हैं—

> रुपं रुपं मघवा बोभवीति
> मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ॥
> (ऋ० वे० ३।५३।८)

अर्थात् एक ही इन्द्रदेव अपनी माया शक्ति के प्रभाव से अनन्त देवों के रुप में व्यक्त होते हैं। 'इन्द्रो मायाभिःपुरुरुप ईयते' (ऋ० वे० ६।४७।१८) इत्यादि मंत्र में भी मायाशक्ति के प्रभाव से इन्द्र का बहुरुप-धारण स्पष्ट ही है। एक अन्य उदाहरण भी एकदेवतावाद को ही प्रतिष्ठित कर रहा है।

> सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
> (ऋ० वे० १०।११४।५)

अर्थात् आर्त भक्तों की पुकार सुनकर उनकी रक्षा के लिए शीघ्र शोभन गतियुक्त प्रभु प्रारम्भ में एक ही है, फिर भी मेधावी विद्वान् उनकी अनेक देवताओं के रुप में कल्पना करते हैं।

> 'यो देवानां नामधा एक एव' (ऋ० वे० १०।८२।३)
> 'यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे' (ऋ० वे० १०।८२।६)

अर्थात् जो परमात्मा एक ही देव हैं, पश्चात् अनेक देवताओं के नाम को धारण करता है, समस्त देव जिस एक मात्र देव में अन्तर्भूत होते हैं।

इसके अतिरिक्त एक तथ्य को पाठक समझलें की कारण से ही कार्य का विकास होता है। कार्य से कारण के विकास का समर्थन विवेकी नहीं कर सकता। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, स्मृत्यादि समस्त ग्रन्थ एकमत से सृष्टि का मूलकारण आरम्भ में एक ही स्वीकार करते

है। उस एक तत्व से जैसे सृष्टिरूप में विविध पदार्थों का विकास हुआ है वैसे ही एक देव से अनेक देवों का विकास तो बुद्धिग्राह्य है, परन्तु अनेक देवों से एक देवता का विकास मिथ्या एवं कदापि; विद्वन्मान्य नहीं हो सकता।



निरुक्त-निघण्टु-अनुसारी देव संख्या

देवता विचार के प्रतिपादन के अनन्तर देवता संख्या एवं उनके स्थानों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे पाठकवृद को सौकर्य रहेगा। प्रस्तुत देवता सूचि में काले स्थूल अक्षरों द्वारा निदर्शित देवताओं का विस्तृत परिचय 'कोष' रूप में दिया जारहा है, जिससे तत्-तद् देवता के विषय में पाठक अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

पृथिवी स्थानीय देवता

पृथ्वी स्थानीय ५२ देवता हैं—

अग्निः, जातवेदाः, **वैश्वानरः**, द्रविणोदाः, इध्मः, तनूनपात्, नराशंस, इळः, **बर्हिः** द्वारः, उषासानक्ता, दैव्योहोतारा, तिस्रोदेवीः, त्वष्टा, वनस्पतिः, स्वाहाकृतयः, अश्वः, शकुनिः, मण्डूकाः, अक्षाः, ग्रावाणः, नाराशंसः, **रथः**, दुन्दुभिः, इषुधिः, हस्तघ्नः, अभीषवः, धनुः, ज्या, इषुः, **अश्वाजनी**, उलूखलम्, वृषभः, द्रुघणः, पितुः, नद्यः, आपः, ओषधयः, रात्रिः, **अरण्यानी**, श्रद्धा, पृथिवी, **अप्वा**, अग्नायी, उलूखल- मुसले, हविर्धाने, द्यावापृथिवी, विपाट्छुतुद्री, आर्त्नी, शुनासीरौ, देवीजोष्ट्री, देवीऊर्जाहुती।[1]

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

अन्तरिक्षस्थानीय ६८ देवता हैं—

वायुः, **वरुणः**, **रुद्रः**, **इन्द्रः**, पर्जन्यः **बृहस्पतिः**, **ब्रह्मणस्पतिः**, क्षेत्रस्यपतिः, वास्तोष्पतिः, वाचस्पतिः, अपांनपात्, यमः, मित्रः, **सरस्वान्**, **विश्वकर्मा**, तार्क्ष्यः, मन्युः, दधिक्राः, **सविता**, त्वष्टा, वातः, **अग्निः**, वेनः, असुनीतिः, ऋतः, इन्दुः, प्रजापतिः, अहिः, अहिर्बुध्न्यः, सुपर्णः, **पुरूरवाः**, **श्येनः**, **सोमः**, **चन्द्रमाः**, मृत्युः, विश्वानरः, **धाता**, विधाता, **मरुतः**,

1. निघण्टु ५।१, ५।२, ५।३।

रुद्राः, ऋभवः अङ्गिरसः, पितरः अथर्वाणः, भृगवः, आप्त्याः, अदितिः, सरमा, सरस्वती, वाक्, अनुमतिः, राका, सिनीवाली, कुहूः, यमी, उर्वशी, पृथिवी, इन्द्राणी, गौरी, गौः, धेनुः, अघ्न्या, पथ्या, स्वस्तिः उषाः इळा, रोदसी।[१]

द्युस्थानीय देवता

द्युस्थानीय ३१ देवता हैं—

अश्विनौ, उषाः, सूर्या, वृषाकपायी, सरण्यूः, त्वष्टा, सविता, भगः, सूर्यः, पूषा, विष्णुः, विश्वानरः, वरुणः, केशी, केशिनः, वृषाकपिः, यमः अजएकपात्, पृथिवी, समुद्रः, अथर्वा, मनुः, दध्यङ्, आदित्याः, सप्त ऋषयः, देवाः, विश्वेदेवाः, साध्याः, वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यः।[२]



१. वरुण

ऋग्वेद में इन्द्र के व्यतिरिक्त वरुण देवता अत्यन्त महत्त्व की है। वरुण का महत्त्व स्तुतिपरक मंत्रों की संख्या से होना असम्भव है। क्योंकि वरुण के स्तुति परक १० या १२ सूक्त ही हैं।

वरुणदेवता के विषय में शारीरिकगुणों की अपेक्षा नैतिक गुणों का महत्त्व अधिक प्रतीत होता है। वरुण के शारीरिक स्वरुप और अंगायुधों के विषय में अत्यल्प उदाहरण प्राप्त होते हैं। वरुण के मुख, शिर, बाहू, हाथ पैर आदि अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। वरुण का मुख अग्नि के समान तेजोदीप्त, है।[३] मित्रावरुण का नेत्र सूर्य है।[४] वरुण नेत्रों से मानव जाति को देखता है।[५] वह नेत्र निःसंशय सूर्य ही है। वरुण दूरदृष्टि-सम्पन्न[६] एवं सहस्त्र नेत्रों[७] से युक्त है। मित्रावरुण अपने हाथ प्रसारितकर सूर्य किरणों

---

२. निघण्टु ५।४, ५।५,

१. निघण्टु ५।६।

२. ऋ० वे० ७।२८।२।

३. ऋ० वे० १।१५।१, ६।५१।१, ७।६१।१, ७।६६।११०।

४. ऋ० वे० १।५०।६।

५. ऋ० वे० १।२५।५, १६, ८।९०।२।

६. ऋ० वे० ७।३४।१०

का बाहु के समान उपयोग करके मार्ग को आक्रांत करते हैं।[1] सविता एवं त्वष्टा के समान उसके हाथ सुन्दर (सुपाणि) हैं। मित्र एवं वरुण स्वतः के पैरों से त्वरित चलते हैं।[2] वरुण यज्ञ में विस्तीर्ण दर्भों के ऊपर विराजमान होता है।[3] वरुण सोमपान भी करता है।[4] वरुण का द्रापी धारण करता है उसके वस्त्र अत्यन्त निर्मल तेजस् युक्त होते हैं।[5]

वरुण सुन्दर, पीतनेत्र, खल्वाट, वृद्ध है। वरुण के आयुध वाहनादि का भी वर्णन है, उनमें उसके रथ का वर्णन अतीव मनोहारि हैं वह रथ सूर्य के समान तेजस्वी है—उसमें अश्व जुते हैं।[6] मित्र एवं वरुण अपने रथ में अत्युच्च आकाश मार्ग में आरोहण करते हैं।[7]

वरुण का निवास स्थान स्वर्ग में सुवर्ण निर्मित है।[8] वरुण वहीं से सम्पूर्ण कृत्यों का अवलोकन करता है।[9] उसका घर अत्यन्त विशाल एवं सहस्त्र स्तम्भों[10] एवं सहस्त्र द्वारों से सुशोभित है।[11] सर्वदर्शी सूर्य मानवों के कृत्यों का समाचार देने के लिए वहाँ स्वयं जाता हैं।[12] एवं उस अलौकिक घर में प्रवेश करता है।[13] अत्युच्च अन्तरिक्ष में वरुण, नित्यों को गोचर होता है।[14] शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि 'सम्पूर्ण जगत् का राजा वरुण आकाश में मध्य स्थान में अधिष्ठित होकर सम्पूर्ण शासन-स्थलों का अवलोकन करता है।[15]

वरुण की शासन व्यवस्था दूत–सापेक्ष है। वे दूत उसके परितः बैठे रहते हैं।[16] ये दूत अपनी कुशलता के कारण कहीं पर भी पकड़े नहीं जाते।[17]

---

१. ऋ० वे० ८।६०।२ २. ऋ० वे० ५।६४।७
३. ऋ० वे० २६।४, ५।७२।२ ४. ऋ० वे० ४।४१।३
५. ऋ० वे० १।२५।१३ ६. ऋ० ५।६२।४
७. ऋ० वे० ५।६३।१ ८. ऋ० वे० ५।६७।२, १।१३६।२
९. ऋ० वे० १।२५–१०, ११,
१०. ऋ० वे० ५।६८।५, २।४१।५,
११. ऋ० वे० ७।२८।५, १२. ऋ० वे० ७।६०।१।३
१३. ऋ० वे० १।१५२।४ १४. ऋ० वे० १०।१४।८
१५. श० प० ब्रा० ११।६।११ १६. ऋ० वे० १।२४।१३
१७. ऋ० वे० ६।६७।५

'यम' एवं अन्य देवताओं के समान वरुण को कहीं पृथक् रूप में कहीं मित्र के सहित उसे राजा कहा है।[1] वह सबका अर्थात् देवों का, मानवों का[2] सम्पूर्ण संसार का[3] एवं अस्तित्व सम्पन्न पदार्थों का[4] राजा है। वह स्वावलम्बी राजा है।[5] 'क्षत्र' यह पद वरुण को प्राप्त है। वरुण एवं मित्र को असुरा आर्या भी कहा है।[6]

वरुण एवं मित्र की दैवी सत्ता को 'माया' कहा गया है। इस गूढ शक्ति के कारण वरुण आकाश में खडा होकर सूर्यरूप मानदण्ड से पृथ्वी को नापता है।[7] मित्र एवं वरुण उषाओं को भेजते हैं।[8] वरुण मधुबिन्दुओं का वर्षण करते हैं।[9] इस हेतु अनेक स्थलों पर 'मायिनः' विशेषण वरुण हेतु पठित है।[10]

इन्द्रादिदेवताओं के समान वरुण के सम्बन्ध में आख्यायिका नहीं के बराबर हैं—परन्तु वरुण का आधिभौतिक एवं नैतिक व्यवस्था के शासनाध्यक्ष होने का वर्णन बहुत प्राप्त होता है। सृष्टि के नियमों का अधिपति वरुण हैं। उसी ने पृथ्वी एवं आकाश की स्थापना की है और वही सम्पूर्ण संसार में वास करता है।[11] आकाश एवं पृथ्वी के त्रिक का स्थापन उसने स्वयं अपने में किया है।[12] सम्पूर्ण संसार का मित्रावरुण ही रक्षण करते हैं।[13] वरुण के ही नियमन से आकाश एवं पृथ्वी पृथक् हुई।[14] वरुण ही मित्रों के साथ, स्वर्ग का,[15] तथा पृथ्वी, स्वर्ग एवं आकाश का आधार भूत है।[16] वरुण के द्वारा स्थापित व्यवस्था से ही 'सूर्य' प्रकाश देता है।[17] वरुण ने ही जलनिधि में अग्नि, आकाश में सूर्य, एवं पाषाण में

१. ऋ० वे० १।२४।७,८,
२. ऋ० वे० १०।१३२।४, ४. ऋ० वे २।२७।१०
३. ऋ० वे० ५।८५।३ ४. ऋ० वे० ७।८७।६
५. २।२८।१ ६. ऋ० वे० ७।६५।२
७. ऋ० वे० ५।८५।५ ८. ३।६१।७
९. ऋ० वे० ५।६३।४
१०. ६।४८।१४, ७।२८।४, १०।९९।१० ११. ऋ० वे० ८।४२।१
१२. ऋ० वे० ७।८७।५ १३. ऋ० वे० २।२७।४
१४. ऋ० वे० ६।७०।१, ७।८६।१, ८।४१।१०
१५. ऋ० वे० ५।६२।३, १६. ऋ० वे० ५।६९।१,४
१७. ऋ० वे० ७।८७।५

सोम का स्थापन किया है।[1] आकाश में प्रवाहित वायु वरुण के ही श्वासोच्छ्वास हैं।[2] वरुण के ही आदेश से चंद्र रात्रि में प्रकाशित होता है—नक्षत्रगण भी उसी के नियम से चमकते है एवं दिन में अदृश्य हो जाते है।[3] वरुण ही अपनी गूढ शक्ति से रात्रि एवं दिन का निर्माण करता है।[4]

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर वरुण को जल का नियन्त्रक भी कहा है। वरुण के नियमन से नदियाँ जल से भरकर प्रवाहित होती हैं।[5] वरुण के ही गूढसामर्थ्य से समुद्र कभी भी पूर्ण भरता नहीं हैं।[6] मित्रा वरुण नदियों के अधिपति देव हैं।[7] मनुष्यों के सत्यासत्य का अवलोकन करता हुआ वरुण मधुस्त्रावी स्वच्छ जलों में भ्रमण करता है।[8] सोमका जैसे पर्वत से सम्बन्ध है वैसे ही वरुण का जल से है[9] द्युका पिता होने के कारण वह वृष्टि करता है।[10] यजुर्वेद में वरुण को जल का अपत्य कहा है—उसका घर जल में हैं;[11] जल—वरुण की पत्नी है।[12]

वरुण के विधान स्थिर हैं—इस हेतु उसका विशेषण 'धृतव्रत है। देव भी वरुण की आज्ञा मानते हैं।[13] अमरत्व प्राप्त देव भी मित्रावरुण के आदेश के परे नहीं जा सकते।[14] वरुण का सामर्थ्य इतना है जिसका अन्त न खेचरों (पक्षियों) को पता लगा न बहनेवाली नदियों को।[15], पक्षी एवं नदियाँ उसके क्रोध का प्रतीकार नहीं कर सकते।[16] वरुण सर्वज्ञ हैं। आकाश में पक्षियों का मार्ग वह जानता है—प्रवासरत वायु का भी मार्ग उसे ज्ञात है। जो आजतक हुआ है अथवा भविष्य में होगा उसे उसका पता रहता है।[17]

---

१. ऋ० वे० ५।८५।२ २. ऋ० वे० ७।८७।२

३. ऋ० वे० १।२४।१० ४. ऋ० वे० ८।४१।३

५. ऋ० वे० २।२८।४, ६. ऋ० वे० ५।८५।६१

७. ऋ० वे० ७।३४।२, ८. ऋ० वे० ७।४९।३

९. ऋ० वे० ३।३।३, १०. ऋ० वे० ४।१५।१२,

११. वा० सं० १०।७, १२. तै० सं० ५।५।४।१,

१३. ऋ० वे० ८। ७, १४. ऋ० वे० ५।६९४,

१५. ऋ० वे० १।१५०।९ १६. ऋ० वे० १।२४।६,

१७. ऋ० वे० १।२५।७, ९, ११,

उनके शासन के विरुद्ध कोई पलक भी नहीं झुका सकता।[1] मनुष्य जो कुछ भी करता है, जो योजना बनाता है वह वरुण जानता है।[2] वरुण कि सर्वज्ञता की तुलना अग्नि से होती है।[3] पापाचरण के द्वारा विधानों का उल्लंघन करने से वह रुष्ट हो जाता है, एवं दण्ड का विधान करता है।[4]

पापाचारी को वह अपने दिव्य पाश से दण्डित करता है।[5] यह असत्य भाषण करने वाले को पाश से तीनबार या चारबार वेष्टित करके दण्ड देता है। और जो सत्याचरण करता है उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं होता है।[6] मित्रावरुण असत्य को दूर करनेवाले, असत्य से द्वेष करनेवाले, एवं असत्य को दण्डित करने वाले हैं।[1] पश्चात्ताप अथवा अनुताप होने पर वह दयार्द्र होकर व्यवहार करते हैं, उन्हें पाश से मुक्त करते हैं।[2] वरुण मनुष्यों को स्वयं के पापों से, और पितरों के पापों से मुक्त करते हैं।[3] वरुण के पास शासन होने से उनके पास कई व्यवस्थाएँ भी हैं। वरुण मृत्यु को दूर करते ही हैं उसे उसके पातकों से भी मुक्त करते है।[4] वह आयु का न्यूनाधिक्य कर सकते हैं।[5] वरुण को 'अमृतस्य गोपा' कहा गया है।[6] वरुण के साधक, वरुण से स्वर्गीय धाम में आत्मैक्य प्राप्त करते हैं, और यदा कदा अपने मनश्चक्षुओं से उनका दर्शन करते हैं।[7]

वरुण शब्द वृञ्-आच्छादने' धातु से निष्पन्न है ऋग्वेद[8] में सायणाचार्य ने यही धातु गृहीतकर भाष्य किया है। अन्यत्र भी 'तै० सं० के[9] भाष्य में भी 'अन्धकार के समान व्यापने वाला' इसी प्रकार भाष्य किया गया है।

---

१. ऋ० वे० २।२०।६ — २. ऋ० वे० ४।१६।२,५
३. ऋ० वे० १०।११।१ — ४. ऋ० वे० ७।८६, ३, ४
५. ऋ० वे० ७।८६।३, १।२४।१५, १।२५।२१, ६।७४।४, १०।८५।२४
६. ऋ० वे० ४।१६।६
७. ऋ० वे० ४।१५२।१, ७।६०।५, ७।६६।१३
८. ऋ० वे० २।२८।५, ५।८५।७,८,
९. ऋ० वे० ७।८६।५ — १०. ऋ० वे० १।२४।६
११. ऋ० वे० १।२४।२१, १।२५।१२, ७।२८।४, ७।८९।१
१२. ऋ० वे० ८।४२।२ — १३. ऋ० वे० १।२५।१८, ७।८८।२
१४. ऋ० वे० १।८९।३ — १५. तै० सं० १।८।१६

२. अग्नि

'अग्नि' पृथिवी—स्थानीय अत्यधिक महत्त्वसम्पन्न देवता हैं। 'होम' में प्रत्यक्ष सम्बन्ध अग्नि से होने एवं देवता भी होने से अग्नि का महत्त्व द्विगुणित हो जाता है। ऋग्वेद में २०० स्वतंत्र सूक्त अग्नि को उद्देश्य करके पठित हैं, एवं अन्यत्र भी अन्य देवताओं के साथ उसकी स्तुति हुई है। अग्नि को अनेक विशेषण प्राप्त हैं। अग्नि घृत-पृष्ठ हैं।[१]

उसे घृतमुख भी कहा है।[२] उसकी जिह्वा सुन्दर है।[३] वह घृतकेश है। ज्वाला ही उसके केश हैं,[४] उसकी दाढें अत्यन्त तीव्र[५] एवं ज्वालायुक्त हैं।[६] उसके दांत सुवर्णमय हैं।[७] अग्नि को शीर्ष ज्वालायुक्त है[८] उसको 'त्रिशीर्ष' कहा गया है, उसके सात किरण हैं।[९] उसके 'चतुर्दिक्' मुख है।[१०] और तीन जिह्वा हैं,[११] अन्यत्र उसे सप्त जिह्वायुक्त भी कहा गया है।[१२] उसके अश्वों की भी सात जिह्वाएँ हैं।[१३] घृत, अग्नि का क्षेत्र है।[१४] अग्नि को कहीं चतुर्नेत्र[१५] अथवा सहस्रनेत्र[१६] कहा गया है—उसके सहस्र शृङ्ग हैं।[१७] वह धनुर्विद्या में निपुण है।[१८]

अग्नि का अनेक प्राणियों से साम्य प्रदर्शित कर उसके स्वरूप को पुष्ट किया गया है। अग्नि को वृषभ संज्ञा प्राप्त है।[१९] अग्नि में पुरुषत्व अत्यधिक है।[२०] वह अपने शृंगों को हिलाता रहता है इस हेतु से पकड़ना असम्भव है। अग्निको अन्यत्र 'अश्व' भी कहा है।[२१]

---

१. ऋ० वे० ५।४।३
२. ऋ० वे० ३।१।११
३. ऋ० वे० १।१४।७
४. ऋ० वे० ८।४९।२
५. ऋ० वे० ८।४९।३
६. ऋ० वे० १।५८।५
७. ऋ० वे० ५।२।३
८. ऋ० वे० ७।३।१
९. ऋ० वे० १।१४६।१, २।५।३
१०. ऋ० वे० २।३।१
११. ऋ० वे० ३।२०।२
१२. ऋ० वे० १।७।८९
१३. ऋ० वे० ३।७।२
१४. ऋ० वे० ३।२६।७
१५. ऋ० वे० १।३१।१३
१६. ऋ० वे० १।७९।१२
१७. ऋ० वे० ६।१।८
१८. ऋ० वे० ४।४।१
१९. ऋ० वे० १।५८।५
२०. ऋ० वे० ४।५।३
२१. १।४१।६

अग्नि को पक्षि के समान कहा गया है, वह आकाश का गरुड॰ पक्षी है।[1]--वह दिव्य पक्षों से युक्त है।[2] अग्नि का स्थान जल में होने से वह जलपक्षी हंस के समान है।[3] अग्नि पक्षों (पंखों) युक्त है।[4] उसे फूंकार करनेवाले सर्प के समान भी कहा गया है।[5]

आचेतन यच्चयावत् सभी पदार्थों में वह व्याप्त है–इसी कारण उसका सृष्टि में जड–चेतन सभी पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रकाशित हुआ है। जैसे सूर्य सुवर्ण के समान है वैसा ही अग्नि भी है।[6] अपनी जिह्वा जब वह आगे करता है उस समय वह कुल्हाड़ी के समान प्रतीत होता है।[7] उसे रथ भी कहा गयाहै।[8] एवं अन्यत्र भी रथ की उपमा दी गई है।[9] रथ में जैसे सम्पत्ति लाई जाती है वैसे अग्नि भी सम्पत्ति लाता है।[10] अग्नि का अन्न अर्थात् काष्ठ[11] अथवा घृत है।[12] वह अपने तीक्ष्ण दातों से वनों को चबा जाता है।[13] अग्नि सर्वभक्षक भी है।[14] वह हुतद्रव्य खाने वाले देवताओं का मुख एवं जिह्वा है।[15] उसे यत्र तत्र 'सोमपा' भी कहा गया है।[16] यज्ञ में वह अन्य देवों के साथ दर्भ पर विराजमान होता है।[17]

अग्नि के तेजस्विता का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं, उसकी ज्वाला तेजस्वी है।[18] वह शुभ्रवर्ण युक्त है।[19] उसका रूप सुवर्ण के समान[20] और प्रकाश सूर्य के समान है।[21] उषःकाल की किरणों के समान अथवा बरसनेवाले मेघों की विद्युल्लता के समान उसका तेज है।[22] वह रात्री के अन्धकार का नाश करनेवाला एवं अन्धकार के परे देखने वाला है।[23] अग्नि को उषर्बुधः यह अभिधान अनेकबार प्राप्त हुआ है। अग्नि

---

१. ऋ० वे० ७।१५।४ २. ऋ० वे० १।१६४।५२
३. ऋ० वे० १।६५।६ ४. ऋ० वे० १।५८।५
५. ऋ० वे० १।७६।१ ६. ऋ० वे० २।२।४, ७, ३, ६।
७. ऋ० वे० ६।३।४ ८. ऋ० वे० ३।११।५
९. ऋ० वे० १।१४१।८ १०. ऋ० वे० १।५८।३, ३।१५।५
११. ऋ० वे० २।७।६ १२. ऋ० वे० ७।३।१
१३. ऋ० वे० १।१४३।५ १४. ऋ० वे० ८।४४।२६
१५. ऋ० वे० २।१।१३ १६. ऋ० वे० १०।४५।५, १२,
१७. ऋ० वे० ५।११।२, ३।१४।२, ५।२६।५ ७।११।२
१८. ऋ० वे० ७।१५।१०, १९. ऋ० वे० १।४१।१, ५।२।३,
२०. ऋ० वे० ४।३।१, १०।२०।९ २१. ऋ० वे० १०।१४।३, ७।३।६,
२२. ऋ० वे० १०।९१।४-५, २३. ऋ० वे० १।९४।५, ७।९।२

की ज्वाला समुद्र के तरंगों के समान गर्जना करनेवाली हैं।[1] अग्नि की ज्वाला उर्ध्वमुख है।[2] अग्नि विद्युत रथ में जाता है।[3] उसका रथ तेजस्वी है।[4] वह रथ सुन्दर प्रकाशमान एवं सुवर्णयुक्त है।[5] उसे घृतपृष्ठ, रोहित, पिंगट, सुन्दर, विश्वरुप, चपल, ऐसे दो अथवा चार अश्व खिचते हैं।[6] अग्नि इन अश्वों को देवों को बुलालाने हेतु जोड़ता है।[7] यज्ञ सम्बन्ध में अग्नि सारथी का कार्य करता है।[8]

अग्नि का पिता द्यौ है। द्यौ ने अग्नि को उत्पन्न किया।[9] अग्नि द्यौ का अपत्य है।[10] असुर के गर्भ से इस अग्नि का जन्म हुआ है।[11] अग्नि को अन्यत्र द्यावा, पृथ्वी का पुत्र कहा गया है।[12] इसे यत्र तत्र त्वष्टा का अपत्य भी कहा है।[13] इन्द्र ने दो प्रस्तरों से अग्नि को उत्पन्न किया है।[14] अग्नि को इळा का पुत्र और[15] यज्ञ का गर्भ कहा गया है।[16]

अग्नि का प्रतिदिन पृथ्वी पर जन्म होता है।[17] उपर की अरणी उसका पिता एवं नीचे की अरणी उसकी माँ है।[18] अग्नि को सहसःसुनु अर्थात् शक्ति का पुत्र कहा है—अर्थात् घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य हुआ (अग्निमंथन में) अत्यधिक शक्ति का व्यय होने से उसका उपर्युक्त अभिधान है।[19] अग्नि का नूतन जन्म पहले हुए जन्म से अतिरिक्त होता है।[20] वृद्ध होकर वह पुनः तारुण्यको प्राप्त होता है।[21] इससे यह सिद्ध है कि अग्नि वृद्ध होता ही

---

१. ऋ० वे० १।४४।१२, २. ऋ० वे० ६।१५।२,
३. ऋ० वे० ३।१४।१, ४. ऋ० वे० १।१४०।१
५. ऋ० वे० १।१४१।१२, ५।१।११, ४।१।८, ४।२।४,
६. ऋ० वे० १।१४।६, ७४२।२,—१०।७०।२, २।४।२,६।२।१,
७. ऋ० वे० १।४।१२, ३।६।६, ८. ऋ० वे० १।२५।३, १०।
९. ऋ० वे० १०।४५।८, १०. ऋ० वे० ४।१५।६, ६।४९।२
११. ऋ० वे० ३।२९।४
१२. ऋ० वे० ३।२।२, ३।३।११, ३।२५।१, १०।१।२, १०।२।७,
१३. ऋ० वे० १।९५।२, १०।९।१६, १४. ऋ० वे० २।१।२।३,
१५. ऋ० वे० ३।२९।३, १६. ऋ. वे. ६।४८।५
१७. ऋ० वे० ३।२९।२, ३।२३।२, ३।२३।३, ७।१।१, १०।७।९।
१८. ऋ० वे० ३।२९।३, १९. ऋ० वे० ६।४८।५;
२०. ऋ० वे० ३।१।२०, २१. ऋ० वे० २।४।५,

नहीं हैं ।[1] उसका अभिनव तेज पूर्व के समान ही होता है ।[2] प्रथम यज्ञ अग्नि ने ही सम्पन्न किया था ।[3]

अग्नि का जन्म काष्ठ से होता है इसका भी विवरण प्राप्त होता है ।[4] अग्नि को वनस्पति का गर्भ,[5] वनस्पति में रखा हुआ[6] भी कहा गया है । वह वृक्षों का गर्भ है[7] अथवा वृक्ष एवं औषधियों का गर्भ है ।[8] इन अभिधानों का तात्पर्य यह हो सकता है कि वृक्ष की शाखाओं के परस्पर संघर्ष से वन में अग्नि (दावानल) उत्पन्न होता है ।

अग्नि को 'अपानपात्' यह संज्ञा प्राप्त है इसका अर्थ है 'जल का पुत्र । अग्नि को जलों का गर्भ भी कहा गया है ।[9] जलों के उदर में अग्नि उत्पन्न होता है ।[10] अग्नि तेजोयुक्त अंतरिक्ष में वास करने वाला व गर्जना करने वाला है । ऐसे स्थानों पर अग्नि का अर्थ तेज विद्युत होना चाहिए । ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में[11] अग्नि के सम्बन्ध में यह कथा है कि अग्नि जल में एवं औषधियों में गुप्त होकर बठा था जिसे देवों ने खोज निकाला ।

वेद में 'विद्युत् अग्नि' एवं 'जलगर्भ अग्नि' में भेद स्पष्ट दृग्गोचर होता है ।[12] सूर्य का घर जैसा 'आकाश है, वैसा ही अग्नि का घर जल है ।[13] अग्नि का जन्म आकाश में भी होता है ।[14] 'अग्नि स्वर्ग में बीजरूप में था'— ऐसे स्थानों पर अग्नि का अर्थ 'विद्युत्' होना ही ठीक है । क्योंकि विद्युत 'अन्तरिक्ष से' एवं 'जल से' आता है ऐसा वर्णन अथर्ववेद में भी है ।[15] ऋग्वेद में अग्नि एवं विद्युत का अन्तर अनेक स्थानों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

अग्नि के तीन जन्म हैं ।[16] देवों ने अग्नि को 'त्रिरूपात्मक' किया है ।[17]

---

१. ऋ० वे० १।२८।२; २. ऋ० वे० ६।१६।११,
३. ऋ० वे० ३।१५।४, ४. ऋ० वे० ६।३।३, १०।७९।७
५. ऋ० वे० २।१।१४, ३।१।१३, ६. ऋ० वे० १०।१।२
७. ऋ० वे० १।७०।४, ८. ऋ० वे० २।१।१,
९. ऋ० वे० ३।१।२ एवं १३,
१०. ऋ० वे० १०।४५।१, अथर्व० वे० १३।१।५०,
११. ऋ० वे० १०।५१, ३।१२४,
१२. अथर्ववेद ३।२।१।१, ७, ८।१।११,
१३. ऋ० वे० ५।८५।२, अथर्ववेद १३।१।५० १९।३३।१,
१४. ऋ० वे० ११।४३।२, ६।८।२, १५. अ० वे० ३।२१।१, ७, ८।१।११,
१६. ऋ० वे० १।९५।३, ४।१।७, १७. ऋ० वे० १०।८८।१०

अग्नि का प्रकाश तीन प्रकार का है।[१] अग्नि के तीन मस्तक[२] एवं तीन जिह्वा, तीन देह और तीन स्थान हैं।[३] यहाँ यह जानने योग्य है कि 'त्रिषधस्थ' अग्नि को ही कहा गया है अथवा 'त्रिपस्त्य' भी अग्नि हेतु ही प्रयुक्त है।[४] तीन स्थानों के विषय में भी विवरण यत्र तत्र प्राप्त होते ही हैं—प्रथम अग्नि द्युलोक में उत्पन्न हुआ, द्वितीय शरीरादिकों में उत्पन्न हुआ, एवं तृतीय वह जल में उत्पन्न हुआ।[५] अन्य स्थानों पर भी अग्नि के वसति स्थानों का यही क्रम—द्यु—पृथ्वी—जल परिलक्षित होता है।[६] एक अन्य स्थान पर यह क्रम—समुद्र, द्युलोक, जल इस प्रकार का लक्षित है।[७] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में कहा गया है कि प्राणियों में रहने वाला अग्नि 'भौ अग्नि' जल में रहने वाला 'अन्तरिक्षस्थ अग्नि' सूर्य में रहने वाला 'द्युलोकस्थ अग्नि' है।[८]

अन्य देवताओं की अपेक्षा मनुष्य का अग्नि से अत्युत्कट सम्बन्ध है। गृहस्थ के घर में उसका सम्बन्ध और भी निकट का है। उसे गृहपति बार-बार कहा गया है। वह प्रत्येक घर में रहता है।[९] दमूनस् यह विशेषण अग्नि को ही प्राप्त है।[१०] मनुष्यों के घर में उसे अतिथि कहा जाता है। वह गृहस्थों का प्रथम अतिथि है।[११] इस प्रकार अग्नि मनुष्य का निकटस्थ सम्बन्धी है।[१२] कही उसे सम्बन्धी एवं कहीं मित्र कहा गया है—उसे पिता[१३] एवं भक्तों का बंधु[१४] भी कहा गया है।

अग्नि को पुरोहित कहा गया है।[१५] अग्नि अत्यन्त दयार्द्र दृष्टि का ऋषि है।[१६] वह यज्ञ कर्म एवं अन्य सम्पूर्ण कर्मों को जानता है।[१७] उसे सम्पूर्ण

---

१. ऋ० वे० ३।२६।७, २. ऋ० वे० ११।४६।१
३. ऋ० वे० ३।२०।२, ४. ऋ० वे० ८।३९।८
५. ऋ० वे० १०।४५।१,
६. ऋ० वे० ८।४५।१६, १०।२।७, १०।४६।६
७. १।६।५३ (ऋ० वे०) ८. आपस्तम्ब-श्रौत ५।१६।४
९. ऋ० वे० ७।१५।२, १०. ऋ० वे० १।६०।४
११. ऋ० वे० १०।९१।२, १२. ऋ० वे० ७।१५।१ ८।४९।१०
१३. ऋ० वे० ६।१।५, १४. ऋ० वे० ८।४३।१६, १०।७।३
१५. ऋ० वे० ६।६६।२०, १६. ऋ० वे० ६।१४।२
१७. ऋ० वे० १०।११०।११,१०।१२२।२,

प्रकारक ज्ञान प्राप्त है।[1] 'जातवेदस्' यह संज्ञा अग्नि को लगभग १२० बार प्रयुक्त हुई है—अर्थात् अग्नि सर्वज्ञ, सर्ववित् है।[2] वह सम्पूर्ण प्राणियों को जानता है।[3] अग्नि ज्ञान प्रदान करने वाला है।[4] अग्नि से ज्ञान एवं स्तोत्र उत्पन्न होते है।[5] अग्नि प्रेरणादायक[6] एवं तेजस्वी भाषा का निर्माण करने वाला है।[7] वह स्तुति का प्रथम उत्पादक[8] एवं उत्तमवक्ता और गायक है।[9] अग्नि भक्तों पर उपकार कर सहस्रलोहमयभित्तियों से उनका संरक्षण करता है।[10] वह सम्पत्ति को देनेवाला है।[11]

अग्नि असुर है अर्थात दिव्य सम्राट् है और इन्द्र के समान सामर्थ्यवान् भी है।[12] शक्तिमान् देवों की अपेक्षा उसका महात्म्य अत्यधिक है।[13] वरुण, मित्र, मरुद्गण उसी के गुणों का गान करते है।[14]

अन्य देवताओं के साथ भी अग्नि का ऐक्य प्रदर्शित हुआ है—विशेषतः अग्नि का वरुण एवं मित्र से ऐक्य यत्र तत्र प्राप्त होता है।[15] अग्नि यज्ञ स्थान पर जाता है तब वह वरुण होता है[16] और जन्म के समय भी वह वरुण ही रहता है।[17] सायंकाल वह वरुण, प्रातः काल उदय के समय वह मित्र होता है। सविता होकर अन्तरिक्ष का आक्रमण करता है, इन्द्र होकर वह आकाश का मध्य भाग प्रकाशित करता है।[18]

३. सोम

ऋग्वेद में जो यज्ञयाग हैं, उनमें सोमयाग मुख्य है। इस कारण 'सोम' ऋग्वेद का प्रमुख देवता है। ९वें मण्डल के ११४ सूक्त एवं अन्य मण्डलों से लगभग ६ सूक्त सोम देवता को ही उद्देश्य कर पठित हैं। इन्द्र-सोम, अग्नि-सोम, रुद्र-सोम, इत्यादि युगल देवताओं के गुण संकीर्तन में भी सोम का संकीर्तन प्राप्त होता है।

---

१. ऋ० वे० ३।१।१७, १०।४।१५, २ ऋ० वे० ६।१५।१३
३. ऋ० वे० ३।५५।१०,१०।१८५।४, ४. ऋ० वे० ८।९१।८
५. ऋ० वे० ४।१।३, ६. ऋ० वे० १०।४६।५
७. ऋ० वे० २।९।४, ८. ऋ० वे० ६।१।११
९. ऋ० वे० ६।४।४, १०. ऋ० वे० ७।३।७, ७।१६।१०
११. ऋ० वे० १।१।३, १।३१।१०, १।३६।४
१२. ऋ० वे० ७।६।१, १३. ऋ० वे० १।५९।५
१४. ऋ० वे० ३।९।८, ३।१४।४, १०।६९।९
१५. ऋग्वेद २।१।४, ३।५।४, ७।१२।३, १६. ऋ० वे० १०।८।५
१७. ऋ० वे० ५।३।२, १८. अ० वे० १३।३।१३

सोम का **मानवीयरूप** वेद में स्पष्ट परिलक्षित नहीं होता है। अतः सोम को समझने के लिए सोमलता एवं उसके रस पर होने वाले संस्कारों को समझना आवश्यक है। सोमलता को कुटते ही उसका नाम **अंशु**[1] हो जाता है। अंशु का तात्पर्य है **'अंकुर'** अथवा **'लतादण्ड'**—यह अंशु फूला होता है; उसमें से दूध निकलता है।[2] सोमलता द्युलोक से आई है।[3] जिसे गरुड़ लाया है।[4] **अंधस्** संज्ञा सोम रस हेतु प्रयुक्त है।[5] उसके रस को सोम, रस, पितु (मादकपेय)[6] एवं यत्र यत्र **अन्न** यह संज्ञा भी प्राप्त है।[7] मधु शब्द का अश्विन् देवता के साथ शहद अर्थ अभिप्रेत होता है—परन्तु मधुर पेय के अर्थ में यह शब्द-पय, घृत एवं सोम हेतु भी प्रयुक्त है।[8] सोम जब अमृत अर्थ से संयुक्त होता है तब उसे **मधु** अभिधान है; उसी प्रकार केवल सोम पदार्थ के साथ भी अमृत संज्ञा प्रयुक्त होती है।[9] सोम को निचोडने पर वह **अमृत** होता है।[10] अमृत का ही पर्यायवाची **पीयूष** शब्द भी सोम हेतु प्रयुक्त है।[11] दूध[12], अंशुलहरी[13] मधुरस[14] इत्यादि अन्य अभिधान भी प्राप्त होते हैं। तथापि अत्यधिक संज्ञा 'इन्दु' प्रयुक्त हुई है जिसका अर्थ है 'प्रकाशमान् बिन्दु'—इसी का समानार्थी **द्रप्स** शब्द भी सोम के साथ प्राप्त होता है, परन्तु ऐसे संकेत स्थल अत्यल्प हैं।

सोमवल्ली से रसक्षरण की क्रिया को प्रदर्शित करने हेतु 'सू' एवं 'दुह्' धातु प्रयुक्त हुए हैं।[15] **सू**—अर्थात् दाबकर रस निकालना, एवं **दुह्** का अर्थ दोहन करना है। सोम रस मादक होता है।[16] उसे **मधुमान्** भी अभिधान प्राप्त है।[17] **मधुमान्** का अर्थ होता है—मधुर रस युक्त। इससे यह प्रतीत होता है कि सोम में मधु मिश्रण के उपरान्त उसे मधुमान् कहा गया होगा।

---

१. ऋ० वे० ९।६१।२८, २. ऋ० वे० ८।९।१९
३. ऋ० वे० ९।६१।१०५,
४. ऋ० वे० ५।४५।९, ९।६८।६, १०।१४४।५
५. ऋ० वे० ९।५१।३, १०।११५।३, ६. ऋ० वे० १।१८७
७. ऋ० वे० ७।९८।२, श० ब्रा० (१।६।४।५)
८. ऋ० वे० ४।२७।५, ८।६९।६
९. ऋ० वे० ५।२।३, ६।३७,३, वाजसनेय० ६।३४ श० ब्रा० ९।५।१।८
१०. वा० सं० १९।७२, ११. ऋ० वे० ३।४८।२
१२. ऋ० वे० ९।१०७।१२, १३. ऋ० वे० ९।९६।८
१४. ऋ० सं० ५।४३।४, १५. ऋ० वे० ९।९२।४, ३।३६।६
१६. ऋ० वे० १।१२५।३, ६।१७।११ १७. ऋ० वे० ९।९७।१४

ऐसे अनेक स्थल हैं।[1] अथवा—मधुमान्—अर्थात् स्वयं ही वह पूर्व मधु मधुर होगा। अर्थात् प्रकृत्या वह मधुर हो सकता है।

सोमलता—सोमरस-एवं सोमदेव इनका वर्ण बभ्रु, अरूण, हरित प्राप्त होता है। अरूणवृक्ष की शाखा से[2] दुग्ध पूर्ण अरुण अंशु[3] हरित वर्ण के अंशु को कूटकर रस प्राप्त किया जाता है।[4] ब्राह्मण ग्रंथों में सोम का रंग लाल प्राप्त होता है, सोमक्रयण करने हेतु गाय भी (अरुण) लाल अथवा बभ्रु वर्ण की विहित है, क्योंकि सोम का भी वर्ण अरुण एवं बभ्रु ही है।[5]

सोम के निवास स्थानों के उल्लेख पुनः पुनः प्राप्त होते हैं। सोम शुद्ध होने पर तीन स्थानों को व्याप्त करता है।[6] अन्यत्र भी उसे त्रिषधस्थ कहा है।[7] सोम को त्रिपृष्ठ विशेषण प्रयुक्त हुआ है[8] जो सोम का वैशिष्टय वाचक है। इससे यह सिद्ध है कि सोम में तीन पदार्थों का मिश्रण किया जाता है।[9] प्रथम गवाशिर='दूध', दध्याशिर = 'दधि और तक्र', यवाशिर= 'यव'। जैसे घी डालने से अग्नि को घृतपृष्ठ अभिधान है, वैसे ही सोम को त्रिपृष्ठ (त्रिमिश्रीकरण से) यह सज्ञा प्राप्त हुई है।

सोम का जल से भी सम्बन्ध वेद में दृष्टिगोचर होता हैं, वह जल प्रवाह के अग्रस्थान पर प्रवाहित होता है।[10] सोम जल में बढने वाला बिन्दू है।[11] वह जलों का गर्भ है।[12] सोम के शुद्धिकरण का विद्युत् से सम्बन्ध[13] एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का संकेत है। 'शुद्धिकरण' अर्थात् 'दिव्य सोम का शुद्धिकरण' यही उचित प्रतीत होता है। सोम के स्वर की तुलना वृषभ से की गई है। सोम को 'रेतोधा' अर्थात् गर्भ रखने वाला कहा है।[14] यजुर्वेद में रेतोधा यह विशेषण चन्द्र हेतु भी प्रयुक्त हुआ है।[15] सोम गर्भधारण शक्ति

---

१. ऋ० वे० ९।१७।८, ९।८५।४८, ९।९७।११, ९।१०९।२०

२. ऋ० वे० १०।९४।३, ३. ऋ० वे० ७।९८।१

४. ऋ० वे० ९।९२।१

५. तै० सं० ६।१।६, श० ब्रा० ३।३।१।१४

६. ऋ० वे० ९।१०३।२, ७. ऋ० वे० ८।८३।५

८. ऋ० वे० ७।३७।१, ९. ऋ० वे० ५।२७।५

१०. ऋ० वे० ९।८६।१२, ११. ऋ० वे० ९।८५।१०, ९।८९।२

१२. ऋ० वे० ९।९७।४१

१३. ऋ० वे० ९।४१।३, ९।८०।१, ९।८४।३; ९।८७।८

१४. ऋ० वे० ९।८६।३९, १५. मै० सं० १।६।९

को उत्पन्न करने वाला है।[1] सोम वेगवान् है [2] वेगवान् अश्व को जैसे धोकर साफ किया जाता है वैसे दशकुमारिकाएँ इसे साफ करती हैं।[3]

सोम प्रकाश स्वरूप होना चाहिए, क्योंकि यत्र यत्र उसका सूर्य से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता हैं। यथा–सोम, सूर्य के समान प्रकाशित होता है, सूर्य के साथ प्रकाशित होता है अथवा सूर्य किरणों को वेष्टित करता है।[4] द्यूलोक एवं पृथ्वी को अपनी किरणों से व्याप्त कर देता है।[5] जन्म प्राप्त करते ही पुत्र सोम अपने माता पिता को प्रकाशित करता है।[6] सोम अंधकार से युद्ध करता है[7] एवं अपने प्रकाश से अंधकार को अपसारित कर वह तीव्र प्रकाश करता है।[8] सोमने ही प्रकाश का अनुसंधान किया है।[9]

सोमपान करने से उत्साहवर्धन होता है एवं शक्ति वृद्धिगत होती है। वह साधारण पेय की अपेक्षा अपने गुण वैशिष्टय से दिव्यपेय है। इस पेय से अमरता प्राप्त होती है। सोम अमृतत्व एवं उत्साह को देनेवाला है।[10] अमरत्व प्राप्त करने के लिए ही देवों ने सोमरसपान किया।[11] अमरत्व के कारण से सोम में रोग शमन की अद्‌भुत शक्ति है, रुग्ण मनुष्यों हेतु यह औपधी स्वरूप है।[12] पंगु को पैर देनेवाला एवं अंधे को चक्षु देने वाला है।[13] वह मनुष्य शरीर का पालक होते हुए वह मनुष्यों के प्रत्येक अंग में हैं।[14] सोम, पानार्थी के हृदगत पापों को दूर करता है; सोम पेय से पापों का नाश होता है, और सत्य की वृद्धि होती है, मनुष्य की आवाज तेजोमयी ओजोमयी हो जाती है।[15] सोम मनुष्य को गति अर्थात् दिशा प्रदान करता है इस हेतु

---

१. ऋ० वे० ९।६०।४, ९।७४।५, २. ऋ० वे० १।४।७
३. ऋ० वे० ९।६।५
४. ऋ० वे० ९।७६।४, ९।८६।३२, ९।७१।९
५. ऋ० वे० ९।४१।५, ६. ऋ० वे० ९।९।३
७. ऋ० वे० ९।९।७, ९।८६।२२
८. ऋ० वे० ९।६६।२४, ९।१००।८, ९।१०८।१२
९. ऋ० वे० १।८४।४, १०. ऋ० वे० ९।१०६।८
११. ऋ० वे० ८।६१।१७, १२. ऋ० वे० ८।६८।२, १०।२५।११
१३. ऋ० वे० ८।४८।९
१४. ऋ० वे० ९।४७।३, ९।८४।४, ९।९५।५, ९।९७।३२
१५. ऋ० वे० ९।७।३, ९।६२।२५,२६, ९।८६।१२, ९।१०६।१०

सोम की एक उपसंज्ञा 'वाचस्पति' भी है। वह वाचा अर्थात् वाणी का नायक है।[1]

उपर्युक्त विशेषताओं से विशिष्ट सोम का महात्म्य ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है–यथा हमने सोम पान किया-अब हम अमर हो गये हैं'–'हमने प्रकाश में प्रवेश किया है' 'हमने सम्पूर्ण देवों से परिचय कर लिया है'।[2] सोम को विचारों का पति, सूक्तों का पिता, नेता, आदि अनेक उपनाम भी व्यवहृत हुए हैं। सोम कवियों में नायक, पुरोहितों में ऋषि है। वह ऋषियों का मन है, ऋषित्व को प्रदान करने वाला[3] एवं यज्ञ की आत्मा है।[4] सोम का सृष्टि कर्म में भी अन्य देवताओं के समान अन्यतम योगदान है—सोम के ही नियमन से सूर्य प्रकाश देता है।[5] सोम ने नक्षत्रों को प्रकाशित किया।[6] सोम का साम्राज्य विश्वोपरी है।[7] द्यावा पृथ्वी का निर्माण, उनका स्थिरिकरण, द्युलोक को आधार, सूर्य में प्रकाश सोम ने ही किया है।[8]

सोम का इन्द्र के साथ भी निकट का सम्बन्ध है—इससे यह स्पष्ट होता है कि सोम अजेय योद्धा है[9] वह वीरों में श्रेष्ठ वीर, भीति प्रदातृवर्ग में अत्यन्त भीतिप्रद है. उसका सर्वदा जय ही होता है।[10] सोम अपने भक्तों हेतु गौ, अश्व, रथ, सुवर्ण प्रदान करता है।[11] उसके अस्त्र शस्त्र भी विलक्षण हैं—शस्त्र अत्यधिक तीव्र धार युक्त हैं।[12] सहस्र मुखों का शर भी सोम के पास है।[13] सोम का रथ भी अत्यन्त प्रकाश युक्त एवं दिव्य[14] रूप सम्पन्न है।[15] वायु वेग के तुल्य उसके पास अश्व युगल हैं।[16] ऋग्वेद में एक स्थान पर सोम को 'मौजवत्' कहा है। इसका सीधा सम्बन्ध मुंजवत पर्वत पर सोमोत्पत्ति से लगाया जाता है। सोम के पर्वत पर उत्पन्न होने के अनेक

---

१. ऋ० वे० ९।५९।४
२. ऋ० वे० ८।४८।३, ३. ऋ० वे० ९।९६।११, ९।५२।३
४. ऋ० वे० ९।२।१० ५. ऋ० वे० ९।२८।५, ९।३७।४
६. ऋ० वे० ९।८५।९, ७. ऋ० वे० ९।८६।२८,२९
८. ऋ० वे० ९।४४।२३,२४, ९।४७।३,४ ९. ऋ० वे० १।९१।२१
१० ऋ० वे० ९।६६।१६,१७; ११. ऋ० वे० ८।६८।१, ९।७८।४
१२. ऋ० वे० ९।६१।३०, ९।९०।३
१३. ऋ० वे० ९।८३।५, ९।८६।४०,
१४. ऋ० वे० ९।८६।४५, ९।१११।३, १५. ऋ० वे० ९।८८।३
१६. ऋ० वे०

प्रमाण है। जैसे वरुण ने जल में अग्नि स्थापित किया, द्युलोक में सूर्य एवं पर्वत पर सोम रखा।[1]

पृथ्वी पर सोम द्युलोक से प्राप्त हुआ है। इसकी कथा के अनुसार श्येन सोम लाया।[2] अति उच्च द्युलोक से श्येन ने सोम प्राप्त किया।[3] मन के वेग से उड़कर इस पक्षी ने लोहमय दुर्ग का भेदन कर द्युलोक जाकर वज्रधारी इन्द्र हेतु सोम प्राप्त किया।[4] ऋग्वेद मंडल ४ में सूक्त २६ एवं २७ में भी सोम आनयन की कथा विस्तृत रूप में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में गायत्री ने सोम प्राप्त किया इस प्रकार कथा वर्णित है।

४. द्यौः

द्यौः शब्द 'आकाश' अर्थ में ऋग्वेद में ५०० स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। 'दिवस' अर्थ में व्यवहृत लगभग ५० स्थल हैं। देवता के रूप में द्यौः पृथ्वी से संयुक्त ही प्राप्त होता है। द्यावा-पृथ्वी को सम्पूर्ण विश्व का जनकत्व प्राप्त है। द्यौःशब्द जब स्वतन्त्र प्रयुक्त है तब वह किसी न किसी के पितृ सम्बन्ध से आया है। उसे पिता अनेक स्थलों पर कहा गया है।[5] इन्द्र के पिता के रूप में उसका वर्णन प्राप्त होता है।[6] **सुरेता** यह विशेषण द्यौः से ही सम्बद्ध है उसने अग्नि को उत्पन्न किया।[7] द्यौः यह पितामह है।[8] द्यौ को वृषभ कहा जाता है।[9] द्यौ को अग्नि ने मनुष्यों हेतु गर्जना करने के लिए प्रेरित किया।[10] द्यौ की मोतियों से अलंकृत कृष्णवर्ण अश्व से तुलना भी प्राप्त होती है।[11] यहाँ रात्रि का संकेत लगता है। अर्थात् द्यौ का अर्थ आकाश ही है, एवं तदभिमानी देवता द्यौः है इस प्रकार निर्णय कर सकने में पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिये। द्यौ को **अश्निमत्** अर्थात् वज्रधारी कहा गया है। मेघों से वह स्मित करता है[12]—इसका अर्थ है—मेघों की गर्जना-क्या-वह तो

---

१. ऋ० वे० ६।४६।१ २. ऋ० वे० १।८०।२,
३. ऋ० वे० ४।२६।४ ४. ऋ० वे० ८।८६।८,
५. ऋ० वे० १।६०।७, १।१६४।३३, ४।१।१०
६. ऋ० वे० ४।१०।३, ७. ऋ० वे० ४।१७।४
८. ऋ० वे० १।७१।५
९. ऋ० वे० ५।३६।५, १।१६०।३, ५।३६।५, ५।५८।६
१०. ऋ० वे० १।३१।४, ११. ऋ० वे० १०।६८।११
१२. ऋ० वे० २।४।६

उसका स्मित ही है—प्रलंयकारी बादलों की गर्जना-युक्ति युक्त ही होती है। द्यौ को श्रेष्ठ देवों के समान 'असुर' संज्ञा भी प्राप्त है।[1]

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्यौः भी उत्तमोत्तम देवता है, द्यावा—पृथवी में ही सम्पूर्ण देवता रहते हैं,—वे सब उन्हीं के गर्भस्थ हैं। द्यौ शब्द 'दिव् प्रकाशे' धातु से निर्मित होता है॥

५. मित्र

मित्र और वरुण का सम्बन्ध अत्यन्त दृढ है, इसका प्रमाण है कि ऋग्वेद में मित्र को उद्देश्य कर केवल एक सूक्त[2] पठित है। इस सूक्त में मित्र की स्तुति तो प्राप्त होती है परन्तु इस सूक्त से मित्र के गुणों का स्पष्टीकरण नहीं होता। केवल प्रथम ऋचा में पठित है कि मित्र आह्वान कर सबको एकत्रित करता है एवं अनिमेष वह बीज वपन करने वाले कृषकों को देखता है। देवता का कृषि से अत्यधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है, स्पष्ट हो जाता है। 'अनिमेषत्व' देवत्व का परिचायक है जो कृषि कर्म में ही प्रस्फुटित होता है—इससे इतना तो सिद्ध है कि कृषि से मित्र का सम्बन्ध गूढ है।

एक अन्य स्थल पर भी मित्र को उद्देश्य कर उपर्युक्त वर्णन ही है अर्थात् बुलाकर सबको एकत्रित करना। शक्तिमान्—कभी न-स्खलित होने वाला वरूण उसका मार्ग दर्शक है।[3] इस संकेत से यह सिद्ध होता है कि मित्र सूर्य का एक रूप है। क्योंकि अन्यत्र यह भी संकेत मिलता है कि सविता सर्व सामान्य प्राणी को अपना शब्द सुनाता है और उन्हें प्रेरित करता है।[4] मित्र सूक्त की ५ वीं ऋचा इससे इस का स्पष्ट संकेत है कि मित्र मनुष्यों को एकत्रित करने वाला आदित्य है। यातयज्जन अर्थात् मनुष्यों को एकत्र करने वाला यह विशेषण ऋग्वेद में बहुधा चार बार आया है। 'मित्रा-वरूण[5]', 'मित्रावरूणअर्यमा[6]', 'अग्नि'[7] इनको यह विशेषण प्रयुक्त है—इससे यह सिद्ध है कि मित्र का 'यातयज्जन' विशेषण उसका वैशिष्टय प्रदर्शक होना चाहिये। मित्र सूक्त में कहा है कि मित्र द्यावा—पृथवी को आधार देता है। पञ्चजन उसके नियमों का पालन करते हैं। वह सम्पूर्ण देवों का पोषण करता है। एक अन्य स्थल पर मित्र एवं सविता एक ही

---

१. ऋ० वे० १।१२२।१, १।१३१।१, ८।२०।१७

२. ऋ० वे० ३।५९ ३. ऋ० वे० ७।३६।२,

४. ऋ० वे० ५।८२।९ ५. ऋ० वे० ५।७२।२,

६. ऋ० वे० १।१३६।३ ७. ऋ० वे० ८।९१।१२,

है, ऐसा कहा गया है। मित्र के नियमों के उल्लेख भी सुन्दर शैली से प्रस्तुत हुए हैं।[१] अग्नि उद्दीपित होने पर वह मित्र होता है।[२] अथर्ववेद में[३] सूर्योदय के समय के मित्र एवं सायंकाल के समय के वरूण के मध्य भेद स्पष्ट किया है। वरूण के द्वारा आच्छादित, वेष्टित वस्तुजात को मित्र प्रातः काल प्रकाशित करे इस प्रकार की प्रार्थना उससे की गई है।[४] ब्राह्मण ग्रन्थों में मित्रका दिवस से और वरूण का रात्री से सम्बन्ध प्राप्त होता है। मित्र को श्वेत पशु विहित है एवं वरूण को कृष्ण पशु विहित है। इसमे भी दिवस और रात्री का सम्बन्ध मित्र वरूण से है, पुष्ट ही हो रहा है।[५]

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मित्र शब्द का अर्थ सुहृद भी प्राप्त होता है। मित्र यह शांती का देवता है।[६]

इससे यह स्पष्ट हो चला है कि सूर्य के एक रूप का नाम मित्र है। क्योंकि सूर्य की समस्तवस्तुजात पर कृपा प्रवृत्ति प्रकृति सिद्ध ही है।

६. विष्णु

विष्णु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता है। व्यक्ति विषयक वर्णन उसके महत्व को सूचित करता है। उसके सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण घटना है तो वह है त्रि-वि-क्रम, तीन पादों से विश्वाक्रमण। इस प्रकार का वर्णन लगभग दस बारह बार आया है। इसी प्रकार उरुगाय, उरुक्रम आदि विशेषण यह विष्णु से सम्बन्धित हैं। दो पादों से उसने दृग्गोचर सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त किया एवं तृतीय पाद से अन्तरिक्षस्थ उच्च स्थान को व्याप्त किया।[७] विष्णु का वासस्थान स्वर्ग है जहाँ धार्मिक मनुष्य आनन्द प्राप्त करते हैं। वहाँ मधुकूप है[८] विष्णु अपने स्थान की स्वयं सुरक्षा करता है।[९]

विष्णु के उपर्युक्त त्रिपाद सूर्य के दैनिक तीन पड़ाव 'उदय, मध्य, एवं अस्त' है इस प्रकार का मत और्णवाभ[१०] (यास्कपूर्व) का है। परन्तु

---

१. ऋ० वे० ५।८१।४ २. ऋ० वे० ३।५।४,
३. अ० वे० १३।३।१३ ४. अ० वे० ९।३।१८
५. तै० सं० २।१।७, २।१।९, मै० सं० २।५।७
६. तै० सं० २।१।८, ७. ऋ० वे० १।११५।५, ७।९९।२
८. ऋ० वें० १।१५४।५, ९. ऋ० वे० १।१५४।५
१०. निरुक्त १२।१९,

ऋग्वेदेतर 'ब्राह्मण ग्रन्थ, वेदोत्तर वाङ्मयों में विश्व के तीन विभाग (भूलोक, भुवर्लोक स्वर्ग लोक) सूर्य के आक्रमण का संकेत भी है'।

विष्णु का सम्बन्ध गति से है। उसके गति सम्बन्ध से ही ९० दिवसों का एक ऋतु एवं चार ऋतु मिलकर ३६० दिवसों के सौर वर्ष का वर्णन प्राप्त होता है।[1] वेदोत्तर वाङ्मय में विष्णु का आयुध 'चक्र' भी उसके गति को ही संकेतित करता है। विष्णु का वर्णन सूर्य की ओर भी संकेत करता है। विष्णु को गिरिक्षित् एवं गरिष्ठा विशेषण भी प्राप्त है।[2]

विष्णु ने त्रिपाद के द्वारा जो पृथ्वी का आक्रमण किया है वह आपत्ति ग्रस्त मनुष्यों को मुक्त करने हेतु[3], मनुष्य को पृथ्वी पर रहने की व्यवस्था करने हेतु किया है।[4] ब्राह्मणादि ग्रन्थों में 'विष्णु ने बहुरूप धारण करके त्रिपाद द्वारा असुरों के अधिकार से देवों के लिए पृथ्वी को प्राप्त किया' यह विष्णु सम्बन्धित आख्यायिका है।[5]

विष्णु वीर, महायोद्धा, एवं संगर (युद्ध) प्रिय देवता हैं। विष्णु इन्द्र के मित्र हैं। वृत्र युद्ध में विष्णु ने इन्द्र को सहयोग दिया है।[6] इन्द्र एवं विष्णु ने मिलकर दासों पर विजय प्राप्त की, शंबर के ९९ दुर्गों का नाश किया।[7] इन दोनों ने मिलकर सम्पूर्ण वातावरण, अन्तरिक्ष[8], सूर्य, उषा, एवं अग्नि को[8] उत्पन्न किया। विष्णु के सहयोगियों में मरुतों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[9]

गर्भ धारण एवं गर्भ संरक्षण विष्णु का अन्यतम कार्य है।[10] विष्णु ही स्वर्ग, पृथ्वी, एवं समस्त जीवों का आधार है।[11]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विष्णु ने अपने त्रिपाद प्रक्षेप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग व्याप्त किया ऐसा स्पष्ट संकेत है।[12] वराहावतार[13], मत्स्यावतार[14],

१. ऋ० वे० १।१५५।६ २. ऋ० वे० १।१५४।२,
३. ऋ० वे० ६।४९।१३ ४. ऋ० वे० ७।१००।४
५. श० ब्रा० १।२।५।५ तै० सं० २।१।३, तै० ब्रा० १।६।१।५
६. ऋ० वे० ८।१२।२६, ७. ऋ० वे० ७।९९।४
८. ऋ० वे० ६।६९।५, ९. ऋ० वे० ७।९९।४
१०. ऋ० वे० ७।३६।९,१०।१८४।१, ११. ऋ० वे० १।१५४।४
१२. श० ब्रा० १।९।३।९, तै० ब्रा० ३।१।१।२।७
१३. श० ब्रा० १४।१।२।११, १४. श० ब्रा० १।८।१।१

कूर्मावतार[1], का मूल भी दृष्टि गोचर होता है। शतपथब्राह्मण में यह कहा गया है कि यज्ञकर्म के फल का ज्ञान विष्णु को सर्वप्रथम होने से वह देवों में श्रेष्ठ है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को सर्व श्रेष्ठ देवता कहा है।[3]

७. आदित्य

आदित्य यह संज्ञा देवता समूह की परिचायिका है। ऋग्वेद में आदित्य वर्णन परक छः सूक्त हैं। अन्य सूक्तों में उसका उल्लेख मात्र है। ऋग्वेद में छः आदित्यों का उल्लेख है[4] जिनके नाम—मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष, व अंश हैं। अथर्ववेद में अदिति के आठ पुत्रों का उल्लेख है।[5] इन आठों के नाम तै० ब्रा० में इस प्रकार हैं—अंश, भग, धातृ, इन्द्र, विवस्वत, मित्र, वरुण, अर्यमन्।[6] शतपथ ब्राह्मण मे अदिति का आठवाँ पुत्र मार्तण्ड कहा गया है, इनके अतिरिक्त बारह आदित्यों का भी उल्लेख है जिनको मासों का निदर्शक बताया गया है।[7] ऋग्वेद एवं मैत्रायणी संहिता में[8] इन्द्र को भी अदिति का पुत्र कहा है, और शतपथ में द्वादश आदित्यों से इन्द्र को भिन्न कहा गया है।[9] आदित्य का उल्लेख वसु, रुद्र. मरुत्, अङ्गिरस, ऋभु, विश्वेदेव इस देवता समूह के साथ प्रयुक्त होता है। कहीं कहीं आदित्य शब्द देवसमष्टि वाचक भी है। आदित्यों को समस्त दूरस्थ तत्त्व समीप हो जाते हैं—सम्पूर्ण चराचरसृष्टि को उनका ही आधार है,—वे ही सम्पूर्ण विश्व का पालन करते हैं। मनुष्य मन के संकल्पों को वे जानते हैं 'अपने भक्तों के रोगों को दूर कर उन्हें प्रकाश, दीर्घायुष्य, एवं संपत्ति प्रदान करते हैं।

८. विवस्वत्

ऋग्वेद में विवस्वत् देवता को उद्दिष्ट एक भी मन्त्र नहीं है परन्तु उसका उल्लेख यत्र तत्र अन्य देवताओं के साथ है। विवस्वत् को 'आश्विन'[10] एवं यमका[11] पिता कहा गया है। वेदोत्तर पौरूषेय वाङ्मय में विवस्वत्

---

१. श० ब्रा० ७।५।१।५, २. श० ब्रा० १४।१।१
३. ऐ० ब्रा० १।३०
४. ऋ० वे० २।२७।१, ५. अ० वे० ८।९।२१
६. तै० ब्रा० १।१।९१, ७. श० ब्रा० ६।१।२।८, ११।६।३।८
८. ऋ० वे० ७।८५।४, मै० सं० २।१।१२
९. श० ब्रा० ११।६।३।५
१०. ऋ० वे० १०।१७।२, ११. ऋ० वे० १०।१४।५

(अन्य) को मनु का पिता कहा है। सम्पूर्ण देवता विवस्वत् के ही अपत्य हैं।[1] त्वष्टृ की कन्या सरण्यू विवस्वत् की पत्नी है।[2] विवस्वत् का दूत 'अग्नि हैं[3] एवं एक स्थान पर 'मातरिश्वन्' को दूत कहा है।[4] विवस्वत् का सम्बन्ध इन्द्र एवं सोम से भी है ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि विवस्वत् के स्तवन से इन्द्र आनन्दित होता है;[5] विवस्वत् की कन्याएँ सोम को स्वच्छ करतीं हैं।[6] विवस्वत् की सन्निधि में सोम रहता है[7] इत्यादि अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणों में विवस्वत् को आदित्य कहा है।

६. सूर्य

सम्पूर्ण[8] सूक्त सूर्य को उद्देश्य कर पठित हैं। इन स्थलों के व्यतिरिक्त सहस्रशः स्थलों पर सूर्य अभिधान प्राप्त होता है—कहीं पर सूर्य शब्द से निसर्गद्रष्ट घटना का ग्रहण होता है और कहीं देवता से सम्बद्ध द्योतित होता है। सूर्य से तात्पर्य निसर्गदृष्ट सूर्य बिम्ब से है—इस हेतु सूर्य आदित्य वर्ग का महत्वपूर्ण देवता है—जिसका सम्बन्ध जड़-चेतन सम्पूर्ण निसर्ग से है। बृहत् अग्नि के समान आकाशीय पूजार्हदेवता 'सूर्यतेज' है।[9]

अन्यत्र वाङ्मय में सूर्य के नेत्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है[10] परन्तु इसके साथ ही साथ मित्र एवं वरूण, अथवा मित्र वरूण, अग्नि का नेत्र सूर्य को कहा है।[11] नेत्र एवं सूर्य का साम्य एव सम्बन्ध बड़े मनोहर रूप से प्रस्तुत हुआ है, साथ ही मृत्यु उपरान्त प्राणि के नेत्र सूर्य को जाते है यह भी कहा गया है।[12] अथर्ववेद में सूर्य को नेत्र का पति, कहा गया है।[13] सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) का नेत्र सूर्य है, उसे आकाश, पृथिवी जल के परे भी दर्शन होते है।[14] इस प्रकार सूर्य एवं नेत्र का अन्योन्य सम्बन्ध प्रकाशित हो रहा है—नेत्र ज्योति 'तेज रूप' है, इस कारण तेजःपुंज सूर्य से नेत्रों का साम्य नैसर्गिक है।

---

१. ऋ० वे० १०।६३।१, २. ऋ० वे० १०।१७।१,२

३. ऋ० वे० १।५८।१, ४।७।४, ८।३९।३, १०।२१।५

४. ऋ० वे० ६।८।४, ५. ऋ० वे० ८।६।३९

६. ऋ० वे० ९।१४।५, ७. ऋ० वे० ९।२६।४

८. तै० ब्रा० १।१।९।१, ९. ऋ० वे० १०।७।३

१०. ऋ० वे० ५।४०।८, ११. ऋ० वे० १।११५।१

१२. ऋ० वे० १०।१६।३, १३. अथर्ववेद ५।२४।९

१४. अथर्ववेद १३।१।४५,

सूर्य ही मनुष्यों को जाग्रतकर उन्हें अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है।[१] उसके रथ को एतश नामक एक अश्व[२] अथवा अनेक अश्व[३], सात अश्व[४], अथवा सात घोड़ियाँ है।[५] वरूण सूर्य के मार्ग को प्रशस्त करता है।[६] अथवा मित्र, वरूण, अर्यमन् संज्ञक आदित्य देवता उसके मार्ग को व्यवस्थित करते हैं।[७] सूर्य की पत्नी उषा है।[८] सूर्य अदिति का पुत्र है इस हेतु उसको आदित्य अथवा आदितेय अभिधान से व्यवहृत किया गया है।[९] सूर्य के पिता द्यौ हैं।[१०] अग्नि का एक रूप देवताओं ने देवलोक में रखा है।[११] विश्वव्यापी परमेश्वर पुरुष के नेत्र से सूर्य की उत्पत्ति हुई है।[१२] वृत्र से उसकी 'दिवाकर' संज्ञक उत्पत्ति अथर्ववेद में वर्णित है।[१३]

अन्यत्र कई स्थानों पर सूर्य अन्तरिक्ष को आक्रमित करने वाला पक्षी है[१४] उसकी उडने वाले श्येन से तुलना की गई है, और उसे श्येन भी कहा गया है।[१५] सूर्य के अश्वों से तात्पर्य उसके किरणों से है जो सात हैं।[१६] सूर्य सम्पूर्ण जगत् हेतु, मनुष्य एवं देवों के लिये प्रकाशित होता है। उसके किरण अंधकार को जल में प्रक्षेपितकर देते है[१७] अथवा वह सूर्य अंधकार को समेट देता है।[१८] सूर्य जादूटोने एवं अंधकार में संचरणशील राक्षसादिकों का निःपात करता है।[१९] सूर्य की उष्णता एवं प्रखरता के उल्लेख भी यत्र तत्र प्राप्त होते हैं।[२०]

सूर्य का सृष्टि के प्रत्येक घटक को विलक्षणदाय है—दिवस,गणना[२१], अस्वास्थ्य, रोग एवं दुःस्वप्नों का नाश[२२] करना, सूर्य के महत्वपूर्ण कार्य हैं।

---

१. ऋ० वे० ७।६३।४, २. ऋ० वे० ७।६३।२
३. ऋ० वे० १।११५।३, ४. ऋ० वे० ५।४५।६
५. ऋ० वे० ४।१३।३, ६. ऋ० वे० १।२४।८
७. ऋ० वे० ७।६०।४, ८. ऋ० वे० ७।७५।५
९. ऋ० वे० १।५०।१२, ८।९०।११, १०।८८।११
१०. ऋ० वे० १०।३७।१, ११. ऋ० वे० १०।८८।११
१२. ऋ० वे० १०।९०।१३, १३. अथर्ववेद ४।१०।५
१४. ऋ० वे० १०।१७७।१, ५।४७।३, १।१६१।६
१५. ऋ० वे० ७।६३।५, ५।४५।९, १६. ऋ० वे० ७।६१।१६
१७. ऋ० वे० ४।१३।४, १८. ऋ० वे० ७।६३।१
१९. ऋ० वे० १।१९१।८,९, २०. ऋ० वे० ७।३४।१९, ९।१०७।२०
२१. ऋ० वे० १।५०।७, २२. ऋ० वे० १०।३७।७

समस्त प्राणि सूर्य पर आश्रित हैं।[1] विश्वकर्मन् अर्थात् विश्व को उत्पन्न करने का सम्मान भी सूर्य को प्राप्त है।[2]

१०. सविता

ऋग्वेद में सम्पूर्ण ११ सूक्त सविता को उद्देश्य कर पठित हैं एवं अन्य सूक्तों में प्रसंगोपात्त सविता का वर्णन प्राप्त होता है। सविता का वर्णन सुवर्णमय देवता के रूप में हुआ है। सविता हिरण्यहस्त, हिरण्यजिह्वा, हिरण्यनेत्र, और हिरण्यबाहु हैं,[3] उसके हाथ पुष्ट एवं सुन्दर हैं।[4] उसकी जिह्वा सुन्दर एवं अयोहनु है[5], उसके केश पीतवर्ण[6] हैं एवं वस्त्र भी पिंगल वर्ण के हैं।[7] उसका रथ हिरण्यमय एवं उसकी धुरा भी हिरण्यमय है।[8] जैसे सविता नानारूप धारण करने वाला है उसी प्रकार उसका रथ भी अनेक रूप धारण करता है।[8]

सविता का तेज अत्यधिक है। वह अपने हिरण्यमय तेज को सर्वत्र प्रसृत करता है।[9] अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, एवं सम्पूर्ण जगत् को सविता ही प्रकाशित करता है।[10] सविता अपने हिरण्मय बलवान् हात उर्ध्वकर उदित होना हुआ समस्त विश्व को आशीर्वाद देता है।[11] उर्ध्वहात करना केवल सविता का ही लक्षण है। अन्य देवताओं के प्रसंग में इस लक्षण से सविता की तुलना प्राप्त होती है। यथा—अग्नि सविता के समान ऊर्ध्वबाहू करता है।[12] सविता अपने सुवर्णमय रथ पर आरूढ होकर अधः ऊर्ध्व मार्ग का अतिक्रमण करते हुए सम्पूर्ण प्राणियों का निरीक्षण करता है।[13] सविता द्युलोक के तीन तेजोमय विभागों में प्रवेश करता है जहाँ सूर्य किरणों से उसका संयोग होता है।[14] वह देवों को अमरत्व एवं मनुष्यों को

---

१. ऋ० वे० १।१६४।१४, २. ऋ० वे० १०।१७०।४

३. ऋ० वे० १।३५।६, ६।७१।३, १।३५।८ ६।७१।१

४. ऋ० वे० २।३८।२, ३।३३।६; ५. ऋ० वे० १०।१३९।१

६. ऋ० वे० ४।५३।२, ७. ऋ० वे० १।३५ २

८. ऋ० वे० १।३५।३, ५।८१।२

९. ऋ० वे० ३।३८।५, ७।३८।१

१०. ऋ० वे० ६।३५।७, ४।१४।२, ।५३।४

११. ऋ० वे० २।३८।२, ४।५३।३, १२. ऋ० वे० १।९५।७

१३. ऋ० वे० १।३५।२, १४. ऋ० वे० ५।८१।३, ४।५३।५

दीर्घायुष्य प्रदान करता है।[1] दुःस्वप्नों को दूर करने हेतु एवं मनुष्यों को पाप मुक्त करने हेतु सूर्य के समान सविता की स्तुति भी प्राप्त होती है।[2]

'असुर' संज्ञा भी सविता हेतु व्यवहृत होती है।[3] प्रकृति के नियमन का संभार सविता के पास भी है। जल—वायु उसी के नियम से व्यवहार करते हैं।[4] अन्य देवता भी उसका नेतृत्व स्वीकार करते हैं।[5] इन्द्र, वरूण, मित्र, अर्यमन्, रूद्र आदि को उसकी आज्ञा के विरूद्ध अथवा उसकी सत्ता के विरूद्ध कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है।[6]

ऋग्वेद में सविता को अपांनपात् कहा गया है।[7] इस ऋचा के भाष्य प्रकरण में यास्क का कहना है[8] कि सविता अन्तरिक्ष लोक की देवता है। सविता की अपांनपात् संज्ञा होने से उसका मार्ग अन्तरिक्ष में है, इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होने से[9] निघण्टु में द्युलोकस्थ, एवं मध्यलोकस्थ देवताओं में सविता का नाम आया है।

सविता को एक स्थानपर विश्व का प्रजापति कहा गया है।[10] प्रजापति एवं सविता एक ही है ऐसा भी उल्लेख है।[11] एक अन्य स्थान पर प्रजापति ने सविता होकर जीवों को उत्पन्न किया इस प्रकार के उल्लेख है।[12] सविता एवं सूर्य की भिन्नता स्पष्ट रूप में कही गयी है—सविता द्यावापृथिवी में भ्रमण करता है—रोग दूर करता है एवं सूर्य को गति प्रदान करता है।[13] सविता मनुष्यों के पाप पुण्यों को सूर्य से कहता है[14], सविता सूर्य किरणों से संयोग[15] कर उन्हें प्रकाशित करता है।[16]

यास्काचार्य का मत है कि सविता का उदयकाल अंधकार के नाश का समय है।[17] सायणाचार्य का मत है कि उदय से पूर्व सूर्य को सविता कहते हैं, और उदय से अस्तपर्यन्त उसे सूर्य कहा जाता है।[18] परन्तु एक अन्य स्थान

---

१. ऋ० वे० ४।५४।२, २. ऋ० वे० ५।८२।४, ४।५४।३

३. ऋ० वे० ४।५३।१, ४. ऋ० वे० २।३८।२

५. ऋ० वे० ५।८१।३, ६. ऋ० वे० २।३८।७, ५।८२।२

७. ऋ० वे० १।२२।६, ऋ० वे० १०।१४९।२

८. निरुक्त १०।३२

९. ऋ० वे० १।३५।११, १०. ऋ० वे० ४।५३।२

११. श० ब्रा० १२।३।५।१, १२. तै० ब्रा० १।६।४।१

१३. ऋ० वे० १।३५।९, १४. ऋ० वे० १।१२३।३

१५. ऋ० वे० ५।८१।४, १६. ऋ० वे० १०।१३९।१

१७. निरुक्त १२।१२, १८. ऋ० वे० ५।८१।४ (भाष्यसायण)

पर उल्लेख हैं कि सविता निद्रा का अपसरण करता है[1]—इससे यह प्रतीत होता है कि प्रातः काल के समान सायकाल से भी उसका सम्बन्ध है। वह द्विपाद एवं चतुष्पाद प्राणियों को जाग्रत करता है।[2] सविता पश्चिम दिशा का स्वामी है।[3]

सवितृ शब्द 'सू' धातु से निष्पन्न होता है। 'सू' धातु का अर्थ जाग्रत-करना, चेतना देना, उद्दीप्त करना है।[4] यास्काचार्य ने सविता का अर्थ 'सर्वस्य प्रसविता' सभी में चैतन्य उत्पन्न करने वाला किया है।[5]

११. पूषन्

ऋग्वेद के ८ सूक्तों में पूषन् का वर्णन प्राप्त होता है। अन्य स्थानों पर 'सोमपूषन्' 'इन्द्रपूषन्' इत्यादि देवताओं के साथ संयुक्त स्तुति पठित हैं। दुष्टों के दमन हेतु उसकी स्तुति होती है। उसका मानवीयरूप वेद में स्पष्ट पठित नहीं है किन्तु कुछ लक्षण उसके मानवीय स्वरूप को स्पष्ट अवश्य करते हैं। उसके हाथों का उल्लेख है[6], रूद्र के समान उसे जटाएँ एवं दाढी है।[7] उसके पास सुवर्णमय भाला एवं अंकुश है।[8] उसे उत्तम सारथी कहा गया है।[9] पूषन् को 'दन्तदीन' कहा गया है।[10] पूषन् सूर्य का दूत है, जो अन्तरिक्ष एव समुद्र में स्वयं के सुवर्णमय जहाज से भ्रमण करता है।[11] देवों ने कामतप्तपूषन् का विवाह सूर्या से किया, ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है।[12] पूषन् को 'आघृणि' विशेषण अनेक बार प्रयुक्त हुआ है—जिसका अर्थ है तेजस्वी। यह विशेषण केवल पूषन् हेतु ही पठित है।

पृथ्वी एवं द्युलोक में पूषन् का जन्म हुआ है, वह अपने अभीष्ट स्थानों में भ्रमण करता रहता है। वह द्युलोक में रहकर सम्पूर्ण विश्व का निरीक्षण करता है।[13] वह मृतकों को पितरों के पास ले जाता है। पूषन् मार्ग का संरक्षक है, मार्ग के अवरोधकों का अपसारण करने के लिए उसकी प्रार्थना

---

१. ऋ० वे० ४।५३।६, ७।५३।१

२. ऋ० वे० ६।७१।२, ७।४५।१,   ३. श० ब्रा० ३।२।३।१८

४. ऋ० वे० ६०।५४।१; ५।८१।५,   ५. निरुक्त १०।५१

६. ऋ० वे० ६।५४।१०;   ७. ऋ० वे० १०।२६।७, ६।५५।२

८. ऋ० वे० १।४३।६, ६।५३।९,   ९. ऋ० वे० ६।५६।२

१०. श० ब्रा० १।७।४।७   ११. ऋ० वे० ६।५८।३

१२. ऋ० वे० ६।५८।४,   १३. ऋ० वे० २।४०।४, २।४०।५

हुई है।[1] इस सम्बन्ध में उसे **विमुचोनपात्** कहा गया है। पाप से मुक्त करने के लिए उसकी प्रार्थना पठित है।[2] मार्ग का ज्ञाता होने से उसको स्तुति से छिपाई हुई वस्तु की सहज प्राप्ति हो जाती है।[3] पशुओं के रक्षण का संभार **पूषन्** के अधीन है।[4] पूषन् का पशुओं की उत्पत्ति में भी योगदान है।[5]

पूषन् के अनेक गुणों का निरूपण अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। पूषन् **शक्तिमान्** एवं[6], **चपल** है।[7] उसका वैभव देवताओं के समान है[8]; वह धैर्यशाली व्यक्तियों का **राजा**,[9] **'धीमान्'** एवं **'उदार'** है।[10] इनके व्यतिरिक्त, **आघृणि, अजाश्व, विमोचन, विमुचोनपात्, पुष्टिंभर, अनष्टपशू, अनष्टवेदस्, करंभाद** अनेक विशेषण पूषन् के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

यास्काचार्य ने निरुक्त में पूषन् का अर्थ=आदित्य, **'समस्त प्राणियों का संरक्षक'** किया है।[11] पूषन् शब्द **'पुष्'** धातु से निष्पन्न होता है जिससे पूषन् का तात्पर्य वैभव प्रदाता से है। इसी अर्थ को **विश्ववेदस्, अनष्टवेदस्, पुरुवस्, पुष्टिंभर** इन विशेषणों से समझ सकते हैं। पूषन् से जो सम्पत्ति प्राप्त होती है उसका सम्बन्ध **इन्द्र, पर्जन्य, मरुद्गण** आदि से प्राप्त सम्पत्ति के समान **पर्जन्य** से न होकर प्रकाश से है—इसी अर्थ को **'आघृणि'** यह विशेषण स्पष्ट करता है।

१२. मरुत्

मरुत् ऋग्वेद की प्रधान देवता है, जिसके ३३ सूक्त हैं। 'मरुत्' संज्ञा समूह की द्योतक है। इनकी संख्या 'त्रिषष्टि' अर्थात् १८०[12], अथवा 'त्रिसप्त' २१ कही गयी है।[13] इस कारण इनका हमेशा बहुवचनान्त प्रयोग प्राप्त

---

१. ऋ० वे० १।४२।१;
२. अ० वे० ६।११२।३
३. ऋ० वे० ६।४८।१५,
४. ऋ० वे० ६।५४।५
५. ऋ० वे० १।५।१, मै० सं० ४।३।७
६. ऋ० वे० ५।४३।६,
७. ऋ० वे० ६।५४।८
८. ऋ० वे० ६।४८।१६,
९. ऋ० वे० १।१०६।४८
१०. ऋ० वे० १।४८।५, २।३१।४,
११. निरुक्त ७।६
१२. ऋ० वे० ८।८५।८,
१३. ऋ० वे० १।१३३।६, अ० वे० १३।१।१३

होते है। वे रुद्र पुत्र हैं इस कारण उन्हें अनेक स्थानों पर रुद्राः[1], रुद्रियाः[2] भी कहा गया है।

मरुद्गण परस्पर भाई हैं इनमें कोई ज्येष्ठ कनिष्ठ नहीं है[3], वे समान-वयस्क हैं।[4] वे एक साथ वृद्धि को प्राप्त हुए हैं[5] एवं एकचित्त हैं।[6] उनका वसतिस्थान भी एक है।[7] मरुद्गणों की पत्नी 'रोदसी' है।

मरुद्गण तेजस्वी हैं उनके दैदीप्यता का वर्णन अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। उनकी 'कांति' अग्नि के समान है।[8] वे पर्वतों में भी प्रकाशित, होते है[9]—वे स्वयं प्रकाश है।[10] पूषन् का विद्युत् देवता से भी सम्बन्ध प्राप्त होता है।[11] इस सम्बन्ध में कहा है कि जब मरुत घृत की वर्षा करते हैं तब विद्युत अपने हास्य से पृथिवी को प्रकाशित करती है।[12] विद्युत् ही उनकी ऋष्टि है।[13] उनके शस्त्र परशु[14], वज्र[15] आदि हैं। एक स्थान पर उनके स्वरूप को स्पष्ट करने वाली ऋचा है जिसमें कहा गया है कि उनके स्कंधो पर भाले हैं—पैरों में नुपूर, वक्षस्थल पर सुवर्णालंकार, एवं कांचन युक्त शिरस्त्राण है।[16]

मरुत् गणों का रथ भी सुवर्ण निर्मित है[17] वह अत्यन्त भास्वर है. उस रथ के चक्र भी सुवर्ण से घटित, है।[18] उनका रथ शस्त्रों से सज्जित रहता है।[19] रथ में संयोजित अश्व रक्त अथवा पिंगल वर्ण के होते हैं[20] जो मन के समान शीघ्रगामी हैं।[21]

मरुत् आकाश के समान प्रभू अर्थात् व्यापक हैं।[22] उनके समान अन्य

---

१. ऋ० वे० १।३९।४, १।३७।७
२. ऋ० वे० १।३८।७, २।३४।१०
३. ऋ० वे० ५।६।६, ५।६०।५, ४. ऋ० वे० १।६५।१
५. ऋ० वे० १।६५।५, ७।५८।१, ६. ऋ० वे० ८।२०।१
७. ऋ० वे० १।६५।१, ७।५६।१
८. ऋ० वे० १०।४१।१, ३।२६।५, ९. ऋ० वे० ८।७।१
१०. ऋ० वे० १।३७।२, ११. ऋ० वे० ५।५४।२, १।६४।५
१२. ऋ० वे० १।१६८।८, ५।५२।६
१३. ऋ० वे० १।१६८।५, ५।५२।१३
१४. ऋ० वे० १।३७।२, १।८८।३, १५. ऋ० वे० ८।७।३२
१६. ऋ० वे० ५।५४।११, १७. ऋ० वे० ५।५७।१
१८. ऋ० वे० १।८८।१, ३।५४।१३, १।६४।११; १।८८।५
१९. ऋ० वे० ५।५७।६, २०. ऋ० वे० १।८८।२, ५।५७।४
२१. ऋ० वे० १।८५।४, २२. ऋ० वे० ५।५७।४

कोई बलवान् नहीं है।[1] वे तरुण है एवं उनका तारुण्य सर्वदा स्थिर रहने वाला है।[2] वे ओजस्वी, साहसी, निर्मल एवं निष्कलंक हैं।[3]

वे शीघ्र कुपित[4], भयंकर उग्रस्वरुप[5], वन्य पशु के समान क्रूर भी[6] हैं। मरुत् गणों का मुख्यकार्य पर्जन्य वृष्टि है। मरुत्गणो की अन्यतम विशेषता—उनकी गायकी है।[7] मरुत् गणों के गान से सूर्य उदित होता है।[8] वे अपने गान से इन्द्र का बलवर्धन करते हैं।[9] उन्होने बांसुरी बजाते बजाते पर्वतों का भेदन किया।[10] अन्य देवताओं के समान वे भी सोमपान करनेवाले हैं।[11] इन्द्र से उनकी विशिष्ट मित्रता है, वृत्र के साथ युद्ध में इन्द्र की सहायता करना मरुत् गणों का विशिष्ट कार्य है। इन्द्र के समस्त पराक्रमयुक्त कार्य मरुत् गणों के सहयोग से ही सम्पन्न होते हैं।[12]

१३. रुद्र

प्रमुख वैदिक शक्ति स्वरुपों में रुद्र की गणना होती है। ऋग्वेद में तीन सूक्त रुद्र को उद्देश्य कर पठित हैं। अन्यत्र भी सोमादि देवताओं के साथ रुद्र का संकीर्तन प्राप्त होता है।

जहां तक स्वरूप वर्णन का प्रश्न है उसका स्पष्ट स्वरुप हमें 'संहिता-ब्राह्मणात्मक' वेद में प्राप्त हो जाता है—रुद्र को एक हाथ[13] व बाहु है[14] उसके गात्र पुष्ट है।[15] उसके ओष्ठ सुन्दर[16] हैं एवं वर्ण बभ्रु अर्थात् पिंगल है।[17] वह आकृति से दैदीप्यमान[18] एवं अनेक रुपों वाला[19] है। उसके सहस्र

---

१. ऋ० वे० १।१६७।९
२. ऋ० वे० १।६४।२, १।१६५।२, ५।४२।१५, १।६४।३
३. ऋ० वे० १।६४।२, २, ६।६६।२
४. ऋ० वे० ७।५६।८, ५. ऋ० वे० ५।५६।२, ३
६. ऋ० वे० २।३४।१, ७. ऋ० वे० ५।५२।१, ५।६०।८, ७।३५।९
८. ऋ० वे० ८।२९।१०, ९. ऋ० वे० ३।३५।९, १।१६५।११
१०. ऋ० वे० १।८५।१०, ११. ऋ० वे० २।३६।२
१२. ऋ० वे० १।१००, १।१०१, १।१६५, १०।६५
१३. ऋ० वे० २।३३।७, १४. ऋ० वे० २।३३।३, वा० सं० १६।१
१५. ऋ० वे० २।३३।११, १६. ऋ० वे० २।३३।५
१७. ऋ० वे० २।३३।५, १८. ऋ० वे० १।११४।५
१९. ऋ० वे० २।३३।९, २०. अ० वे० ११।२।३, ७

नेत्र[1] है। वह उदर, मुख, जिह्वा एवं दन्त युक्त है।[2] उसका उदर कृष्ण-वर्ण एवं पृष्ठ भाग रक्त वर्ण का है।[3] उसकी ग्रीवा नील वर्ण है।[4] उसका परिधान चर्म है।[5] वह आभूषणों से विभूषित और पर्वत पर रहने वाला है।[6]

रुद्र मरुतों का पिता है[7], उसने मरुतों को पृश्नी के दैदीप्यमान स्तनो से उत्पन्न किया।[8] शिव को वैदिक देवता न मानने वाले मनुष्यों हेतु यह प्रमाण है कि त्र्यम्बक शब्द रुद्र हेतु ही प्रयुक्त हुआ है[9]—अतः रुद्र एवं शिव यह संज्ञाभेद तत्तत् कालीन कार्यानुरोध से है—शिव की बहन अम्बिका है।[10] शिव की स्त्री उमा एवं पार्वती का नामोल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक, केनोपनिषद् में प्राप्त होता है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, तै० सं० शतपथ ब्राह्मणादि में रुद्र को अग्नि ही कहा गया है।[11] रुद्र हेतु 'भव' एवं 'शर्व' दो विशेषण अत्यधिक पठित हुए हैं।[12] अथर्ववेद में उसके संहारक बाणों का एवं सौदामिनी का उल्लेख भी है।[13] शांखायन श्रौतसूत्र में शर्व एवं भव को रुद्र के पुत्र कहा गया है।[14] वाजसनेयी संहिता में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उपदेव आदि अनेक रूप एक ही देव के रूप में वर्णित है।[15] अग्नि के नानानामों में ये नाम उसके विभिन्न रूपों के निदर्शक हैं—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र अशनि, भव, महादेव।[16]

ऋग्वेद में रुद्र को क्रूर कहा गया है।[17] वह सर्वश्रेष्ठ एवं बलवानों में

---

१. अ० वे० ११।२।२, ६, २. अ० वे० १५।१।७,८
३. वा० सं० १६।७, अ० वे० २।२७,६
४. वा० सं० ३।६१, १६।५१, ५. ऋ० वे० २।३३।९
६. वा० सं० १६।२,४
७. ऋ० वे० १।११४।६,९, २।३३।१, ८. ऋ० वे० २।३४।२
९. ऋ० वे० ७।५९।१२ वा० सं० ३।५८, श० ब्रा० २।६।२।९
१०. वा० सं० ३।५
११. ऋ० वे० २।१।६, अ० वे० ७।८७।१, तै० सं० ५।४।३, ५।५।७, श० ब्रा० ६।१।३।१०
१२. वा० सं० ६।१८,२०
१३. अ० वे० २।७६।६, ६।९३।१, १०।१।२३, ११।२।१
१४. शा० श्रौ० सू० ४।२०।१, १५. वा० सं० ३९।८
१६. श० ब्रा० ६।१।३।७, श० ब्रा० ६।१, श० ब्रा० १।७।३।८
१७. ऋ० वे० २।३३।९,११, १०।१२६।५

बलवान् है।[१] वह 'दुष्पधर्ष' एवं 'वेगवान्' है।[२] वह तरुण है एवं उसका तारुण्य स्थिर है।[३] वह शूरों का अधिपति एवं समस्त भूलोक का ईशान = स्वामी धनी है।[४] वह बुद्धिमान्, परोपकारी एवं मीढ्व अर्थात् उदार प्रकृति का है।[५] वह त्वरित प्रसन्न होने वाला 'शिव' है।[६]

देवों को भी रुद्र के धनुष बाण का भय रहता है।[७] वैदिक कर्म में देवताओं को आहुती देने के उपरान्त जो अवशिष्ट रहता है वही रुद्र देव को अर्पित किया जाता है।[८]

रुद्र की स्तुति 'कृशानु' एवं 'धनुर्धरों' के साथ हुई है।[९] जहाँ जहाँ इन्द्र को रथासनाधिष्ठित धनुर्धरों की उपमा दी गई है[१०] वहाँ रुद्र ही अपेक्षित है क्योंकि अनेक स्थलों पर रुद्र के हाथ में सुगठित एवं वेगवान् तीर एवं धनुष् होने के संकेत प्राप्त होते हैं।[११] एक ही स्थान पर उसके हाथ में वज्र होने का संकेत है।[१२] देवताओं के उपद्रवों के उपशमन हेतु भी रुद्र की प्रार्थना की जाती है।[१३] रुद्र से उपासकों की अनेक अपेक्षाएँ हैं—मनुष्य एवं पशुओं का हित[१४], उन्हे सुखादि[१५] प्राप्त कराने का संभार रुद्र का ही है। रुद्र के पास अनेक प्रकार की औषधियाँ हैं।[१६] वह अपनी औषधियों से वीरों को सजीव करता है। समस्त वैद्यों में वह श्रेष्ठ है।[१७]

रुद्र को दो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जो अन्य देवताओं हेतु पठित नहीं हैं। प्रथम 'जलाष', अर्थात् रोग निदान करनेवाला तथा द्वितीय 'जलाषभेषज', रोग निदान करने वाली औषधियों का रक्षक है।[१८] रुद्र शब्द 'रुद्' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'रोना' यह अर्थ ही सर्व मान्य हैं।

---

१. ऋ० वे० ७।१०।४, २।३३।३

२. ऋ० वे० ७।४६।१, १।११४।४, ३. ऋ० वे० २।३३।१

४. ऋ० वे० १।११४।१, २।३३।९

५. ऋ० वे० १।४३।१, २।३३।७, ६।४९।१०, १।११४।३

६. ऋ० वे० २।३३।६, १०।९२।९ ७. श० ब्रा० ९।१।१।१,६

८. गो० गृ० सू० १।८।२८, आप० ध० सू० २।४।२३

९. ऋ० वे० १०।६४।८, १०. ऋ० वे० ६।२०।९, २।३३।११

११. ऋ० वे० ७।४६।१, २।३३।१०,११, ५।४२।११, १०।२५।६

१२. ऋ० वे० २।३३।३, १३. ऋ० वे० १।११४।४, २।३३।७

१४. ऋ० वे० १।४३।६, १५. ऋ० वे० १।११४।१,२, २।३३।६

१६. ऋ० वे० ५।४२।११, १७. ऋ० वे० २।३३।४

१८. ऋ० वे० १।४३।४, अ० वे० २।२७।६

१४. अदिति

अदिति देवतापरक कोई स्वतन्त्र सूक्त नहीं है फिर भी उसका नाम-संकीर्तन अनेक सूक्तों में हुआ है। इस देवता का स्वरूप निश्चित नहीं है। अदिति को ऋग्वेद में 'अनर्वा' विशेषण दिया गया है।[1]

अदिति, 'मैत्रावरुण'[2] एवं 'अर्यमा'[3] की जननी है इस कारण उसे 'राजमाता' विशेषण नैसर्गिक रूप से दिया गया है।[4] उसके बलवान् आठ पुत्रों का उल्लेख अनेक स्थानों पर वर्णित है।[5] अथर्ववेद में अदिति के भाई एवं पुत्रों का एक साथ उल्लेख है।[6] (६।४) वाजसनेयी संहिता में इसे स्तोता की माता, ऋत् की अधिष्ठात्री, पराक्रमी, रक्षणकर्त्री एवं मार्गदर्शिका कहा गया है। आदित्यों के साथ प्राप्त उल्लेखों के अनुसार 'मातृत्व' अदिति का विशेष गुण है।

पौराणिक कथानकों के अनुसार अदिति कश्यपपत्नी एवं दक्षकन्या है, किन्तु वेद में वह विष्णु की पत्नी है।[8] बहुधा तेजस्वी आदित्यों की माता होने से उसका तेज से सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है। इस हेतु तेजः प्राप्ति के लिए भी अदिति की प्रार्थना की गई है।[9] इस तेजःसम्बन्ध से ही उसके अक्षय तेज का गुण गान किया गया है।[10] उषा को 'अदितिमुख' कहा गया है।[11]

ऋग्वेद के कुछ उल्लेखों में एवं अन्य वैदिक ग्रंथों में उसे 'गो' कहा है।[12] संस्कार विधि में प्रयुक्त 'गो' को अदिति कहा जाता है। भूलोक के 'सोम' की तुलना अदिति के 'दुग्ध' से की गई है।[13]

उपर्युक्त प्राप्त संकेतों के अनुसार अदिति के मुख्य रूप से दो वैशिष्टय प्रकाशित होते हैं। प्रथम उसकी 'मातृत्व शक्ति' और द्वितीय 'शारीरिक-

---

१. ऋ० वे० २।४०।६, ७।४०।४

२. ऋ० वे० २।८५।३, १०।३।८३, ३. ऋ० वे० ८।४।७९

४. ऋ० वे० २।२७।७

५. ऋ० वे० ३।४।११, ८ ५६।११, १०।७२।८

६. अथर्ववेद ६।४, ७. वा० सं० २१।५

८. वा० सं० २९।६०, तै० सं० ७।५।१४

९. ऋ० वे० ४।२५।३, १०।३६।३, १०. ऋ० वे० ७।८२।१०

११. ऋ० वे० १।११३।१९

१२. ऋ० वे० १।१५३।३, ८।९०।१५, १०।११।१

१३. वा० सं० १३।४३, ४९

यातना एवं नैतिक दोषों से मुक्त करने वाली शक्ति'। यास्काचार्य ने अदिति की व्याख्या 'देवों की बलवती माँ' इस प्रकार की है। यास्क ने अदिति का स्थान अन्तरिक्ष में निश्चित किया है।

१५. अश्विनौ

इन्द्र, अग्नि एवं सोम के उपरान्त 'अश्विनौ' देवता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण ५० सूक्त इन्हीं को उद्देश्य कर के पठित हैं। इन देवताओं का सृष्टि के किस व्यापार से सम्बन्ध है यह स्पष्ट नहीं है। प्रारम्भिक वेदार्थकारों से आधुनिक वेदतत्त्वज्ञों को भी इन देवताओं का स्वरूप स्पष्ट नहीं। हो सका है।

'अश्विन्' जुडवां बंधू हैं, जिनकी जोडी त्रिकाल अटूट है।[१] एक सम्पूर्ण सूक्त में अश्विनौ के अङ्ग प्रत्यङ्गों का भी वर्णन है।[२] अश्विनौ आयु से तरुण एवं समस्त देवताओं में कनिष्ठ हैं।[३] वे तेजस्वी[४], सुन्दर, एवं अनेक रूप धारण करने वाले[५] देवता हैं। वे 'मधुप' अर्थात् 'मधु' और 'सोम' पान करने वाले हैं।

सुवर्ण रथ में वे सर्वत्र संचार करते हैं। उनका रथ तीन 'चाक' और तीन 'स्तम्भों' का है।[७] उस रथ को 'मधुवर्ण और 'मधुवाहन' कहा गया है। वह अत्यन्त शिघ्रगामी है जो एक दिन में द्यावा-पृथिवी का भ्रमण कर लेता है।[८] इनके रथ को अश्व, पक्षी, हंस, गरुड़ आदि खींचते हैं।[९]

अश्विनौ के वसतिस्थान के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं। द्यु एवं पृथ्वी[१०], द्यौ और अन्तरिक्ष[११], विशालवृक्ष, महत्त्वपूर्ण गिरिशिखर[१२] आदि उनके वसतिस्थान वर्णित हैं परन्तु एक स्थान पर उनके वसतिस्थान को

---

१. ऋ० वें० ३।३९।३, १०।१७।२, २. ऋ० वें० २।३९
३. ऋ० वें० ७।६७।१०, तै० सं० ७।२।७
४. ऋ० वें० ७।६८।१, ५. ऋ० वें० ६।६२।५, १।११७।९
६. ऋ० वें० ६।६२।५, ७, ऋ० वें० १।१८०।१, १।११८।१,२
८. ऋ० वें० ३।५८।८
९. ऋ० वें० १।११७।२, ६।६३।६, ४।४५।४, १।११९।४
१०. ऋ० वें० १।१४४।५, ११. ऋ० वें० ८।८।४
१२. ऋ० वें० ७।७०।३,

अज्ञात भी कहा गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में अश्विनो का वर्ण 'श्वेतताम्र' वर्णित है।[2]

अश्विनौ विवस्वत् और सरण्यू (उषा) के पुत्र हैं।[3] ये सूर्य की कन्या सूर्या के पति हैं।[4] वे स्त्रियों को अपत्योत्पादन में समर्थ करते हैं।[5] उन्होने एक नपुंसक स्त्री को पुत्र दिया[6], एक वृद्ध कुमारिका को पति दिया[7], इस प्रकार के अनेक उद्धरण हैं जो उनके कार्यक्षमता के परिचायक हैं। अथर्ववेद के अनुसार वे प्रेमी युगलों को मिलाते हैं।[8]

दुःखापन्न प्राणि का उद्धार करना अश्विनौ का प्रधान कार्य है।[9] वे कुशल वैद्य हैं जो अन्ध, पंगु, रोगग्रस्त सभी का तारण करते हैं।[10] वे देवताओं के धन्वन्तरी एवं भक्तों की मृत्यु का मोचन करने वाले हैं।[11]

ऋग्वेद में अश्विनौ सम्बन्धित अनेक आख्यान हैं जिनमें च्यवनभार्गव[12], वृद्धकली[13], विमद पुरुमित्र[14], तुग्रपुत्रभुज्यू आदि से सम्बद्ध आख्यान महत्त्व पूर्ण हैं।

यास्काचार्य ने इन्हें पृथक् पृथक् रूप से 'निशा का पुत्र एवं उषा का पुत्र' कहा है।[15]

१६. वायु

ऋग्वेद में वायु एवं वात दोनो ही शब्द भौतिक चमत्कार के साथ ही देवता परक भी प्रयुक्त हुए हैं। वस्तुतः वायु देवता है एवं वात पंचमहाभूतात्मक एक तत्त्व है। वायु का वर्णन इन्द्र के साथ ही प्राप्त होता है। और वात का सम्बन्ध पर्जन्य के साथ प्राप्त होता है।

वायु की उत्पत्ति के विषय में यही संकेत प्राप्त होता है कि वह विश्व-

---

१. ऋ० वे० ८।५।२ २. श० ब्रा० ५।५।४।१

३ ऋ० वे० १०।१७।२, ४. ऋ० वे० १४।४३।६

५. ऋ० वे० १०।१८४।२, ६. ऋ० वे० १।११२।३

७. ऋ० वे० १०।३९।३, ८. अ० वे० २।३०।२

९. ऋ० वे० १।११२।२, १०. ऋ० वे० ८।१८।८, १०।३९।३

११. अ० वे० ७।५३।१, तै० ब्रा० ३।१।२, ११

१२. ऋ० वे० १।११६।१०; १३. ऋ० वे० १०।३९।८

१४. ऋ० वे० १०।६५।१२. १५. निरुक्त १२।२

पुरुष के श्वासोच्छ्वास से उत्पन्न हुआ है ।[1] वह सुन्दर, मनोगति, एवं सहस्राक्ष है ।[2] वह 'शब्दितगमन' अर्थात् शब्द करता हुआ गमन करता है ।[3] उसका रथ दैदीप्यमान और एक सहस्र अश्वों से युक्त है ।[4] अन्य देवताओं के समान वायु भी सोमपायी है, सोमपान प्रसंग में उसे प्रथम सम्मान प्राप्त होता है क्योंकि समस्त देवताओं में वह अत्यन्त वेगवान् है ।[5] ऋग्वेद में वायु को सोमरक्षक कहा गया है ।[6] वायु–यश, संतति और सम्पत्ति देनेवाली देवता है ।[7]

१७. उषा

'उषा' का अर्थ है उषःकाल की अधिष्ठात्री देवता । इस देवता परक ऋग्वेद में लगभग २० सूक्त हैं, और अन्यत्र भी बहुशः नाम संकीर्तन हुआ है । विश्व के अन्य किसी भी वाङ्मय में 'उषासूक्तों' में प्रकाशित भावाभिव्यक्ति को प्राप्त करना असम्भव है । इतना रमणीय धार्मिक काव्य किसी भी सभ्यता में स्फुरित नहीं हुआ । काव्यशास्त्र की सौन्दर्यघटक सामग्री (गुण, अलंकार, रस) इन सूक्तों से ही अनुप्राणित है । जैसे—'उषा, नर्तकी के समान आकर्षक परिधानों से अपने वक्षः प्रदेश को आविष्कृत करती है' ।[8] 'उषा का स्वरुप माँ के द्वारा सजाई गई कुमारिका के समान है' ।[9]

प्रकाशमान् परिधानों से आवेष्टित कुमारिका (उषा) पूर्व दिशा में अपने मोहक हाव भाव प्रकाशित करती है ।[10] अपरिमित लावण्यवती उषा अपने सौन्दर्य को सर्व सुलभ प्रकट करती है ।[11] उसका सौन्दर्य सद्यः स्नात् होने से अधिक प्रभावशाली होता है, उसके प्रकाश से सर्वत्रव्याप्त अन्धकार नष्ट हो जाता है ।[12] उषा अत्यन्त प्राक्कालीन होने पर भी पुनः पुनः जन्म प्राप्त करने से सदोदित तारुण्यवती ही है, वह अपने तारुण्यमद से मनुष्यों को मोहित करके उनके आयुष्य का दिवसानुदिवस क्षय करती हैं ।[13] उषा

---

१. ऋ० वे० १०।९०।१३, २. ऋ० वे० १।२।१, १।२३।२
३. ऋ० वे० १०।१००।२, ४. ऋ० वे० ४।४८।४, ४।४६।३
५. श० ब्रा० १३।१।२।७, ६. ऋ० वे० १०।८५।५
७. ऋ० वे० ७।९०।२, ८. ऋ० वे० १।९२।४
९. ऋ० वे० १।१२३।११
१०. ऋ० वे० १।१२४।२ ११. ऋ० वे० १।१२४।५
१२. ऋ० वे० ५।८०।५, १३. ऋ० वे० १।९२।१०, १।११३।१३

अपने आगमन से समस्त पादचारी प्राणियों को जागरित करती हैं, खेचरों को अन्तरिक्ष में विचरण हेतु प्रवृत्त करती है, इस प्रकार उसके आगमन से समस्त प्राणी निद्रा से जाग्रत हो, अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं।[1] उसके आगमन से दुष्ट स्वप्नों का क्षय होता है।[2]

नियति के द्वारा बनाये गये नियमों का उल्लंघन न करते हुए वह नियमित निश्चित स्थान पर दृग्गोचर होती है।[3] वह ईश्वर के निःसीम भक्तों को निद्रा से जागरित करके उन्हें हवनार्थ अग्नि प्रदीप्त करने हेतु प्रवृत्त करती है।[4]

उषा विशालभासमान रथपर आरूढ होकर आती है।[5] जिसमें ताम्रवर्ण के अश्व जुते रहते हैं।[6] वह सूर्य के मार्ग को व्यवस्थित करती है।[7] उषा अपने प्रणयी सूर्य के सौन्दर्य प्रकाश से अधिक रूपसम्पन्न दृष्टि गोचर होती है।[8] उषा सूर्य की पत्नी,[9] द्युदेवता की कन्या,[10] एवं आदित्य, भग और निशा की भगिनी है।[11] प्रातःकाल दृग्गोचर अश्विन् उषा के मित्र हैं।[12]

उषा को उत्पन्न करने वाले, अथवा खोजने वाले अनेक देवताओं के नाम प्राप्त होते हैं—इनमें प्रमुख इन्द्र, सोम, बृहस्पति, पितर आदि हैं।[13]

उषा देवता की उपासना, वात्सल्यमयी मातृ प्रसाद को प्राप्त करने हेतु हैं। संपत्ति, संतति, दीर्घायुष्य, आदि की प्राप्ति के लिये उषा देवता की उपासना की गई है।

निघण्टु में 'उषा' के समानार्थक १६ शब्दों का परिगणन कराया गया है। ६ सूक्तों में उसे बहुदात्री, (मघोनी) विशेषण बहुतायत में दिया गया है। 'उषा' शब्द 'वस्' 'प्रकाशणे' धातु से निष्पन्न हुआ है।

---

१. ऋ० वे० १।४८।५, से १०, २. ऋ० वे० ८।४७।१४ से १६
३. ऋ० वे० १।९२।१२, १।१२३।६, १।१२४।२, ७।७६।५
४. ऋ० वे० १।११३।६, १।१२४।१०, ४।५१।३
५. ऋ० वे० ७।७८।१, ६. ऋ० वे० ७।७५
७. ऋ० वे० १।११३।१६
८. ऋ० वे० १।११३।६, १।९२।११, ९. ऋ० वे० ७।७५।५
१०. इन्द्र की उत्पत्ति ११. इन्द्र का स्वरुप वर्णन
१२. इन्द्र विरुद्ध युद्ध करने वाले राक्षस १३. इन्द्र के अर्थ—

१८. इन्द्र

आर्यों की सर्वश्रेष्ठ एवं पराक्रमी देवता 'इन्द्र' है। ऋग्वेद के एक चौथाई सूक्त इन्द्र से सम्बद्ध हैं। 'इन्द्र' इतिहास संशोधकों का परम्परा से मुख्य विषय रहा है। इस हेतु इन्द्रविषयक विचार करना प्रासंगिक हो गया है। हम यहाँ इन्द्र का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत कर रहे हैं—

१—इन्द्र की उत्पत्ति—इन्द्र के अवतार के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख हैं। किन्तु प्राप्त उल्लेखों के आधार पर इन्द्र के वंशवृक्ष विषयक निर्णायक तथ्यों का चुनाव नहीं किया जा सकता। इन्द्र के माता-पिता का उल्लेख प्राप्त अवश्य होते हैं परन्तु वे अत्यधिक अस्पष्ट होने से, उनको लेकर कुछ निर्णायक बात नहीं लिखी जा सकती। हम इन्द्र की उत्पत्ति विषयक उल्लेखों को अधोलिखित क्रमानुसार प्रस्तुत कर रहे हैं :—

१. सृष्टितत्त्व और इन्द्र :—इन्द्र का जन्म यच्चयावत् विश्व में अलंकारवत् ही है। एक ऋचा में कहा है कि इन्द्र का पिता आकाश[1] है। इन्द्र का उत्पादन कर्ता कुशल शिल्पी ही है क्योंकि पृथ्वी के समान अचल वज्र को इन्द्र सहज ही धारण करता है। इसी सूक्त में अन्य स्थान पर कहा है कि 'इन्द्र के आवेश से आकाश थरथरा उठा, इन्द्र के क्रोध के भय से पृथ्वी कम्पित हुई, पर्वत चलायमान हो गये, और जल सर्वत्र प्रसृत हुआ।[2]

इन्द्रोत्पत्ति के विवरण में 'मेघ' का अत्यन्त महत्त्व है और इसी कारण इन्द्र के साथ मेघों का वर्णन प्रायः प्राप्त होता ही है। एक स्थल पर उषःकालीन मेघों का वर्णन है जिसमें कहा है कि पर्जन्यार्थ स्तुति के प्रतिफल स्वरूप ये मेघ हैं, एवं इन्हीं मेघों में इन्द्र का जन्म हुआ है।[3] एक स्थान पर इन्द्र की उत्पत्ति अत्यन्त दार्शनिक है जिसमें कहा है कि घन-अंधकार का निःपात करके अदृश्य वस्तुओं के प्रकाशक इन्द्र का जन्म उषःकाल में हुआ है।[4] इस ऋचा का दार्शनिक निष्कर्ष यही है कि 'अंधकार (अज्ञान) का समूलोच्छेद ही 'उषःकाल सदृश अमल, निर्मल, आनन्दैकमय ज्ञान को उदित करना है।

---

१. ऋ० वे० ४।१७।४, २. ऋ० वे० ४।२२।४
३. ऋ० वे० ८।६।२८, ४. ऋ० वे० १।६।३

अन्य उल्लेख इन्द्र के जन्मविषयक भिन्न संकेत ही प्रस्तुत करते हैं। आपाततः ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखों से नितान्त भिन्न है परन्तु अर्थवस्तु का सादृश्य अत्यधिक चिन्तनीय है। उदाहरणतः "इन्द्र अपनी माँ के उदर में एक हजार मास एवं अनेक वर्ष था" "इन्द्र जन्म के समय अत्यधिक कृश था, जिसे माँ ने छोड़ दिया था" "इन्द्र जन्म के साथ ही पराक्रम करता है" "[1]इन्द्र स्वयं अपने पिता का वध करता है" इन्द्र निसर्गसिद्ध मार्ग से जन्म न लेकर अपनी माँ की पसलियों से जन्म लेता है" इत्यादि संकेत विरुद्ध अर्थ के पोषक नहीं है अपितु पूर्व कथित मेघों से उत्पत्ति रूप भौतिक अर्थ को अन्य प्रकार से कह रहे हैं।

इन्द्र के माँ एवं पिता का उल्लेख अनेक स्थानों पर है परन्तु इन उल्लेखों में उनका नाम मात्र नहीं है। उदाहरणतः "मेरे पिता ने मुझे 'अशत्रु' निर्माण किया है" "युद्ध करने हेतु असामान्य पुरुष ने असामान्य पुरुष को उत्पन्न किया," "एक वीरपत्नी के उदर से एक वीर उत्पन्न हुआ"[2]। एक अन्य स्थान पर इन्द्र की बाल्यावस्था का वर्णन हुआ है जिसमें कहा है कि "बाल्यावस्था में इन्द्र ने रथारूढ़ होकर माता-पिता के लिये एक पुष्ट 'बैल' प्राप्त किया"[3]। एक अन्य उल्लेख के अनुसार इन्द्र एवं अग्नि के माता-पिता का देवों ने 'वध' किया है[4]।

इन्द्र एवं अग्नि जुड़वा बंधू हैं[5]। इस कारण दोनों के माँ-पिता एक ही हैं। इन्द्र के पिता का नाम 'द्यु' एवं माता का नाम पृथ्वी है[6]।

१६ इन्द्र का स्वरूप वर्णन

इन्द्र का मानवी स्वरूप अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक उपलब्ध होता है। क्योंकि इन्द्र राष्ट्रिय देवता है इस कारण श्रुति द्वारा इन्द्र के अतुल पराक्रम, विशाल देह, दूरदृष्टि, अगणित सम्पत्ति, विलक्षण औदार्य आदि का विस्तरशः वर्णन किया गया है।

इन्द्र समस्त देवताओं में अत्यधिक बलवान् एवं श्रेष्ठातिश्रेष्ठ है, सम्पूर्ण देवतायों का बल एवं ज्ञान इन्द्र में ही केन्द्रित है। इन्द्र बलसागर है।[7] इन्द्र के समान देव, मानव, एवं उदक् भी सामर्थ्यवान् नहीं हैं क्योंकि वह

---

१. ऋ० वे० ४।१८।४, ५, १२, २. ऋ० वे० १०।२८।६, ७।२०।५,
३. ऋ० वे० ८।५८।१५, ४. ऋ० वे० ४।५९।१,
५. ऋ० ६।५९।२, ६. ऋ० वे० ४।१७।४, ४।१८।१२, १०।५४।३,
७ ऋ० वे० १।११।२, ८।५०।२, १।८०।१५,

अमर्यादित सामर्थ्यशाली है आकाश को वह अपने शिर से आधार देता है ।[१] सोमपान करने के उपरान्त इन्द्र स्वर्ग एवं पृथ्वी की कक्षा से भी अधिक प्रसृत होता है इतना ही नहीं पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश को एकत्रित करने के बाद भी वह इनसे बड़ा है ।[२] वह स्वर्ग का राजा एवं पृथ्वीस्थानीय समस्त राष्ट्रों का अधिपति है ।[३] सूर्य के समान ही इन्द्र का मार्ग भी दुष्प्राप्य है, दोनों लोकों में उसकी महिमा अतिव्याप्त है, वह सर्वगामी एवं अप्रतिहतगतिवाला है उसका कोई अन्य प्रतिपक्षी नहीं हैं वह सर्वजेता है ।[४]

सर्वदृक् सर्वश्रवा, इन्द्र को पराजित करना किसी का सामर्थ्य नहीं है । उसका सिंह नाद बधिर भी सुनकर भय से कम्पित हो उठते हैं ।[५]

समस्त नदियों का गन्तव्य एक मात्र समुद्र है उसी प्रकार सम्पत्ति प्रदान करने वाले समस्त मार्गों का गन्तव्य स्थान इन्द्र ही है । जगत् की की सम्पत्ति संतति उसी के अधीन है, चारसागरों के समान वह सम्पत्ति का आगार है ।[६]

इन्द्र की दानवीरता भी अत्युच्च आदर्श उपस्थित करती है । मनुष्यों को वह अतिशय उदारवृत्ति से विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करता है, उसके द्वारा प्रदत्त निधि अक्षय्य होती है, वह किसी को भी विमुख नहीं करता उसकी उदारता का वर्णन करना सम्भव नहीं है क्योंकि उसकी दानवीरता का प्रकाश सम्पूर्ण विश्वंभरा पर व्याप्त है ।[७]

इन्द्र का बल, तारुण्य भी अविनाशी है, उसे जरा मृत्यु की बाधा नहीं है ।[८] वह अन्य वस्तुओं को वृद्ध बनाता है परन्तु स्वतः सर्वदा तरुण रहता

---

१. ऋ० वे० १।१००।१५, २।१६।३, ६।२९।५, १।१०२।७, ४।१६।, २।१७।२,

२. ऋ० वे० १।१००।१४, ३।३६।६, ६।२१।२, ८।६।१५, १।१०।८, ३।४६।३,

३. ऋ० वे० १।१००।१, ३।३१।८, ६।२२।९, ७।२७।३, ८।३७।३,

४. ऋ० वे० ५।३४।६, ८।१।२, ७।२०।३,

५. ऋ० वे० ८।६७।५, १०।२७।५,

६. ऋ. वे. ६।१९।५, १।३०।१०६, ६।४५।८, १०।४७।२

७. ऋ. वे. ८।१४।४, ८।३२।१३, ६।२४।१, ७।२४।४, ८।२४।२१

८. ऋ. वे. ३।३२।७, ६।१९।२, २।१६।१, ३।४६।१, ६।२४।७ १०।४८।५, १०।८६।११

है, मास, दिवस, वर्ष भी उसे वृद्ध नहीं कर सकते, इसी हेतु कहा है कि सम्पूर्ण स्त्रियों में इन्द्राणी अत्यधिक सुखी है क्योंकि उसका पति इन्द्र कभी भी वृद्ध होकर मरेगा नहीं।[१]

इन्द्र की विद्वत्ता एवं दूरदर्शिता भी अपरिमित है। वह विद्वानों में विद्वान् एवं श्रेष्ठ मांत्रिक है, उसे समस्त तंत्र-मंत्र अवगत हैं, परन्तु विश्वासघात नहीं करता, सभी योद्धाओं में वह श्रेष्ठ योद्धा है, सम्पूर्ण मित्रों में वह उत्तम मित्र है, यावत् गायकों में भी वह श्रेष्ठ गायक है।[२]

इन्द्र की शरीर यष्टि सुदृढ है, ग्रीवा भरी हुई एवं पृष्ठ भाग अत्यन्त कठोर है।[३] उसके शरीर की शक्ति अतुल है। उसका मुख विशाल सागर के समान है, उसके बाहू दीर्घ, सुभग एवं पुष्ट हैं, अपने बाहुबल से वह बड़े-बड़े लोकोपयोगी कृत्य करता है।[४] उसकी दाढ़ी का वर्ण पिंगल है सोमपान से तृप्ति होने पर वह अपनी दाढ़ी हिलाता है।[५] उसके कपोल एवं अधर अत्यन्त सुन्दर हैं।[६] इन्द्र को अनेक स्थानों पर 'हरिक्षिप्र' 'हरिकेश' 'हरिश्मश्रु' 'हरिवर्चस्' 'हिरण्मय' आदि अभिधानों से सम्बोधित किया गया है। अत्यधिक बलवान् होने के कारण उसे 'आयस' भी कहा जाता है।[७] निष्कर्ष रूप से इन्द्र की आकृति सुन्दर, अचिन्त्य, एवं सूर्य के समान देदीप्यमान है।[८] वह उषा के समान सुभगाकृति है।[९] वह स्वेच्छया मन्त्रसामर्थ्य से अनेक रूप धारण करने में समर्थ है।[१०]

ऋभुओं के द्वारा निर्मित सुवर्ण के द्रुततम रथ पर आरूढ होकर इन्द्र रथ के अश्वों का सुवर्ण के चाबुक से संचालन करता हुआ युद्ध अथवा यज्ञ भूमि में जाता है।[११] रथ के घोड़े सोमपान किये हुए के समान मस्ती करते

---

१. ऋ० वे० २।१६।१, ३।४६।१, ६।२४।७, १०।४८।५

२. ऋ० वे० १।६१।१४, १०।११२।६, ६।२२।१, ६।४४।१४, ८।५१।१२ १।१००।४

३. ऋ० वे० १।५५।८, ४।१७।८, ५।३७।१, ८।१।२३

४. ऋ० वे० ६।४१।२, १।८०।८, ४।२१।६, ६।१६।३, ८।३२।१०

५. ऋ० वे० २।११।१७, ८।३३।६, १०।१३।१

६. ऋ० वे० ३।३२।१,

७. ऋ० वे० १।७।२, ७।३४।४, ८।५५।३, १०।६६।४

८. ऋ० वे० १।५३।३, ३।४५।५, ४।१६।१४, ५।३७।१

९. ऋ० वे० १।५७।३, १०. ऋ० वे० ३।५३।८, ६।४७।१८

११. ऋ० वे० १।१६।२, ६।२९।२, १०।४४।२, ८।३३।११

हैं, अश्वों की आयाल सुवर्ण की हैं, उनका पुच्छ भाग मयूरपिच्छ के समान हैं, उनके अवयव अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, और आँखें सूर्य के समान तेजस्वी हैं।[१]

इन्द्र का लोकप्रसिद्ध आयुध 'वज्र' है, जिसका निर्माण त्वष्टा ने इन्द्र के लिये किया है। इस वज्र का निर्माण सुवर्ण से हुआ था, अथवा अयस् से हुआ था, यह निर्णय हो पाना असम्भव है क्योंकि वेद में दोनों धातुओं के 'वज्र' का वर्णन है।[२] इसे 'सचाभू' कहा गया है। 'सचाभू' का अर्थ है 'इन्द्रमित्र'। ये वज्र 'त्रिधारी' 'चतुर्धारी', 'शतधारी' हैं।[३] वज्र के सौष्ठव के विषय में कहा गया है कि उसमें सौ ग्रन्थियाँ, एवं हजार अंकुश हैं।[४] जिस प्रकार वृषभ अपने सींगों को घर्षण से तीक्ष्ण करता है वैसे इन्द्र भी अपने आयुधों को तीक्ष्ण बनाता है।[५] इन्द्र का द्वितीय आयुध 'भाला' है।[६] अन्यत्र उसका अस्त्र 'धनुष' भी कहा गया है।[७] इन्द्र के हाथ में अपने प्रतिपक्षियों को पकडने हेतु एक 'जाल' भी है।[८]

इन्द्र का 'कुटुम्ब' भी है। उसकी पत्नी इन्द्राणी है।[९] इन्द्र का सर्वाधिक प्रेमी 'वृषाकपि' नामक बंदर है।[१०] यह बंदर 'इन्द्र' का सहायक होने से, इन्द्र उसे छोड़ने को तयार नहीं है।[११]

इन्द्र के विरुद्ध राक्षस योद्धा

राष्ट्रिय देवता होने से विश्व के समस्त कार्य क्षेत्रों में 'इन्द्र' की उपलब्धियों का परिगणन आवश्यक हो जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर सम्पूर्ण मानव समाज की स्थापना तक इन्द्र का कार्य क्षेत्र अव्याहत है। 'इन्द्र' ने दुष्ट मात्र को दण्ड दिया है चाहे वह पर्जन्य (वर्षा) शत्रू हो, अथवा मानव सभ्यता के शत्रू हों, प्रत्येक का निर्दलन इन्द्र द्वारा ही हुआ है।

इन्द्र के प्रतिपक्षियों की संख्या अधिकाधिक है। इन्द्र द्वारा प्रदर्शित

---

१. ऋ० वे० १।८१।३, ३।४३।६, ३।४५।१, ८।१।२५, ३।४३।४. १।१६।१, २।११।१६

२. ऋ० वे० १।५७।२; ८।५७।३, १।८१।४, ८।८५।३, १०।४८।३

३. ऋ० वे० १।१२२।४, ६।१७।१०

४. ऋ० वे० १।८०।६, ५।३४।२, ५. ऋ० वे० १।५९।१

६. ऋ० वे० १।३२।१२, १०।१८०।२

७. ८।४५।४, १०।१०३।२, ८. ऋ० वे० ६।८३।४

९. ऋ० वे० ३।५३।४, ७।१८।२, १०।९९।५

१०. ऋ० वे० १।२, ११. ऋ० वे० १।२।१२।८

पराक्रम के कारण ही विश्व सुस्थिर, एवं अन्य प्राकृतिक विपदाओं से रहित है। प्रकृत में हम इन्द्र के विरुद्ध संगर में जो योद्धा परास्त हुए हैं, उनके नाम, एवं वाङ्मय में उनके संकेत नाम के आगे प्रस्तुत कर रहे हैं---

(१) अनर्शनि (८।३२।२) अर्बुद (१।५१।६-।१११२०) अहि (१।५१।४, ४।१७।७, ६।७२।३, १०।११३।३) अहिशुव (८।३२।२) अभ्र (२।२०।५, २।१४।५) इलीबिश (१।३३।१२) उरण (२।१४।४) कारंज (१।५३।८) चुमुरि (६।२६।६) दृभीक (२।१४।३) नमुचि (१०।१३१।४, ५।३०।७, ६।२०।६) नार्मर (२।१३।८) पदगृभि (१०।४९।५) पिशाची (१।१३३।५) मख (९।१०१।१३, १०।१७१।२) रुधिक्रा (२।१४।५) रौहिण (१।१०३।२) वनगृह (१।५३।८) वर्चिन् (२।१४।६, ४।३०।१५, ६।४७।२१, ७।९९।५) वृकद्वरस (२।३०।४) वृशशिप्र (७।९९।४) व्यंस (४।१ ।९) चण्डिक (२।३०।८) शंबर (२।१२।११, ६।४७।२१, ७।१८।२०) शुष्ण (५।३२।४) स्वर्भानु (५।४०) इत्यादि अनेक पर्जन्य शत्रू हैं। ग्रन्थ विस्तर के भय से सम्पूर्ण दैत्यनामावली देना, असम्भव है। उपर्युक्त दैत्यनामावली 'ज्ञानकोषकार' डॉ०. केतकर जी के अनुसार दी गई है।[1]

१९ बृहस्पति

ऋग्वेद में बृहस्पति का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में परिगणन हुआ है। लगभग ११ सूक्त बृहस्पति देवता को समर्पित हैं।

बृहस्पति के सातमुख, सुन्दर जिह्वा, तीक्ष्णशृंग और सौ पंख हैं, उसका वर्ण सोने के समान तेजस्वी एवं वाणी स्पष्ट है।[2] उसके अस्त्रों में मुख्य धनुष्, बाण, सुवर्णनिर्मित परशु, है, उसके रथ में ताम्रवर्ण के अश्व जुते रहते हैं।[3]

बृहस्पति का जन्म अंतरिक्ष में व्याप्त महातेज से हुआ है।[4] बृहस्पति गुरुपुरोहित हैं, समस्त प्राचीन विद्वानों में वे ही वरिष्ठ हैं।[5] बृहस्पति का अनुगमन ऋक्वत् आदि गण करते हैं जिस कारण इसे 'गणपति' भी कहा

---

१. ज्ञानकोष-प्रस्तावना खण्ड २५९-२६१ पृष्ठ

२. १०।१५५।२, ७।१०।७,

३. ऋ० वे० २।२४।८, ७।९७।७, ७।९७।६

४. ऋ० वे० ४।५०।४, ५. ऋ० वे० २।२४।९, ४।५०।१

गया है।[1] समस्त स्तावक मंत्रों का कर्ता बृहस्पति ही है[2] मानवीय पुरोहितों को स्तुति मंत्रों का कथन उसी के द्वारा हुआ है।[3]

गोमोचन के प्रसंग में जैसे इन्द्र का नाम ससम्मान लिया जाता है वैसे ही बृहस्पति का भी उस प्रसंग में नाम संकीर्तन होता है।[4] बृहस्पति एक कुशल योद्धा भी है। उसने इन्द्र के साथ 'वल' का वध किया[5] दुर्गों को ध्वस्त करके उसने उषा, सूर्य एवं गायों को प्राप्त किया।[6] युद्ध में उसकी पराजय असंभव है इस हेतु युद्ध प्रसंग में उसकी स्तुति का विधान है।[7]

बृहस्पति इन्द्र का मित्र एवं सहायक है।[8] इन्द्र के समान ही वह भी सोमपा है। बृहस्पति अपने स्तावक भक्तों पर महती अनुकम्पा करता है।[9] शुद्धाचारी मनुष्य को वह समस्त संकटों से मुक्त करके उसे पर्याप्त धन-समृद्धि प्रदान करता है।[10] परोपकारी स्वभाव से ही उसे 'पिता' कहा जाता है।[11]



१. ऋ० वे० २।२३।१, २. ऋ० वे० १।१९०।२
३. ऋ० वे० १०।९८।२७, ४. ऋ० वे० २।२३।१८
५. ऋ० वे० २।२३।१८, ४।५०।५, अथर्व० वे० ६।३।२,
६. ऋ० वे० १०।६७।५
७. ऋ० वे० १।४०।८, २।२३।१३
८. ऋ० वे० २।२३।१८, ४।४९।३, ९. ऋ० वे० २।२५।१
१०. ऋ० वे० १।१८।३, २।२३।४, ११. ऋ० वे० ४।५०।६, ६।७३।१

सप्तम अध्याय

वेद के भाष्य-टीकाकार

वैदिक वाङ्मय के समस्त भागों की हजारों वर्षों से मानव-मनीषा नित नवीन-व्याख्या करती आरही है। वेदों के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक-उपनिषद् आदि भागों पर हजारों वर्षों से कितने ही भाष्य लिखे गये और कितनी ही टीकाएँ रची गयीं, परन्तु अभी भी वैदिक साहित्य के अनेक क्षेत्र मानव संवित् हेतु दुरूह बने हुए हैं। वेदों के अगणित सूक्त मंत्र ऐसे हैं, जिनमें से एक-एक को लेकर स्वतंत्र अन्वेषण किया जा सकता है।

अधुनातन प्राप्त वैदिक वाङ्मय पर उपलब्ध भाष्य टीकाओं के विशाल साहित्य को देखकर आश्चर्य होता है। अबतक प्रकाशित भाष्य-टीका ग्रन्थ, उस अप्रकाशित विशाल साहित्य के समक्ष अत्यल्प हैं। कुछ भाष्यकारों के नाम उपलब्ध हैं और अनेक के तो नाम तक प्राप्त नहीं है। जिनका सर्वत्र वाङ्मय में 'केचन' 'अन्य आह', 'अपर आह' सम्प्रदायविदः, आचार्याः, अन्ये, अपरे आदि को देखकर अनुमान मात्र किया जा सकता है।

प्रकृत संदर्भ में हम यहाँ प्रमुख भाष्यकारों का परिचयात्मक उल्लेख कर रहे हैं। परिचय का क्रम वेदत्रयी अर्थात् ऋग्-यजु-साम-अथर्व के क्रमानुसार ही है।

१. स्कन्दस्वामी—ऋग्वेद के प्राचीनतम भाष्यकार स्कन्दस्वामी माने जाते हैं। प्रायः हरिस्वामी, आत्मानन्द वेंकटमाधव, सायण आदि प्रमुख भाष्यकारों ने स्कन्दस्वामी के भाष्य को ससम्मान उद्धृत किया है। ये गुजरात प्रांतीय 'वलभी' के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था।[1] शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी ने स्कन्दस्वामी को अपना गुरु कहा है।[2] विक्रम संवत् ६८७ में इन्होंने ऋग्वेद भाष्य पूर्ण किया, सायणाचार्य के समान ही स्कन्दभाष्य भी याज्ञिक है।

---

१. वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ॥

(ऋग्वेदभाष्य प्रथमाष्टक)

२. श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥ (शतपथ भाष्य १।६।७)

वेदभाष्य की शैली के आद्य प्रवर्तक यदि स्कन्दस्वामी को कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनका भाष्य अत्यन्त विशद है। प्रत्येक सूक्त के पूर्व ऋषि, देवता आदि का उल्लेख किया है। वेदार्थ के परिज्ञान में छन्द की महत्ता को स्कन्दास्वामी स्वीकार करते हैं। स्कन्दस्वामी ने अनेक स्थलों पर 'केचित्' उल्लेख से पूर्व के आचार्यों का संकेत दिया है। इनका ऋग्वेद भाष्य सम्पूर्ण प्राप्त नहीं है। इस भाष्य का कुछ अंश प्रसिद्ध वेदज्ञ 'पं० साम्बशिव शास्त्री' ने प्रकाशित किया है।

प्रसिद्ध भाष्यकार 'वेंकटमाधव' ने स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ को संयुक्त रूप से ऋग्वेद का भाष्यकार कहा है।[1] कुछ वेदाचार्यों के मत से ऋग्वेद के प्रथम भाग पर 'स्कन्दस्वामी' ने, मध्यभाग पर 'नारायण' ने और अंतिम भाग पर 'उद्गीथ' ने भाष्य लिखा था। वेंकटमाधव के उल्लेख से 'नारायण' का भी भाष्य रचना में सहयोग स्पष्ट हो जाता है। इसके व्यतिरिक्त इनके विषय में अन्य अधिक परिचय सामग्री प्राप्त नहीं होती।

२. **उद्गीथ**—स्कन्दस्वामी के भाष्य रचना के अन्य सहयोगियों में 'उद्गीथ' भी एक थे। इन्होंने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर भाष्य लिखा है। उद्गीथ ने निरुक्त, बृहद्देवता, देवतानुक्रमणी आदि का उल्लेख किया है। इन्होंने 'केचित्' लिखकर प्राचीन भाष्यकारों का भी संकेत किया है। उद्गीथ भाष्य भी याज्ञिक है। कुछ लोगों का मत है कि अनेक स्थलों में सायणभाष्य में स्कन्दस्वामी एवं उद्गीथ के भाष्य की छाया है। एतत् प्रकारक आलोचना के पूर्व यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि तीनों ही भाष्य याज्ञिक हैं इस हेतु एतत्प्रकारक अनुमान किया जा सकता हैं, शंका अथवा आक्षेप नहीं। इनका भाष्य ऋग्वेद के १० मंडल ५ सूक्त, ७ मंत्र से लेकर ८३ वें सूक्त के ४ मन्त्र तक उपलब्ध है।

उद्गीथ ने अपने भाष्य में प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर अपने विषय में कुछ संकेत दिया है।[2] इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल

---

१. स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥

२. वनवासीविनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये···अध्यायः समाप्तः॥

में वनवासी प्रान्त के नाम से सर्वत्र विख्यात कर्णाटक प्रान्त ही उद्‌गीथ का मूल स्थान था। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

उद्‌गीथ के नाम का उल्लेख उनके परवर्ती भाष्यकार सायण एवं आत्मानन्द ने अपने भाष्य में किया है। इनका समय ७वीं, सप्तमशताब्दी माना जाता है।

३. वेंकट माधव—आचार्य वेंकट माधव ने समग्र ऋक्संहिता पर भाष्य किया है। आचार्य ने भाष्य के प्रथम अध्याय के अंत में अपना परिचय दिया है जिसके अनुसार इनके पितामह का नाम 'माधव', पिता 'वेंकटाचार्य', मातामह 'भवगोल', तथा माता का नाम 'सुन्दरी' था। ये कौशिक गोत्र में उत्पन्न, महान् वेदज्ञ थे। इनका एक अनुज भी था, जिसका नाम 'संकर्षण' था।

वेंकट माधव का भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। संक्षिप्तता का अर्थ 'वडवा-मूल मधौजा टीका' के समान नहीं है अपितु सारगर्भित है—इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।[1]

वेंकट माधव ने अपने भाष्य की रचना में व्याकरण, इत्यादि का निर्देश, न के बराबर किया है, किन्तु सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरणों को संकेतित किया है। उनका कहना है कि जिसने केवल व्याकरण एवं निरुक्त का अध्ययन किया है, वह संहिता का केवल चतुर्थांश ही जानता है, परन्तु जिन्होंने ब्राह्मण ग्रंथों की गवेषणा श्रमपूर्वक की है, ऐसी शब्दरीति को जानने वाले विद्वान् ही वेदार्थ के ज्ञाता होते हैं—

> संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
> निरुक्त व्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमः॥
> अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
> शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥

वेंकटमाधव का समय १३०० वि० संवत् के लगभग माना जाता है। पं० साम्बशिवशास्त्री ने वेंकटमाधव का समय १०५०–११५० ई० माना है।[2] अपने निघण्टुभाष्य में 'देवराज यज्वा (१३७० वि०) ने इनका उल्लेख किया है, तथा केशवस्वामी (१३०० वि०) ने 'नानार्थार्णव संक्षेप' ग्रंथ में माधवाचार्य सूरि के नाम से माधव का ही उल्लेख किया है। अतः

---

१. वर्जन्दैः शब्दस्य विस्तरं वर्जयन् कतिपयैरिति॥

२. ऋग्वेद स्कन्दस्वामिकृत, भाष्यभूमिका—पृ० ७

वेंकटमाधव को १३०० वि० पू० का भाष्यकार घोषित किया जा सकता है।

धानुष्कयज्वा—सुदर्शनमीमांसाकार वेदाचार्य ने तीन वेदों के भाष्यकार के रूप में धानुष्कयज्वा को प्रतिष्ठापित किया है। इन स्थानों पर वे 'त्रिवेदीभाष्यकार' एवं 'त्रयीनिष्ठवृद्ध' कहे गये हैं। साम्प्रत इनका एक भी भाष्य प्राप्त नहीं है। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इनका समय १३०० वि० पू० माना जाता है।

४. आनन्दतीर्थ—ये द्वैत सिद्धान्त के आचार्य थे। इन्होंने 'मध्व-संप्रदाय' को चलाया। इनके मध्व, पूर्णप्रज्ञ आदि भी नाम हैं। इन्होंने ऋग्वेद के प्रथम चालीस सूक्तों पर छन्दोबद्ध भाष्य रचना की है। इनका अर्थ भगवत्परक है। इन्होंने वेद का प्रतिपाद्य 'नारायण' को बताया है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इस गीता वचन के अनुसार भगवान् नारायण की स्तुति वेदों में विद्यमान है, यह इस भाष्य से स्पष्ट हो जाता है। अपने भाष्य के आरम्भ में वे स्वयं कहते हैं—'पूर्ण होने से पुरुष (पर ब्रह्म) नारायण ही वेदों के एवं शास्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ हैं'।

स पूर्णत्वात् पुमान् नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च ॥

जयतीर्थ ने इस भाष्य पर टीका लिखी है। जयतीर्थ की टीका पर 'नरसिंह' की विवृति है। जयतीर्थ के अनुसार 'मध्वभाष्य' में आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ का भी सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।[1]

द्वैतवादियों में इस भाष्य की बहुत प्रसिद्धि है। इनका काल १२५५–१३३५ वि० संवत् माना जाता है।

५. आत्मानन्द—ने ऋग्वेद के १ मण्डल के १६४ वें सूक्त पर अपना स्वतन्त्र भाष्य लिखा। इस सूक्त को 'अस्य वामीय सूक्त' कहा जाता है। इसमें अत्युच्च कोटि की आध्यात्मिक विवृति है। प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् आत्मानन्द ने इस सूक्त पर आध्यात्मिक भाष्य लिखा है। वस्तुतः यह सूक्त ही अद्वैतवाद का प्रमुख आधार रहा है। आत्मानन्द के भाष्य

---

१. ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति—एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः तत्त्रितयपरं चेदं भाष्यम् ॥
(वै० सा० बलदेव उपाध्याय पृ० ५४, १९७३)

को भी एक विशेष कोटि में रखने की आवश्यकता है—क्योंकि इसमें प्रत्येक मंत्र का अर्थ परमात्मा परक है। आत्मानन्द ने अपने भाष्य के अन्त में स्वयं कहा है कि 'स्कन्दस्वामी' आदि के भाष्य 'यज्ञपरक' हैं, निरुक्त 'अधिदेव' परक है, परन्तु प्रस्तुत भाष्य 'अध्यात्म' विषयक है—

अधियज्ञविषयकं स्कन्दादिभाष्यम्, निरुक्तमधिदैवतविषयम्, इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः, अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।

भाष्यकार ने अपने भाष्य में स्कन्द, भास्कर आदि भाष्यकारों एवं अनेक अलभ्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। इनका काल (१३ वीं) तेरहवीं शताब्दी है।

६. सायण—वैदिक भाष्यकारों में सायण का स्थान सर्वोच्च है। सायण मेधावी मनीषी तो थे ही, इसके अतिरिक्त वे विजयनगर के संस्थापक राजा 'बुक्क' तथा महाराज 'हरिहर' के अमात्य भी थे।

सायण के पिता का नाम 'मायण', माता 'श्रीमती' एवं बड़े भाई का नाम 'माधव', और छोटे भाई का नाम 'भोगनाथ' था। सायण भारद्वाज गोत्र के थे। सायण के कम्पण, मायण, और शिगण नामक तीन पुत्र थे।

सायणाचार्य जैसे व्यवहारकुशल विद्वान् का जीवनक्षेत्र एक सीमाबद्ध नहीं था, एक ही दिशा के क्षेत्र में उन्होने अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत नहीं किया था। जिस प्रकार उनकी कार्यसीमा विस्तृत थी, उसी प्रकार उनकी विद्वत्ता भी चतुरस्र थी। वेदों के मार्मिक परिचय से लेकर, पाणिनीय व्याकरण की अभिज्ञता तक, यज्ञतंत्र के अन्तः परिचय से लेकर वैद्यक जैसे उपयोगी व्यावहारिक ज्ञान तक उनकी अप्रतिहत गति थी। इसी हेतु वे अद्ययावत् विश्व के विपश्चित्तों के सम्मुख विस्मय के पात्र बने हुए हैं। इनकी साहित्यिक यात्रा का चूडान्त निदर्शन वेदों की व्याख्या का निर्माण है। ये वेद भाष्य ही सायणाचार्य की कमनीय कीर्तिकला को सर्वदा आश्रय देने वाले विशालकल्पवृक्ष हैं, जिनकी शीतल निर्मल छाया में आश्रय पाकर सायण की कीर्तिगरिमा सदैव वृद्धि प्राप्त करती जारही है।

वस्तुतः 'वेदभाष्य' अभिधान के श्रवण के उपरान्त केवल एक ग्रंथ को लक्षित करने का भाव प्रकट होता है। परन्तु यह भ्रान्त धारणा है। हम पूर्व ही कह चुके हैं कि 'वेद' शब्द संहिता तथा ब्राह्मणसमुदाय का वाचक है। अतः वेदभाष्य द्वारा संहिता एवं ब्राह्मण की व्याख्या लक्षित होती है।

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के ऊपर अपने भाष्यों की रचना की है—

१. तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद)
२. ऋग्वेद संहिता
३. सामवेद संहिता
४. काण्व संहिता (शुक्ल यजुर्वेद)
५. अथर्ववेद संहिता

अ—सायणाचार्य द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक
कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण
१. तैत्तिरीय ब्राह्मण
२. तैत्तिरीय आरण्यक

ब—ऋग्वेदीय ब्राह्मण
१. ऐतरेय ब्राह्मण
२. ऐतरेय आरण्यक

स—सामवेद ब्राह्मण
१. ताण्ड्य ब्राह्मण
२. षड्विंश ब्राह्मण
३. सामविधान ब्राह्मण
४. आर्षेय ब्राह्मण
५. देवताध्याय
६. उपनिषद् ब्राह्मण
७. संहितोपनिषद्
८. वंश ब्राह्मण

द—शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण
१. शतपथ

सायणाचार्य ने ५ संहिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण आरण्यकों की व्याख्या लिखी। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य के एक विशाल भाग के उपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखे। १३१५ ई० सन् में उत्पन्न सायणाचार्य द्वारा विहित यह कार्य इतना महत्व पूर्ण हुआ है कि उनकी समता न पूर्वाचार्यों से की जा सकती है और न किसी परिवर्ती भाष्यकार से ही; क्योंकि अधुनातन किसी भी

भाष्यकार ने इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य नहीं बनाए। यही सायणाचार्य का अक्षुण्ण महत्त्व है।

सायणाचार्य के विपुल साहित्य को देखकर आधुनिक आलोचक कड़ी आलोचना करते हैं। इस आलोचना का मुख्य कारण है कि क्या यह सम्भव है कि विभिन्न राजकीय कार्यों में व्यस्त तथा विशाल साम्राज्य का प्रबन्धक इतने बड़े ग्रन्थों की बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से भाष्य रचना कर सकता है। अर्थात् सायणाचार्य के विस्तृत वाङ्मय में उनके निर्देशन में अनेक विद्वानों ने निरंतर परिश्रम करके इन ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है। एक शिलालेख का प्रमाण पूर्वोक्त संशय को पुष्ट भी कर रहा है। संवत् १४४३ (सन् १३८६ ई०) में लिखे गये शिलालेख[1] में लिखा है कि 'वैदिकमार्गप्रतिष्ठापक, धर्मब्रह्माध्वन्य, महाराजाधिराज श्रीहरि ने ब्रह्मारण्यश्रीपादस्वामी के सम्मुख चतुर्वेदभाष्यप्रवर्तक, नारायण-वाजपेयीयाजी, नरहरिसोमयाजी, तथा पंढरीदीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किया'। अस्तु ! इस प्रमाण के अवलोकन से इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन तीनों पण्डितों ने सायण को वेद के भाष्य निर्माण में सहायता प्रदान की होगी। नरसिंहाचार्य, डा० गुणे आदि विद्वानों ने भी सायणकृत वेद भाष्यों की एककर्तृकता पर आक्षेप किया हैं।

समन्वय दृष्टया तो इतना ही कहा जा सकता है कि कर्तृता का अन्वेषण हमें वेदार्थपरिज्ञान से विमुख कर सकता है। क्योंकि सायणभाष्य ही आज वेदों के गहन शब्दकानन में प्रवेश पाने के प्रामाणिक सोपान है।

सायणाचार्य ने वैदिक ग्रंथों के उपारन्त अपनी विद्वत्ता को अनेक साहित्य-क्षेत्रों में प्रसृत किया। वेदभाष्य के उपरान्त भी सायण ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया—ये ग्रंथ अधोलिखित हैं—

१. **सुभाषित सुधानिधि** —ग्रन्थ का प्रणयन प्रथम आश्रयदाता कम्पण के राज्यकाल में (१३४०–१३५४ ई०) में हुआ था।[2]

---

1. Mysore Archacological Report for 1908 Page 54.
   सायणमाधव (बलदेव उपाध्याय) २००३ हिन्दी सा० अ० प्रयाग

२. भरद्वाजान्वयभुजा तेन सायणमन्त्रिणा।
   व्यरच्यत विशिष्टार्थः सुभाषितसुधानिधिः ॥

इति पूर्वपश्चिम-समुद्राधीश्वरारिराय विभालश्रीकम्पराजमहाप्रधान भरद्वाजवंश मायणरत्नाकर-सुधाकर-माधवकल्पतरुसहोदर श्री सासणाचार्य-विरचिते सुभाषितसुधानिधौ।

२. प्रायश्चित्त सुधानिधि—इस ग्रंथ की रचना सायण ने (१३५५ ई०) में की थी।

३. आयुर्वेद सुधानिधि—इस ग्रंथ में सायण ने आयुर्वेद के रहस्यों को उद्घाटित किया है। इसका उल्लेख स्वयं सायणने 'अलङ्कारसुधानिधि' में किया है।[1]

४. अलङ्कार सुधानिधि—इस ग्रंथ में ग्रन्थकार ने समस्त अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दक्षिण के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पय-दीक्षित ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

५. धातुवृत्ति—वैयाकरणों में यह धातुवृत्ति 'माधवीय' के नाम से जानी जाती है। वस्तुतः यह रचना सायण की है। तथापि ग्रंथारम्भ में भी सायणविरचित होने पर भी 'माधवीया' नाम से व्यवहृत किया गया है।[2]

७. मुद्गल—मुद्गलभाष्य प्रथमाष्टक पर पूर्ण और चतुर्थाष्टक पर पांच अध्यायों तक मिलता है। मुद्गल सायणानुयायी थे। एक तरफ से सायण भाष्य का ही संक्षेप मुद्गल भाष्य है। मुद्गल का काल १५ वी शताब्दी माना जाता है।

८. रावण—वेद भाष्यकारों में 'रावण' का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। वेद-भाष्यकार रावण एवं रामायण के प्रसिद्ध रावण (दशानन) एक हैं अथवा भिन्न हैं इस विषयमें अनेक विसंगतियां हैं।

यजुर्वेदभाष्यकार (माध्यन्दिन)

१. उवट—माध्यन्दिन भाष्यों में उवट का भाष्य अतीव विख्यात है। ये 'आनन्दपुर' निवासी 'वज्रट' के पुत्र थे। उन्होने ११ वीं शती के अन्त में, महाराजा भोज के शासन काल में अवन्ती में रहकर इस भाष्य की रचना की।[3]

---

१. एकाम्रनाथो यत्तातः सायणामात्यचोदितः।
समग्रहीत् सुबोधार्थमायुर्वेदसुधानिधिम् ॥

२. इति पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-समुद्राधीश्वर कम्पराजसुत संगमराज-माधवीयायां धातुवृत्तौ शब्विकरणा भूवादयः।

३. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ॥
ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटोवसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥

उवट भाष्य-शुक्लयजुर्वेदीय भाष्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह भाष्य याज्ञिक भी है और आधिदैविक भी। विषयान्तर का आधिक्य न करते हुए उनकी लघ्वक्षरशैली से प्रसूत भाष्य अत्यन्त प्रोज्ज्वल प्रामाणिक और सरल है।

वैसे भी वेदभाष्यों में यजुर्वेद के भाष्य प्रमुख माने जाते हैं क्योंकि यजुर्वेद यज्ञ संस्था का भित्तिस्थानीय प्रमुख स्तम्भ है।

२. **महीधर**—वाजसनेय संहिता का अन्य प्रसिद्ध भाष्य महीधर कृत 'वेददीप' है। महीधर 'काशी' के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इस भाष्य की रचना सत्रहवीं (१७वीं) शती में हुई। कतिपय विद्वान् महीधर के भाष्य को मौलिक नहीं मानते। इस प्रकार का विचार साहित्य परम्परा में भ्रष्ट परम्परा का सूत्रपात करता है। वस्तुतः मौलिकताका आक्षेप वेद-भाष्यों के विषय में नहीं होना चाहिये। क्योंकि वेद, शब्दप्रधान शास्त्र हैं उनके त्रिविध अर्थ हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक, एवं आध्यात्मिक। इन तीन प्रसिद्ध अर्थों को छोड, किन मौलिक अर्थों का प्रकाशन आक्षेपकारों को अभीष्ट है? - यह चिन्तनीय है।

महीधर का भाष्य ६०० वर्ष पूर्व रचित उवटभाष्य का स्पष्टतर विशद स्वरूप है। महीधर वेदज्ञ ही नहीं, मूर्धन्य मांत्रिक भी थे। उनका १६४७ वि० स० में—लिखित तंत्रविषयक प्रसिद्ध ग्रंथ 'मन्त्रमहोदधि' प्राप्त होता है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी और डॉ० लक्ष्मण स्वरूप आदि विद्वान् महीधराचार्य के भाष्य एवं अन्य ग्रंथों को १२ वीं शताब्दी की रचना मानते हैं।

३ **शौनक**—माध्यन्दिन संहिता के ३१ वे अध्याय पर ऋषि शौनक का भाष्य उपलब्ध है। इसमें 'अपरे' 'केचित्' कहकर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन भाष्यकारों के मतों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि शौनक के पूर्व भी अनेक भाष्य थे। इनका भाष्य भी याज्ञिक है।

४. **धर्मसम्राट्-करपात्री स्वामी**—आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व सम्पूर्ण भारत वर्ष में नास्तिकवाद चरम सीमा पर था। सर्वत्र वेद-निन्दा यज्ञ-निन्दा, ईश्वर निन्दा का प्रचार व्याप्त था। अवैदिक मत मतान्तरों का वर्चस्व सम्पूर्ण भारत में आक्रान्त था। उस समय विद्वानों के समक्ष एक समस्या अत्यधिक ज्वलन्त थी कि 'कोवेदानुद्धरिष्यति' वेदों का

उद्धार कौन करेगा ? ऐसे विषम समय में आद्य जगद्गुरु शंकरभगवत्पाद ने आर्यावर्त में अवतरित होकर निरीश्वरवादी मतमतान्तरों का समूलोन्मूलन कर वैदिक धर्म को पुनः, प्रतिष्ठापित किया था। विगत ५०० वर्षों से भारत पुनः धर्मान्तरवादी क्रियाशक्तियों से आक्रान्त था। इस अति विकट परिस्थिति में वैदिकधर्मावलम्बी भी पाश्चात्यों के ही समान प्रलाप कर रहे थे। विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित भाष्य ही भारतीय अनुसन्धित्सुओं के आदर्श भाजन हो गये थे। ऐसी विषमावस्था में भी धर्मात्मा विद्वान् एवं भक्त समुदाय के समक्ष वही भीषण समस्या थी कि 'को वेदानुद्धरिष्यति' ? । ऐसे विकट समय में इस पृथ्वी पर पुनः धर्म संस्थापनार्थ एक विभूति स्वामीकरपात्री 'हरिहरानन्द सरस्वती' का अवतरण हुआ।

शुक्लयजुर्वेद संहिता के २० वीं शताब्दी के प्रमुख भाष्यकार स्वामी करपात्री जी हैं, जिन्होंने अत्यन्त दुरूह प्रतीत होने वाले वेद मंत्रों का रहस्य पुनः प्रकाशित किया। उनका भाष्य अत्यन्त विस्तृत होते हुए भी प्राञ्जल है। आपका जन्म सन् १९०७ ई० को ग्राम भटनी जि० प्रतापगढ़ में हुआ था।

चतुर्वेद भाष्यकार सायणाचार्य, उवट, महीधर वेंकटमाधव आदि प्राचीन आचार्यों ने भक्ति और मोक्ष को वेद का परम प्रयोजन मानते हुए भी कर्मकाण्ड के ज्ञान को वेद का अवान्तर प्रयोजन मानकर अधिकांश मंत्रों का कर्मकाण्ड परक भाष्य किया। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि सम्प्रदाय प्रवर्तकों का कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहीं मत भेद नहीं है। किन्तु विगत १५० वर्षों के मध्य में लिखे गए भ्रामक भाष्यों से वैचारिक विसंगति उपस्थित हो गई थी। आधुनिक भाष्य प्राचीन भाष्यों पर परोक्षरूपेण प्रश्न चिह्न बन गये थे। इस भ्रामक परिस्थिति का उन्मूलन उन्होंने 'वेदार्थ पारिजात' नामक वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्य लिखकर किया।

स्वामीकरपात्रभाष्य प्राचीन मतों का अद्भुत समन्वय करता हुआ आधुनिक परिप्रेक्ष में वैज्ञानिक अर्थों का प्रकाशक हैं। उन्होने अधिकांश मंत्रों के आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक अर्थों को स्पष्ट किया है।

सायण के भाष्य का विरोध जिस प्रकार मैक्समूलर के अनुयायियों द्वारा किया गया था उसी प्रकार करपात्रभाष्य को महर्षिदयानन्द के अनुयायियों का कोप भाजन बनना पड़ा। स्वामी जी के कतिपय प्रमुख ग्रन्थ अधोलिखित हैं—

१—वेद-प्रामाण्यमीमांसा, २—वेदस्वरूपविमर्श, ३—वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (दो खण्ड), ४—श्रीविद्यारत्नाकर, ५—भक्तिरसार्णव, ६—श्रीविद्यावरिवस्या, ७—चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श, ८—मार्क्सवाद और रामराज्य, ९—रामायण मीमांसा, १०—रा० स्व० से० संघ और हिन्दू धर्म, ११—धर्म और राजनीति। १२—भक्तिसुधा। १३—समन्वय-साम्राज्य संरक्षण। वेदभाष्य चारो वेदों पर लिखा है, जिसका प्रकाशन शनैः शनैः चल रहा है।

भाष्य भूमिका एवं वेद भाष्य का प्रकाशन श्रीकृष्णधानुका ने वृन्दावन से मीमांसाभूषण डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर के अनुवाद के साथ संवत् २०४३ में किया है।

इस प्रकार साहित्यसेवा करते हुए युगद्रष्टा महापुरूष श्री महाराज करपात्री स्वामी का महानिर्वाण सन् १९८२ ई० में हुआ।

स्वामी दयानन्द

आधुनिक युग में वेदोद्धार का सूत्र पात 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' ने किया। अंग्रेजी शासकों की **'विभाजन करो और राजकरो'** की नीति से विस्खलित हिन्दू समुदाय को एकत्रित करने का महान् प्रयास कर स्वामी दयानन्द ने भारतीय इतिहास को नया मोड़ प्रदान किया था।

स्वामी जी का जन्म संवत् १८८१ में हुआ था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। स्वामी जी ने 'ऋग्वेदभाष्य भूमिका' लिखी थी, जिसका प्रकाशन संवत् १९३५ में हुआ था। स्वामी जी ने ऋग्वेद भाष्य लिखना प्रारम्भ किया था। यह भाष्य ऋग्वेद के ७ मंडल, २ सूक्त और २ मंत्र तक ही हो सका था, इसी बीच स्वामी जी का देहान्त १९४० संवत् में हो गया।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदोद्धार के प्रयास में अनेक असफल वैदिक मान्यताओं का उपस्थापन किया था, जिस कारण वेदार्थ में एवं भारतीय उपासना पद्धति में अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो गयी थीं, जिनका खण्डन अनेक विद्वानों ने किया है। जिनमें प्रमुख भारतीय कांग्रेस के जन्मदाता मि० एम० प्रो० ग्रिफिथ एवं परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री करपात्रस्वामी आदि विद्वान् हैं।

शुक्लयजुर्वेद (काण्व संहिता)

१. आनन्द बोध—'जातवेद भट्टोपाध्याय' के पुत्र आनन्दबोध ने

सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर 'काण्ववेदमन्त्र-भाष्य-संग्रह' की रचना की है। सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय की 'सारस्वतसुषमा' पत्रिका में (संवत् २००६–२०११) आनन्दबोध भाष्य के अन्तिम दश अध्याय का भाष्य प्रकाशित हुआ था। अपने भाष्य में इन्होंने ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश किया है। इसकी भाषा भी सरल एवं सुबोध है। यत्र तत्र ब्राह्मण ग्रंथों के उद्धरण भी इन्होंने अपने भाष्य की पुष्टि में दिये हैं। इनके भाष्य पर पूर्ववर्ती भाष्यकार उवट एवं महीधर के भाष्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

२. **हलायुध**—इन्होंने काण्वसंहिता पर 'ब्राह्मणसर्वस्व' नाम से अपने भाष्य की रचना की है। ये 'वत्स' गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'धनंजय' था। भाष्य के आरम्भ में हलायुध ने अपने जीवन का कुछ परिचय दिया है, जिससे अवगत होता है कि वे बंगाल के सुप्रसिद्ध नरेश 'लक्ष्मण सेन' के दरबार में धर्माधिकारी के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थे। इस पद की प्राप्ति उन्हें जीवन के उत्तरार्द्ध में हुई थी—

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्वेतार्चिबिम्बोज्ज्वल-
च्छत्रोत्सिक्तमहामहत्तमुपदं दत्त्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः
श्रीमान् लक्ष्मणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ॥[1]

राजा लक्ष्मणसेन के साथ सम्बद्ध होने से इनका समय सरलता से अवगत हो सकता है। १२०० ई० में लक्ष्मण सेन के राज्य का अंत हुआ।[2] अतः लक्ष्मण सेन के धर्माधिकारी होने के कारण हलायुध का काल ई० स० १२ वीं श० का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

हलायुध अपने समय के उद्‌भट वैदिक विद्वान् थे। उन्होंने 'ब्राह्मण सर्वस्व' के व्यतिरिक्त 'मीमांसासर्वस्व' 'वैष्णवसर्वस्व', 'शैवसर्वस्व', और 'पण्डित सर्वस्व' ब्राह्मण-सर्वस्व आदि ग्रंथों का प्रणयन किया है।

३. **अनन्ताचार्य**—ये काण्वशाखीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'नागेशभट्ट' और माता का नाम 'भागीरथी' था। ये काशी-निवासी थे। इन्होंने संहिता के उत्तरार्द्ध पर (२१ अ० से ४० अ०) अपना भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त 'भाषिकसूत्र-भाष्य' यजुःप्रातिशाख्य-भाष्य और शतपथब्राह्मण भाष्य (१३ वें काण्ड) भी बनाया। इनको

---

१. पं० बलदेवउपाध्याय 'वै० सा० सं० पृ० ५९' १९७३ (च० सं०)
२. स्मिथ—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४०३–४०७ (तृ० सं०)

स्थिति—काल १६ वीं शती माना जाता है। पं० रामगोवन्द त्रिवेदीजी ने इन्हें १८ वीं शताब्दी का भाष्यकार माना है।[1]

कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता)

१. भवस्वामी—इन्होंने इस संहिता पर भाष्य लिखा था। एतद्-विषयक संकेत उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने अपने ग्रन्थों में दिए हैं। भट्ट भास्कर-मिश्र ने अपनी तैत्तिरीय-संहिता के भाष्यारम्भ में **'भवस्वाम्यादिभाष्य'** से भवस्वामी के भाष्य का अस्तित्व स्वीकार किया है। आचार्य केशवस्वामी ने **'बोधायन-प्रयोगसार'** के आरम्भ में **'भवस्वामिमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यंगीकृत्य प्रयोगसारः क्रियते'** इत्यादि वाक्य से भी भवस्वामी के भाष्य होने को पुष्ट किया है। परन्तु अद्ययावत् यह भाष्य उपलब्ध नहीं हो सका है। इनका स्थिति काल अनुमानतः विक्रम से ८०० वर्ष पूर्व होना चाहिये।

२. गुहदेव—अप्राप्त भाष्य शृङ्खला में आचार्य गुहदेव का भी भाष्य था। अनेक ग्रन्थकारों ने गुहदेव के भाष्य को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है अथवा प्रसंगानुसार उनके अस्तित्व को स्वीकार किया है। इनका सर्वप्रथम उल्लेख **देवराजयज्वा** के निघण्टुभाष्य में प्राप्त होता है।[2] **रामानुजाचार्य** ने अपने ग्रन्थ **'वेदार्थ संग्रह'** ग्रन्थ में स्वशिष्यरूपेण गुहदेव का उल्लेख किया है।[3] इनका स्थितिकाल विक्रम की आठवीं या नवीं शताब्दी माना गया है।

३. भट्टभास्कर मिश्र—तैत्तिरीय-संहिता के उपलब्ध भाष्यों में भट्टभास्कर मिश्र के भाष्य का प्रथम स्थान है। स्थितिकाल की दृष्टि से वे ११वीं शताब्दी के भाष्यकार हैं। आचार्य भास्कर मिश्र ने मंगलाचरण में शिव को प्रणाम किया है, इससे प्रतीत होता है कि ये शैव थे। देवराज यज्वा एवं सायण ने अपने भाष्यों में बहुशः 'भट्टभास्करभाष्य को उद्धृत किया है। इनके भाष्य का नाम **'ज्ञानयज्ञ'** है।

आचार्य भट्टभास्कर मिश्र का भाष्य यथार्थतः अभिधान (अपने नाम के) सदृश ही है। इसमें प्रमाण रूप से अनेक ग्रन्थों को उद्धृत किया गया

---

१. पं० रामगोविन्द त्रिवेदी 'वै० सा० पृ० ४०४, (प्र० सं०)

२. तथा च 'रश्मयश्च देवा गरगिरः' इत्यत्र गुहदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति पिबन्ति इति गरगिरः' इति भाष्यं कृतवान्।

३. भा० सं० को० (ख० ३ पृ० ६३)।

है। मंत्रार्थ प्रदर्शन में भाष्यकार ने यत्र तत्र प्रसंगानुरोध से भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का निर्देश कर अर्थगांभीर्य को प्रकट किया है। प्रसंगोपात्त अर्थवैविध्य को भी भाष्यकार ने अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया है। इस हेतु इनके भाष्य में यज्ञपरक अर्थों के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थ भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। इससे यह भासित होता है कि—भट्टभास्कर मिश्र के भाष्य (ज्ञानयज्ञ) में भाष्य की विशिष्ट शैली अपने अङ्गो उपाङ्गों के साथ विद्यमान है।

तैत्तिरीय संहिता के उल्लिखित प्रमुख भाष्यकारों के व्यतिरिक्त क्षुर, वेंकटेश, बालकृष्ण, शत्रुघ्न आदि विद्वान् आचार्यों के भाष्य होने के संकेत है, परन्तु उनके विषय में विस्तृत उल्लेख नहीं किया है।

सामवेद के भाष्यकार

१. माधव—सामवेद संहिता पर सायणभाष्य के अतिरिक्त भी अनेक भाष्यों के अस्तित्व का पता चलता है। इन भाष्यकारों में सामवेद के 'माधव' (७वीं शती) प्रथम भाष्यकार प्रतीत होते हैं। इनके भाष्य का नाम **'विवरण'** है। इन्होंने संहिता के पूर्वार्द्ध के विवरण को **'छन्दरसिका'** एवं उत्तरार्द्ध को **'उत्तरविवरण'** नाम से विवृत किया है।

प्रसिद्ध वेदानुसंधानकर्त्ता **पं० सत्यव्रत सामश्रमी** ने सामवेद के सायण-भाष्य के साथ **'सामविवरण'** को टिप्पणी के रूप में सर्वप्रथम प्रकाशित किया है।

२. भरत स्वामी—सम्पूर्ण साम-संहिता पर भाष्य लिखने वाले विद्वान् आचार्यों में 'भरत स्वामी' का भाष्य भी समादृत है। इनका गोत्र **'कश्यप'** था। इनके पिता का नाम **'नारायण'** था और माता का **'यज्ञदा'**।[1]

भाष्यकार भरत स्वामी ने भाष्यारम्भ में स्वविषयक कुछ वृत्त दिया है। इन पद्यों से यह ज्ञात होता है कि **'श्रीरंगपट्टम्'** में रहते हुए होसलाधीश्वर **'रामनाथ'** के राज्यकाल में भरत स्वामी ने अपने भाष्य की रचना की थी।[2] इतिहासकारों के अनुसार होसलावंश के ख्यातनामा

---

१. इत्थं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यात् साम्नामृचोऽखिलाः॥

२. नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोदृचम्॥
होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया॥

वीर रामनाथ का शासन काल १३वीं शती माना जाता है—अतः भरत-स्वामी का भी स्थिति काल १३वीं शताब्दी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद-संहिता पर केवल सायणाचार्य का भाष्य प्राप्त और प्रकाशित है। सायणाचार्य के पूर्व किसी भी भाष्यकार अथवा टीकाकार की कोई भी भाष्य-टीका इस वेद की संहिता पर उपलब्ध नहीं होती। सायणाचार्य ने अन्य वैदिक संहिताओं पर भाष्य लिखने के बाद अन्त में यह भाष्य लिखा। भाष्य के आरम्भ में उन्होंने इस वेद की असाधारण विशेषता को बताया है। उसका आशय यह है कि 'परलोक में फल देने वाले तीनों वेदों का (ऋग्, यजु, साम) भाष्य रचने के पश्चात् लोक, परलोक दोनों में फल देने वाले चतुर्थवेद 'अथर्ववेद' का भाष्य किया है—

व्याख्याय वेद-त्रितयं आमुष्मिक-फल-प्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥



वैदिक-स्वर

प्रातिशाख्यकार एवं शिक्षाकार ही वैदिक भाषा के नियम एवं उसके वैशिष्ट्य के प्रथम प्रवर्त्तक हैं। प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों में समान विषयवस्तु का विवेचन हुआ है—शिक्षाग्रन्थों का प्रतिपाद्य-स्वरविषयक सामान्य सिद्धान्तों का प्रकाशन है और प्रातिशाख्य ग्रन्थ—अपने शाखागत स्वर-विषयक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं।

प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों के व्यतिरिक्त वैयाकरणों ने भी स्वर-विषयक नियमों का सांगोपांग चिंतन किया है। पाणिनि ने स्वरविषयक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक दृष्टि को प्रदान कर सम्पूर्ण विश्व को अनुगृहीत किया है। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का प्रसंगतः यत्र तत्र उल्लेख किया है इससे यह ज्ञात होता है कि तत्तत् आचार्यों के वैदिक स्वर-विषयक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ थे परन्तु दुर्भाग्य से वे ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि एवं कात्यायन के द्वारा प्रतिपादित-स्वर नियमों की व्याख्या करते हुए स्वर उच्चारण सम्बन्धी वैशिष्टय का याथातथ्य विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसे हम स्वरदर्शन भी कह सकते हैं। वेंकट-माधव का वचन स्वर के विषय में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

> अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
> एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥

जैसे अन्धकार में दीपिका की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (संदेह रहित) होते हैं।

वैदिक-स्वर

स्वरसत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है। वर्ण का उच्चारण स्वर के ही अधीन होता है—इस कारण उच्चारण का एक मात्र साधकतम करण (प्रकृष्ट कारण) स्वर ही है। ये स्वर हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ—इस स्वर मालिका को पाणिनि ने 'अच्' कहा है। स्वर भिन्न-भिन्न हैं इस हेतु उनके उच्चारण, करने के विविध प्रकार, विविध स्थान हैं। एक ही स्वर का सभी वर्णों के उच्चारण स्थान के उच्च भाग से, निम्न भाग से, कभी मध्य भाग से उच्चारण किया जासकता है। वैदिक वाङ्मय का अधिकांश भाग गेय है—इस कारण उसमें प्रयुक्त 'अच्' के धर्म-रूप स्वरों के मुख्य तीन भेद हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। इस स्वरत्रिक

(तीन स्वर) का द्वितीय अभिधान-संज्ञा त्रैस्वर्य है। एक अन्य चतुर्थ स्वर की सत्ता वैदिक भाषा की अन्यतम विशेषता है—इसका ही द्वितीय अभिधान 'एक श्रुति' भी है। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार—**स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयस्वरः** (ऋ० प्रा० प० ३ सू० १९)। उपर्युक्त उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों में रहते हैं—ये स्वरवर्णों के धर्म है। ऋ० प्रा० में अक्षराश्रयाः (प० ३ सू० २) ऐसा स्पष्ट कहा गया है। इन स्वरों के उच्चारण के विषय में शौनक का कहना है कि उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वंगमन (आयाम) अधोगमन (विश्रम्भ) और निर्यग्गमन (आक्षेप) से क्रमशः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का उच्चारण होता है—

आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते (प० ३।१)

१. उदात्त——उदात्त उच्चस्वर है। पाणिनि ने '**उच्चैरुदात्तः**'[1] (पा० १. २. २९) इस सूत्र के माध्यम से उच्चस्वर से उदात्त के उच्चारण का विधान किया है। 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' के अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर का काठिन्य, कण्ठविवर की संवृतता ही शब्द के उच्चारण में अर्थात् उदात्तस्वर के उच्चारण का कारण होती है[2]। तात्पर्य यह है कि उदात्तस्वर के उच्चारण में गात्रों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर किया जाता है, कण्ठ को दबाकर उच्चारण किया जाता है। पतञ्जलि को उपर्युक्त उदात्त की परिभाषा मान्य नहीं है। पतञ्जलि के अनुसार उच्चस्वर अनवस्थित है। एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है और किसी के लिये नीच हो सकता है ऐसी परिस्थिति में जो स्वर किसी के लिये नीच है, उसको उच्च कैसे कहा जा सकता है। यदि वह उच्च है तो उसका उच्चत्व सर्वदा सबके लिये होना चाहिए। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का मत महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार अनैकान्तिक है। एक कमजोर व्यक्ति जिस ध्वनि का अत्यधिक परिश्रम से उच्चारण करता है, उसी ध्वनि का उच्चारण एक बलवान् व्यक्ति अत्यन्त सरलता से करता है[3]। 'उच्चैरुदात्तः' का तात्पर्य महाभाष्यकार के अनुसार यह है कि 'वर्णों के उच्चारण स्थान के उच्च भाग से जब उच्चारण होता है वह उदात्त होता है।

---

१. वाज० प्राति० १।१०८, तै० प्राति० १.३८

२. तै० प्रा० २२।१

३. एतदप्यनैकान्तिकम्। यद्धयल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः। तथाहि-महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन्स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति। कैय्यट० प्रदीप १।२। २९.३०

उदात्त स्वर के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। कुछ मत उदात्त को उच्च स्वर कहते है और कुछ मत मध्यम स्वर भी कहते हैं। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से उदात्त सर्वोच्च स्वर है (उत्+आत्त)। किन्तु ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से उदात्त मध्यम स्वर है ऐसा संकेत प्राप्त होता है। परम्परा में भी उदात्त मध्यम स्वर ही प्राप्त होता है—उदात्त स्वर अर्थदृष्टया भी महत्त्वपूर्ण है—क्योंकि पदों के अर्थनिर्धारण के समय उदात्तस्वर के स्थानपरिवर्तन से अर्थपरिवर्तन हो जाता है।

२. अनुदात्त—अनुदात्त का अर्थ है जो उदात्त न हो। अनुदात्त नीच स्वर है। पाणिनि ने 'नीचैरनुदात्तः'[१] (पा० १।२।३०) इस सूत्र से नीच स्वर से अनुदात्त के उच्चारण का विधान किया है। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के अनुसार—गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता, कण्ठविवर की स्थूलता वर्ण के नीच उच्चारण का कारण होती है।[२] अर्थात् जिस स्वर के उच्चारण में विश्रम्भ (विश्राम, विराम) हो उसे अनुदात्त कहते है। अथवा गात्रों को सामान्यावस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को विस्तारित करते हुए अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है। महाभाष्यकार के अनुसार 'नीचै-रनुदात्तः' का अभिप्राय उपर्युक्त अर्थ से भिन्न है—पतञ्जलि के अनुसार नीचैरनुदात्तः का तात्पर्य है कि वर्णों के उच्चारण स्थान के निम्नभाग से जब उच्चारण होता है तो वह अनुदात्त होता है[३]। इस प्रकार के अर्थ-प्रकाशन के उपरान्त एक शंका यह होती है कि 'वर्णों के उच्चारण स्थान के निम्न भाग से किस प्रकार उच्चारण होता है'। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कैय्यट ने कहा है कि 'अत्यधिक अभ्यास के पश्चात् ही यह जाना जा सकता है।[४] शिक्षा ग्रन्थों में भी इसे नीच स्वर से ही व्यवहृत किया गया है। महाभाष्यकार—पतञ्जलि ने अनुदात्त से भी निम्न 'अनुदात्ततर' स्वर का उल्लेख किया है।[५] भट्टोजि दीक्षितने सिद्धान्त-कौमुदी में अनुदात्ततर को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अनुदात्त के परे उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित हो, वह अनुदात्त 'अनुदात्ततर' होता है। उदाहरण—सर॑स्वति॒ पृ॒तु॑द्रि (ति॒); व्य॑चक्षय॒त्स्व॑ (य॒) इत्यादि।

---

१. वाज० प्राति० १।१०९, तै० प्राति० १।३९

२. अन्ववसर्गो मार्दवमुरता स्वस्येति नीचैः कराणि। तै० प्रा० २२।१०

३. कैय्यट प्रदीप १।२।२९–३०

४. अभ्यासमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः।

५. महाभाष्य० पतञ्जलि १।२।३३

पाणिनि इस अनुदात्ततर को सन्नतर कहते हैं।[1] नारदीय शिक्षा में अनुदात्त से भिन्न ही एक निघातस्वर का भी उल्लेख है।[2]

३. स्वरित—पाणिनि ने उदात्त एवं अनुदात्त के समाहार को स्वरित-स्वर कहा है।[3] उदात्त एवं अनुदात्त का समाहार होते हुए भी यह एक स्वतन्त्र स्वर है। दो पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाला पदार्थ, संयोजित दो पदार्थों पर ही आधारित होता है—परन्तु स्वतन्त्र होता है। उसी प्रकार उदात्त अनुदात्त के एकत्र समावेश से उत्पन्न, किन्तु दोनों से भिन्न स्वरित नामक तृतीय स्वर होता है। उदात्त एवं अनुदात्त के समाहार से उत्पन्न तृतीय स्वर स्वरित में कितना अंश उदात्त होता है तथा कितना अनुदात्त का अंश होता है यह विचारणीय है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार प्रारम्भ की एक मात्रा का अर्धभाग अथवा सम्पूर्ण मात्रा का अर्धभाग उदात्त होता है[4]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं पाणिनि ने भी प्रारम्भ की अर्ध ह्रस्व मात्रा को उदात्त कहा है।[5] स्वरित स्वर के अन्तर्गत उदात्त अंश का उच्चारण उदात्त से भी कुछ उच्चतर होता है—इस हेतु से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उदात्त से भिन्न उदात्ततर स्वर का उल्लेख किया है[6]।

प्रातिशाख्य एवं शिक्षा ग्रन्थों में स्वरित के अनेक भेद प्राप्त होते हैं—ऋग्वेदप्रातिशाख्य, कोहलशिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, नारदीय शिक्षा में स्वरित के सात भेद हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वरित के आठ भेद बताए गये हैं। १—जात्य, २—अभिनिहित, ३—क्षैप्र, ४—प्रश्लिष्ट, ५—तैरोव्यञ्जन, ६—तैरोविरामक, ७—पादवृत्त, ८—ताथाभाव्य। इस स्वरितवर्ग के अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, तैरोविरामक, पादवृत्त, तथा ताथाभाव्य स्वरित आते हैं—इस स्वरित वर्ग का अभिधान है—सामान्य-स्वरित। इस प्रकार पांच स्वरित हैं—१—सामान्य स्वरित, २—जात्यस्वरित, ३—अभिनिहित स्वरित, ४—प्रश्लिष्ट स्वरित, ५—क्षैप्रस्वरित।

---

१. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः। पा० १।२।४०

२. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चधा॥ ना० शि० १।८।१६

३. समाहारः स्वरितः (पा० १।२।३१) तै० प्राति० १।४०

४. ऋग्वेद प्रातिशाख्य—तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। ३।४

५. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य।
१।४१—तैत्तिरीयप्रातिशाख्य

तस्यादित उदात्तमर्धं ह्रस्वम्—पाणिनि—१।२।३२

६. पातञ्जल महाभाष्यम्—१।२।३३

१. **सामान्य स्वरित**—अनेक पदों की संहिता में उदात्त से परे अनुदात्त की सन्निधि होने पर अनुदात्त को जो स्वरित प्राप्त होता है उसे सामान्य स्वरित कहते हैं—यथा—एक पद में 'पुरोहितम्, यज्ञस्य' अनेक पदों में 'अग्निम् ईळे = अग्निमीळे ।

२. **जात्यस्वरित**—जात्या स्वभावेनैव उदात्तसंगतेर्विना जायते स जात्यः (ऋक्प्राति० ३।८ उव्वट) अर्थात् जो स्वरित अपने जन्म से अथवा स्वभाव से स्वरित होता है, जो अनुदात्त किसी उदात्तवर्ण के संयोग से स्वरितभाव को प्राप्त नहीं होता उसे जात्यस्वरित कहते हैं। जैसे—कन्या, धान्यम्, क्व, स्वः, ।

३. **अभिनिहित**–एकार तथा ओकार से परे जहाँ ह्रस्व अकारका लोप अथवा पूर्वरूप होता है, उस संधि को प्रातिशाख्यों में अभिनिहितसंधि कहा गया है। इस संधि के कारण उदात्त एकार अथवा उदात्त ओकार से परे अनुदात्त अकार का लोप अथवा पूर्व रूप होने पर जो स्वरित होता है—उसे अभिनिहित स्वरित कहते हैं—

ते + अवन्तु = तेऽवन्तु (माध्य० १९।५७)
वेदः + असि = वेदोऽसि (माध्य० २।२१)

४. **क्षैप्र**—इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान में स्वर परे रहते जो 'य् व् र् ल् यणादेश रूप संधि होती है उसे क्षैप्रसंधि कहा जाता है। इस क्षैप्रसंधि के अनुसार उदात्त इकार, उकार के स्थान में य् व् आदेश होने पर जिस उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वर को स्वरित हो जाता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं—

वाजी + अर्वन् = वाज्यर्वन् (माध्य० ११।४४)

५. **प्रश्लिष्ट**—दो स्वरों के संयोग से जो संधि होती है उसे प्रश्लिष्ट संधि कहते हैं। प्रश्लिष्ट संधि के कारण होने वाला स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है। प्रश्लिष्ट संधि पांच प्रकार की कही गई हैं—

सुचि + इव = सुचीव (१०।९१।१५)

प्रश्लिष्ट स्वरित केवल दीर्घ संधि जन्य ईकार के स्थल पर होता है।

कम्पस्वर—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, एवं प्रश्लिष्ट स्वरितो में से किसी के भी पश्चात् उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित आवे तो तत्स्थल में स्वरित का उत्तरवर्ती अनुदात्तांश एक श्रुति न होकर अणुमात्रा काल के लिए होता है। इस अणुक स्वर को नीच स्वरित भी कहते है। इसके

उच्चारण में कम्प होता है--उसे कम्प कहते है।[1] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार तैत्तिरीय शाखा की संहिता एवं ब्राह्मण में स्वतन्त्र स्वरित के बाद स्वतन्त्र स्वरित आने पर ही कम्प होता है। उदात्त प्राप्त होने पर कम्प नहीं होता। शुक्लयजुर्वेद की संहिता में भी कम्प है।[2] ताथाभाव्य कम्प की सत्ता स्वीकार की गई है।[2]

४. प्रचय—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, के व्यतिरिक्त एक प्रचय स्वर है। प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा में प्रचय के अनेक अभिधान प्राप्त होते है। प्रचित, प्रच, तान, निचित, उदात्तमय, उदात्तश्रुति, एक स्वर, एक श्रुति, प्रचय की ये आठ संज्ञा हैं। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य वैदिकाभरण में प्रचय उसे कहा गया है— जो उदात्त एवं अनुदात्त के कारणों से रहित हो।[3] आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों का अत्यन्त सन्निकर्ष ही एक श्रुति है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार उदात्त एवं अनुदात्त का ऐक्य प्रचय है।[4]

वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों को पहिचानने के लिये चिह्न लगे रहते हैं। ऋग्वेदसंहिता (शाकल) अथर्ववेद संहिता (शौनक), माध्यन्दिन संहिता, काण्वसंहिता, तैत्तिरीय संहिता (ब्राह्मण आदि सहित) मैत्रायणी-आरण्यक, शतपथब्राह्मण में उदात्तस्वरहेतु कोई चिह्न नहीं है। उदात्तस्वर को अचिह्नित छोड दिया जाता है। जैसे—अ॒ग्निः। यहाँ 'नि' उदात्त है। कृष्णयजुर्वेद की काठक संहिता, मैत्रायणीसंहिता, अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में उदात्त स्वर वाले वर्ण के उपर खडी रेखा के चिह्न से अंकित करते हैं। जैसे—अग्नि॑ः--

सामवेद में उदात्तवर्ण को ऊपर के अंक से चिह्नित करते है। जैसे—
य॒ज्ञायज्ञा। (३ १ २)

---

१. जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ ऋ० प्रा० ३।३४

२ अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस् 'तानूऽनप्त्रे निदर्शनम्॥
उवट वा० प्रा० १।२०

३. उभयकरणरहितः प्रचयः, उभयकरणसमावेशजन्यः स्वरित इति।
वैदिकाभरण—२३।१६

४. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते।
ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः॥ या० शि०

अनुदात्त स्वर हेतु सम्पूर्ण वाङ्मय में चिह्न प्राप्त होते हैं। 'ऋग्वेद-संहिता, अथर्ववेद संहिता माध्यन्दिन संहिता, काण्व संहिता, 'तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी आरण्यक में अनुदात्त स्वर को वर्ण के नीचे एक पडी रेखा से अंकित किया जाता है--जैसे अग्निः। अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में अनुदात्त स्वर को नीचे खडी रेखा से चिह्नित करते है---अग्निः। सामवेद में अनुदात्त को चिह्नित करने हेतु ३ अंक का संकेत है जैसे--जनिताग्नेः।

स्वरितस्वरहेतु भिन्न भिन्न संकेत हैं। ऋग्वेद संहिता (शाकल) 'काण्व संहिता, तैत्तिरीय सहिता में स्वरित स्वरों को वर्ण के ऊपर एक खडी रेखा से संकेतित किया जाता है जैसे--अग्निना।

माध्यन्दिन संहिता—में स्वतन्त्र स्वरित हेतु वर्ण के नीचे (‿) चिह्न से संकेत किया जाता है, जैसे—यातुधान्यः। अथर्ववेद पैप्पलाद शाखा के स्वरित संकेतों में भिन्नता है। अथर्ववेद शौनक शाखा में सामान्य स्वरित को वर्ण के ऊपर खडी रेखा से चिह्नित करते हैं किन्तु स्वतन्त्र स्वरित, यदि वह अनुदात्त से पूर्व है या उसके परे कोई स्वर नहीं है तो वर्ण के आगे (ऽ) चिह्न दिया जाता है। जैसे—दिवीऽव। और पैप्पलाद-अथर्वशाखा में सामान्यस्वरित को वर्ण के नीचे विन्दु लगाकर संकेतित किया जाता है। जैसे—कामो दाता। मैत्रायणीसंहिता में सामान्य स्वरित को वर्ण के नीचे (ω) चिह्न से चिह्नित करते हैं जैसे—अग्निना। अनुदात्त से पूर्व सामान्य स्वरित को (‿) चिह्न से अंकित करते हैं। जैसे-वसिष्ठा। स्वतन्त्र स्वरित को अर्ध चन्द्र से चिह्नित करते हैं। जैसे—अस्मिन। सामवेद में सामान्य स्वरित हेतु वर्ण के उर्ध्वभाग में २ के अंक देने की व्यवस्था है—जैसे—यज्ञायजा। उदात्तबाहुल्य के बाद यदि स्वरित है तो उसे २ र से चिह्नित करते हैं।

स्वर नियम

मन्त्र के प्रत्येक पाद में कई पद होते हैं। इन पदों में कुछ मूल स्वर होते हैं। एवं अन्य सांहितिक स्वर होते हैं। उदात्त एवं स्वतन्त्र स्वरित (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट) मूल स्वर हैं। एवं अनुदात्त एवं सामान्य स्वरित सांहितिक स्वर हैं। प्रायः प्रत्येक पद में एक वर्ण के व्यतिरिक्त शेष वर्ण अनुदात्त होते हैं—अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (पा० ६।१।१५८) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित--इन स्वरों को पद में अनुदात्त, उदात्त, स्वरित, इस क्रम में देखा जाता है।

अनुदात्त के परिवर्तन—उदात्त से पूर्ववर्ती अनुदात्त यथावत् रहता है, परन्तु परवर्ती अनुदात्त सामान्य स्वरित में परिवर्तित हो जाता है।[1] गार्ग्य, काश्यपादि आचार्यों के अनुसार उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित होने पर भी स्वरित होता है।[2] स्वरित के परे आने वाले एक या अनेक अनुदात्तों की प्रचय संज्ञा होती है।[3] कुछ आचार्य उदात्त से परे प्रचय को अनुदात्त करने का कारण प्रचय एवं उदात्त का स्वतन्त्र उच्चारण मानते हैं।[4] केचित् आचार्य स्वरित परवर्ती प्रचय वर्णों को अनुदात्त ही मानते हैं। कुछ स्वरपरिवर्तनों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

१—सम्बोधन शब्द जब पाद के आरम्भ में न हो तो उसके सभी स्वर अनुदात्त हो जाते हैं।

२—मुख्य वाक्य की क्रिया जब वाक्य अथवा पाद के आरम्भ में न हो तो उसके सभी स्वर अनुदात्त होते हैं।

३—कुछ शब्दों पर उदात्त कभी नहीं होता, वे हैं—

एन, त्व, सम, मा, त्वा, मे, ते, नौ, वाम्, नः, वः, ईम्, सीम्।

अव्यय—च, उ, वा, इव, घ, ह, चित्, भल, समहः, स्म, स्विद्।

४—समासों में-जिसमें एक ही पद की आवृत्ति हो उसमें पहले पद पर उदात्त होता है।

५—बहुव्रीहि में प्रथम पद पर उदात्त होता है।

६—जिन तत्पुरुष समासों का उत्तरपद 'पति' होता है, उनमें दो उदात्त होते हैं।

७—द्वन्द्व समास के उत्तरपद पर उदात्त होता है।

८—क्रियारूपो में-आगम 'अ' पर उदात्त होता है।

९—लुङ् लकार एवं लेट् लकार में प्रथम अक्षर पर उदात्त होता है।

---

१. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ ऋ० प्रा० ३।१७

२. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्॥ पा० ८।४।६७

३. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः।
उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा॥ ऋ० प्रा० ३।१९

४. नियमं कारणाद्देके प्रचयस्वरधर्मवत्।
प्रचयस्वर आचारः शाकल्यान्यतरेय योः॥

ऋग्वेदप्रातिशाख्य ३।२२

१०—लृट् लकार में 'स्य' प्रत्यय पर उदात्त होता है।

११—वाक्य में-मुख्य क्रिया के व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओं पर उदात्त होता है।

१२—सम्बोधन के बाद आने वाली क्रिया पर उदात्त होता है।

१३—जब उपवाक्य 'य' अथवा 'य' के अन्यरूपों से शुरू हो और च, चेद्, नेद्, कुविद् अव्यय हो तो उस क्रिया पर उदात्त होता है।

१४—संधि से भी स्वर परिवर्तन होते हैं—

उदात्त एवं उदात्त की संधि होने पर उदात्त ही रहता है।

१५—अनुदात्त और उदात्त मिलकर उदात्त हो जाता है।

१६—जात्यस्वरित एवं उदात्त संधि होने पर उदात्त हो जाता है।

१७—उदात्त और अनुदात्त की संधि होने पर प्रश्लिष्ट स्वरित हो जाता है।

पद पाठ के नियम

संहिता से पद पाठ करने हेतु निम्न ७ कार्य करने होते हैं—

१—संधिविच्छेद, २—मूर्धन्यपरिवर्तन, ३—लुप्तवर्णागम, ४—अवग्रहप्रयोग, ५—इति करण, ६—दीर्घस्वरह्रस्व करना, ७—स्वरचिह्न। सर्वप्रथम संहिता-पाठ की (स्वर-व्यञ्जन-विसर्ग) संधियों को पृथक् किया जाता है—स्वर संधि-यथा-इन्द्रेहि = इन्द्र। आ। इहि, एमसि = आ। ईमसि। विसर्ग संधि में शब्द को मूलविसर्ग युक्त अवस्था में रखना चाहिये। यथा—देवो देवेभिः = देवः। देवेभिः प्रातरिन्द्रं = प्रातः। इन्द्रम्। इसी प्रकार व्यञ्जन संधि का उच्छेद करना चाहिये। यथा—अर्वाग्नरा = अर्वाक्। नरा। संहिता पाठ के 'ष्' को स और 'ण' को 'न्' कर देना चाहिये। यथा—ऊती ष बृहतः = ऊती। सः। बृहतः, संहिता पाठ में यत्र तत्र मंत्रों में वर्णों का लोप हो जाता है। यथा 'ईम्' के 'म' और द्विवचनान्त शब्दों के 'आ' का लोप हो जाता है। उन्हें पद पाठ में रखना चाहिये। यथा—यम् ई गर्भम् = यम्। ईम्। गर्भम्।

शब्दों के साथ प्रयुक्त कुछ विभक्तियों को पृथक् करने हेतु अवग्रह 'ऽ' का प्रयोग किया जाता है। यथा—हरिभ्याम् = हरिऽभ्याम् चतुर्भिः = चतुःऽभिः। उपसर्ग जब शब्द से संयुक्त हों तो उन्हें अलग करने हेतु अवग्रह का प्रयोग करना चाहिये। यथा—प्रचेताः = प्रऽचेताः, विभुः = विऽभुः।

जब अनेक उपसर्ग लगे हों तो पहले वाले उपसर्ग को ही अवग्रह द्वारा पृथक् करते हैं। यथा—सुप्रवचनम् = सुऽप्रवचनम्।

प्रगृह्य स्वरों से समाप्त होने वाले शब्दों के आगे पद-पाठ में 'इति' लगा दिया जाता है। 'उ' के स्थान पर पदपाठ में 'ॐ इति' हो जाता है। द्विवचनान्त या सप्तमी में जब शब्द के अन्त में 'ऊ' आता है तो उसके साथ भी इति लगता है। यथा इन्द्रवायू इति। चमू इति। सम्बोधन के अन्त में 'ओ' आवे तो उसके साथ भी 'इति' का प्रयोग किया जाता है। यथा—विष्णो इति। अथो, उतो, तत्वो, भो आदि के 'ओ' के बाद 'इति' का प्रयोग होता है।

प्लुति के कारण जहाँ स्वर संहिता में दीर्घ हों उन्हें पदपाठ में ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा—अच्छावद = अच्छ। वद। विवृति के व्यवधान को दूर करने हेतु प्रयुक्त अनुस्वार को हटा दिया जाता है। यथा—शाशदानाँ एषि = शाशदान। एषि, संहिता से पद पाठ बनाने में प्रत्येक पद स्वतन्त्र हो जाता है। अतः उन पर स्वर लगाने होते हैं जो सांहितिक स्वरों से भिन्न होते हैं। उदाहरण स्वरूप एक मंत्र का पद पाठ नीचे दिया जाता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम्।

द पाठ—

सहस्रशीर्षेतिसहस्र शीर्षा। पुरुषः। सहस्राक्षऽइति सहस्र अक्षः। सहस्रपादितिसहस्र पात्॥ सः। भूमिम्। सर्वतः। स्पृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशाङ्गुलमितिदश अङ्गुलम्॥

वैदिक-व्याकरण

वैदिक भाषा में ५२ वर्ण हैं। इनमें १४ स्वर हैं और ३८ व्यञ्जन। वर्ण समाम्नाय 'वर्ण-समूह' को कहते हैं। अथवा जिस समूह या संग्रह में वर्णों का पाठ होता है उसे वर्ण-समाम्नाय कहते हैं[1]। वर्णों के दो प्रकार हैं—१—स्वर, २—व्यञ्जन। जो किसी अन्य वर्ण की अपेक्षा के विना स्वयं उच्चरित होते हैं उन्हें 'स्वर' कहते हैं।[2] और जो दूसरे वर्णों की अपेक्षा किये विना उच्चरित नहीं होते उन्हें व्यञ्जन कहते हैं।[3]

---

१. वर्णा यस्मिन् पठ्यन्ते स वर्ण-समाम्नायः (वा० प्रा० ८।१)

२. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः (वैदिकाभरण तै० प्रा० १।५), स्वयंन्ते व्यज्यन्त इति स्वराः (१।३, उवट भाष्य वा० प्रा०)

३. परेण स्वरेण व्यज्यन्त इति व्यञ्जनम् (वैदिकाभरण तै० प्रा० ९।६)

१. स्वर—स्वर दो प्रकार के होते हैं—समानाक्षर और सन्ध्यक्षर। जिन स्वरों के उच्चारण में समरूपता होती है उन्हें समानाक्षर कहते हैं। यथा—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ—ये आठ समानाक्षर स्वर हैं। समानाक्षर संज्ञा कहने का तात्पर्य यह है कि 'स्थान' और प्रयत्न की दृष्टि से उच्चारण में ये समान होते हैं। दो स्वर वर्णों की संधि से उत्पन्न स्वर 'सन्ध्यक्षर' कहे जाते हैं। यथा—ए, ओ, ऐ, औ। अ + इ = ए। अ + उ = ओ। अ + ए = ऐ। अ + ओ = औ। सन्ध्यक्षरों में ए, ओ को गुण स्वर और ऐ, औ को वृद्धि स्वर भी कहा जाता है।

इस प्रकार ८ समानाक्षर और ४ सन्ध्यक्षर—ये १२ स्वर होते हैं किन्तु शौनक ने प्लुत 'ई ३', एवं 'ऌ' को भी स्वर कहा है। इस प्रकार कुल १४ स्वर माने गये हैं।

२. व्यञ्जन—शौनक ने व्यञ्जनों को तीन भागों में विभक्त किया है। १—स्पर्श, २—अन्तःस्थ, ३—ऊष्मन्।

१. स्पर्श—इनका उच्चारण करते समय मुख के दो अङ्ग एक दूसरे का स्पर्श करके वायु को रोकते हैं और फिर एक दूसरे से पृथक् होकर वायु को बाहर निकाल देते हैं. वे वर्ण दो अङ्गों (करणों) से स्पर्श करने के कारण 'स्पर्श' कहे जाते हैं। ये संख्या में २५ हैं, जो क्रमशः ५ वर्गों में विभाजित हैं। यथा क वर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) च वर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,) ट वर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्,) त वर्ग (त्, थ्, द्, ध् न्) प वर्ग (प्, फ्, ब्, भ्, म्)।

२. अन्तःस्थ—स्पर्श और ऊष्मन् संज्ञक वर्णों के मध्य (अन्तः) में अवस्थित होने से इन्हें 'अन्तःस्थ' कहते हैं। ये संख्या में ४ हैं, यथा—य्, र्, ल्, व्।

३. ऊष्मन्—ऊष्म—वर्णों के उच्चारण काल में वायु का मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध न होकर थोडा खुला रहता है, जिससे वायु उस संकीर्ण मार्ग से घर्षण के साथ बाहर निकलती है। घर्षण से वायु में ऊष्मता आजाती है, इसी कारण ऊष्मन्—वर्णों को 'संघर्षी' भी कहा जाता है। ये संख्या में ८ हैं, यथा—श्, ष्, स्, ह्, अः, अं, ᳵ क, ᳶ प।

समानाक्षरों में प्रथम, तृतीय पञ्चम और सप्तम को अर्थात् अ, ऋ, इ, उ को ह्रस्व कहते हैं।[1] इनके अतिरिक्त अवशिष्ट दीर्घ कहे जाते हैं, यथा—आ, ॠ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ।[2]

---

१. ओज ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम् (ऋ० प्रा० १।१७)
२. अन्ये दीर्घाः (ऋ० प्रा० १।१८)

'क्' से 'म्' तक के स्पर्श संज्ञक व्यञ्जनों के प्रत्येक वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्णों को 'अघोष' कहते हैं। यथा—क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्।[1] प्रत्येक वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों को 'सोष्म' कहते हैं। यथा—ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध्, फ्, भ्।[2] और प्रत्येक वर्ग के अन्तिम वर्णों को 'अनुनासिक' कहते हैं[3], यथा—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्,।

उच्चारणस्थान—गल प्रदेश से मुखपर्यन्त के जिस अङ्ग विशेष से वर्ण उच्चरित होते हैं तत्तत् अङ्ग विशेष को इन वर्णों का स्थान कहते हैं। आचार्य शौनक ने ऋक् प्रातिशाख्य में उच्चारण स्थानों का विशेष वर्णन किया है।

१. कण्ठ—उच्चारण स्थान वाले वर्ण हैं, अ, आ,।[4] ऊष्म (वर्णों) के मध्य में प्रथम और पञ्चम अर्थात् ह् और विसर्जनीय (अः) का उच्चारण स्थान कण्ठ है। इसलिये वे कण्ठ्य हैं।[5] कुछ आचार्य इन वर्णों को (ह् अः) उरस् स्थान से उच्चरित होने वाला मानते हैं।[6] अतः उन्हें उरस्य कहते हैं।

२ जिह्वामूल—ऋकार (ऋ, ॠ) ऌकार (ऌ, ॡ) षष्ठ ऊष्मन् (ᳵ क) और प्रथम वर्ग (क वर्ग—क्, ख्, ग, घ्, ङ्) ये वर्ण जिह्वा के मूल स्थान से उत्पन्न होते हैं।[7]

३. तालु—एकार, द्वितीय वर्ग (चवर्ग—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) इकार (इ, ई), ऐ कार य कार और श कार ये वर्ण तालव्य अर्थात् तालु स्थान से उच्चरित होते हैं।[8]

४. मूर्धा—ष कार और तृतीय वर्ग (ट वर्ग—ट्, ठ्, ड्, ढ् ण्) ये वर्ण 'मूर्धा' स्थान से उच्चरित होते हैं।[9]

---

१. वर्गे-वर्गे च प्रथमावघोषौ (१।१२ ऋ० प्रा०)

२. युग्मौ सोष्माणौ (१।१३ ऋ० प्रा०)

३ अनुनासिकोऽन्त्यः (१।१४ ऋ० प्रा०)

४. कण्ठ्योऽकारः (१।३८ ऋ० प्रा०)

५. प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम् (१।३९ ऋ० प्रा०)

६. केचिदेता उरस्यौ (१।४० ऋ० प्रा०)

७. ऋकारऌकारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः (१।४१ ऋ० प्रा०)

८. तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः—शकारः (१।४२ ऋ० प्रा०)

९. मर्धन्यौ षकारतकारवर्गौ (१।४३ ऋ० प्रा०)

५. दन्तमूल—चतुर्थ वर्ग (त वर्ग त्, थ्, द्, ध, न्) स कार (स्) रेफ (र्) और लकार (ल्) ये वर्ण दांतों के मूल स्थान से उच्चरित होते हैं।[1] कुछ आचार्य रेफ (र्) को 'बर्स्व' से उच्चरित होने वाला मानते हैं। दन्त पंक्ति के ऊपर वाले उच्च प्रदेश को बर्स्व कहते हैं 'बर्स्वेष्विति दन्तपंक्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः (तै० प्रा० २।१८) त्रिभाष्यरत्न)।[2]

६. ओष्ठ—उ, ऊ, ओ, औ, प् , फ् , ब् , भ् , म् , व् और ≍ प, ये वर्ण ओष्ठ स्थान से उच्चरित होते हैं।[3] अनुनासिक और अनुस्वार नासिका स्थानीय उच्चारण हैं।

संधि-प्रकरण

स्वर संधि—पद के प्रारम्भ में अथवा अन्त में आने वाले स्वरों के मेल को स्वर संधि कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रमुख संधियों का विवरण किया गया है।

१. **प्रश्लिष्ट-संधि**—पदान्त समानाक्षर से परे 'पदादि' सवर्ण अर्थात् समानाक्षर हो, तो दोनों समानाक्षरों के स्थान पर एक दीर्घ हो जाता है।[4] अर्थात् अ इ उ ऋ ह्रस्व या दीर्घ के बाद 'अ' 'इ' 'उ' 'ऋ' ह्रस्व या दीर्घ आवें तो क्रमशः 'आ' 'ई' 'ऊ' 'ॠ' होते हैं—यथा

अश्व + अजनि = अश्वाजनि
मधु + उदकम् = मधूदकम्
दिवि + इव = दिवीव
इह + अस्ति = इहास्ति

२. 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'इ' या 'ई' पदादि हो तो दोनों मिलकर 'ए' होंगे —[5] यथा—

आ + इन्द्रम् = एन्द्रम्
पिता + इव = पितेव

---

१. दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः, सकार रेफलकारश्च (१।४४,४५ ऋ०प्रा०)
२. रेफं बर्स्वर्यमेके (१।४६ ऋ० प्रा०)
३. शेष ओष्ठयोऽपवाद्य नासिक्यान् (१।४७ ऋ० प्रा०)
४. समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभेस्वरम् (२।१५ ऋ० प्रा०)
५. इकारोदय एकारमकारः सोदयः (२।१६ ऋ० प्रा०)

३. 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'उ' या 'ऊ' पदादि हो तो दोनों मिलकर 'ओ' हो जाते हैं।[1] यथा—

एतायाम + उप = एतायामोप
सुभगा + उषाः = सुभगोषाः

४. 'अ' या 'आ' पदान्त हो और 'ए' या 'ऐ' पदादि हो तो दोनों मिलकर 'ऐ' हो जाते हैं।[2] यथा

आ + एनम् = ऐनम्

५. 'अ' या 'आ' पदान्त हो तथा 'ओ' या 'औ' पदादि हो तो दोनों मिलकर 'औ' हो जाते हैं।[3] यथा—

यत्र + औषधिः = यत्रौषधिः
प्र + ओक्षन् = प्रौक्षन्

१. क्षैप्र संधि—इ या ई तथा उ या ऊ पदान्त हो और असमान स्वर पदादि हो तो ई या इ को य् और ऊ या उ को व् हो जाता है।[4] यथा—

अभि + आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्
अनु + अत्र = अन्वत्र
अधीन्नु + अत्र = अधीन्न्वत्र

२. अभिनिहित संधि—जब ए, ओ किसी पाद के अन्त में हों और उसके बाद पाद के आरम्भ में अ होने पर वह अकार ए या ओ के साथ एक रूप हो जाता है और उसके स्थान पर अवग्रह होता है।[5] यथा—

सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने
दाशुषे + अग्ने = दाशुषेऽग्ने
ते + अवदन् = तेऽवदन्
मन्यो + अविधत् = मन्योऽविधत्
रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने

---

१. उकारोदय ओकारम् (१।१७ ऋ० प्रा०)
२. परेष्वैकारमोजयोः (१।१८ ऋ० प्रा०)
३. औकारं युग्मयोः (१।१९ ऋ० प्रा०)
४. समानाक्षरमन्तःस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् (२।२१ ऋ० प्रा०)
५. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजाः॥ (२।३४ ऋ० प्रा०)

३. भुग्न संधि—ओ या औ के बाद जब अनोष्ठ्य स्वर अ, आ आवे तो ओ, औ का अ, आ हो जाता है और इस अ, आ, तथा अनोष्ठ्य स्वर के मध्य व् का आगम होता है।[१] यथा—

वायो + आयाहि = वायवायाहि

४. पदवृत्ति संधि—ऐ, औ के बाद स्वर-वर्ण हो तो ऐ और औ के स्थान पर 'आ' हो जाता है।[२] यथा—

अन्तवै + उ = अन्तवा उ
उभौ + उ = उभा उ

५. उद्ग्राह संधि—ए या ओ के बाद जब कोई स्वर आवे तो ए और ओ के स्थान पर 'अ' होता है।[३] यथा—

यो + इन्द्रः = य इन्द्रः
अग्ने + इन्द्रः = अग्न इन्द्रः
वायो + उक्थेभिः = वाय उक्थेभिः

६. उद्ग्राहपदवृत्ति संधि—जब उद्ग्राह संधि की दशा में ए, ओ के बाद कोई दीर्घ स्वर आवे तो उसके स्थान पर 'अ' हो जाता है।[४] यथा—

के + ईषते = क ईषते
तिरन्तो + आयुः = तिरन्त आयुः

७. उद्ग्राहवत् संधि—अ, आ के बाद जब ऋ आवे तो अ, आ के स्थान पर 'अ' हो जाता है।[५] यथा—

प्र + ऋभुभ्यः = प्र ऋभुभ्यः
मधुना + ऋतस्य = मधुन ऋतस्य

८. प्रगृहीतपद संधि—संधि की दशा में भी संधि न होने को प्रकृति-भाव कहते हैं। प्रकृतिभाव का सरलार्थ है—यथा स्थिति, (अविकृत)।

(i) इति—शब्द परे रहने पर प्रगृह्य स्वरवर्ण प्रकृति-भाव से रहते हैं अर्थात् प्रगृह्य स्वरों की 'इति' के इकार के साथ संधि नहीं होती।[६] यथा—

---

१. ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः (२।३१ ऋ० प्रा०)
२. उत्तमौ च द्वौ स्वरौ, ताः पदवृत्तयः (२।२४,२५,२६ ऋ० प्रा०)
३. पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरौ, त उद्ग्राहाः (२।२८,२९ ऋ० प्रा०)
४. दीर्घपरा उद्ग्राहपदवृत्तयः (२।३० ऋ० प्रा०)
५. ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत् (२।३२ ऋ० प्रा०)
६. प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्याः (२।५१ ऋ० प्रा०)

ॐ इति । प्रो इति । इन्दो इति । विष्णो इति । अस्मे इन्द्रा बृहस्पती ।

व्यञ्जनसंधि—ये ४ प्रकार की होती हैं। यथा—दो स्वर वर्णों के मध्य, दो व्यञ्जनवर्णों के मध्य, व्यञ्जनवर्ण और स्वर वर्ण के मध्य, और स्वर वर्ण एवं व्यञ्जन वर्ण के मध्य।[1] व्यञ्जन वर्ण और स्वर वर्ण के मध्य प्रतिलोमा अन्वक्षर संधि होती है तथा स्वर वर्ण और व्यंजन वर्ण के मध्य अनुलोमा अन्वक्षर संधि होती है।

(i) अनुलोमा अन्वक्षर संधि—एषः, स्यः, सः, अथवा स्वरवर्ण जब पूर्व में होते हैं और यदि व्यञ्जन वर्ण इनके बाद में हो तो अनुलोमा अन्वक्षर संधि होती है।[2] यथा—

एषः + देवः + अमर्त्यः = एष देवो अमर्त्यः
उत + स्यः + वाजी = उत स्य वाजी
सः + सुतः + पीतये = स सुतः पीतये

(ii) प्रतिलोमा अन्वक्षर संधि—स्वर-वर्ण और व्यञ्जन-वर्ण का विपर्यय होने पर अर्थात् व्यञ्जनवर्ण पूर्व में और स्वर-वर्ण बाद में होने पर प्रतिलोमा अन्वक्षर संधि होती है।[3]—इस संधि में वर्गों के प्रथम वर्ण को अपने वर्ग के तृतीय वर्ण में परिवर्तित किया जाता है।[4] यथा—

अर्वाक् + आ + वर्तय + हरी इति = अर्वागा वर्तया हरी ।
हव्यऽवाट् + अग्निः = हव्यवाड्ग्निः ।
यत् + अङ्ग + दाशुषे = यदङ्ग दाशुषे ।
त्रिष्टुप् + इह = त्रिष्टुबिह ।
दानम् + ईमहे = दानमीमहे ।

२—अवशङ्गम संधि—जब स्पर्श वर्ण 'क् से म् तक' पदादि हों और पदान्त में कोई भी व्यञ्जन हो तो वहाँ 'अवशङ्गम संधि' होती है। इस संधि

---

१. चतुः प्रकाराः संधयो भवन्ति । तद्यथा—द्वयोः स्वरयोः, द्वयोर्व्यञ्जनयोः व्यञ्जनस्वरयोः, स्वरव्यञ्जनयोरिति । (२।८, उ० भा० ऋ० प्रा०)

२. एष स्य स च स्वराश्च पूर्वे
भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदैभ्यः
तेऽन्वक्षरसंधयोऽनुलोमाः । (२।८ ऋ० प्रा०)

३. प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव ।

४. तत्र प्रथमास्तृतीयभावं प्रतिलोमेषु निमन्ति । (२।९,१० ऋ० प्रा०)

में दोनों व्यञ्जनों का कोई परिवर्तन नहीं होता।[1] यथा—

आरैक् + पन्थाम् + यातवे = अरैक्पन्थां यातवे।
वषट् + ते = वषट् ते।
यत् + पत्ये = यत्पत्ये।
इमम् + मे = इमम्मे।

३—वशङ्गम संधि—सघोष व्यञ्जन के परे होने पर प्रत्येक वर्ग का प्रथम 'स्पर्श' अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है[2] ये सघोष (प्रत्येक वर्ग का तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण और ह् य् व् र् ल्) हैं। यथा—

यत् + वाक् + वदति = यद्वाग्वदति।
षट् + भिः = षड्भिः।

(ii) वर्ग के प्रथम व्यञ्जनों (क् च् ट् त् प्) को उसी वर्ग का पञ्चम व्यञ्जन (ङ् ञ् ण् न् म्) कर देते हैं, जब कि उनके बाद किसी वर्ग का पञ्चम वर्ण आवे।[3] यथा—

अर्वाक् + नराः = अर्वाङ्नराः।
तत् + नः = तन्नः।
बट् + महान् = बण्महान्।

(iii) शाकल्य के पिता के मतानुसार सभी स्पर्श वर्णों के बाद में आनेवाला शकार, छकार हो जाता है।[4] यथा—

विपाट् + शुतुद्री = विपाट् छुतुद्री।
अर्वाक् + शफाविव = अर्वाक्छपाविव।

४—परिपन्न-वशङ्गम-संधि—म् के बाद जब र् या ऊष्म वर्ण (श् ष् स् ह) आवे तो म् को अनुस्वार हो जाता है।[5] यथा—

---

1. घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान् (४।२ ऋ० प्रा०)
2. स्पर्शाः पूर्वे व्यञ्जनान्युत्तराण्यास्थापितानामवशंगमं तत् (४।१ ऋ० प्रा०)
3. उत्तमानुत्तमेषूदयेषु (४।३ ऋ० प्रा०)
4. सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम् (४।४ ऋ० प्रा०)
5. रेफोष्मणोरूदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः (४।१५ ऋ० प्रा०)

होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम ।
त्वाम् + ह = त्वां ह ।
वृषभम् + शण्डिकानाम् = वृषभं शण्डिकानाम् ।
सूनुम् + सहसः = सूनुं सहसः ।

५—अन्तः पात संधि—यदि ङ् के बाद कोई अघोष ऊष्म वर्ण आवे, तो क्कार, ट् और न् के बाद जब स् आवे तो त् कार, और ञकार के बाद शकार आवे तो चकार होता है ।[1] यथा—

अर्वाङ् + शश्वतम् = अर्वाङ्क्छश्वतम् ।
प्रत्यङ् + स विश्वः = प्रत्यङ्क्स विश्वः ।
अप्राट् + स = अप्राट्त्स ।
तान् + सम् = तान्त्सम् ।
वज्रिञ् + श्नथिहि = वज्रिञ्छ्नथिहि ।

विसर्ग संधि—विसर्ग संधि दो अवस्थाओं में होती है ।

(१) विसर्जनीय पदान्त हो तथा कोई स्वर-वर्ण पदादि हो (२) विसर्जनीय पदान्त हो तथा कोई व्यञ्जन वर्ण पदादि हो ।

१—पदवृत्ति संधि— अरिफित विसर्जनीय के पूर्व दीर्घ स्वर हो और बाद में कोई स्वर आवे तो विसर्जनीय को उपधा के साथ 'आ' हो जाता है ।[2] यथा—

याः + ओषधीः = या ओषधीः ।

२—उद्ग्राह संधि—जब अरिफित विसर्जनीय के पहले ह्रस्व स्वर हो और बाद में भी स्वर आवे तो विसर्जनीय को उपधा सहित 'अ' हो जाता है ।[3] यथा—

यः + इन्द्रः = य इन्द्रः

---

१. ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम्, टकारनकारयोस्तु । आहुः सकारोदयोस्तकारम्, ञकारे शकारपरे च तकारम्, तेऽन्तः पातः । (४।१६, १७, १८, १९ ऋ० प्रा०)

२. विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः आकारम् । (२।२४ ऋ० प्रा०)

३. ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम (२।२७ ऋ० प्रा०)

३—नियत संधि—यदि अरिफित विसर्जनीय के बाद घोष वर्ण आवे तो उपधा के साथ विसर्जनीय को 'आ' हो जाता है।[1] यथा—

पुनाना: + यन्ति = पुनाना यन्ति

४—प्राश्रित संधि—अरिफित विसर्जनीय के पहले यदि ह्रस्व स्वर हो और बाद में घोष व्यञ्जन आवे, तो विसर्ग अपने पूर्व के ह्रस्व स्वर के साथ 'ओ' हो जाता है।[2] यथा—

देव: + देवेभि: = देवो देवेभि:

५—रेफ-संधि—रिफित विसर्जनीय के पूर्व में चाहे 'दीर्घ' स्वर हो अथवा 'ह्रस्व' स्वर हो, वह 'रेफ' हो जाता है यदि बाद में 'पदादि' स्वर हो या 'सघोष' व्यञ्जन हो।[3] यथा—

प्रात: + अग्निम् = प्रातरग्निम्।
वा: + इत् + मण्डूक: = वारिन्मण्डूक:।
अग्नि: + अस्मि = अग्निरस्मि।
देवी:+अभिष्टये = देवीरभिष्टये।
प्रात: + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा।
अग्नि:+वीरम् = अग्निर्वीरम्।

६—अकाम-संधि—यदि रिफित विसर्ग के बाद 'र्' आवे तो विसर्ग का लोप हो जाता है।[4] यथा—

अश्वा: + रथ: = अश्वा रथ:।
युवो: + रजांसि = युवो रजांसि।

७—व्यापन्न संधि—विसर्जनीय के बाद जब अघोष स्पर्शव्यञ्जन आवे और उसके बाद कोई ऊष्म वर्ण न हो तो विसर्ग उसी स्थान का ऊष्म वर्ण हो जाता है।[5] यथा—

---

१. विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्पर: (४।२४ ऋ० प्रा०)
२. ओकारं ह्रस्वपूर्व: (४।२५ ऋ० प्रा०)
३. सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफ संधय:।
(४।२७ ऋ० प्रा०)
४. रेफोदयो लुप्यते। (४।२८ ऋ० प्रा०)
५. अघोषेरेफ्यरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे तत्स्थानमनूष्मपरे।
(४।३१ ऋ० प्रा०)

ऋषिः + को = ऋषि ◡ को विप्र ।

यः + ककुभः = य ◡ ककुभः ।

अग्निः + च = अग्निश्च ।

देवाः + तम् = देवास्तम् ।

वायुः + पूषा = वायु ◡ पूषा ।

८—अन्वक्षरवक्त्र संधि—यदि पदादि 'ऊष्म' वर्ण हो तथा पदादि 'उष्म' वर्ण के बाद में 'अघोष' व्यञ्जन हो तो पदान्त विसर्जनीय का लोप हो जाता है।[1] यथा —

समुद्रः + स्थः + कलशः = समुद्रस्थः कलशः ।

९—उपाचरित संधि—पदान्त विसर्जनीय के ठीक पूर्व अ या आ से भिन्न 'स्वर' हो और बाद में पदादि ककार या पकार हो तो वह पदान्त विसर्जनीय 'षकार' हो जाता है, किन्तु यदि पदान्त विसर्जनीय से ठीक पूर्व अ या आ हो और बाद में पदादि ककार या पकार हो तो विसर्जनीय सकार हो जाता है।[2] यथा—

निः + कृतिः = निष्कृतिः ।

शश्वतः + कः = शश्वतस्कः ।

यः + पतिः = यस्पतिः ।

(ii) पाद के मध्य में, विग्रह में, अकार के बाद में आनेवाला विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि बाद में दो अक्षरोंवाला पुंल्लिगवाची 'पति' शब्द हो।[3] यथा—

ब्रह्मणः + पते = ब्रह्मणस्पते ।

(iii) करम्, कृतम्, कृधि, करत् और कः ये बाद में हो तो, अकार से बाद में आने वाला विसर्जनीय सकार हो जाता है।[4] यथा—

---

१. ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नतेऽपि, सोऽन्वक्षरसंधिर्वक्त्रः ।
(४।३६,३७ ऋ० प्रा०)

२. यथादिष्टं नामिपूर्वः षकारं, सकारमन्योऽरिफितः ककारे ।
पकारे च प्रत्ययेऽन्तः पदं तु, सर्वत्रैवोपाचरितः स संधिः ॥
(४।४१ ऋ० प्रा०)

३. अन्तः पादं विग्रहेऽकारपूर्वः पतिशब्दे द्व्यक्षरे पुंस्प्रवादे ॥
(४।४२ ऋ० प्रा०)

४. करं कृतं कृधि करत्करित्यपि परेषु (४।४३ ऋ० प्रा०)

सहः + करम् = सहस्करम् ।

नः + कृतम् = नस्कृतम् ।

णः + कृधि = णस्कृधि ।

वस्यसः + करत् वस्यस्करत् ।

शश्वतः + कः = शश्वतस्कः ।

(i) नकार-विकार—पूर्वपद्यान्त या पदान्त नकार का लोप हो जाता है, यदि नकार के पूर्व अकार हो, अथवा नकार के बाद में पदादि 'स्वर-वर्ण' हो या पदादि नकार पादमध्य में हो ।[1] यथा—

सर्गान् + इव + सृजतम् = सर्गां इव सृजतम् ।

महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः ।

तया + इह + विश्वान् + अवसे = तयेह विश्वाँ अवसे ।

(ii) पाद के अन्त में आने पर अधोलिखित पदों के नकार लुप्त हो जाते हैं—'अज्रान्, जग्रसानान्, जघन्वान्, देवहूतमान्, बद्बधानान्, इन्द्रसोमान्, तृषाणान्, नो देव देवान्, और हन्तदेवान् ।[2] यथा—

अज्रान्—आ + सूर्यः + बृहतः + तिष्ठत् + अज्रान् = आसूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु ।

जग्रसानान्—सृजः + सिन्धून् + अहिना = सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आत् ।

जघन्वान्—जघन्वान् + अत्यान्इव = जघन्वाँ अत्याँइव ।

देवहूतमान्—देवहूतमान् + अश्वान् = देवहूतमाँ अश्वान् ।

बद्बधानान्—त्वम् + उत्सान् + ऋतुभिः + बद्बधानान् + अरंहः = त्वमुत्साँऋतुभिर्बद्बधानाँ अरंहः ।

इन्द्रसोमान्—यथा + अपिबः पूर्व्यान् + इन्द्रसोमान् + एव = यथापिबः पूर्व्यां इन्द्रसोमाँएव ।

---

१. नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः लुप्यते ।

(४।६५ ऋ० प्रा०)

२. अज्राञ्जग्रसाञ्जघन्वान्देवहूतमान् । बद्बधानां इन्द्र । सोमांस्तृषाणान्नो देव देवान् । हन्त देवाँ इति च ॥

(४।६६ ऋ० प्रा०)

तृषाणान्—धन्वानि + अज्रान् + अपृणक्+तृषाणान् अधोक् = धन्वान्यज्राँ अपृणक्तृषाणाँ अधोक् ।

नो देव देवान्—नः + देव + देवान् + अच्छ = नो देव देवाँ अच्छ ।

हन्त देवान्—हन्त + देवान् + ईळामहे = हन्त देवाँ ईळामहे ।

(iii) 'न्' के पूर्व जब ई, उ हो, बाद में हतम्, योनौ, वचोभिः, यान्, युवन्यून, वनिषीष्ट, शब्द या कोई स्वर हो तो न् को 'र्' हो जाता है ।[1] यथा—

उत्पणीन् + हतम् = उत्पणीँर्हतम् ।
दस्यून् + योनौ = दस्यूँर्योनौ ।
पणीन् + वचोभिः = पणीँर्वचोभिः ।
सखीन् + यान् = सखीँर्यान् ।
रश्मीन् + इव = रश्मीँरिव ।
सूनून् + युवन्यून् = सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः ।

(iv) 'न' के पहले जब दीर्घ स्वर हो और बाद में चरति, चक्रे, चमसान्, च, चो, चित्, चरसि, च्यौत्नः, चतुरः, चिकित्वान्, शब्द हों तो 'न' को विसर्ग के समान समझना चाहिये ।[2] यथा—

महान् + चरति = महाँश्चरति ।
तान् + चक्रे = ताँश्चक्रे ।
तान् + ते = ताँस्ते ।
सर्वान् + तान् = सर्वाँस्तान् ।
देवान् + त्वम् = देवाँस्त्वम् ।
तान् + त्रायस्व—ताँस्त्रायस्व ।
अवदन् + त्वम् = अवदँस्त्वम् ।

संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के रूप—लौकिक संस्कृत भाषा के समान वैदिक संस्कृत में भी संज्ञा एवं सर्वनाम शब्दों के रूप तीन लिङ्गों (पुंलिङ्ग,

---

१. हतं योनौ वचोभिर्यान्युवन्यूँर्वनिषीष्टेति ।
ईकारोकारोपाहतो रेफमेषु स्वरेषु च ॥ (४।६६,७० ऋ० प्रा०)

२. चरति चक्रे चमसाँश्च चो चिच्
चरसि च्यौत्नश्चतुरश्चिकित्वान् ।
एतेषु सर्वत्र विसर्जनीयवद्दीर्घोपधः ॥ (४।४ ऋ० प्रा०)

स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) और तीन वचनों (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) में होते हैं। इसमें भी कारक ६ और ७ विभक्तियाँ होती है। वैदिक शब्दरूपों में अनेक स्थलों पर एक ही विभक्ति के अनेक रूप होते हैं। प्रस्तुत विवरण में तत्तत् स्थलों का निर्देश किया जा रहा है—

अकारान्तपुंल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन के रूपों में आ, या औ होता है (प्रिया, प्रियौ)।

प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के अन्त में आः और आसः दोनों ही होते हैं, जैसे—प्रियाः, प्रियासः।

तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' या 'एन' होता है—प्रिया, प्रियेण।

तृतीया बहुवचन के अन्त में ऐः, एभिः होता है। प्रियैः, प्रियेभिः। उदाहरणार्थ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'यज्ञ' शब्द—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	यज्ञः	यज्ञा यज्ञौ	यज्ञासः (यज्ञाः)
द्वितीया	यज्ञम्	यज्ञा-यज्ञौ	यज्ञान्
तृतीया	यज्ञेन (यज्ञेना-यज्ञा)	यज्ञाभ्यां	यज्ञेभिः (यज्ञैः)
चतुर्थी	यज्ञाय	यज्ञाभ्यां	यज्ञेभ्यः
पञ्चमी	यज्ञात्	यज्ञाभ्यां	यज्ञेभ्यः
षष्ठी	यज्ञस्य	यज्ञयोः	यज्ञानाम्
सप्तमी	यज्ञे	यज्ञयोः	यज्ञेषु
सम्बोधन	यज्ञः	यज्ञौ	यज्ञासः

अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के प्रथमा और द्वितीया में बहुवचन के अन्त में 'आ' या 'आनि' होता है।

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रथमा तथा सम्बोधन के बहुवचन के अन्त में 'आः' होता है और कभी 'आसः' भी होता है। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है अथवा कोई विभक्ति चिह्न नहीं होता। उपर्युक्त परिवर्तन स्थलों को प्रस्तुत उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है—

आकारान्तस्त्रीलिङ्ग 'मनीषा'

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मनीषा	मनीषे	मनीषाः (मनीषासः)
द्वितीया	मनीषां	मनीषे	मनीषा
तृतीया	मनीषया (मनीषा)	मनीषाभ्यां	मनीषाभिः

अन्य विभक्तियों के रूप लौकिक संस्कृत के समान ही होते है।

इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' और 'ना' होते हैं—'अग्निना (अग्नया)। सप्तमी एकवचन के अन्त में 'आ' या 'औ' होता है 'अग्नौ, अग्ना'।

इकारान्तस्त्रीलिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है, अथवा कोई चिह्न नहीं होता है ! जैसे–शुच्या, शुची, । चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी के एकवचन में पुल्लिगके समान ही रूप होते है ; चतुर्थी के एकवचन में 'ऐ' और 'आः' भी पाया जाता है 'भृत्यै', भृत्याः ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में प्रथमा, द्वितीया, सम्बोधन के द्विवचन में प्रायः प्रत्यय नहीं देखा जाता। तथा प्रथमा, द्वितीया एवं सम्बोधन के द्विवचन के अन्त में विसर्ग होता है।

उपर्युक्त परिवर्तनों को अधोलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है–

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग = 'गौरी' शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	गौरी	गौरी (गौर्यौ)	गौरीः (गौर्यः)
द्वितीया	गौरीं	गौरी (गौर्यौ)	गौरीः
तृतीया	गौर्या (गौरी)	गौरीभ्यां	गौरीभिः
चतुर्थी	गौर्यै	गौरीभ्यां	गौरीभ्यः
पञ्चमी	गौर्याः	गौरीभ्यां	गौरीभ्यः
षष्ठी	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणां
सप्तमी	गौरी (गौर्यां)	गौर्योः	गौरीषु
सं०	गौरी	गौरी	गौरीः

ऋग्वेद में ईकारान्त षष्ठी, पञ्चमी के एकवचन विरल ही प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणों में इन स्थानों पर चतुर्थी एकवचन का ही रूप प्राप्त होता है—यथा–स्त्रियै पयः। सर्वनाम 'अस्मद्' एवं 'युष्मद्' शब्दों के रूपों में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं, जिन्हें उनके रूपों से समझा जा सकता है—

'अस्मद्'

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	अह्	आवां	वयम्
द्वितीया	माम् (मा)	आवां–नौ	अस्मान्,–नः
तृतीया	मया	आवाभ्यां	अस्माभिः

चतुर्थी	मह्यं–मे	आवाभ्यां–नौ	अस्मभ्यं (अस्मे)–नः
पञ्चमी	मत्	आवाभ्यां	अस्मत्
षष्ठी	मम–मे	आवयोः–नौ	अस्माकं,–नः
सप्तमी	मयि	आवयोः	अस्मासु (अस्मे)

'युष्मद्'

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	त्वं	युवाम्	यूयम्
द्वितीया	त्वा (त्वां)	युवाम्	युष्मान, वः
तृतीया	त्वया (त्वा)	युवाभ्याम् (युवभ्यां)	युष्माभिः
चतुर्थी	तुभ्यं–ते	युवाभ्याम्–वाम्	युष्मभ्यम्–वः
पञ्चमी	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
षष्ठी	तव,–ते	युवयोः (युवोः)	युष्माकं–वः
सप्तमी	त्वयि (त्वे)	युवयोः (युवोः)	युष्मासु,–युष्मे

वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा लकारों के रूप अधिक पाये जाते हैं। वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के नौ लकारों के अतिरिक्त 'लेट्' लकार का प्रयोग होता है। (दशलकारेषु पञ्चमो लकारः (लेट्) छन्दोमात्र गोचरः) लिङर्थे लेट् (अष्टा० ३।१।७) अर्थात् लेट् का प्रयोग लिङ् के अर्थों में भी होता है। विधि, निमन्त्रण आदि अर्थों में वैदिक भाषा में लिङ और लेट् दोनों का प्रयोग होता है। उपसंवाद, परिभाषण, आशंका इत्यादि अर्थों में भी लेट् का प्रयोग होता है (उपसंवादाशङ्कयोश्च-३।१।८)।

लेट् लकार में धातु के अनेक विकार-रूप बनते हैं। धातु के बाद 'इस्' आने पर उसका इष् हो जाता है। जैसे—ज्योतिषषत्, तारिषत् इत्यादि। जब 'इस्' नहीं आता तब पताति, भवाति इत्यादि रूप पर्याय से बनते हैं (अष्टा० ३।४।९४)।

लेट् लकार में प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष के द्विवचन में प्रत्यय के 'आ' को 'ऐ' हो जाता है। यथा—आतां=ऐतां, आथां = ऐथाम्। मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे, (आत ऐ ३।४।९५)।

लेट् के उत्तम पुरुष के रूप में पद के अन्त के विसर्ग का विकल्प से लोप होता हैं (स उत्तमस्य ३।४।९८)।

लेट् लकार का प्रयोगबाहुल्य होने के कारण उसके प्रत्ययों को अधोलिखितानुसार समझना चाहिये—

	परस्मैपद				आत्मनेपद		
	ए०	द्वि०	ब०		ए०	द्वि०	ब०
प्र०	अत् अति	अतस्	अन्	प्र०	आतै अते	ऐते	अन्ते अन्त आन्तै
म०	असि	अथस्	अथ	म०	आसै	ऐथे	अध्वे आध्वै
उ०	आनि	आव	आम	उ०	ऐ	आवहै आवहे	आमहै आमहे

रूपावलि

	ए०	द्वि०	ब०	ए०	द्वि०	ब०
प्र०	भवात् भवाति	भवात:	भवान्	एधातै एधाते	एधैते	एधान्ते एधान्तै
म०	भवा: भवासि	भवाथ:	भवाथ	एधासे एधासै	एधैथे	एधाध्वे एधाध्वै
उ०	भवानि भवा	भवाव	भवाम	एधै	एधावहै एधावहे	एधामहै एधामहे

प्रकृत प्रसंग में विशेष लकार 'लेट्' के ही विषय में विचार किया गया है, शेष को तत्सम्बन्धि ग्रन्थों से देखलेना चाहिये।

कृदन्त—वैदिक भाषा में जैसे 'लेट्' का वैशिष्टय है उसी प्रकार 'क्त्वा' प्रत्यय के प्रयोग का भी है। वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के विपरीत सोपसर्ग धातु से भी 'क्त्वा' प्रत्यय किया जाता है (क्त्वापि च्छन्दसि ७।१।३८) यथा—यजमानं परिधापयित्वा।

क्वचित् 'क्त्वा' को 'यक्' आगम भी बताया हैं। जिसे देखकर 'ल्यप् और क्त्वा' प्रत्ययों के संमिश्रण का स्मरण हो आता है (क्त्वोयक् ७।१।४७) यथा—दत्वाय, गत्वाय।

तुमर्थक प्रत्यय—

तुमर्थक प्रत्यय धातुओं से बने संज्ञा शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी के रूप हैं। तुमर्थ धातु से अधोलिखित प्रत्यय चतुर्थ्यन्तपदवाच्य होते हैं यथा—

वक्षे राय:—वच् + से—वक्तुम्

ता वामेषे—इ + सेन् = एतम्

शरदोजीवसेधाः—जीव् + असे = जीवितुम्

प्रेषे भगाय—इ + क्से = प्रैतुम्

गवामिव श्रियसे—श्रि + कसेन् = श्रयितुम्

कर्मण्युपाचरध्यै—उपाचर + अध्यै = उपाचरितुम्

इन्द्राग्नी आहुवध्यै—आहु + कध्यै = आहोतुम्

वायवे पिबध्यै—पा + शध्यै—पातुम्

सोममिन्द्राय पातवे—पा + तवै—पातुम्

दशमे मासि सूतवे—सू + तवेङ्—सवितुम्[1]

भाव और कर्म अर्थ में तवै, केन्, केन्य, त्वन् प्रत्यय होते हैं यथा—

न म्लेच्छितवै—म्लेच्छ + तवै ।

अवगाहे—गाहू + केन् ।

दिदृक्षेण्यः—सन्नन्त दृश् + केन्य ।

कर्त्वम्—कृ + त्वन् ।[2]



१. तुमर्थे से-सेनसेऽसेन्-क्से-कसेनध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवै-तवेङ् तवेनः (अष्टा० ३।४।९)

२. कृत्यार्थे तवै-केन-केन्य-त्वनः (अष्टा० ३।४।१४)

उपसंहार

इतिहास क्या है ? इस प्रश्न ने समस्त मानव मनीषा को उद्वेलित एवं सशंकित कर रखा है। अद्ययावत् वैदेशिक विपश्चित् 'इतिहास' शब्द को परिभाषित नहीं कर पाये हैं। वैसे तो अनुसंधित्सुओं ने 'इतिहास' को अपने चिंतन का विषय बनाया ही है, परन्तु चिन्तन की धारा अंग-विशेष-परक प्रतीत होती है, या फिर अर्थविषयक अस्पष्ट विवरण पाठक को प्राप्त होता है, जो भ्रान्त धारणा को जन्म देता है।

यूनानी भाषा में इतिहास (History) 'जिज्ञासा' अर्थ का वाचक है। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक 'वाल्टेयर' के अनुसार—'मनुष्य की मानसिक शक्ति का वर्णन ही इतिहास है।'…शासकों का वर्णन ही इतिहास नहीं है किन्तु 'मनुष्य जंगली से सभ्य कैसे हुआ' इस विकास का वर्णन ही इतिहास है।

प्रसिद्ध लेखिका 'ब्यूरी जैसी' का मत है—'इतिहास एक विज्ञान है' 'हीगेल' के अनुसार, 'इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने देता है। उनका फल वही होता है, जो ईश्वर चाहता है।'

जर्मन इतिहासकारों के अनुसार—'जर्मनी के जंगलों, पहाडों, नदियों तथा जर्मन वीर-गाथाओं का गौरवपूर्ण वर्णन ही इतिहास है।'

कुछ लोगों का मत है कि 'इतिहास अपने को दोहराता है' जबकि कतिपय विद्वान् प्राचीन घटनाओं की पुनरावृत्ति का होना असम्भव कहते हैं।

'मेर' के अनुसार—'सार्वजनिक घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन ही इतिहास है।'

'लॉर्ड एक्टन' का कहना है कि 'विश्व का इतिहास राष्ट्रों के इतिहास का संग्रह नहीं, किन्तु वह लगातार विकास है। यह स्मरण शक्ति हेतु भारभूत न होकर आत्मा के हेतु प्रकाश है।'

'मि० बेन मिलर' का कथन है कि—'आँखों देखी घटना भी ठीक नहीं बतायी जा सकती। दो आदमी उसे भिन्न रूप से देखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना पृथक् ही होती है। पत्रों; सरकारी लेखों में भी भाव बदल

जाते हैं, फिर हजारों वर्ष पुराने इतिहास का वर्णन सत्य कैसे हो सकता है ?[१]

उपर्युक्त विवरणों से इतिहास विषयक धारणा स्पष्ट नहीं हो सकती।

भारतीय चिन्तन परम्परा ने इतिहास को क्रियाशील माना है। इस विषयपर दुर्गाचार्य ने निरुक्त २–१० की वृत्ति में कहा है कि 'इस प्रकार घटित हुआ, ऐसा जिसमें कथित हो, वह इतिहास है—

॥ इति हैवमासीदिति यः कथ्यते स इतिहासः ॥[२]

रामायण महाभारत आदि आर्ष इतिहास के लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि प्रत्यक्षानुमान या संवाददाताओं के तारों, पत्रों के आधार पर नहीं, किन्तु समाधि जन्य ऋतम्भराप्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संलग्न हुए थे। वैदिक सरणि के अनुसार वेदार्थ ज्ञान में इतिहास पुराण का अत्यधिक महत्त्व है—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्, पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंवेतिहासः ।[३]

ब्रह्मादिपुराण, रामायण, महाभारतादि इतिहास, बृहत्कथादि-आख्यायिका, मनु-याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र, औशनस, बार्हस्पत्यादि अर्थ-शास्त्र ये सभी कौटिल्य के अनुसार 'इतिहास' हैं। 'शुक्र' के मतानुसार—किसी राजचरित्र वर्णन के व्याज से प्राचीन घटनाओं का वर्णन ही 'इतिहास' है—

प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः ।
यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि ॥[४]

इतिहास के साथ पुराणों का सम्बन्ध भी अनिवार्य है, क्योंकि पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रजापतियों के बाद की सृष्टि), वंश (फल) मन्वन्तर (प्रत्येक मनु के अधिकार का समय), वंशानुचरित (कुलवृत्त) का वर्णन विशेष रूप से होता है।

---

१. विदेशी विचारकों के संकेत 'करपात्री एक अध्ययन' से संगृहीत हैं। खण्ड १८, पृ० ७१

२. नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती (भाग १, श्लो० १५ पृ० १३)

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र (१।५।१४)

४. शुक्रनीति (४।२९३)

इतिहास केवल घटनाओं का संकीर्तन मात्र हो, तब तो केवल गड़े मुर्दों के उखाड़ने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता। उसके द्वारा तो धर्म, अर्थ काम एवं मोक्षोपदेश अत्यावश्यक है। इस तरह का कथायुक्त वृत्त ही 'इतिहास' है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पुरावृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥[1]

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेशों से समन्वित कथायुक्त पूर्ववृत्त का वर्णन ही 'इतिहास' है। मानवजाति की प्रगति ऐतिहासिक क्रम से इसी प्रकार होती रही है।

कुछ विपश्चित् कहते हैं कि भारतीयों का इतिहास नहीं था, परन्तु वास्तविकता यह है कि पाश्चात्यों के द्वारा लिखा हुआ प्रामाणिक-शिक्षाप्रद, एवं क्रमबद्ध कोई इतिहास नहीं है, वे छः हजार वर्षों से पूर्व का कुछ जानते, मानते नहीं, केवल 'ईसा के पूर्व और ईसा के बाद' इस परिधि में ही ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक काल का विभाजन करते रहते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि रामायण, महाभारत कोई इतिहास नहीं है, भारतीय इतिहास झूठे हैं, वे वास्तव में यह भी नहीं समझते कि 'इतिहास' होता क्या है? उदाहरणतः इसे इस प्रकार समझा जा सकता है— जैसे महापालिका में मच्छरों के जन्म-मृत्यु का लेखा जोखा नहीं होता, अपितु मनुष्यों का लेखा जोखा रखा जाता है। क्योंकि मच्छरों का अथवा कीटों का लेखा जोखा रखना व्यर्थ (निष्प्रयोजन) होगा। इसी प्रकार समस्त व्यक्तियों की घटनाओं को इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सकता। आर्यावर्त का इतिहास तो दो अरब या उससे भी अधिक वर्षों का है, इसे कब पढ़ा जाता? इस हेतु निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि अतीत की घटनाओं से भविष्य के हेतु आदर्शस्थापित करना ही इतिहास है। अतीत की समस्त घटनाओं से शिक्षा-प्रेरणा ही प्राप्त होती हो, ऐसा भी नहीं है।

इतिहास—आचरण में, व्यवहार में प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह संविधान नहीं है, बुरे दिनों का इतिहास बुरा और अच्छे दिनों का इतिहास अच्छा होता है। अतः वह आचरण में प्रमाण नहीं हो सकता। जैसे यादवों ने मदिरा-पान किया, युधिष्ठिर ने द्यूत-क्रीडा की, द्रौपदी के पांच पति थे—ये घटनाएँ आचरण में प्रमाण नहीं है। ऐतिहासिक होने पर भी इनका विधान नहीं किया जा सकता। विधि अथवा संविधान ही

---

१. विष्णुपुराण, श्रीधरस्वामीकृत टीका (भा० सं० को० पृ० ५४६ भा० १)

आचरण में प्रमाण होता है। रावणादि की घटनाएँ अतीत में घटी तो उससे निष्कर्ष यही निकलता है कि 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' राम आदि के तुल्य आचरण करना श्रेयस्कर है न रावणादि के समान। वस्तुतः इतिहास तो ईश्वरावतार, महापुरूषों को निमित्त बनाकर तत्तत् परिस्थितियों का चित्रण करता है।

आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वान वेदों में वर्णित नगरों, पर्वतों, राजाओं इत्यादि का वर्णन देखकर, स्वयं के मत को सिद्धान्तरूप से प्रतिपादित करते हैं कि वेदों की रचना तत्तत् नगरों, पर्वतों एवं राजाओं के बाद में हुई है।

परन्तु उपर्युक्त चिंतन; आर्यावर्त जैसे अध्यात्मशक्ति से सम्पन्न देश की प्रकृति से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वत्र तो घटनानुसार इतिहास लिखा जाता है, किन्तु भारत में तो इतिहासानुसार घटनाएँ घटित होती हैं। लोक में तो पदार्थ के अनुकूल शब्दों का व्यवहार होता है, परन्तु महर्षियों के शब्दों के अनुसार पदार्थ बनते हैं। परमार्थरूपेण प्रथमतः ईश्वर वैदिक-शब्दों द्वारा ज्ञान सम्पादन करता है, प्रथम—इच्छा करता है, तदनन्तर क्रिया शक्ति के द्वारा विश्व का निर्माण करता है। अन्य तथ्य यह भी है कि प्राप्त सूचनाओं के आधार पर लिखित इतिहास प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि संवाददाताओं के प्रेषित समाचारों में भेद देखा जाता है, चूँकि बहिर्मुख वृत्ति से पूर्ण रूपेण वस्तुस्थिति के परिज्ञान का होना असम्भव है, उसके लिये तो समाधि आवश्यक है। महर्षियों ने ऋतम्भराप्रज्ञा द्वारा चरित्रदर्शन करके ही इतिहास—लेखन किया है। हसित, भाषित, इंगित, चेष्टित, व्यवहृत इत्यादि को प्रतिक्षण अपनी समाधि प्रज्ञा से जान कर ही महर्षि इतिहास-लेखन में प्रवृत्त हुए थे। अतीतकाल के ज्ञान हेतु आप्त-वचन ही प्रमाण होते हैं। निष्काम निःस्पृह महर्षियों से बढकर आप्त-वचन किसके हो सकते हैं? यदि आधुनिक व्यक्तियों के इतिहासों को प्रमाण कहा जाता है तो आर्य-इतिहास प्रमाण क्यों नहीं हो सकते?

वर्तमान में प्रचलित इतिहास, दुर्भावना-ग्रसित होकर लिखे गए हैं। किसी जाति का अथवा राष्ट्र का गौरव और स्वाभिमान नष्ट करने हेतु उसके इतिहास और संस्कृति पर अविश्वास पैदा कर देना विजेता की सबसे बडी सफलता होती है। 'शत्रु के महत्त्व और अपने पूर्वजों का अपकर्ष श्रवण करने से मानव का तेजोवध होता है।' कूटनीतिज्ञों ने इस नीति-सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए मनगढ़न्त, कपोल-कल्पित

इतिहास बनाकर भारतीयों की भावनाओं को निर्बल बना डाला। हितैषिता के छद्म से भारतीयों को शिक्षित करने के दायित्व को बलात् हस्तगत करके प्रचारित करना प्रारम्भ किया कि 'भारतीय इतिहास मिथ्या हैं। उनके उच्छिष्ट प्रसाद को ग्रहण करके भारतीय भी उन्हीं गुरूओं के मतों का प्रचार करने लगे। अपनी विद्वत्ता के दुरुपयोग में उनसे भी बढ़कर अपने शास्त्रों, संस्कृतियों एवं पूर्वजों की समालोचना करने लगे। अपनी संस्कृति अपने इतिहास एवं तत्पोषक शास्त्रों के प्रति अविश्वास और घृणा उत्पादन करने का भार इन्होंने अपने हाथ में ले लिया। विदेशी कूटनीतिज्ञ जैसा चाहने लगे, भारतीयों में भी तदनुसार विचार शैली पनपने लगी। आधुनिक विपश्चितों के बुद्धि-सामर्थ्य पर आश्चर्य हो उठता है कि 'मैक्समूलर' जैसे धूर्त विद्वान् ने समुद्रपार बैठ कर आर्यों के आगमन से लेकर आर्यों की सम्पूर्ण आस्थाओं को मिथ्या सिद्ध कर दिया, और भारतीय-मनीषा, मोहिनी–सम्मोहन के प्रभाव में तदनुसार ही प्रलाप करने लगी। यह दुर्भाग्य है कि लोकमान्य तिलक जैसे महानुभावों ने भी आर्यों को आक्रान्ता मानते हुए उनका उत्तरीध्रुव से आना सिद्ध किया। वस्तुतः आर्यों के आगमन की चर्चा का सूत्रपात्त वैदेशिकों ने किया यह बताना उनका उद्देश्य था। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें ही अपना अस्तित्त्व सिद्ध करना पड़ रहा है। 'आर्यावर्त' यह, देश का नाम ही पर्याप्त प्रमाण है जिससे स्पष्ट है कि 'आर्य' इसी भारत भूमि के जन्मे हुए हैं। यहां पर वे कहीं बाहर से आकर बसे नहीं हैं। इस तथ्य को भूलना 'आत्मघात' करने के समान है। नेहरू एवं गांधी जैसे विचारकों ने भी रामायण, महाभारत आदि को इतिहास मानने में एवं राम, युधिष्ठिर आदि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में संकोच किया है। आज के युग की महती आवश्यकता है कि वर्तमान इतिहास को निरस्त करते हुए वास्तविक इतिहास की शिक्षा दी जाय, तभी स्थूल शरीर की स्वतन्त्रता के साथ प्राणहीन भावना एवं मानसिक-दासता से मुक्त होकर सच्चे अर्थों में भारतीय जनता देशभक्त बन सकेगी।

—प्रस्तुत इतिहास उपर्युक्त विशुद्धभारतीय–सिद्धान्त से अनुप्राणित होकर लिखा गया है।





परिशिष्ट

पुराणेतिहास से अवगत होता है कि सर्वप्रथम चतुर्मुख ब्रह्मदेवने अपौरुषेय वाङ्मयरूप शब्दब्रह्म वेदका स्मरण कर उसे ऋषियोंको पढ़ाया। आदि वेदगुरु ब्रह्मा द्वारा वेदाध्यापन, वेदव्यासद्वारा वेदका विस्तारपूर्वक पैलादि ऋषियोंकी परम्पराकी स्थापना तथा इसी सन्दर्भ में आये भरद्वाज-इन्द्रके संवाद तथा और भी फुटकर रूपमें पाये जाने वाले मिथकोंसे वेदका सर्वांगीण सप्रयोग विस्तार, महत्त्व और उसकी गुरु-शिष्य परम्पराका बोध सहज ही हो जाता है। कुल मिलाकर सिद्ध है कि अनन्तकालसे सिद्धान्त तथा प्रयोगकी यह वैदिकोंकी परम्परा पञ्चविध अभ्यास पद्धतिसे अविच्छिन्न रूपमें आजतक चली आ रही है। इस अति सुदीर्घ परम्पराका व्यवस्थित सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना अतिशय दुःसाध्य है। इसके लिए तो चार-पाँच सहस्र पृष्ठ ही घेरने होंगे। हाँ, सूत्ररूपमें इतना ही कहा जा सकता है कि देवर्षियोंके काल (मोटे तौर पर कृतयुगसे कलिके प्रारम्भ तक) का विवरण पुराणेतिहास के आधारपर समझें, तथा विक्रमसंवत्से लगभग शताब्दि (बीसवीं शताब्दिके) पूर्व तकका विवरण वर्तमान इतिहास, सम्बद्ध निबन्ध ग्रन्थ और देशके विभिन्न राज्योंके दस्तावेजोंके आधारपर तैयार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार लगभग डेढ़सौ वर्षोंकी गतिविधियोंको डॉ० आर० एन० दांडेकरकी 'वैदिक बिब्लोग्राफी', पत्र-पत्रिकाएँ, काशीमें रामघाट स्थित सांगवेद विद्यालयके सचित्र वार्षिक विवरण आदिके आधार पर वर्तमान वैदिकोंके इतिहासको लिखनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

स्वतन्त्रतापूर्व वैदिक, वेदमूर्ति आदि कहलाना अत्यन्त कठिन काम था। तब उपर्युक्त सम्मानसूचक अभिधानोंको स्वीकार करनेकी वही व्यक्ति हिम्मत करता था जो वैदिकोंके सम्मुख बैठकोंमें जाकर कमसे कम शाखा (संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकोपनिषद्) अथवा त्रिपद (संहिता, पद, क्रम) को और दशग्रन्थोंको[1] बिना चूकके कण्ठस्थ सुनाता हो। प्रायः १६ वर्षकी

---

१. शाखाके साथ ही निरुक्त, सूत्र (श्रौत-स्मार्त (गृह्य)-धर्म-शुल्ब), अष्टाध्यायी, और चतुष्टय-(शिक्षा, ज्योतिष, छन्द, निघण्टु)। इन निरुक्तादि सप्त ग्रन्थोंको गाथा कहा जाता था। शिक्षा, कल्प (सूत्र), व्याकरण (अष्टाध्यायी), छन्द, ज्योतिष और निरुक्त को षडङ्ग या वेदाङ्ग कहते हैं।

अवस्थातक उपर्युक्त अध्ययन पूर्ण हो जाता था। इसके पश्चात् विकृतिका अध्ययन होता था। १४वें वर्षमें भी कुछ बालक विकृतिपाठमें पारङ्गत हो जाते थे। पश्चात् ये तैयार वैदिक दूसरे नगरों, राज्योंमें वहांके प्रतिष्ठित वैदिकोंके सम्मुख जाकर सशर्त सुनाते, ललकारते और बिना अशुद्धिके सुनानेपर सम्मानित होते और यदि एकाद स्वर-वर्णकी भी भूल-चूक हो जाय तो स्वयं ही मृत्युतुल्य अपमान समझकर वहीं से सीधे लौट आते थे। यह अध्ययन मात्र बुद्धिगत न होकर मुखोद्गत भी होता था। एतदर्थ शैशवावस्थामें ही उनके अभिभावक संस्कृत श्लोक, पाणिनीय शिक्षा, अष्टाध्यायी आदिको पढ़ाते थे। यज्ञोपवीत होते ही उपा-कर्मके पश्चात् वेदारम्भ हो जाता था। प्रसिद्ध है कि महाराष्ट्रियोंका वेदमन्त्रोच्चार अत्यन्त स्पष्ट, सुस्वर, मधुर अतः सुश्राव्य होता रहा है। पञ्चद्राविड़ेतरोंमें यह विशेषता प्रायः असम्भव है। ब्राह्मण भोजन तथा वसन्तपूजा (जो रातभर भी चलती थी उसे 'चक्री' कहते थे) में मन्त्रजागर होता था। वहीं एकरङ्ग उच्चस्वरमें वैदिक वेद पढ़ते थे। शास्त्री पण्डित ही नहीं प्रत्युत कचहरी रेल, पोस्ट आदि खातोंमें काम करने वाले लोग भी वेद पढ़ते थे तथा सामान्यतः कर्मकाण्डी भी होते ही थे। इतना होते हुए भी वैदिक का स्वतन्त्र क्षेत्र और सम्मान था।

प्रकृत प्रसंग में लगभग १००-१५० वर्ष पूर्वका विशेषकर काशीमें और उससे सम्बद्ध अन्य नगरोंमें जो वैदिक विद्वान हो गये हैं उन्हींका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। विदित हो कि उस समय देशके हिन्दू राज्योंमें ही नहीं प्रत्युत मुसलमानी रियासतोंमें भी वैदिकोंको आश्रय, सम्मान तथा प्रोत्साहन मिलते रहे हैं। काशीमें लगभग पांच सौ वर्षोंसे महाराष्ट्रिय परम्परागत निवास कर रहे हैं तथापि पेशवाओंके समयमें वैदिकोंका चरमोत्कर्ष हुआ था। काशीमें वसन्तपूजा का प्रारम्भ पेशवाओंने ही किया है तथा वेदोत्कर्षार्थ अनेक प्रकारके दान, वर्षासन तथा जागीरें भी दी थीं। पेशवाओंने काशीस्थ पांच मूर्धन्य वैदिकोंको पृथक्-पृथक् १६ सहस्र स्वर्ण मुद्राओंसे सम्मानित किया था। जिसमें तिलक एवं रामदीक्षित फड़के आदि थे। सौ वर्ष पूर्व यहाँ पांचसौ मूर्धन्य वैदिकोंका जमघट था। आजभी काशीमें जो वैदिक वर्तमान हैं उनके लिए यह कहावत---'खण्डर गवाही दे रहा है—इमारत बुलन्द थी' स्पष्टतः चरितार्थ हो रही है।

वेदज्ञाताका तात्पर्य उपर्युक्त कण्ठस्थ किये हुए वैदिकोंसे तो प्रमुखतः है ही। साथ ही इससे सम्बद्ध श्रौत-स्मार्तीय सिद्धान्त तथा प्रयोग ज्ञानसे भी है। इसी प्रकार वेदभाष्य टीका-टिप्पणी, उसकी पद्धतियों, इतिहास

आदिकी जानकारी रखना भी इसके अन्तर्गत माना ही जा सकता है। काशीमें वेदसम्बद्ध सभी गति-विधियाँ चलती रही हैं। इसी प्रकार पुणें, नाशिक, गवालियर आदि अनेक नगरोंमें भी वैदिक विषय गतिशील रहे हैं। यहाँ आगे कुछ विशिष्ट वैदिकोंके साथ वेद पाठशालाओं, श्रौत-स्मार्तियों तथा वेदसे किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध व्यक्तियोंका क्रमवार संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। उनके कालक्रमका अनुमान पाठक पीढ़ियोंके आधारपर समझ लेनेकी कृपा करेंगे।

ऋग्वेद १—सर्व श्री वे० मू० मामा पेण्डशे जी की पाठशाला— यह प्राचीन पाठशाला थी जो पक्के महाल में शीतला घाट के पास रतन फाटक पर स्थित थी। इस पाठशाला के प्रमुख वैदिक शिष्यों में गोपी-नाथ भट आठवले—घनान्त दशग्रन्थी वैदिक थे। छोटी अवस्था में ही इन्होंने प्रणवपूर्वक पद-पारायण, जटापारायण और वृद्धावस्था में घनपारायण भी किया। आप श्रौत और स्मार्त भी जानते थे। आपका वंश परम्परागत तन्त्र एवं मन्त्रशास्त्री रहा है। इनका अन्त शतचण्डी अनुष्ठान में हवन का सप्तशती पाठ पढ़ते हुए हुआ।

इसी परम्परा के अन्य ये दो स्नातक थे—ढुण्ढिराज भट बेहेरे तथा बालकृष्ण भट खाण्डेकर।

२—दिनकर अण्णा जोशी की पाठशाला— इसमें बालदीक्षित काले, रामकृष्ण जोशी, रामजी जोशी तथा विनायक दीक्षित जोशी जैसे पाँच पुरुषों ने परम्परया अध्यापन किया। यह पाठशाला पहिले शीतला घाट पर थी पश्चात् भटकचेरी पर स्थानान्तरित हुई।

दिनकर बालकृष्ण जोशी:— ज० १८१० ई० मृ० १८७७ ई० आपके पिता बालकृष्ण भट्ट जी को बड़ी आराधना करने के पश्चात् प्रौढ़ावस्था में एक दिव्य पुत्र प्राप्त हुआ जो भविष्य में वैदिक-जगत् के भीष्म पितामह सिद्ध हुआ। आपकी संपूर्ण शिक्षा-दीक्षा पिता के पास ही हुई। आपने एक पाठशाला स्थापित की जो चार पीढ़ियों तक बराबर चलती रही। आपके दो पुत्र थे रामकृष्ण एवं रामजी एवं प्रिय शिष्य बालदीक्षितकाले। आपके ज्येष्ठ पुत्र अति बुद्धिमान् थे। दिनकर भट्टजी जब परलोक चलने लगे तो उन्होंने शिष्य बाल दीक्षित को दोनों पुत्र सौंप दिये तथा कहा—'गुरु दक्षिणा के रूप में तुम्हें इन्हें तैयार करना है। जिसे बाल दी० ने सादर स्वीकार किया। दिनकर भट्ट जी विलक्षण प्रतिभा, स्वच्छन्दवृत्ति एवं सर्वजित वैदिकों में से थे।

बाल दी० काले—जी का आविर्भाव इस धरती पर कब हुआ यह ठीक ज्ञात नहीं है, सम्भवतः आपका प्राकट्य ब्रह्मावर्त में १८३८ ई० में हुआ है। आपके पूर्वज शास्त्री कहलाते थे। आपके पिताजी का नाम पं० हरिदत्त शास्त्री था। बाल दी० का पदान्त सदशग्रन्थों का अध्ययन ब्रह्मावर्त के धूपकर गुरुजी के पास हुआ था। क्रम के लिए योग्य गुरु की खोज में ये काशी आए। उस समय काशी में यह परम्परा थी कि बाहरी वैदिकों को बैठकों में जाकर चर्चा करनी पड़ती थी। तदनुसार आपने भी परम्परा का योग्य, निर्वाह ही नहीं अपितु अपना वर्चस्व कायम किया। इसी सिलसिले में आप जोशी जी के पास भी गये थे। अन्ततोगत्वा आपने जोशी जी को ही अपना गुरु मनोनीत किया। उनके यहाँ जाने पर उन्होंने आपके सामने दो अनुबन्ध रखे १—बाल दी० 'तुम्हें यदि मेरे पास पढ़ना है तो अभी बने हुए भाँग के पौए में से आधा कटोरा लगाना होगा। २—मैं तीसरी मंजिल से संथा दूँगा जो तुम्हें पहली मंजिल से सही-सही लोकनी होगी। शिष्य ने बड़ी विनम्रता से तत्क्षण शर्त स्वीकार करी एवं कुछ ही महीनों में संपूर्ण क्रम कण्ठभूषित किया। बाद में गुरु जी की आज्ञा से पाठशाला भी चलायी। आपका सम्पूर्ण समय अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत होता था। वे प्रति शिवरात्री को पैदल पञ्चकोशी एक दिन में करते थे। माघ कृष्ण एकादशी से तीन दिन में सूर्य की साक्षी में दश-ग्रन्थों का पारायण कर चतुर्दशी को प्रयाग के लिए पैदल प्रस्थान करते थे तथा अमावस्या के दिन वहाँ मुण्डन एवं श्राद्धादिक सम्पन्न कर प्रतिपद के सायंकाल में काशी लौट आते थे। आपने "ऐतरेय ब्राह्मण" पढ़ते समय गुरुके लिए जलार्थ स्वपरिश्रमसे कुआँ खोद दिया था। आप आहिताग्नि थे। बारह-बारह सौ सूर्य नमस्कार और बारह सौ गायत्री जप करके छात्रों के लिए दो सौ गगरा कूपोदक निकालते थे। स्व० रटाटे जी जब अपने इन सिद्धान्त के पक्के एवं दयालु गुरु जी के आँखों देखे संस्मरण सुनाते तो उनके नेत्रों से आदराश्रु निकलते थे एवं वे सहसा कह उठते थे कि अरे वे हम छात्रों के माता-पिता थे ऐसे पुरुष अब नहीं होंगे।

रामकृष्ण जोशी :—का संपूर्ण अध्ययन बाल दी० के पास हुआ आप एकपाठी थे आप अल्पकाल में ही स्वर्गस्थ हो गये। आपने बाल दी० के पश्चात् पाठशाला में पढ़ाया था।

रामजी जोशी :—आप बड़े ही सीधे स्वभाव के कर्मठ वैदिक थे। आपने भी इस पाठशाला में अनेक योग्य वैदिक तैयार किये।

विनायक नारायण दीक्षित जोशी :—ज० १८८९ ई० मृ० १९४९ ई० इन्होंने अपने मातुल भिकंभट्ट पटवर्धन जी से दशग्रन्थों का १८ वर्ष की अवस्था में अध्ययन कर लिया था। आप दिनकर अण्णा जोशी की पाठशाला में अन्तिम पीढ़ी के अध्यापक नियुक्त हुए। आपके दोनों पुत्र वेद पढ़े, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र वेणीमाधव दी० युवावस्था में ही गत हुए। इस समय नारायण (बाल) दी० अधुना (सन्यस्त) परम्परा निभा रहे हैं।

विनायक भट्ट पाँचगाँवकर :— जटान्त सदशग्रन्थ तैयार किये थे। ये स्वतन्त्र वृत्ति के व्यक्ति थे। आपके ज्येष्ठ पुत्र बाल भट्ट क्रमान्त वैदिक थे।

बाबू भट्ट रामडोहकर :—परम्परागत वैदिक कुलोत्पन्न बाबू भट्ट जी ने क्रमान्त अध्ययन किया था। आपका आचरण अत्यन्त अनुकरणीय था। आपके ज्येष्ठ पुत्र नागेश्वर भट्ट दशग्रन्थ पढ़े थे।

सोन दी० काले :—आप बाल दी० के एकमात्र पुत्र थे। क्रमान्त अध्ययन किया था। सोमयाग भी किया था।

चुन्नीलाल दवे :—खेलावाड़ जाति के थे। बाल दी० काले गुरुजी की मन्त्रशास्त्र की विद्या एकमात्र आपको ही मिली थी। आप दशग्रन्थी वैदिक थे।

कृष्ण दी० महाडकर :—इन्होंने जटान्त सदशग्रन्थ का अध्ययन किया था। अध्ययन के पश्चात् उपस्थिति कठिन होती है। इसलिए आपने बाद में भी विशेष तैयारी की थी। वसन्तपूजा अर्थात् मन्त्रजागरण में आपका विशेष प्रभाव था। आपने हैदराबाद में जटा पारायण किया था। आपके पुत्रों में से दामोदर दी० अच्छे वैदिक थे।

प्रपौत्र दत्तात्रय दी० व्याकरणाचार्य होते हुए, अच्छे स्मार्तयाज्ञिक हैं। दूसरे प्रपौत्र बाबू दी० भी याज्ञिक है।

चातुर्मास्ययाजी रामचन्द्र शास्त्री रटाटे :—क्रमान्त—ऋग्वेद के पश्चात् आपने पं० नित्यानन्द पन्त जी से यजुर्वेद की संहिता पढ़ी। इसी समय बापट जी से राणायणी शाखाका समस्त यज्ञीय गान कण्ठस्थ किया। अनन्तर गणेशभट्ट मार्कण्डेय तथा अयोध्या में थत्ते स्वामी से अथर्व कण्ठस्थ किया। आगम में भी आप दीक्षित थे। अयोध्याराज्य, सांगवेद विद्यालय तथा दरभंगा नरेश के काशीस्थ विद्यालय में अध्यापक भी थे। वर्तमान में प्रायः समस्त अथर्वपरम्परा आपकी ही है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सर्व प्रथम सम्मानित अध्यापक थे।

रामकृष्ण दी० फडके :—प्रसिद्ध वैदिक कुलोत्पन्न फडके जी सुस्पष्ट एवं अत्यन्त सुस्वर पाठ करने के लिए अपने समय के एकमात्र वैदिक थे। गुरु बाल दी० ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह आपसे कर दिया। आपने पुण्यपत्तन एवं गवालियर में जटा पारायण किया था। पूना में आपको वसन्त पूजा में सम्मानपूर्वक बहुमूल्य दुशाला ओढ़ाया गया तथा वहाँ के लोगों ने आपके सम्बन्ध में यह शब्द कहे "अभी तक उत्तर भारत से आकर दक्षिण में सम्मान प्राप्त करने वाले एकमात्र फडके जी ही निकले" दक्षिण भारत में सम्मान प्राप्त करना कोई खेल नहीं है। ये बड़े मिलनसार व्यक्ति थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र विनायक दी० पिता जी से भी विशेष बुद्धिमान् थे। श्रौत-स्मार्त के योग्य ज्ञाता विनायक दी० को विद्या क्षेत्र की हरएक बात तेजी से चुभती थी। एक विशेष घटना पर आपने सिद्धान्त कौमुदी तैयार की, इतना ही नहीं आप विविध कलाओं के भी जानकार थे। जैसे :— चित्रकला, काष्ठकला, प्रस्तरकला आदि। आप ४०-४५ की स्वल्प आयु में दिवंगत हुए। आपके पश्चात् आपके अनुज नारायण दी० ने बड़ी लगन से तैयारी प्रारम्भ की। आप दिन रात पढ़ते ही रहते थे। आपने ध्रुपद का भी उत्तम अध्ययन किया था।

कृष्णं भट्ट पुराणिक :—काशी का पुराना घराना धर्माधिकारी और पुराणिक जी का था। कृष्णं भट्ट जी दशग्रन्थ, क्रमान्त अध्ययन किए थे। यह अच्छे स्मार्तकर्मकाण्डी भी थे। आप 'क्रम' बहुत अच्छा कहते थे। प्राचीन याज्ञिकी इनके साथ समाप्त हो गयी। आपके वंश में नाना शास्त्री ने 'प्रति वार्षिक पुजा-कथा संग्रह' ग्रन्थ लिखा है। इनके पुत्र राजाराम भट्ट जी भी अच्छे वैदिकों में थे। इनका वंश चल रहा है।

रामकृष्ण भट्ट गोरे (जोशी)—यह भी दशग्रन्थी बुद्धिमान् व्यक्ति थे। इनको विकृति संधि एवं कुण्डमण्डप का बहुत अच्छा ज्ञान था। इनके पुत्र दत्तात्रय रामकृष्ण गोरे (जोशी) मथुरा में ऋग्वेद के अध्यापक थे।

रामजी की परम्परा :—वैदिक भूषण गोपाल भट्ट गोरे (जोशी)— इन्होंने काशी में घनान्त दशग्रन्थ का अध्ययन किया। इनके गुरु रामजी जोशी थे। इन्होंने बड़ौदा में जटा पारायण और काशी में गायत्री महाराज के यहाँ संपूर्ण दशग्रन्थों का पारायण किया। ये अल्पायुषी थे। इनके पुत्र अच्छे शिक्षित हैं।

सोमनाथ जी सोलापुरकर :—आप भी दशग्रन्थी वैदिक थे। आपने सम्पूर्ण संहिता का पारायण काशी में तथा बाहर भी किया। 'पुण्यपत्तन' में इनका सत्कार भी हुआ। एकबार आपने तैलंग स्वामी के मठ में उनकी पुण्यतिथि पर एक बैठक में (२१ घण्टे में) सम्पूर्ण संहितापारायण किया था। इस प्रकार का कार्य इधर शत वर्षों में किसी ने न किया न सम्भव ही है।

गोविन्दाचार्य सोलापुरकर :—आप शान्तचित के जटान्त दशग्रन्थ अध्ययन किए हुए वैदिक थे। खैरागढ़ में सम्पूर्ण ऋक्संहिता स्वाहाकार इन्होंने जैसा कहा वैसा आज कोई भी नहीं कह सकता। ये अल्पायु थे।

वामन गंगाधर देव :—(सन् १८८६-१९३९ ई०) आप भी ऋग्वेद के दशग्रन्थी अच्छे वैदिक थे। आपके दो पुत्रों—में से जटापाठी डॉ० श्रीकृष्ण देव बड़े बुद्धिमान् थे। आपके दो पुत्र डॉ० गङ्गाधर देव तथा रामचन्द्रदेव शाखाध्यायी वेदाध्यापक हैं। डॉ० विश्वनाथ देव श्रेष्ठ घनान्ती वैदिकों में हैं। आप का हि० वि० वि० में वेदविभागाध्यक्ष हैं। इनके जैसा योग्य इधर सौ वर्षों में कोई नहीं हुआ है।

इसी परम्परा के अन्य शिष्य—आत्माराम आचवल, विष्णु नारायण (पाध्ये) गुर्जर, विरेश्वर भट्ट रामडोहकर, राजाराम भट पटवर्धन, गोपीनाथ भट अरावकर, काशीनाथ भट महाबलेश्वरकर प्राध्यापक (चिचवड), बेटू पुराणिक, दामोदर भट जोशी, त्र्यम्बक भट, विनायक भट पुराणिक, गणेश भट पुराणिक, विनायक भट सोलापुरकर, सोनशास्त्री पाटनकर, दत्तु दी० पुरोहित, दत्तात्रय रामकृष्ण गोरे।

३—बालं भट्ट सप्रे की पाठशाला :—इनके दो शिष्य अत्यन्त ख्यातनाम हुए। विश्वनाथ (बब्बूजी) कोटिभास्कर तथा महादेव बालकृष्ण सप्रे।

४—डोंगरे जी की पाठशाला—ब्रह्माघाटस्थित शेणवाई मठ। इस पाठशला में दे० मू० भिकंभट पटवर्धन तथा अनन्त (बाबागुरु) पटवर्धन अध्यापक रहें हैं।

विनायक भट्ट जी डोंगरे—(सन् १८३०-१९०४ ई०) इनका ऋग्वेद का अध्ययन ब्रह्मावर्त में तत्तत् गुरु के पास हुआ। विनायक भट्ट जी ने गुरु की आज्ञानुसार काशी आकर वेद पाठशाला आरम्भ की और सैकड़ों शिष्यों को पढ़ाया। यह परोपकारी भी थे। वैदिक मण्डली में इनका बहुत सम्मान था और इन्हें 'गुरुजी' के नाम से ही सम्बोधित किया जाता था। काशीनाथ भट हर्डीकर, सोन भट आचवल, महादेव दीक्षित चितले,

रामचन्द्र खेड़ावाल, नारायण दी० जोशी एवं भिकंभट पटवर्धन इनके वरिष्ठ शिष्यों में थे।

घनसम्राट् काशीनाथ भट्ट हर्डीकर—इन्होंने वे० मू० गजानन पाटनकर से जटा-घन, इन विकृतियों का मार्मिक अध्ययन किया। इनकी वाणी द्रुत और स्पष्ट थी। डोंगरे जी को पढ़ाते समय कोई शंका होने पर वह शिष्य हर्डीकर जी से ही पूछते थे। इससे विशेषाधिकार का स्पष्टीकरण होता है। काशीनाथ जी महान् तपोनिष्ठ वैदिक थे। आप हैदराबाद की सभा में विभिन्न वैदिकों के बीच एकमात्र घनान्ती सिद्ध हुए। आप गणपति के विशिष्ट उपासक थे। इनके पुत्र गङ्गाधर भट्ट जी दशग्रन्थी वैदिक थे।

श्री व्यंकटश उर्फ भिकंभट जी पटवर्धन महान् विद्वान् होते हुए भी विद्यादान में अति उदार थे। इन्होंने हजारों शिष्यों को पढ़ाया। इन्हें 'वैदिक महर्षि' कहना अनुचित न होगा। आप सांगवेद विद्यालय में अध्यापक थे।

अनन्तराम (बाबागुरु) पटवर्धन—आपने ऋग्वेद का अध्ययन पिता (भिकभट) के पास किया। आप इस समय काशी के उत्कृष्ट वैदिकों में थे। आप पिता के पश्चात् सांगवेद विद्यालय में वेदाध्यापक भी थे। आपके चार पुत्रों में यशवन्त (छोटु) जटापाठी हैं। इन्दौर में स्व-पाठशाला में अध्यापक हैं।

बालकृष्ण महादेव सप्रे—इनका ऋग्वेद का सम्पूर्ण अध्ययन भिकंभट पटवर्धन के पास हुआ था। आपने दशग्रन्थों की क्रमान्त परीक्षा इन्दौर में दी और प्रथम स्थान प्राप्त किया। बिना त्रुटि के वेदोच्चारण करना आपकी विशेषता थी। ये एकक्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते थे। बाबागुरु के शिष्य विश्वनाथ देव जी ने अपने घन की तैयारी आपही के पास की। आप बड़े मिलनसार एवं परोपकारी थे। कोल्हापुर में आपने घनकी परीक्षा देकर प्रथम स्थान प्राप्त किया था। आपने अनेक शिष्य तैयार किये हैं। सम्पादकाचार्य बाबूराव विष्णु पराडकर के कहने पर आपने वृद्धावस्था में अंग्रेजी का भी अभ्यास प्रारम्भ कर दिया था।

वे० शा० स० गणपति रामकृष्ण हेब्बार—आपका सम्पूर्ण जीवन अध्ययनाध्यापन में बीता। आपने ऋग्वेद का अध्ययन वे० मू० भिकंभट पटवर्धन से किया था। आप कई शास्त्रों के साथ-साथ कई आधुनिक भाषाओं के विद्वान् थे। आपने न्यायादि कठिन शास्त्रों का अध्ययन पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ जी से किया। आप महायोगी, तपस्वी और

महापुरुष थे। आपने लिपि विज्ञान से सम्बद्ध मौलिक ग्रन्थ लिखा जो महाराष्ट से प्रकाशित है। अन्त में संन्यास लिया था।

श्री डोंगरे जी की परम्परा के अन्य शिष्य—दत्तु दीक्षित पानगाँवकर, मुकुन्द देवस्थली, गङ्गाधर भट्ट हर्डीकर, गणपति पित्रे, बाबू पाध्ये, रघुनाथ भट केलकर, गोपाल भट्ट फणसलकर (ब्र० भू० वेदानन्दस्वामी) विष्णु भट केलकर, सीताराम दी० फडके, विनायक दीक्षित जोशी, गणेश भट तोत्रे, ढुण्ढिराज (बाबू) बालकृष्ण देव, गोविन्द दीक्षित पुरोहित, राजाराम वासुदेव भट खाण्डेकर, पुरुषोत्तम भट पाँचगावकर, केशव भट प्रभुणे, नारायण भट तोत्रे, बाबू दीक्षित चितले, सोन भट देव, विश्वनाथ भुस्कुटे, बाबू भट बामोरीकर, गंगाधर भट मराठे (लक्कड), विश्वनाथ दीक्षित पाँचगावकर, शम्भु भट पाध्ये, विष्णु अण्णा पाटणकर, गणपति पाटनकर, सदाशिव भट करमरकर, सखाराम भट अयाचित, राजाराम भट अयाचित, गणपति देव, रंगनाथ भट जोशी, विश्वनाथ पन्त टोपले, अनन्तराम पन्त पुण्ताम्बेकर, प्रभाकर केलकर, राजाराम घुले, भुवनेश्वर शर्मा, श्रीराम लोकरे (विदिशा), हेमन्त मोघे, विजयपन्त टोपले, श्रीकृष्ण तोत्रे (मुंबई) रवि तांबे हैं। गणपति शास्त्री ऐताल शाखाध्यायी तथा न्यायाचार्य एवं सर्वोपरि सदाचारी हैं।

५–वे० मू० विनायक भट काले की पाठशाला—भैरवनाथ स्थित चमरिया गली। यह पाठशाला कुछ ही काल में बन्द हो गयी। इसमें अग्रलिखित वैदिक तैयार हुए—गोपीनाथ भट्ट आठवले (आपका विवरण पीछे आ गया है) बैजनाथ भट्ट रायकर, गणेश भट्ट जोशी, बाबू दी० जडे, हरिकृष्ण मोघे, भाऊ कात्रे।

बाबू दीक्षित जडे—आपका घराना वेद, श्रौतस्मार्त और तंत्र के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता रामचन्द्र दीक्षित जड़े अधिकारी पुरुष थे। इनके यहाँ वेद, श्रौतस्मार्त एवं तन्त्र की असाधारण और अलभ्य पुस्तकें थीं। बाबू दीक्षित जी प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सटीक देते थे। यही उनकी विद्वत्ता का परिचायक था। आप दरभंगा पाठशाला में अध्यापक थे। आपके भाई भाऊ दी जड़े भी आपके पश्चात् अध्यापक थे। आपके शिष्य सोमनाथ रामडोहकर हैं।

बैजनाथ भट्ट रायकर—आप क्रमान्त दशग्रन्थ अध्ययन किए हुए उत्तम वैदिक थे। आप श्रौत-स्मार्त, उत्तम कर्मकाण्ड एवं सामगान के पूर्ण विद्वान् थे।

गणेश भट्ट जोशी—आपने भा० दी० पानगांवकर से श्रौत-स्मार्त विषय का और विनायक भट्ट काले के पास क्रमान्त अध्ययन किया था। आप श्रौत स्मार्त एवं गणित की विशेष मार्मिक बातों को जानते थे। दुर्भाग्य से आप किसी शिष्य को तैयार न कर सके।

६–रामचन्द्र भट्ट ललित की पाठशाला—पथर गली में—इसमें भी अत्यल्प छात्र ही तैयार हुए। भैया पेंढारकर, हरि भाऊ पेंढारकर, (इन दोनों का प्रारम्भिक अध्ययन वे० मू० पटवर्धन जी के यहाँ हुआ) दामोदर सोमण। मुकुन्द भट्ट सप्रे।

७–काशीनाथ भट्ट हर्डीकर की पाठशाला—भट्टकचेरी स्थित कानभट्ट की खोली में, ढवले का बाड़ा। काशीनाथ भट्ट जी के पश्चात् इनके सुपुत्र गङ्गाधर भट्ट जी ने भी अन्त तक इसी पाठशाला में अध्यापन किया। इस पाठशाला में अग्रलिखित वैदिक तैयार हुए। गोपाल भट्ट केलकर, विनायक-दीक्षित फडके, रामचन्द्र भट्ट आठवले, चिन्तामणि दीक्षित-फडके, नारायण दी० फडके, रामेश्वर भट कवि, शम्भो केलकर, गङ्गाधर राम-डोहकर, दामोदर शास्त्री केलकर, इत्यादि। गोकर्ण से रामचन्द्र शा० होसमने पिता गणेश शा० होसमने जी से सपद दशग्रन्थों का अध्ययन कर काशी आये और यहाँ पण्डितराज जी के चरणों में बैठकर न्यायादि शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया था। आप सदाचारी शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे।

८–नारायण (सोन) शास्त्री पाटनकर की पाठशाला—भटकचेरीपर थी। आप वेद शास्त्र सम्पन्न थे।

९–रामचन्द्र भट्ट खेलावाड़ की पाठशाला—सूत टोला में थी। ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद का स्थान आता है। चरणव्यूह के अनुसार यजुर्वेद की ८६ शाखाएँ तथा महाभाष्यकारानुसार १०१ शाखाओं के होने का विवरण उपलब्ध होता है। इधर सौ वर्षों से काशी में कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के हिरण्यकेशी सत्याषाढ़ी, आपस्तम्बी, बौधायनी एवं भारद्वाजी सूत्रों के विद्वान् हुए हैं।

शुक्ल य० वे० माध्यन्दिन शाखा :—

गोडसे वंश में वेद श्रौत-स्मार्त के अनेक दिग्गज विद्वान् हो गये हैं और आज भी हैं। जिनमें प्रभाकर भट, बालकृष्ण भट, गणेश शास्त्री, और काशीनाथ भट आदि थे। आप अध्यापक भी थे। ये सभी घनान्ती तथा कर्मकाण्ड में भी निष्णात थे। तथा पाठशाला भी चलाते थे। गणेश शास्त्री को तो सम्पूर्ण शतपथ भी तैयार था। काशीनाथ जी के पुत्रों में से

ज्येष्ठ श्रीकृष्ण भट (वर्तमान में नाशिक) जी उत्तम घनपाठी अध्यापक हैं। आपके पुत्र भालचन्द्र वैदिक है। काशीनाथ जी के द्वि० पुत्र गजानन जी भी उत्तम घनपाठी वेदाचार्य तथा अध्यापक हैं। औढेकर वंश में भी अनेक उत्तम वैदिक हुए। बहिरम भट, वामन भट, नारायण भट, बालंभट, रघुनाथ भट, काशीनाथ भट और मणिराम भट आदि। नारायण भट व्यवहारे, मङ्गलेश्वर पाठक पञ्चान, विद्यानाथ उर्फ छोटुपाठक भी प्राचीन वैदिकों में थे। काले वंश भी प्राचीन वैदिकों में अग्रगण्य रहा है। वैजनाथ भट, केशव भट, नारायण भट, रामचन्द्र भट और बाबू भट उल्लेखनीय रहे। जयराम शास्त्री जोशी वैदिक थे। गणेश भट (बब्बूजी) निमँले महान् वैदिक थे। अनेक शिष्यों के साथ आपने गवालियर के गङ्गाधर भट मुसलगाँवकर को घन पढ़ा कर उत्तम तैयार किया था। इन्होंने भी अपने निवास 'मुसलगाँवकर भवन' में वेदाध्यापन करते हुए सैकड़ों शिष्यों को वेदज्ञ बनाया। वर्तमान में ग्वालियर में प्राप्त वैदिकों की परम्परा के कुलगुरु गङ्गाधर भट्ट (बुआ) की ही प्रतिष्ठा है। ग्वालियर में अभी वैदिक परम्परा अवरुद्धज्ञात नहीं होती। अत्यन्त कृश अवश्य हो गई है। अधुना केवल रुद्राध्यायी, अथवा शांति वाचक ही प्राप्त होते हैं। पं० गंगाधर भट्ट मुसलगाँवकर के वर्तमान में साक्षात् शिष्य उपलब्ध नहीं है—परन्तु उनकी परम्परा के प्रमुख वैदिक १—प्रभाकरभट्ट राखे, २—रामचन्द्र भट्ट पाठक श्रीघोड़केशास्त्री, आदि हैं।

किसी समय ग्वालियर राज्य को छोटी 'काशी' अर्थात् वाराणसी कहा जाता था। जबतक गवालियर में शिन्दे (सिंधिया) का 'राज्य' था, तबतक उसे सम्पूर्ण भारतवर्ष 'धर्मराज्य' के नाम से पहिचानता था। सिंधिया के राज्यकाल में आरम्भ से लेकर अन्ततक सभी वेदों के, सभी शास्त्रों के सभी कलाओं के सभी पुराणों के उद्भट् अनेकानेक विद्वन्मूर्धन्य विप्रवर्गो का निवास था। जैसे म० म० राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर म० म० नारायण शास्त्री दणदणे, म० म० गोपालाचार्य कऱ्हाडकर, म० म० रघुपतिशास्त्री वाजपेयी, म० म० रावजीशास्त्री वेजणकर, म० म० कुप्पाशास्त्री, म० म० सदाशिवशास्त्री मुसलगाँवकर, म० म० बल्लुशास्त्री भागवत, म० म० पूर्णाचार्य गजेन्द्रगडकर, म० म० श्रीनिवासशास्त्री चक्रवर्ती, म० म० भालचन्द्र शास्त्री गोलवलकर ज्योतिर्विन्मणि पुरुषोत्तमज्योतिषी मुसलगाँवकर, नारायणगदाधरज्योतिषी, प्रह्लादज्योतिषी, शंकरदादाज्योतिषी, बब्बुज्योतिषी जुन्नरकर जैसे विद्वन्मूर्धन्यों को तथा गंगाधरभट्ट मुसलगाँवकर, गजाननदीक्षित, सिद्धंभट्ट ढेकरे, मन्नभट्ट तैलंग, गुड़भट्ट तैलंग, रघुनाथभट्ट वतुकर

हरिभाऊ वतुर्कर, आदि वैदिकों को, एवं शंकरपण्डित, कृष्णरावपण्डित, राजाभैया पूछावाले, भाऊसाहबगुरुजी, बालागुरुजी, पन्नागुरुजी, वामनबुआ, गंगाधर महाराज नगरकर, राजाभैया मोरगांवकर, ढोलीबुआ महाराज आदि कलाकारों को गवालियर के सिंधियानरेश ने धनराशि, और आदर सम्मान के साथ अपने राज्य में सुरक्षित रखा था। अतएव गवालियर जैसे धर्मराज्य और गवालियर नरेशाश्रित विद्वानों के कारण काशी से तथा देश-देशान्तरों के विद्वानों का—कलाकारों का, वैदिकों का, पौराणिकों का गवालियर की ओर निरंतर आकर्षण बना रहता था, और बराबर उनका आगमन हुआ करता था। देश-देशान्तरों से आये हुए विद्वानों को हमेशा आदर-सम्मान पूर्वक धनराशि अर्पण कर उन्हें संतुष्ट कर उनके आशीर्वाद प्राप्त किये जाते थे। यही कारण है कि धर्मराज्य के नाम से गवालियर राज्य का सुयश सर्वत्र फैला हुआ था, जो आज कहानी बनकर रह गया है। मुसलगांवकर के पुत्र प्रसिद्ध वेदाध्यापक वेदाचार्य डॉ० वंशीधर जी घनान्ती इन्दौर में हैं। पुत्र वंशीधर तथा भ्रातुष्पुत्र गजानन जी का वेदाध्ययन गङ्गाधरभट के पास हुआ है। वाराणसी के आत्मारामजी निर्मले भी उत्तम वैदिक थे। राजाराम जी घनपाठी इस समय के वृद्ध वैदिकों में है। इन्होंने अनवरत अपने घर में वेदाध्यापन करते हुए हजारों शिष्यों को तैयार किया है। इसी वंशके शिष्य रामनाथ जी मिश्र सारस्वत अत्युत्तम घनान्ती और स्मार्त कर्मकाण्डी थे। आपके पुत्रों में से ज्येष्ठ श्रीनाथ जी घनान्ती तथा कर्मकाण्डी हैं। आपका एक वर्ष अग्निहोत्र भी चला।

गणेश भट (बब्बू जी), और गोपाल भट उल्लेखनीय थे। वाजपेयी वंश में महादेव भट, गङ्गाधर भट, आत्माराम भट, विनायक भट भैया जी और ढुण्ढिराज भट प्रसिद्ध वैदिक थे। कृष्णंभट हैं। इसी प्रकार चिन्तामणि देव बुचके, चिन्तामणि दी० प्रयागवासी तथा चित्रकूट के एकनाथ भट, रामचन्द्र भट के साथ ही काशी के नारायण भट चित्रकूटकर प्रसिद्ध वैदिकों में से थे। राजा दी० दिवेकर, भिकंभट डोलहारे राजाभाऊ खेचरे, बाबूपाठक पेडगांवकर आदि भी प्रसिद्ध थे। रामचन्द्र भट कावले, हरिराम भट कावले, गोपीनाथ भट (भिकंभट), जगन्नाथ भट कोलुसकर, शम्भुभट भुसारी, आत्माराम भट नेवासकर, गणेश भट महाजन, गणेश भट मार्कण्डेय (अथर्ववेदी भी), महादेव भट आडकर, गङ्गाधर कर्पे, कृष्ण भट राशिकर, रामभाऊ जोशी जी के नाम भी वैदिकों में उल्लेखनीय हैं। चान्देकर वंश में भी विश्वनाथ भट, गङ्गाधर भट, सोमनाथ भट काशीनाथ भट प्रसिद्ध थे, कान्तानाथ जी वेदपाठी हैं। लक्ष्मण भट अटाले, रामभट

वाशिमकर, काशीनाथ बैजनाथ मंजरथकर (अध्यापक) थे। सप्तर्षिवंश की ख्याति सर्वविश्रुत थी। इस वंश में अनेक वैदिक एवं श्रौती हो गये। ग्रन्थ भी लिखे हैं। जगन्नाथ पाठक सप्तर्षि अद्वितीय विद्वान् थे। इसी प्रकार सोमनाथ आदि भी थे। रामचन्द्र भट बाबू भट खुण्टे, नारायण भट कण्ठाले और रमाकान्त कण्ठाले उत्तम वैदिक थे। रमाकान्त जी मूर्धन्य चित्रकार भी थे। जावजी भट परिवार में भी बड़े जबरजस्त विद्वान् हो गये। आज भी इसमें उत्तम वैदिक हैं। इस वंश में अविच्छिन्न रूप से अध्ययन-अध्यापन चला और चल रहा है। गौरीनाथ दी० जावजी भट, सखाराम दी० गणेश दी० और बालकृष्ण दी० उल्लेखनीय थे। लक्ष्मीकान्त दी०, सोमनाथ दी०, गोविन्द दी०, जयकृष्ण दी०, अरुण दी० परम्परा का योग्य निर्वाह कर रहे हैं। यह महान् वंश हैं। इसने अनेक घनान्ती पैदा किये।

विष्णु जी याज्ञिक (स० १९४८ वि० मृ० २०१४ वि०) ने गौरीनाथ दी० से संहिता तथा गणेश जानी जी से शतपथ पढ़ा था। आप करपात्री जी के धर्मसंघ महाविद्यालय में अध्यापक थे। हरिशंकर शर्मा ने आपसे सम्पूर्ण ब्राह्मण पढ़ा था।

पातुरकर वंश में--नामदेव जी, रामचन्द्र (हरिभाऊ), काशीनाथ जी और दामोदर भट प्रसिद्ध वैदिक हो गये। महादेव भट पांचगावकर, गौरीनाथ भट पांचगावकर, लक्ष्मण भट अन्यार्थी, शम्भुनाथ मण्डलीकर, दत्तू मण्डलीकर (अथर्ववेदी भी) प्रसिद्ध थे। इनके पुत्र रामकृष्ण मण्डलीकर हैं। विश्वनाथ गणोरकर वैदिक थे। बद्रीनाथ जी गणोरकर (दीक्षित जी के) शिष्य घनान्ती हैं। बादलवंश में गोपाल भट वैदिक थे। वर्तमान में दीक्षित जी के शिष्य मङ्गलेश्वर ढुण्ढिराज बादल उर्फ (मङ्गल जी) बहुत ही योग्य, परम बुद्धिमान् घनान्ती, विविधकला निष्णात्, मौजी, कवि, सहृदय अलौकिक व्यक्तित्व के धनी विद्वान् पुरुष हैं। आपके परम योग्य पुत्र विनायक जी घनान्त वैदिक हैं। प्रपौत्र भालचन्द्र एवं रङ्गनाथ होनहार वैदिक हैं। दीक्षित परम्परा के ही गंगाधर पन्त पर्वती, हीरालाल जी औदिच्य, नारायण जी सारस्वत थे। मनोहर जोशी उत्तमोत्तम घनान्त वैदिक हैं। गोपाल शर्मा भी वैदिक हैं। मार्तण्ड शास्त्री घोडेकर वेदाचार्य एक योग्यतम वेदशास्त्रसम्पन्न विद्वान् थे। आपके प्रपौत्र अनिल घोडेकर अच्छे वैदिक हैं।

इसी प्रकार वेद-श्रौत एवं वैदिक गतिविधियों से जुडे हुए छोटे-बड़े, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध और भी कुछ थे और हैं। जिनमें जुगलकिशोर पाठक

जी के चार शिष्य—कुन्दन जी, म० म० आदि० प्रभुदत्त जी मिश्र गौड, आ० मन्नोजी और छुन्ना जी थे। प्रभुदत्त जी वेद विज्ञान, श्रौत-स्मार्त के ज्ञाता, मिलनसार, उच्चपदस्थ व्यक्तिविशेष थे। आपके पुत्र म० म० विद्याधर गौड थे। ये भी बहुत प्रसिद्ध थे। अनेक ग्रन्थ लिखे। वेदाचार्य की परम्परा में आपके बहुत से शिष्य हैं। आपके पाँच पुत्र थे। इसी प्रकार गोविन्दराम जी, वंशीधर जी वेदाचार्य, आदि विद्वान् संस्कृत विद्यालयों से सम्बद्ध थे। साथ ही शान्ति-पुष्टि, यजमानी से सम्बद्ध द्वारकादत्त व्यास, गयादत्त व्यास, पुरुषोत्तम पाण्डे, दामोदर पाण्डे अग्नि-नारायण जी आदि थे। अमरनाथ जैतली जगदीश जी आदि हैं।[1]

अब तो 'वेद पण्डित' का जमाना आ गया है। किसी प्रकार पुस्तक बाचकर कर्मकाण्ड हो रहा है। दस-पाँच मन्त्रों में वेदपाठ हो रहा है। प्रवचन भी खूब हो रहे हैं। वेदपाठ की कर्मकाण्ड की तथा नैया किस घाट पर लगेगी कहना कठिन है।

कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय शाखा—यहाँ कतिपय परम्परागत पाठ-शालाओं का विवरण दिया जा रहा है।

१—वे० शा० सं० पं० राजाराम शास्त्री कार्लेकर—(ज० सं० १८३३-मृ० सं० १९१७) की पाठशाला, घासीटोला। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाध्यायी वसिष्ठ गोत्रोत्पन्न कार्लेकरजी का पूर्व उपनाम अभ्यंकर था। यज्ञोपवीतोपरान्त दश वर्ष की बाल्यावस्था में ही आपके पिता श्रीगोविन्द शास्त्री आपको तत्कालीन "काश्यामेकः काशीनाथः" उक्ति को चरितार्थ करनेवाले, पं० काशीनाथ शास्त्री अष्टपुत्रे जी के चरणों में व्याकरणा-ध्ययनार्थ सौंप कर दिवंगत हुए। आपने अपने परमगुरु श्रीजगन्नाथ शास्त्री से भी अध्ययन किया था। आप समस्त विशिष्ट विद्याओं में पारंगत थे साथ में मल्लविद्या में भी आप पीछे नहीं थे। आपके शिष्यों में श्रीकृष्णा-नन्द सरस्वती, तथा पं० बालशास्त्री विशेष उल्लेखनीय हैं। आपके यहाँ हर समय श्रौत-स्मार्त की ही चर्चा चलती थी। सर, जॉन साहब ने आपको भारतदेशीय धर्मशास्त्र सम्मति दानार्थ विशिष्ट पद पर नियुक्त किया था। सर बालन टाइन महोदय ने काशी राजकीय महाविद्यालय में 'सांख्य-शास्त्राध्यापक' पद पर आपको नियुक्त किया था। श्रौत एवं सपरिष्कार व्याकरण पद्धति के आप विशिष्ट विद्वान् थे।

---

१. उपर्युक्त सूची में कालक्रम, परम्परा का क्रम तथा योग्यता का सही उल्लेख न देने पाने से हमें खेद है। पाठक सुधार कर पढ़ लें।

२ श्रीकृष्ण भट देवधर की पाठशाला, रतन फाटक—

आपका परिचय हमें प्राप्त नहीं हो सका है, फिर भी इस बात को पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अग्रिम सभी पाठशालाएँ आपकी ही अनुचर थीं। इसीसे आपके महत्व का ज्ञान हो जाता है।

३ बालकृष्ण भट नेने की पाठशाला, रतन फाटक—

इस पाठशाला के शिष्यगण—भिकू दीक्षित लेले, पं० रुद्रभट्ट, माधव भट नेने, गोपाल शा० नेने, शंकर शा० द्रविड, गोविन्द शा० द्रविड, गोविन्द भट मेहेंदले, माधव दी० ओक, झोण भट्ट मैसूरकर, वासुदेव दी० तोरो, बाबा दी० ओक, राम दी० ओक, हर भट गोडबोले, राजाराम भट्ट लेले, रामदी० तोरो, मोरभट्ट बर्कले, मणिराम भट चांदेकर, वासुदेव भट लेले, महादेव भट लेले, काशीनाथ शा० साठे, अप्पा दी० रानाडे, रघुनाथ भट खरे, गोविन्द भट दाते, जग्गू भट गद्रे, बालकृष्ण शा० बापट, हरभट व्यास, काशीनाथ बाल भट गोडबोले, लक्ष्मण भट शिधोरे, नाना भट शिधोरे, कृष्ण भट शिधोरे, हर भट वैशंपायन, गोविन्द भट एवं नारायण भट वैशंपायन।

उपर्युक्त सभी पंचग्रन्थी (संहिता ब्राह्मण आरण्योपनिषद् पद), घनान्त और श्रौत-स्मार्त के पूर्ण विद्वान् थे।

४ भिकू दी० लेले की पाठशाला—आहिताग्नि वेणीमाधव (भिकू-दीक्षित) विद्याधर लेले (ज० शके १७६०—मृ० शके १८४०) आपका कृष्णयजुर्वेद का क्रमान्त अध्ययन हुआ था। इन्हें श्रौत स्मार्त कर्म का भी अच्छा ज्ञान हुआ था। ये अग्निहोत्री भी थे। आपने सैकड़ों शिष्यों को तैयार किया जिनमें प्रमुख नाम इस प्रकार हैं।

भैया गुरु दाते, कृष्ण दीक्षित बापट, गोविन्द दी० बापट, बालंभट खरे, नाना दाते, वासुदेव भट देवजी, राम भट तोरो, गोपाल भट देव, राम भट देव, माधव भट गोखले, वासुदेव भट तोरो, राम भट जी तैलंग, गोपूनाना शारंगपाणी, अण्णा शास्त्री साठे, विट्ठल दी० लेले, राधाकृष्ण भट तैलंगी, कृष्ण भठ खरे, गंगाधर भट लेले, नारायण शास्त्री पालंदे सामगायक भी थे, बाबू भट दाते, मुकुन्द दी० ओक, दामोदर भट दाते, रामकृष्ण भट गोड़बोले, दामोदर भट पायगुण्डे, विश्वनाथ भट साठे, परशुराम भट लेले, काशीनाथ भट बर्कले, सखाराम समुद्रकर, बालंभट तैलंग, गोविन्द भट लेले, माधव भट, गंगाधर भट चांदेकर, लक्ष्मीकान्त (अक्कू) देव महाराज

वैदिक, आप ग्वालियर के वेदमूर्ति मधां भट्टको घन सुनाने गये थे, परन्तु इनके दुर्दैव से वे एक दिन पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे। बाबू भट्ट वर्कले, करंदीकर, श्रीधर भट गांडबोले, गणेश भट (सोमनाथ) बापट, कृष्णं भट बापट।

५. वे० मू० बाबू दी० यज्ञंबारु की पाठशाला—क्षेमेश्वरघाट में थी। आप अच्छे श्रौती थे। आपके अनेक शिष्यों में से सीताराम प्रयागवासी तथा गजानन जोशी मुख्य थे।

६. चन्द्रशेखर शा० द्रविड की पाठशाला—दूध विनायक पर थी। चन्द्रशेखर जी उत्तम वैदिक थे। राम शा० वर्कले, कोटि मणिजी द्राविड़ और बालसुब्रह्मण्य इस पाठशाला के शिष्यों में थे।

७. रामभ० जी देव की पाठशाला—गणेश (सोमनाथ) भट्ट बापट जी ने अपने अन्य साथियों के साथ शेष अध्ययन इसी पाठशाला में किया था।

अनन्तराम भट्ट गोड़बोले की पाठशाला, (बीब्रीहटिया)—इसमें बहुत से शिष्य तैयार हुए। आप मल्लविद्या में विशेषकर मल्लखंभ के सर्वप्रधान आचार्य थे।

९. गणेश भट बापट की पाठशाला—आंग्रेबाड़ा। शिष्य-वासुदेव दी० बापट० वासुदेव भ० लेले आदि।

१०. गणेश (सोमनाथ) भट बापट की पाठशाला - कान भ० की खोली। यह पाठशाला अभी तक विद्यमान् थी। आपने कई शिष्यों को तैयार किया श्रौत स्मार्त की अन्तिम परम्परा के आप एक मात्र विद्वान थे। आपने अपने घर की साम गान की परम्परा अक्षुण्ण बना रक्खी थी। शिष्य—चिन्तामणि पालंदे, नारायण भट दातार, भास्कर भट वैशंपायन, कर्मकाण्डी और साम गायक गणेश पालंदे और भ्रातुष्पुत्र-प्रभाकर।

गंगाधर राजाराम लेले—(ज० शके १८१२–मृ० शके १८७३—आपके पिता भी अच्छे वैदिक थे। इनके गुरु वे० मू० भिकू दीक्षित लेले थे। आपने कई परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं और पुरस्कृत भी हुए थे। इन्होंने पद और जटा के पारायण कई बार किये। आपका अनेक बार सम्मान भी हुआ।

वे० शा० सं० काशीनाथ विश्वनाथ साठे—(सन् १८५०–१९२६ ई०) आपका जन्म सांगली में हुआ था। बाद में यह काशी आए और यहाँ अध्ययन किया।

मोरेश्वर भट बर्कले—आप कृष्ण यजुर्वेद के सर्वोच्च वैदिक थे। यह अच्छे सामवेदी भी थे। श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनके पुत्र बाबू बर्कले बड़े उत्कृष्ट वैदिक थे, जो अल्पावस्था में चल बसे।

रामचन्द्र शास्त्री द्रविड—लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व मध्यार्जुन क्षेत्र, कुम्भकोणम के तिरुविशनल्लूर ग्राम से आहिताग्नि, रामचन्द्र शास्त्री घनपाठी पैदल चलकर प्रयागराज आये। वहाँ से गङ्गाजल लेकर रामेश्वरम् गये और वहाँ गङ्गाजल चढ़ाकर पुनः पैदल काशी में आकर मणिकर्णिका घाटपर रहने लगे। दिन भर घन की आवृत्ति, विष्णुसहस्रनाम का पाठ तथा दैनन्दिन नित्यकर्म के पश्चात् सायंकाल में शाक बेचने वाली जब लौटती तब उनकी बची हुई शाक वे ग्रहण कर उसी से अपनी क्षुधा निवारण करते थे। वसन्तपूजा तथा बैठकों में यहाँ के वैदिकों ने ३६ दिनों तक आपके गुणों को परखने की दृष्टि से हर प्रकार परीक्षा ली जहाँ आप सही ठहरे। तब लोगों ने आपको घनपाठी के रूप में स्वीकारा। आप नित्य प्रातःस्नायी थे। किन्तु एक दिन रात्रि में वसन्तपूजा में विलम्ब होने से आपका सूर्योदयपूर्व के स्नान का नियम टूट जाने से आपने प्रायश्चित्त के रूप में प्रतिग्रह छोड़ दिया। आपने बदरीनाथ आदि की यात्रा भी की। आपके चार दिग्गज पुत्रों में (१)—सीताराम शास्त्री नैयायिक थे। (२)—धर्मप्राण म० म० लक्ष्मण शास्त्री जटापाठी, ऐतरेय ब्राह्मणपाठी, न्यायवेदान्तादि शास्त्रों के मूर्धन्य विद्वान्, महाराष्ट्रिय पद्धति के नारदीय कीर्तनकार, वर्णाश्रम स्वराज्यसंघ के संस्थापक-संचालक तथा वे० शा० साङ्गवेद विद्यालय के अध्यक्ष थे। आप ५७ वें वर्ष में दिवंगत हुए। (३)—नारायण शास्त्री पौराणिक थे। (४)—व्यंकटेश शास्त्री प्राचीन आधुनिक इतिहास तथा आंग्लविद्या विशेषज्ञ थे। सीताराम शास्त्री के पुत्र कुञ्जू शास्त्री वेदाध्ययन कर उदयपुर में बस गये। लक्ष्मण शास्त्री के पुत्र ब्राह्मण महासम्मेलन में 'पण्डिराज' अलंकरण से विभूषित-राजेश्वर शास्त्री सम्पूर्ण शाखाध्यायी, न्यायशास्त्र में एकमेवाद्वितीय होते हुए सकल शास्त्रों के मूर्धन्य विद्वान् थे। सांगवेद विद्यालय के अध्यक्ष थे। आप भारत सरकार के 'पद्म विभूषण' अलंकरण से भी विभूषित थे। आपके तीन पुत्रों में १—वीरेश्वर शा० उत्तम शाखाध्यायी हैं। २—विश्वेश्वर शा० शाखाध्ययन के साथ सामवेदाध्यायी एवं न्यायादि शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किये हुए हैं। ३—गणेश्वर शा० ने स्वशाखा का उत्तम अध्ययन कर, शतपथ ब्राह्मण तथा प्रमुख सकल शास्त्रों में उत्तम योग्यता प्राप्त की है। आपके जैसा वेद-शास्त्र सम्पन्न सदाचारी, तपस्वी धर्मसंरक्षक व्यक्तित्व

इस घोर कलिकाल में मिलना दुर्लभ है। भावी पीढी का उत्तरदायित्व आप ही पर हैं। व्यंकटेश शास्त्री के योग्य पुत्रों में से रामजी शास्त्री सदाचारी वैदिक थे। दूसरे पुत्र नारायण शास्त्री हैं जो नागपुर में निवास करते हैं। आप न्यायशास्त्र के उत्तम विद्वान् हैं साथ ही अंग्रेजी के भी विद्वान् हैं।

आ० म० म० सुब्रह्मण्य शास्त्री उत्तम वैदिक, वेदान्ती एवं मन्त्रशास्त्री थे। आप लक्ष्मण शास्त्री के वेदान्त विषयक गुरु तथा श्वशुर भी थे। 'पण्डितराज' के मामा शिवराम शास्त्री उत्तम वैदिक थे, नयाघाट स्थित पेशवा के गणेश मन्दिर में रहते थे।

हनुमान घाट स्थित वैदिक विद्वानों का परिचय दिया जा रहा है —

स्व० विश्वनाथ घनपाठी के पुत्र—रामशेष शास्त्री तथा कृष्णमूर्ति घनपाठी हैं। आ० सुब्रह्मण्य घनपाठी के पुत्र राम घनपाठी नरसिंह घनपाठी (मुंबई), महादेव क्रमान्त एवं विश्वनाथ शास्त्री है। राम घनपाठी के पुत्र नारायण शर्मा है। नारायण घनपाठी, तत्पुत्र--गणेश शर्मा एवं ईश्वर शर्मा वेदपाठी हैं। केरलमठ सुब्रह्मण्य शर्मा वैदिक है। श्री निवास शर्मा उर्फ वेलूर वैदिक थे। सिद्धमल्लि श्रीनिवास वाध्यार वैदिक हैं। पण्डितराज द्राविड के जामाता रामचन्द्र घनपाठी के चार पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र त्यागराज शर्मा वेदाध्यायी तथा रमेश शर्मा वैदिक हैं। ब्रह्मेन्द्रमठ में गणपति वाध्यार वेदपाठी है, इसी परिवार के विश्वनाथ घनपाठी—केरल में तथा केदार क्रमान्ती, श्रीराम घनपाठी मद्रास में हैं। बसठक के शिष्य कोटिमणि के पुत्र—रामनाथ घनपाठी, शिवराम शाखाध्यायी दिल्ली, अच्युतराम क्रमपाठी, राममूर्ति क्रमपाठी, सीताराम और परशुराम शाखाध्यायी, ज्येष्ठ पुत्र भी वैदिक शान्ति पाठी हैं।

काण्व शाखा के अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। जिनमें श्री सुरेश्वराचार्य भी थे। भगवान् श्रीकृष्ण भी काण्वानुयायी थे, जिसका उल्लेख श्रीधराचार्य ने अपनी भागवत की टीका में किया है। 'काण्वत्वादनुदितहोमः' राजसूयादि में आध्वर्यव कर्म काण्वानुसारी हुआ था। दक्षिणद्वार निर्णय ग्रन्थान्तरो में पढ़ने में आता ही है। काशी में इधर सौ वर्षों से लगभग २५-३० घनपाठी हुए हैं। जिनके नाम मात्र यहाँ दिये जा रहे हैं।

वेणीराम जी चोकले, सरदार रंगभट खोड, सरदार गोपीनाथ भट खोड (घनपाठी), आपने नागपुर, उम्मेड, पवनी, चन्द्रपुर, वणी, वहाड इत्यादि स्थानों में विजय प्राप्त की। रामभाऊ उत्तरेश्वरी उत्तम घनपाठी थे। आपने अपने घर पर पाठशाला चलायी।

महादेव भट पेठकर (घनपाठी) आपकी घरेलू पाठशाला में ४०-५० छात्र पढ़ते थे। काशी नाथ भट घनसांगलीकर (अंध) उत्तम घनपाठी थे।

साधारण घनपाठी ढोली, तांबोली, राजणकर, अभालदेव, सात्विक, उवही, क्षीरसागर, गोपालभट क्षीरसागर (त्रिपदी), लक्ष्मण भट क्षीरसागर, (त्रिपदी), गणेश शास्त्री व्याकरणाचार्य, कृष्ण शास्त्री साहित्याचार्य, कृष्णंभट बालापुरकर (त्रिपदी), अनन्तराम भट सालोडकर, भिकंभट पेठकर (घनपाठी) आपने भी पूर्वजों की पाठशाला को और समृद्ध किया।

नारायण भट उत्तरेश्वरी श्रौत-स्मार्त (घनपाठी)—मारुति भट आचार्य पुराणिक श्रौत-स्मार्ती, घनपाठी एवं षट् दर्शनों के भी ज्ञाता थे। आपने तिरुपति और पंढरपुर में 'शतपथ' का पारायण किया और भी अनेक स्थानों पर वेदपारायण किए। आपने सहदेवपुर जि० बड़ौदा तथा काशी में वेदपाठशाला स्थापित कर सैकड़ों छात्रों को तैयार किया।

७५ वर्ष पूर्व कीर्तनाचार्य भास्कर बोआ फुलंबरीकर (शाखापाठी) थे।

आलती, गंगाधर भट भालेराव (त्रिपदी), महादेव शास्त्री खणंग, रामजी गेठे, लक्ष्मीनाथ जी गेठे, नारायण राव गेठे ये काण्व शाखियों में बहुत बड़े जमीनदार थे। जिला कचहरी इन्हीं की जमीनदारी में है।

वे० शा० सं० स्व० रामाचार्य पुराणिक (घनपाठी), आपने काशीस्थ सांगवेद विद्यालय के माध्यम से अनेक छात्र तैयार किये जिनमें आपके एकमात्र सुपुत्र श्रीलक्ष्मीकान्त भी घनपाठी हैं। गोविन्द भट पोखरकर। सदाचार सम्पन्न वैदिक थे। आपने बयालीस वर्षों तक तन-मन-धन पूर्वक तैलंग स्वामी की सेवा की। वे० शा० सं० बालाजी पेठकर (घनपाठी) थे। लक्ष्मीकान्त खणङ्ग (शाखापाठी) हैं। लक्ष्मीकान्त पुराणिक के पुत्र श्रीकृष्ण घनान्ती, श्रीनिवास क्रमान्ती, गोविन्द-पाण्डुरङ्ग-द्वारकानाथ वेदपाठी हैं। पुराणिकजी के सर्वोत्तम योग्य शिष्य-रामचन्द्र राजहंस घनपाठी थे।

सामवेद—राणायनी शाखा। वे० मू० बालशास्त्री बापट—की पाठशाला—आपने सैकड़ों शिष्य तैयार किये। काशी में वर्तमान तक उक्त शाखा के सभी सामगायक आपही की परम्परा के रहे हैं। आप श्रेष्ठ उपासक भी थे।

सामवेद कौथुमी शाखा—इस शाखा के कुछ प्रमुख वंश। रामघाट निवासी नागर वंशोत्पन्न गणेशगुरु एवं जनार्दन जी सामवेद एवं तन्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। श्री जनार्दन जी तो महाराज कश्मीर नरेश रणवीर सिंह के मित्रकल्प ही थे। कश्मीर नरेश की दैवी कृपा से उस बंश

में दो पुत्र हुए—जिनमें एक का नाम रणवीर दत्त ही रखा गया। आपने अनेक पुस्तके लिखीं। इनके ज्येष्ठ पुत्र उत्तम सामवेदी श्री दुर्गादत्त 'सन्मार्ग' में सम्पादक एवं स्थानीय गोयनका विद्यालय में अध्यापक रहे। आपने भी पुस्तकें लिखीं हैं। आपके अनुज गौरीदत्त एवं शिवदत्त जी योग्य सामवेदी हैं। इसी वंश में श्री वत्सराजजी अत्यन्त ख्यातनाम हुए हैं तथा पुस्तकें भी लिखी हैं।

स्व० आदित्यराम त्रिपाठी सामवेदी—आपके विनायकराम एवं सूरजराम दो पुत्र थे। सूरजराम कलकत्ता संस्कृत विद्यालय एवं गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी में अध्यापक थे। विनायकराम त्रिपाठी दरभंगा पाठशाला में अध्यापक थे। आपने अनेक शिष्य तैयार किये। आपके पुत्रों में से श्री शंकरराम भी योग्य विद्वान् थे। आप भी परम्परागत अध्यापन कार्य करते रहे। आपके पुत्र श्री शिवरामजी योग्यतम सामवेदी हैं। शिवराम जी के पुत्र शरदराम उत्तम सामवेदी हैं। दिलीपराम भी तैयारी-पर हैं, गिरिधरराम त्रिवेदी भी हैं। विनायकराम जी के द्वितीय पुत्र गणेशराम जी भी योग्य विद्वान् थे। इनके पुत्र श्री. गोपालराम जी योग्य सामवेदी थे। वर्तमान वृद्धों में देवकृष्ण त्रिपाठी विद्वान् हैं। नन्दकृष्ण भी अच्छे सामवेदी थे। इधर कुछ वर्षों पूर्व कृष्णमूर्ति श्रौती साम और कृष्णयजु के श्रेष्ठ वैदिक थे। आपने रामनगर में सर्वोच्च परीक्षा देकर कंकण प्राप्त किया था। सम्प्रति शंकरनारायण श्रौती सामवेद के सर्वोच्च विद्वान् हैं। आपके तैयार शिष्य मुरलीकृष्ण भी हैं। रामनाथ दी० सामवेदी हैं। आपने सामवेद से सम्बद्ध अनेक प्रमुख ग्रन्थ लिखें हैं। पञ्चु वाध्यार भी सामवेदी हैं।

स्व० सूर्यरामजी सामवेदी एक योग्य विद्वान् थे। आप के कई पुत्र थे जिनमें दलपतराम जी का नाम विशेष प्रसिद्ध है। दलपतराम जी के दो पुत्र-देवशंकर और हरिशंकर थे। आ० हरिशंकर जी के पुत्रों में स्व० लक्ष्मी-शंकर स्व० नारायण शंकर, और ऋषिशंकर जी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीशंकर जी बहुत बड़े विद्वान् थे और ऋषिशंकर जी ने कई श्रौतयज्ञ किये। ये गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक थे। पश्चात् स्वामी गङ्गेश्वरानन्द के विशेष आग्रहपर वृन्दावन में भी रहे। आप योग्य सामवेदी थे।

इसी प्रकार गणेशराम जी नागर, सूर्यराम जी, गोपालराम जी गोविन्दराम जी एवं सुमतराम जी के नाम सामवेदियों में प्रसिद्ध थे।

अथर्ववेद

काशी में अथर्व की परम्परा नागरों से प्रारम्भ हुई थी। गत शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ अथर्ववेदी जयदेव जी थे। आपको सांगवेद विद्यालय का आश्रम था। तत्कालीन अन्य अथर्ववेदियों में गणेश भट मार्तण्ड, बैजनाथ भट सोमण, (अयोध्यावासी) लेले जी के पुत्र कृष्ण दी० लेले जी जयदेव पञ्चोली जी से पढ़े थे अयोध्या जाकर बस गये। नागर परम्परा के उत्तम अथर्ववेदी आ० भगवानीलाल जी नागर, जो सांगवेद विद्यालय में अध्यापक भी थे। आपके सुयोग्य पुत्र डॉ० मनोहरलाल जी नागर अथर्ववेदी हैं। आप मूलतः शांखायनी हैं। आपके शिष्य श्रीधर अडीं, गोकर्ण में है।

जयदेव जी के ही समय में आ० रामचन्द्र शास्त्री रटाटे, जी ऋगादिकं पश्चात् प्रसंगतः अथर्ववेद का अध्ययन कर अयोध्या नरेश के यहाँ ४ वर्ष रहे। वहाँ से काशी लौटने पर सांगवेद विद्यालय में डेढ़ वर्ष अध्यापन के पश्चात् निगमागम दरभंगा विद्यालय में अध्यापक हुए। आपने उदार बुद्धि से देश के हर प्रान्त के असंख्य ब्राह्मण बालकों को अथर्ववेद पढ़ाकर यज्ञ-याग में शान्तिपाठ के योग्य बना दिया। आपसे सम्पूर्ण संहिता का विधिवत् आनुश्रविक अध्ययन नारायण घुले एवं पुत्र स्व० ढुण्ढिराज रटाटे ने किया था। अन्य प्रमुखों में लाभशंकर जी नागर, उनके पुत्र धनशंकर जी, कैलासशंकर जी, सखाराम भट्ट वैद्य, रामचन्द्र गोपीनाथ भट्ट आठवले, अमृतराम पण्डया, भास्कर भट रंगघा, परशुराम रामडोहकर, तीन पुत्र—नारायण शा० रटाटे, विनायक तथा चित्रकार श्रीकृष्ण और जगन्नाथ धुले आदि आपकी शिष्य परम्परा में रहे हैं। इन शिष्यों में से वैद्य ने डॉ० श्रीकृष्णदेव आदि को, अठवले ने पुत्रों काशीनाथ (जगन्नाथ), हरि तथा भ्रातुष्पुत्र विश्वनाथ आदि को, घुले ने लक्ष्मीकान्त आदिको, पढ़ाया। नारायण रटांटे निगमागम दरभंगा विद्यालय में अध्यापक थे। आपने तीन बार एक॰दो बैठक में (३३-३४ घण्टों में) श्रीमद्भागवतका पारायण किया था। जो एक कीर्तिमान है। गोपाल वेदाध्यापक है। एवं दत्तात्रय भी के पाठी-कर्म काण्डी है। नारायण जीने पुत्रोंके अतिरिक्त औरों को भी पढ़ाया। ग्वालियर में अथर्ववेद और उसके कर्मकाण्ड के मूर्धन्य ज्ञाता अनन्तरामगुरु गोरे तथा तत्पुत्र विष्णुभैया थे। आपकी बहुमूल्य ग्रन्थ सम्पत्ति थी जो चोरी हो गयी।

अथर्ववेद की आनुश्रविक परम्परा का यथार्थ निर्वाह होने की दृष्टि से विनायक रटाटे ने राजाराम घुलेको साथ लेकर कृष्ण दी० लेले के आनु-

श्राविक शिष्य जगन्नाथ शास्त्री फाटक जी से विधिवत सम्पूर्ण शाखाध्ययन किया। कारणविशेष से विनायक जी ने इस वृत्ति को छोड़ दिया है।

उपर्युक्त पाठशलाओं का समीप से अन्वेषणपूर्वक अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तविक दृष्टि से ये पाठशालाएँ आज के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों से बहुत आगे बढ़ी हुई थीं। इन्हीं पाठशालाओं ने आज तक वेद का संरक्षण किया है। ये विभिन्न कारणों के साथ-साथ प्रमुखतः द्रव्याभाव से लुप्तप्राय हो गयी। यदि इन्हें शासन की ओर से आवश्यक द्रव्य मिलता तो ये पुनः सजीव होकर आधुनिक वैज्ञानिक क्रांति युग के लिए पूर्णतः नवीन एवं महान् उपलब्धियाँ प्रदान कर सकती थी। आज कल नामधारियों को तो हजारों हजार सहज मिलते हैं। किन्तु काम करनेवाले वास्तविक सदाचारी सारस्वतों को प्राणरक्षणार्थ चौथाई पेट भोजन भी नहीं मिलता। यह है हमारे प्रगतिशील समाज और शासन का एक नमूना। इतनी विषम परिस्थिति में भी आज भी अनेक वैदिक निःस्वार्थ अध्यापन में संलग्न हैं— जिनमें प्रमुख-इन्दौर में 'वेदमूर्ति बंशीधर-शास्त्री मुसलगांवकर' की 'वेदमन्दिरम्', ब्रह्माघाट वाराणसी में 'राजाराम-जी निर्मले' की पाठशाला, 'डॉ० विश्वनाथ देव की पाठशाला ग्वालियर में 'रामचन्द्रभट' की पाठशाला, नाशिक में श्रीकृष्ण गोडशे जी की पाठशाला हैं। इस संदर्भ में हम सांगवेद विद्यालय तथा उससे सम्बद्ध विद्वज्जनों से आशा करते हैं कि वे इस परम्परा को जीवन्त रखने में सहायक बने।

गत शताब्दि के प्रमुख श्रौत-यागों का संक्षिप्त परिचय

१ पं० शिरोमणि जी—नेपालवासी ने 'अत्यग्निष्टोम' एवं साग्नि-चित्यसर्वपृष्ठाप्तोर्याम' याग किये। इन यागों में लगभग २ लाख रु० खर्च किये गये थे। इस याग के संयोजक पं० गंगाधर शास्त्री तैलंग थे, जिन्होंने यज्ञ का सम्पूर्ण भार समकालीन मूर्धन्य विद्वान् श्री वामनाचार्य जी को सौंपा था। आपने इस याग में कात्यायन सूत्रानुसारी (यजमान के सूत्र से) प्रयोग करवाया था जब कि आप स्वयं ऋग्वेदी थे।

ये याग क्रमशः चैतन्यबड बंगाली वाड़ा तथा रामकटोरा स्थित बाग बौलिया में सम्पन्न हुए थे। प्रथम याग के अध्वर्यु—आत्माराम भट वाजपेयी, होता-सीताराम दीक्षित पुरोहित, उद्गाता —भिकू दीक्षित लेले तथा ब्रह्मा—नारायण भट जोशी थे। दूसरे याग में अध्वर्यु—गङ्गाधर भट वाजपेयी, होता—सीताराम दीक्षित पुरोहित, उद्गाता—भिकू दीक्षित लेले एवं ब्रह्मा—गणेश भट गोडसे थे।

पं० शिरोमणि जी नेपाल के एकमेव राजमान्य श्रौती थे। उनके इस याग की स्मृति विद्वानों के श्रीमुखों से बराबर सुनी जाती थी।

२ नमस्कारे उपनाम के अग्निहोत्री जी ने काशी में कूष्माण्डा (बड़ी दुर्गा जी) के तालाब के समीप रेणुका मन्दिर के प्रांगण में 'आग्निचित्य सर्वपृष्ठाप्तोर्याम' याग सम्पन्न किया। इस याग की इष्टिकाएँ कुछ वर्ष पूर्व वहाँ की दीवालों में चुनी हुई दृष्टिगोचर होती थी। कुछ दिन पूर्व सड़क निर्माण योजना के अन्तर्गत ऐतिहासिक ईटें नष्ट हो गयीं। स्व० रटाटे जी के मुख से सुनने में आया है कि इस शताब्दि में यज्ञके उन यजमान-पत्नी का यागान्त नमस्कार में ही प्राणान्त हुआ था।

३ हर दीक्षित काले जी ने स्वकष्ट से द्रव्य सम्पादन कर बंगाली बाड़े में वि० सं० १९१४ में 'अग्निष्टोम' याग किया। आप आश्वलायन सूत्रीय शाकल शाखी थे।

४ श्री पाण्डुरंग दीक्षित भट ने सं० १९४५ में शीतलाघाट पर बुन्दीपर-कोटे के प्रासाद में 'सोमयाग' किया था जिसमें अध्वर्यु—बाबू दीक्षित गोडसे तथा होता—विनायक भट गोडबोले थे।

५ श्री विनायक शास्त्री गाडगिल राजचिकित्सक (ग्वालियर) ने काशी आकर भैरव बावड़ी में (काल भैरव के समीप) सं० १९४८ में कष्ट से द्रव्य सम्पादित कर 'आप्तोर्याम' याग किया। उसमें अध्वर्यु—वे० मू० पुराणिक, होता—व्यङ्कू दीक्षित बापट एवं उद्गाता—पं० बाल शास्त्री रानाडे थे।

६ पं० बालशास्त्री रानाडे ने राजमन्दिर स्थित स्वकीय यज्ञशाला में वि० सं० १९५० में 'सोमयाग' किया था। इसमें अध्वर्यु—वे० मू० धारप गुरु जी, होता—वे० मू० भैय्या दीक्षित जोशी एवं प्रतिप्रस्थाता—वे० मू० भिकू दीक्षित लेले थे।

७ परम्परागत विद्वान् श्रीसदाशिव दीक्षित जावजी भट ने सं० १९५० में सतीचौतरा स्थित 'लच्छी राम धर्मशाला में 'अग्निष्टोम याग' किया। इसमें अध्वर्यु-सोमनाथ पाठक, होता—रघुनाथ गणूरकर तथा उद्गाता—शंकर भुसारी थे।

८ श्री सोन दीक्षित काले ने वि० सं० १९६८ में 'सोमाधान' से ही अग्निहोत्र का प्रारम्भ किया। काशी के रईस राजा मुंशी माधोलाल जी ने अपने भुलनपुर स्थित आम्रवाटिका में अपने खर्च से उस याग को सम्पन्न करवाया था। जिसमें अध्वर्यु-सोन दीक्षित पानगांवकर, होता—लखू

नाना नाफडे, उद्गाता—बालंभट बापट तथा ब्रह्मा—काशीनाथ भट पुराणिक थे।

९ श्री दुण्ढिराज दीक्षित (झोन शास्त्री) केलकर ने काशी से बाहर अनेक सोमादि याग किए थे। आपकी यज्ञशाला रतनफाटक पर थी।

१० श्री भिका जी पंत शेष श्रीमान् काशी नरेश की सहायता से रामनगर में लगभग सं० १९७४ में 'सोमयाग' किया। इसमें अध्वर्यु—भालचन्द्र दीक्षित पानगाँवकर, उद्गाता—गोपाल दीक्षित लेले, आग्निध्र—रामकृष्ण भट वझे एवं ब्रह्मा—राजाराम दी० पानगाँवकर थे। श्री भिकाजी पंतशेष अति प्राचीन परम्परागत धर्मशास्त्र एवं मीमांसा इत्यादि शास्त्रों में निपुण थे। आपका घराना काशी नरेशाश्रित था।

११ ऋग्वेदी पौराणिक प्रवचन कर्ता :—श्री सदाशिव शास्त्री सोमण ने स्वोपार्जित द्रव्य से बंगाली बाड़े में १९५८ ई० में अग्निष्टोम याग किया। जिसमें—अध्वर्यु-श्रीभालचन्द्र दी० पानगाँवकर ब्रह्मा नारायण दीक्षित जोशी, होता—रामचन्द्र भठ काले, उद्गाता-भैया जी सप्रे, प्रतिप्रस्थाता-श्री सीताराम दी० पुरोहित थे।

१२ श्री यज्ञेश्वर दी० महाबलेश्वरकर जी—ने बंगाली बाड़े की प्राचीन यज्ञ भूमि में १९६८ में सोमयाग किया। जिसमें—अध्वर्यु-राम दी० तोरो, प्रतिप्रस्थाता-श्रीविट्ठल दी० लेले, उद्गाता-श्रीरामकृष्ण दी० जोशी तथा आग्निध्र—श्रीराम भाऊ देव थे।

१३ श्रीपुरुषोत्तम शास्त्री आपस्तम्ब सूत्रीय द्रविड़ देशीय ने हरिश्चन्द्र घाट पर १९९६ वि० में मद्रप्रान्तीय श्रीशतावधानी विश्वनाथ शास्त्री श्रौती के आध्वर्यव एवं राम जी जोशी के होतृत्व में सोमयाग किया।

१४ श्रीशीतल पाण्डेय—काशीवासी सरयूपारीण ब्राह्मण ने कात्यायन सूत्रानुसार चैतन्य बड (बङ्गालीटोला) पर सोम याग किया। जिसमें—अध्वर्यु—विष्णु (पाठक) कावले। प्रतिप्रस्थाता—गौरी शंकर बान्धवकर। ब्रह्मा—गणेश भट्ट गोडसे थे। यह याग १९७२ वि० में हुआ था।

१५ श्री रघुनाथ जी गौड ने—कात्यायन सूत्रानुसार १९७८ वि० में अस्सी घाट पर लक्ष्मीनाथ सप्तर्षि के आध्वर्यव एवं लक्ष्मण भट गणोरकर के औद्गातृत्व में याग सम्पन्न किया।

१६ श्रीगंगाधर जी सारस्वत नें—कात्यायन सूत्रानुसार १९८० वि० में काशीदेवी के निकट सप्तसागर तलाब पर सोम किया था। जिसमें अध्वर्यु—लक्ष्मीनाथ (पाठक) सप्तर्षि, होता नारायण भट उत्तरेश्वरी। उद्गाता—बालकृष्ण दी० जावजी भट्ट थे।

१७ श्री शशिभूषण जी—ने सप्तसागर पर १६७२ वि० में अग्निष्टोम किया था। जिसमें अध्वर्यु—आत्माराम भट वाशिकर। प्रतिप्रस्थाता—काशीनाथ जी गोडसे। उद्गाता—बाबू दीक्षित जडे। होता श्री सीताराम दी० (बापू) चितले। ब्रह्मा—लक्ष्मण भट वाशिकर थे।

वर्तमान काल में श्रीऋषिशंकर सामवेदी जी ने भी काशी तथा बाहर अनेक सोमादि याग किये थे।

अग्निहोत्रियों की सूची

श्री त्र्यम्बक शास्त्री सहस्रबुद्धे
रामेश्वर भट वझे
तात्या शास्त्री केलकर
विष्णु शास्त्री सोहनी
बाल दी० काले
गंगाधर शास्त्री थत्थे
सुब्रह्मण्य शास्त्री द्रविड
भोलानाथ जी
श्रीधर भट पानगांवकर
वंशीधर शास्त्री (चातुर्मास्ययाजी)
देवनाथ शास्त्री सरयूपारिण
मन्नू जी सारस्वत
सिद्धनाथ शास्त्री (शाकद्वीपीय, चातुर्मास्य जी)
रतन दीक्षित नागर (शांखायन)
हरिशंकर सामवेदी (चातुर्मास्ययाजी)
श्रीनाथ जी सारस्वत अधान से १ वर्षतक
जोखनराम (धर्मसंघ)
गणेश शास्त्री सहस्रबुद्धे
बाल दी० जोशी
बालकृष्ण शास्त्री केलकर
भिकु दी० लेले
बाबा दी० पुरोहित (साठ वर्ष अग्निहोत्र
बाल दी० तोरो
बाल दी० यज्ञंवार
गणेश शास्त्री वेत्तगिरि
प्रभुदत्त जी गौड़
म० म० विनायकशास्त्री वेताल
शुल्क' उपनामधारी चातुर्मास्यिया जी, आप चोपड गांव से काशी आकर कालभैरव के पास रहते थे जहाँ बाद में रटाटे जी रहे।
रामचन्द्र शास्त्री रटाटे चातुर्मास्यया जी—
बालशास्त्री रंगप्पा
वायुनन्दन मिश्र
सप्तर्षि लक्ष्मी नाथ पाठक
कृष्ण पंत शेष
अप्पा भट रानडे
भवानीलाल जी नागर (चातुर्मास्ययाजी)
वंशीधर शर्मा गौड़
गिरिधर शर्मा सारस्वत
गोकुल नाथ जी नायिक
दाजी तांबे, सम्प्रति सन्यस्त।

कुछ अन्य अवशिष्ट मूर्धन्य श्रौतियों एवं विशिष्ट वैदिकों का परिचय—

वे० शा० सं० पं० बालशास्त्री रानडे—ज० वि० सं० पौ० कृ० दशमी १८९६। आपका नाम विश्वनाथ था, किन्तु सबके प्यारे होने से 'बाल' रखा गया। तीसरे वर्ष ही आपके पिता श्री गोविन्द भट्ट आपको श्रीराम-कृष्ण दीक्षित धारप गुरुजी के चरणों में समर्पण कर परलोकवासी हो गये।

उपनयन के बाद धारप गुरुजी द्वारा आपको कृष्ण यजुर्वेद की शिक्षा प्राप्त हुई। आपकी तीव्र बुद्धि होने से एक दो बार कोई विषय देखने से ही बुद्धिस्थ हो जाता था। वेदपठन के पश्चात् आप गुरुजी के साथ ब्रह्मावर्त गये। चित्रकूट में इस ब्रह्मचारी ने अत्यल्पावस्था में ही बालखिल्यसूक्त कह कर समस्त लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। पश्चात् ग्वालियर में जाकर आपने पं० बालशास्त्री बापट जी से छै महीनों में ही वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी एवं पं० न्यायाधीश कुप्पा शास्त्री से पूर्वमीमांसा पढ़ी। पं० मोट शास्त्री से अक्षपाददर्शन पढा।

वि० सं० १९१२ में बच्चाशास्त्री की कन्या से विवाह हुआ। पश्चात् काशी में आकर आपने परम गुरु काशीनाथ शास्त्री से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया।

१९२१ में आप काशीराजकीय पाठशाला में प्रि० ग्रिथिफ महोदय के विशेष आग्रह पर साङ्ख्यशास्त्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। श्रीमान् रा० रा० दिनकर राव राजवाडे की माता के आग्रह पर आपने अंग्रेजी-भाषा का भी अध्ययन किया था।

प्रि० ग्रिथिफ महोदय के विशेष आग्रह पर आपने काशी-विद्या-सुधा-निधि पत्र में अनेक ग्रन्थों का संशोधन किया था।

१९२४ में आप अपने गुरुदेव के साथ राजा 'मण्डी' के विशेष आग्रह पर उसकी राजधानी में पधारे एवं उसकी अपार भक्ति देख उसे गणपति की दीक्षा देकर शिष्य स्वीकार किया। पश्चात् काशी आकर विनायक शास्त्री के आप्तोर्याम याग में उद्गातृत्व किया।

१९२९ गुरु के साथ तीर्थ यात्रा एवं १९३१ में स्वगुरु राजाराम शास्त्री के ब्रह्मीभूत होने पर पाठशालाध्यक्ष के विशेष आग्रह पर धर्मशास्त्राध्यापक पद सुशोभित किया। १९३४–में आपने पाठशाला छोड़ दी।

१९३७ में श्रीरामकृष्ण दी० के विशेष आग्रह पर यज्ञार्थ आपने तृतीय विवाह किया था माघ शु० पू० को ज्योतिष्टोम याग किया।

१९३९ में आपने एक ब्राह्मण बालक को दत्तक लिया जिसका नाम

विष्णु दी० रखा गया। १९३९ के आषाढ दशमी को आपने अपनी यज्ञशाला में शिव गणेशादि मूर्तियों की स्थापना की एवं श्रावण कृ० त्रयोदशी को शिवसायुज्य प्राप्त किया।

आपके निर्मित ग्रन्थ

१—वेदान्तसूत्र भाष्य भामती टिप्पणी

२—स्वगुरुनिर्मित विधवोद्वाह शङ्कासमाधि ग्रन्थ की दोषाभासनिरास नाम की टीका। (१९२६ वि०)

३—व्याकरण महाभाष्य टिप्पणी

४—परिभाषेन्दु टिप्पणी (सारासारविवेकनामिका)

५—बृहज्ज्योतिष्टोम पद्धति।

पं० वामनाचार्य वेरुलकर—अपने अष्ट वसु तुल्य आठो भाइयों में ज्येष्ठ वामनाचार्य अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धुरंधर श्रौती एवं शास्त्री थे। आपकी मेधा अलौकिक थी। आपके संस्कृत एवं अंग्रेजी में भी कुछ ग्रन्थ लिखने का सकेत मिलता है। आपके अनुज माधवाचार्य भी अति बुद्धिमान् थे। उन्होंने अग्रज की आज्ञा से ४० दिनों में यजुर्वेद कण्ठ कर लिया था। आपके विद्या क्षेत्र के अनेक चमत्कार हैं। आप का० रा० पाठशाला में श्रौताध्यापक थे। तत्कालीन समस्त पंडितों पर आपकी धाक थी।

वैदिक सार्वभौम विश्वनाथ उर्फ बब्बू जी कोटीभास्कर:—असाधारण चतुरस्र श्रौत-स्मार्त के धुरंधर एवं ज्योतिष तथा गणित के योग्य विद्वान् थे।

वासुदेव गणेश भट्ट खाण्डेकर—इनके पिता कोल्हापुर महाराज के पौराणिक थे। वासुदेवजी का संपूर्ण वेदाध्ययन 'चिपोकर' के पास हुआ। पिता जी के अभाव में आपका अध्ययन चालू रखना असंभव हो गया फिर भी माता ने दूसरों के यहाँ मेहनत करके धन कमा कर पुत्र को पढ़ाया। आप असाधारण ग्रन्थपाठी थे। खाण्डेकर जी निरभिमानी, निर्व्यसनी, व्यवहारज्ञ पुरुष थे। उस समय की वृद्ध मण्डली इन्हें 'चिक्कटपाठी' अर्थात् दत्तचित्त होकर अक्षर-अक्षर याद करने वाले कहती थी।

वे० शा० पं० श्रीरामशास्त्री पराडकर उच्चकोटि के वैदिक, श्रौती-स्मार्ती एवं सदाचार सम्पन्न विद्वान् थे।

भालचन्द्र दीक्षित पानगाँवकर—दीक्षित जी जटान्ती दशग्रन्थी तथा चारों सूत्रों के श्रौत कर्म जानने वाले महापुरुष थे। आप वामनाचार्य के अन्तिम शिष्य थे। इनके सुपुत्र वे० मू० दत्तात्रय दीक्षित थे।

सीताराम दीक्षित पुरोहित—आप सम्पूर्ण दशग्रन्थ अध्ययन किये हुए श्रौत-स्मार्त कर्म में निपुण थे। इनके पिता अग्निहोत्रि भी थे। इनका आचरण ऋषि जैसा था। आप त्यागी शान्त वृत्ति के महापुरुष थे। एक बार यज्ञ में आपने आश्विनशस्त्र कहकर काशी के सभी वैदिकों को प्रभावित कर लिया। सभी ने उनका सम्मान किया।

गजानन भट पाटनकर—घनपाठ के साथ-साथ उच्चकोटि के त्यागी एवं तपस्वी थे। आपके जीवन में कुछ चमत्कारिक घटनाएँ हुई हैं। पत्नी के दिवंगत होने पर आपने तीसरी बार संपूर्ण सामग्री सहित गृह दान किया था। अन्त में आप शुष्क भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह करते थे। गन्धवती का बगीचा एवं मकान में आप वार्षिक भंडारा भी करते थे।

दुर्गाघाट पर प्रतिष्ठित श्री गणेश की विशाल मूर्ति आपने बालाजी घाट से लाई हुई थी। सम्भवतः यह घटना परमहंस श्री तैलङ्गस्वामी द्वारा स्वमठ में शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित करने के समय की है। काशीनाथ भट्ट हर्डीकर ने आप से 'घन' की मार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी।

म० म० मीमांसा केसरी अ० चिन्नस्वामी उद्भट विद्वान् थे। अनेक ग्रन्थों के सम्पादक—लेखक आपने का० हि० वि० वि० के मीमांसा-धर्मशास्त्रके पद को सुशोभित करते हुए असंख्य छात्रों को पढ़ाया था।

पद्मविभूषण पट्टाभिरामशास्त्री एवं मीमांसाभूषण-गजाननशास्त्री इनके प्रधान शिष्य हैं। इनमें से श्री गजानन शास्त्री जी वाराणसी में विराजमान हैं—अनवरत मीमांसा का अध्यापन करते हैं।

प्रस्तुत लेख के अन्त में 'वे० मू० रटाटे स्मृति-ग्रन्थ समिति' के संयोजक वि० रा० रटाटे महोदय को हम कथमपि भूल नहीं सकते जिन्होंने स्मृति ग्रन्थ में इस इतिहास को संकलित किया था। उसी का संशोधन परिवर्धन कर यहाँ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। अन्तमें हम उन महर्षिकल्प वैदिकों का पुण्यस्मरण करते हुए वर्तमान वैदिकों के योग-क्षेम पूर्वक दीर्घायुष्य की कामना भगवान् विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा से करते हैं। इति शम्।



संदर्भ ग्रंथ सूची

१ अथर्वप्रातिशाख्य —सूर्यकान्तशास्त्री, लाहोर, १९३३

२ अथर्ववेद —वेणीरामशर्मा गौड, चौखम्बा, वाराणसी १९७७

३ अनुवाकानुक्रमणी —

४ अष्टाध्यायी —ब्रह्मदत्तजिज्ञासु, अमृतसर, १९६७

५ आपस्तम्ब परिभाषा —श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९३१

६ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र —चिन्नस्वामी, चौखम्बा, वाराणसी, १९९१

७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र —चिन्नस्वामी, चौखम्बा, वाराणसी १९९२

८ आपस्तम्ब शुल्बसूत्र —श्रीनिवासाचार्य, मैसूर १८९३

९ आश्वलायन गृह्यसूत्र —गार्ग्यनारायण टीकासह, कलकत्ता, १९८३

१० आश्वलायन श्रौतसूत्र —मंगलदेवशास्त्री, वाराणसी, १९३८

११ आर्षेय ब्राह्मण —बर्नेल, बंगलोर, १८७६

१२ ईशावास्योपनिषद् —वेंकटराव रायसम्, नई दिल्ली, १९७८

१३ ऋक्प्रातिशाख्य —डॉ० वीरेन्द्रशर्मा, दिल्ली, १९८६

१४ ऋग्वेद —वैदिक संशोधन मंडल पूना

१५ ऋक्तन्त्र —सूर्यकान्तशास्त्री, लाहोर, १९३३

१६ ऐतरेयोपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर

१७ ऐतरेय ब्राह्मण —काशीनाथशास्त्री, १८९६

१८ ऐतरेयारण्यक —आनन्दाश्रम, पूना १९५९

१९ कठसंहिता —डॉ० रघुवीर, लाहोर, १९३२

२० कठोपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर

२१ कात्यायन श्रौतसूत्र —श्रीविद्याधरशर्मा, अच्युत ग्रंथमाला, सं० १९८७ काशी

२२ कात्यायनशुल्बसूत्र —चौखम्बा, वाराणसी १९०९

२३ केनोपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर

२४ कौशिक गृह्यसूत्र —चिन्नस्वामी, मद्रास १९४४

२५ कौषीतकि उपनिषद् —ई० वी० कॉवेल, वाराणसी, १९६८

२६ कौषीतकि ब्राह्मण —लिण्डेनर, जेना, १८८७

२७ गोपथ ब्राह्मण —नारायण प्रेस, कलकत्ता १८९१

२८ गोभिल गृह्यसूत्र —सी० भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९३४

२९ गौतमधर्मसूत्र —हरदत्त 'मिताक्षरा' सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९९३

३० चरणव्यूह —महर्षिशौनक, चौखम्बा, वाराणसी, १९९१

३१ छान्दोग्योपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर

३२ जैमिनीय ब्राह्मण —रघुवीर, नागपूर, १९५४

३३ ताण्ड्यमहाब्राह्मण —ए० चिन्नस्वामी, चौखम्बा, वाराणसी, १९८७

३४ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य —रंगाचार्य, मैसूर, १९०६

३५ तैत्तिरीय ब्राह्मण —श्यामशास्त्री

३६ तैत्तिरीय संहिता —महादेवशास्त्री, मैसूर, १८८४

३७ तैत्तिरीयोपनिषद् —दिनकर विष्णु गोखले, गुजराती मुद्रणालय, मुम्बई, १९१५

३८ दैवतब्राह्मण —केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६५

३९ द्राह्यायण गृह्यसूत्र —गणेशशास्त्रीं, पूना, १९१४

४० द्राह्यायण श्रौतसूत्र —आनन्दाश्रम, पूना १९५३

४१ निरुक्त —गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता १९५२

४२ पाणिनीयशिक्षा —

४३ पारस्करगृह्यसूत्र —गुजराती प्रेस, मुम्बई, १९१७

४४ पुष्पसूत्र —चौखम्बा, १९२२

४५ प्रश्नोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर

४६ बाधूलश्रौतसूत्र —कैलेण्ड, कलकत्ता १९२४

४७ बृहदारण्यकोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर

४८ बृहद्देवता —शौनककृत, चौखम्बा, वाराणसी, १९८९

४९ बौधायनधर्मसूत्र —गोविन्दस्वामी टीकासह, चौखम्बा, वाराणसी, १९९१

५० बौधायन श्रौतसूत्र —राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९८२

५१ बौधायन शुल्बसूत्र —कैलेण्ड, कलकत्ता, १९१३

५२ मनुस्मृति —वासुदेव शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर, मुम्बई, १९०९

५३ महाभारत —गीताप्रेस, गोरखपुर

५४ माध्यन्दिनसंहिता —करपात्रीस्वामीकृत, कलकत्ता, १९८६

५५ मानवगृह्यसूत्र —गा० ओ० सी० बड़ौदा, १९२६

५६ माण्डूक्योपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर
५७ मुक्तिकोपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर
५८ मुण्डकोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर
५९ मैत्रायणी संहिता —श्रोडर, १९८८
६० याज्ञवल्क्य शिक्षा —अमरनाथशास्त्री, वाराणसी, सं० १९१४
६१ लाट्यायनश्रौतसूत्र —चौखम्बा, वाराणसी, १९२३
६२ वसिष्ठ धर्मसूत्र —निर्णयसागर, मुम्बई, १९१६
६३ वाजसनेयि प्रातिशाख्य —युगलकिशोर पाठक, वाराणसी, १८८८
६४ विष्णुधर्मसूत्र —कैलेण्ड, कलकत्ता, १९४१
६५ वेदाङ्गज्योतिष —कैलेण्ड, कलकत्ता, १९४१
६६ वैखानसगृह्यसूत्र —कैलेण्ड, कलकत्ता, १९४१
६७ वैखानसधर्मसूत्र —रंगाचार्य, मैसूर, १९०७
६८ वैखानस श्रौतसूत्र —कैलेण्ड, कलकत्ता, १९२६
६९ वंशब्राह्मण —सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८९२
७० शतपथब्राह्मण —श्रीधरशास्त्रीवारे, मुम्बई, १९४०
७१ श्वेताश्वतरोपनिषद् —गीताप्रेस, गोरखपुर
७२ सत्याषाढ श्रौतसूत्र —आनन्दाश्रम सीरीज, पूना, १९०७
७३ सामविधान ब्राह्मण —
७४ सामप्रातिशाख्य —
७५ सामवेदसंहिता —सातवलेकर, नवसारी, १९३५
७६ संहितोपनिषद् ब्राह्मण —बर्नेल, मंगलोर, १९६५
७७ सामवेदीय सर्वानुक्रमणी —ब्रेवर, १८८५

संस्कृत ग्रन्थ

१ वेदापौरुषेय —स्वामी करपात्री
२ वेदस्वरूप विमर्शः —स्वामी करपात्री
३ वेदार्थपारिजात —स्वामी करपात्री

मराठी ग्रन्थ

१ महाराष्ट्रियज्ञान कोष —श्रीधर व्यंकटेश केतकर, नागपूर, १९२२
२ भारतीय संस्कृति कोष —पं० महादेवशास्त्री, पूना, १९६८
३ वैदिक संस्कृति ची-पुनर्घटना —अप्रबुद्ध, अमरावती, १८५३

४ वैदिक संस्कृति चा विकास—तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री, वाई, १९७२

हिन्दी ग्रन्थ

१ जातककालीन भारतीय संस्कृति —पं० मोहनलाल मेहता, पटना, १९६८

२ वैदिक विज्ञान —अनु० डॉ० उर्मिला शर्मा, वाराणसी, १९९२

३ कालयात्रा —वासुदेव पोद्दार, कलकत्ता, १९८१

४ वैदिक साहित्य —पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, काशी, १९५०

५ वैदिक साहित्य और संस्कृति —पं० बलदेव उपाध्याय, काशी, १९७३

६ वैदिक साहित्य और संस्कृति —वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १९७०

७ वैदिक व्याकरण —उमेशचन्द्र पाण्डेय, वाराणसी, १९७२

८ वैदिक चर्या विज्ञान —शंकरानन्द, पौढी गढ़वाल, १९७९

९ वेदत्रयी —सत्यव्रत सामश्रमी

१० वैदिक स्वरमीमांसा —पं० युधिष्ठिर मीमांसक, अमृतसर, सं० २०१४

११ वैदिक छन्दोमीमांसा —पं० युधिष्ठिर मीमांसक, अमृतसर, सं० १९७९